13

हलवासिया स्मृति-ग्रन्थ

प्रकाशक
राय बहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट
१५, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता-१

13

हलवासिया स्मृति-ग्रन्थ

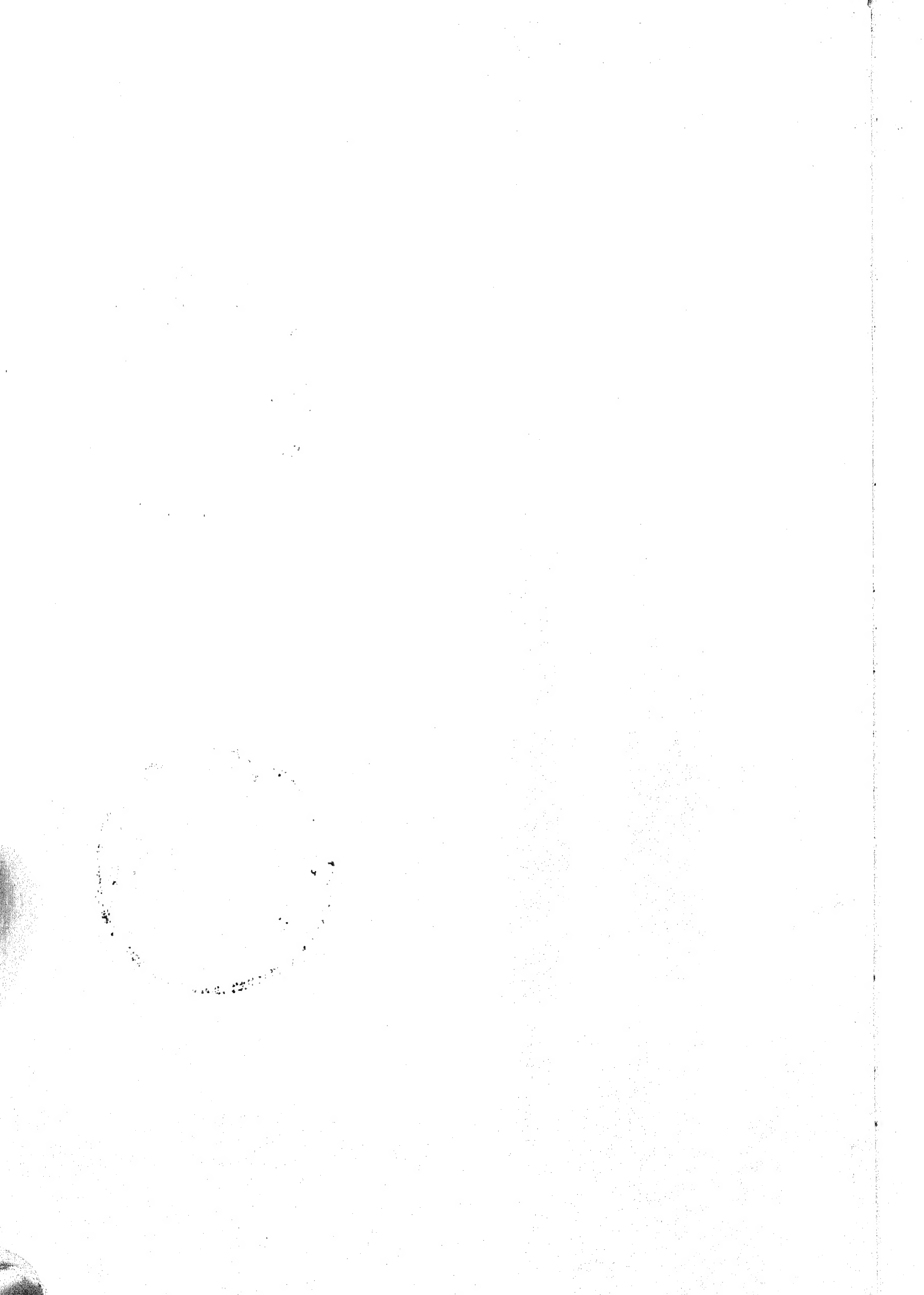
प्रकाशक

राय बहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट

१५, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता-१

[illegible]

[illegible]



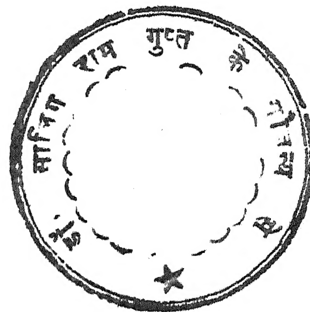
हलवासिया स्मृति-ग्रन्थ

रायबहादुर विश्वेश्वरलाल हलवासिया की
जन्म शताब्दी
(१८७०-१९७० ई०)
के अवसर पर प्रकाशित



सम्पादक

रामसिंह तोमर
अध्यक्ष, हिन्दी-भवन
विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।



प्रकाशक
राय बहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट
१५, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता-१

प्रकाशक
राय बहादुर विश्वेश्वरलाल
मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट
१५, इंडिया एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता-१

१९७१

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी-१

प्रकाशक
राय बहादुर विश्वेश्वरलाल
मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट
१५, इंडिया एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता-१

१९७१

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी-१



रायबहादुर स्व० सेठ विश्वेश्वरलाल हलवासिया
(१८७०–१९२५ ई०)

परिचय

आधुनिक हरियाणा प्रान्त के हिसार जिले में एक छोटा शहर भिवाणी है। भिवाणी के निकट स्थित हालुवास ग्राम में स्मृतिशेष विश्वेश्वरलाल हलवासिया का जन्म सन् १८७० ई० में हुआ था। विश्वेश्वरलाल जी के पितामह यमुनादास जी के पाँच पुत्र थे जिनमें सबसे बड़े सेठ जानकीदास थे। अपने समय के अपने प्रदेश के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में उनकी गणना थी। यमुनादास जी श्री वैष्णव संप्रदाय में निष्ठा रखते थे। वृंदावन में श्रीरंग मंदिर के निर्माता श्रीरंगदेशिक स्वामी से उनका परिचय था। भिवाणी के श्रीरंग मंदिर से उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। वहाँ के प्रत्येक उत्सव में वे उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते थे। भिवाणी के तत्कालीन संस्कृत विद्वान् वासुदेवाचार्य से उनकी मैत्री थी। भिवाणी पहुँचनेवाले अतिथि अभ्यागतों का आप आतिथ्य सत्कार करते थे। सेठ जानकी दास जी को भी दया, उदारता, भगवद्भक्ति आदि अनेक गुण पैतृक संपत्ति के रूप में अपने पिता यमुनादास जी से प्राप्त हुए थे।

जानकीदास जी हैदराबाद (दक्षिण) में हीरादि बहुमूल्य पदार्थों का व्यवसाय करते थे। वहीं चालीस वर्ष की अवस्था में अचानक आपका स्वर्गवास हो गया। उस समय विश्वेश्वरलालजी की अवस्था चौदह वर्ष थी तथा उनके छोटे भाई मोतीलाल जी की अवस्था केवल छः महीने की थी। अपनी विधवा माता तथा छोटे भाई का उत्तरदायित्व विश्वेश्वरलाल जी पर आ पड़ा। इसके अतिरिक्त उनके पिता पर दस हजार रुपया ऋण भी था जो उन्हें चुकाना था। भिवाणी में आय के ऐसे साधन नहीं थे जिससे वे इस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर पाते। अपनी माता जी से परामर्श करके सन् १८८६ ई० में वे कलकत्ता पहुँचे। कलकत्ता में भिवाणी के अन्य व्यवसायी भी थे, उन्हीं के सहयोग से विश्वेश्वरलाल जी ने जूट का कारबार आरंभ किया। अपूर्व निष्ठा, असाधारण व्यापार-कुशलता और प्रशंसनीय अध्यवसाय के परिणामस्वरूप आपको व्यापार में अद्भुत सफलता मिली। कलकत्ता के मारवाड़ी समाज में आप प्रतिष्ठित हो गये। वंश-परंपरा से प्राप्त वैष्णव भक्ति के संस्कार, मानवमात्र के प्रति सहज सहानुभूति, दानशीलता, समाज-कल्याण के कार्यों में रुचि, समसामयिक सामाजिक, राजनीतिक संदर्भों के प्रति जागरूकता इत्यादि गुणों के कारण उनकी सब ओर प्रशंसा हुई। तत्कालीन सरकार ने भी उन्हें रायबहादुर आदि अनेक सम्मानों से विभूषित किया।

धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्यों में वे विशेष रुचि लेते थे। 'कलकत्ता समाचार' आपके द्वारा ही प्रारंभ किया गया था। सखाराम गणेश देउस्कर द्वारा लिखित 'देश की बात 'पुस्तक का हिन्दी अनुवाद आपको समर्पित किया गया था। देवनारायण द्विवेदी ने इस कृति का अनुवाद किया था। पीछे सरकार ने इस पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

कलकत्ता में सन् १९१६ ई० में उन्होंने अखिल भारतीय 'श्री वैष्णव सम्मेलन' का आयोजन कराया था, तीन दिन व्यापी सम्मेलन में उस समय के श्री वैष्णव संप्रदाय के प्रसिद्ध

आचार्यों तथा विद्वानों ने भाग लिया था। सम्मेलन की कार्यवाही का पूरा विवरण 'कलकत्ता समाचार' में प्रकाशित हुआ था। सम्मेलन में चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा भी सम्मिलित हुए थे। चतुर्वेदी ने 'भाष्यकार श्री रामानुजाचार्य' नामक सुन्दर ग्रंथ लिखा था, जिसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व रायबहादुर विश्वेश्वरलाल जी ने लिया था। उस कृति की भूमिका में चतुर्वेदी जी ने हलवासिया जी के विषय में विस्तार से लिखा है। उन्होंने अपनी कृति के संबंध में लिखा है, "यदि हम इसे छपवा कर बिकवाने के पक्षपाती होते, तो ऐसे अनेक पुस्तक प्रकाशक हैं, हाथोंहाथ इसका सर्वाधिकार क्रय करके मनमाने मूल्य पर इसे बेचते। पर यह हमको अभीष्ट न था। बहुत दिनों तक हम एक ऐसे उदारचेता श्री वैष्णव सज्जन की खोज में रहे, जो इस पुस्तक को अपने धन से प्रकाशित कर बिना मूल्य वितरण करे। अन्त में दयामय भगवान् के अनुग्रह से भाष्यकार स्वामी ने भिवानी के रहने वाले तथा कलकत्ता प्रवासी रायबहादुर बाबू विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया को इस शुभ कार्य को करने की प्रेरणा की। उक्त रायबहादुर साहब ने इस पुस्तक के प्रकाशन का सारा व्यय-भार अपने ऊपर लिया है और बिना मूल्य वितरण करने का संकल्प किया है।" इसी परिचय में आगे कहा गया है, "आप कलकत्ते की प्रायः सभी मारवाड़ी-संस्थाओं के पोषक हैं।…… …आप ही के हाथ से 'कलकत्ता-समाचार' का प्रथम अंक निकाला गया था और कलकत्ते के हिन्दू-क्लब को भी आपने ही खोला था। कलकत्ते के मारवाड़ी-समाज की प्रधान सभा मारवाड़ी-एशोसिएशन के आप ही प्रेसिडेंट हैं। आप हावड़े के आनरेरी मजिस्ट्रेट भी हैं। आप हाल ही में कलकत्ते में श्री भागीरथी जी के तटपर अच्छी लागत से एक सुन्दर श्राद्धघाट बनवा रहे हैं। इसके बन जाने पर सर्वसाधारण को बहुत सुभीता हो जायगा।

"कहना न होगा कि रायबहादुर साहब भी श्री वैष्णव सम्प्रदाय में पूरी निष्ठा रखते हैं।………आप बड़े ही शान्त-प्रकृत-सम्पन्न मिलनसार और मधुभाषी हैं। आपका चरित्र बल उच्च और विचार गम्भीर हैं। व्यवसाय-सम्बन्धी जटिल विषयों पर आपकी सम्मति बड़े महत्त्व की समझी जाती है।" (चतुर्वेदी जी ने यह भूमिका संवत् १९७२ में दारागंज, प्रयाग में लिखी थी।)

विश्वेश्वरलाल जी का अपने छोटे भाई मोतीलाल पर बड़ा स्नेह था। उनका पालन-पोषण उन्होंने ही किया था। मोतीलाल का जन्म सन् १८८६ ई० में हुआ था। सन् १९२५ ई० में अस्वस्थ बड़े भाई को देखने के लिए मोतीलाल जी भिवानी से कलकत्ता आए और स्वयं बीमार पड़ गए। चिकित्सा की गई परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ, कलकत्ता में ही उनका स्वर्गवास हो गया। भ्रातृवियोग के आघात को वे सहन न कर सके। दोनों भाइयों में से किसी को संतान प्राप्त नहीं हुई। विश्वेश्वरलालजी ने अपने ही परिवार के एक बालक श्री श्यामसुन्दर को गोद लिया और मोतीलाल जी के यहाँ श्री पुरुषोत्तमदास जी को गोद लिया गया।

विश्वेश्वरलाल जी ने स्वस्थ होते ही प्रायः अपनी संपूर्ण संपत्ति की वसीयत तैयार कराई। यह वसीयतनामा कलकत्ता में उन्होंने लिखा था, भिवानी में उनकी मृत्यु हुई। वहीं वह खोला गया। वसीयतनामे के कुछ अंश उद्धृत करने योग्य हैं, इन अंशों से उनके उज्ज्वल

जीवन-चरित्र का परिचय मिलता है, वे अपनी सारी संपत्ति का जनकल्याण के लिए न्यास (ट्रस्ट) बना गए ।

"मैं विश्वेश्वरलाल हलुवासिया बेटा लाला जानकीदास हलुवासिया का पोता लाला जमुनादास जी हलुवासिया का, अग्रवाल, उमर ५५ (पचपन) साल अनुमान, रहनेवाला भिवानी जिला हिसार का हूँ । हाल मुकाम रहना नम्बर ४७ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट कलकत्ता है ।

"मेरे पिता लाला जानकीदास जी का बैकुण्ठवास वैशाख वदी ३, संवत् १९४४ में हो गया था उस वक्त मेरे छोटे भाई मोतीलाल हलुवासिया की उम्र लगभग ६ महीने की थी ।

"मेरे पिता प्रपिता व वृद्ध प्रपिता की सम्पत्ति में सिर्फ १ दुकान बाजार में एक हवेली और एक नोहरा था जिसमें मेरा दसवाँ हिस्सा यानि सब सम्पत्ति में आधा हिस्सा पूज्यवर लाला सिवदयाल जी हलुवासिया का और आधे में पिता जी एवं चार भाई थे इसलिए सब सम्पत्ति का दसवाँ हिस्सा (१।१०) मेरा था, जिसकी कीमत अनुमान १५००) पंद्रह सौ रुपये की होगी । नगद वगैरह कुछ भी न था, बल्कि १००००) दस हजार रुपया अन्दाज देने थे इसलिए कोई सम्पत्ति मेरे पिता प्रपिता और वृद्ध प्रपिता की न समझनी चाहिए ।

"मेरे पिता जी के स्वर्गवास होने पर मैं कलकत्ते आया और बोरों की दलाली करनी शुरू की इससे जो रुपये मेरे पिता जी के कर्ज थे मैंने दे दिये और धीरे-धीरे यह सब सम्पत्ति अपने परिश्रम से पैदा की इसलिए मैं तथा मेरा छोटा भाई मोतीलाल इस सम्पत्ति के मालिक हैं यानी आधा मेरा और आधा मेरे छोटे भाई मोतीलाल का ।

"परन्तु दुर्भाग्यवश मेरे छोटे भाई मोतीलाल का बैकुण्ठदास चैत वदी ३, सं० १९८१ में हो गया और उसी वक्त से यानी ४-५ महीने से मेरी तवियत अच्छी नहीं रहती है इसलिए मेरे मरने के बाद कोई झगड़ा पैदा न हो इस वास्ते यह वसीयतनामा करता हूँ ।

"ऊपर लिखे सिवाय बाकी सब स्टेट (मालियत) नगद व मकानात बगैरह मैं धर्मार्थ करता हूँ उससे रोगियों के दवा अनाथालय स्कूल मंदिर का खर्च इत्यादि इत्यादि शुभकर्म में लगाये जावें । यह सब काम जायदाद की आमदनी व व्याज इत्यादि से की जावे और असल जायदाद वेची न जावे और असल रुपया भी न खर्च किया जावे सिर्फ आमदनी व्याज भाड़े इत्यादि की हो उसी से खर्च किया जावे और मैं यह भी चाहता हूँ कि जहाँ तक हो यह रुपया ज्यादा भिवानी में और विद्या सम्बन्धी कार्यों में खर्च किया जावे और इन सब धर्मार्थ कामों पर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलुवासिया का नाम हो ।"

रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट ने पिछले पैंतालीस वर्षों में भारत के प्रायः हर प्रान्त में अनेक संस्थाओं की सहायता की है । सत्तर लाख रुपये से अधिक धन ट्रस्ट अभी तक दान कर चुका है । विश्वभारती से ट्रस्ट का संपर्क अनेक वर्षों से रहा है। हलवासिया ट्रस्ट के, वरिष्ठ ट्रस्टी श्री भागीरथ कानोडिया तथा स्व० मोतीलाल जी हलवासिया के सुपुत्र श्री पुरुषोत्तमदास जी हलवासिया का विश्वभारती से पुराना एवं घनिष्ठ संबन्ध है । विश्वभारती के केन्द्रीय 'विश्वविद्यालय में परिवर्तित होने के पूर्व श्री कानोडिया जी वर्षों

आचार्यों तथा विद्वानों ने भाग लिया था। सम्मेलन की कार्यवाही का पूरा विवरण 'कलकत्ता समाचार' में प्रकाशित हुआ था। सम्मेलन में चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा भी सम्मिलित हुए थे। चतुर्वेदी ने 'भाष्यकार श्री रामानुजाचार्य' नामक सुन्दर ग्रंथ लिखा था, जिसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व रायबहादुर विश्वेश्वरलाल जी ने लिया था। उस कृति की भूमिका में चतुर्वेदी जी ने हलवासिया जी के विषय में विस्तार से लिखा है। उन्होंने अपनी कृति के संबंध में लिखा है, "यदि हम इसे छपवा कर बिकवाने के पक्षपाती होते, तो ऐसे अनेक पुस्तक प्रकाशक हैं, हाथोंहाथ इसका सर्वाधिकार क्रय करके मनमाने मूल्य पर इसे बेचते। पर यह हमको अभीष्ट न था। बहुत दिनों तक हम एक ऐसे उदारचेता श्री वैष्णव सज्जन की खोज में रहे, जो इस पुस्तक को अपने धन से प्रकाशित कर बिना मूल्य वितरण करे। अन्त में दयामय भगवान् के अनुग्रह से भाष्यकार स्वामी ने भिवानी के रहने वाले तथा कलकत्ता प्रवासी रायबहादुर बाबू विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया को इस शुभ कार्य को करने की प्रेरणा की। उक्त रायबहादुर साहब ने इस पुस्तक के प्रकाशन का सारा व्यय-भार अपने ऊपर लिया है और बिना मूल्य वितरण करने का संकल्प किया है।" इसी परिचय में आगे कहा गया है, "आप कलकत्ते की प्रायः सभी मारवाड़ी-संस्थाओं के पोषक हैं।...... आप ही के हाथ से 'कलकत्ता-समाचार' का प्रथम अंक निकाला गया था और कलकत्ते के हिन्दू-क्लब को भी आपने ही खोला था। कलकत्ते के मारवाड़ी-समाज की प्रधान सभा मारवाड़ी-एशोसिएशन के आप ही प्रेसिडेंट हैं। आप हावड़े के आनरेरी मजिस्ट्रेट भी हैं। आप हाल ही में कलकत्ते में श्री भागीरथी जी के तटपर अच्छी लागत से एक सुन्दर श्राद्धघाट बनवा रहे हैं। इसके बन जाने पर सर्वसाधारण को बहुत सुभीता हो जायगा।

"कहना न होगा कि रायबहादुर साहब भी श्री वैष्णव सम्प्रदाय में पूरी निष्ठा रखते हैं।.......आप बड़े ही शान्त-प्रकृत-सम्पन्न मिलनसार और मधुभाषी हैं। आपका चरित्र बल उच्च और विचार गम्भीर हैं। व्यवसाय-सम्बन्धी जटिल विषयों पर आपकी सम्मति बड़े महत्त्व की समझी जाती है।" (चतुर्वेदी जी ने यह भूमिका संवत् १९७२ में दारागंज, प्रयाग में लिखी थी।)

विश्वेश्वरलाल जी का अपने छोटे भाई मोतीलाल पर बड़ा स्नेह था। उनका पालन-पोषण उन्होंने ही किया था। मोतीलाल का जन्म सन् १८८६ ई० में हुआ था। सन् १९२५ ई० में अस्वस्थ बड़े भाई को देखने के लिए मोतीलाल जी भिवानी से कलकत्ता आए और स्वयं बीमार पड़ गए। चिकित्सा की गई परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ, कलकत्ता में ही उनका स्वर्गवास हो गया। भ्रातृवियोग के आघात को वे सहन न कर सके। दोनों भाइयों में से किसी को संतान प्राप्त नहीं हुई। विश्वेश्वरलालजी ने अपने ही परिवार के एक बालक श्री श्यामसुन्दर को गोद लिया और मोतीलाल जी के यहाँ श्री पुरुषोत्तमदास जी को गोद लिया गया।

विश्वेश्वरलाल जी ने स्वस्थ होते ही प्रायः अपनी संपूर्ण संपत्ति की वसीयत तैयार कराई। यह वसीयतनामा कलकत्ता में उन्होंने लिखा था, भिवानी में उनकी मृत्यु हुई। वहीं वह खोला गया। वसीयतनामे के कुछ अंश उद्धृत करने योग्य हैं, इन अंशों से उनके उज्ज्वल

जीवन-चरित्र का परिचय मिलता है, वे अपनी सारी संपत्ति का जनकल्याण के लिए न्यास (ट्रस्ट) बना गए।

"मैं विश्वेश्वरलाल हलुवासिया बेटा लाला जानकीदास हलुवासिया का पोता लाला जमुनादास जी हलुवासिया का, अग्रवाल, उमर ५५ (पचपन) साल अनुमान, रहनेवाला भिवानी जिला हिसार का हूँ। हाल मुकाम रहना नम्बर ४७ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट कलकत्ता है।

"मेरे पिता लाला जानकीदास जी का बैकुण्ठवास वैशाख वदी ३, संवत् १९४४ में हो गया था उस वक्त मेरे छोटे भाई मोतीलाल हलुवासिया की उम्र लगभग ६ महीने की थी।

"मेरे पिता प्रपिता व वृद्ध प्रपिता की सम्पत्ति में सिर्फ १ दुकान बाजार में एक हवेली और एक नोहरा था जिसमें मेरा दसवाँ हिस्सा यानि सब सम्पत्ति में आधा हिस्सा पूज्यवर लाला सिवदयाल जी हलुवासिया का और आधे में पिता जी एवं चार भाई थे इसलिए सब सम्पत्ति का दसवाँ हिस्सा (१।१०) मेरा था, जिसकी कीमत अनुमान १५००) पंद्रह सौ रुपये की होगी। नगद वगैरह कुछ भी न था, बल्कि १००००) दस हजार रुपया अन्दाज देने थे इसलिए कोई सम्पत्ति मेरे पिता प्रपिता और वृद्ध प्रपिता की न समझनी चाहिए।

"मेरे पिता जी के स्वर्गवास होने पर मैं कलकत्ते आया और बोरों की दलाली करनी शुरू की इससे जो रुपये मेरे पिता जी के कर्ज थे मैंने दे दिये और धीरे-धीरे यह सब सम्पत्ति अपने परिश्रम से पैदा की इसलिए मैं तथा मेरा छोटा भाई मोतीलाल इस सम्पत्ति के मालिक हैं यानी आधा मेरा और आधा मेरे छोटे भाई मोतीलाल का।

"परन्तु दुर्भाग्यवश मेरे छोटे भाई मोतीलाल का बैकुण्ठदास चैत वदी ३, सं० १९८१ में हो गया और उसी वक्त से यानी ४-५ महीने से मेरी तवियत अच्छी नहीं रहती है इसलिए मेरे मरने के बाद कोई झगड़ा पैदा न हो इस वास्ते यह वसीयतनामा करता हूँ।

"ऊपर लिखे सिवाय बाकी सब स्टेट (मालियत) नगद व मकानात बगैरह मैं धर्मार्थ करता हूँ उससे रोगियों के दवा अनाथालय स्कूल मंदिर का खर्च इत्यादि इत्यादि शुभकर्म में लगाये जावें। यह सब काम जायदाद की आमदनी व व्याज इत्यादि से की जावे और असल जायदाद वेची न जावे और असल रुपया भी न खर्च किया जावे सिर्फ आमदनी व्याज भाड़े इत्यादि की हो उसी से खर्च किया जावे और मैं यह भी चाहता हूँ कि जहाँ तक हो यह रुपया ज्यादा भिवानी में और विद्या सम्बन्धी कार्यों में खर्च किया जावे और इन सब धर्मार्थ कामों पर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलुवासिया का नाम हो।"

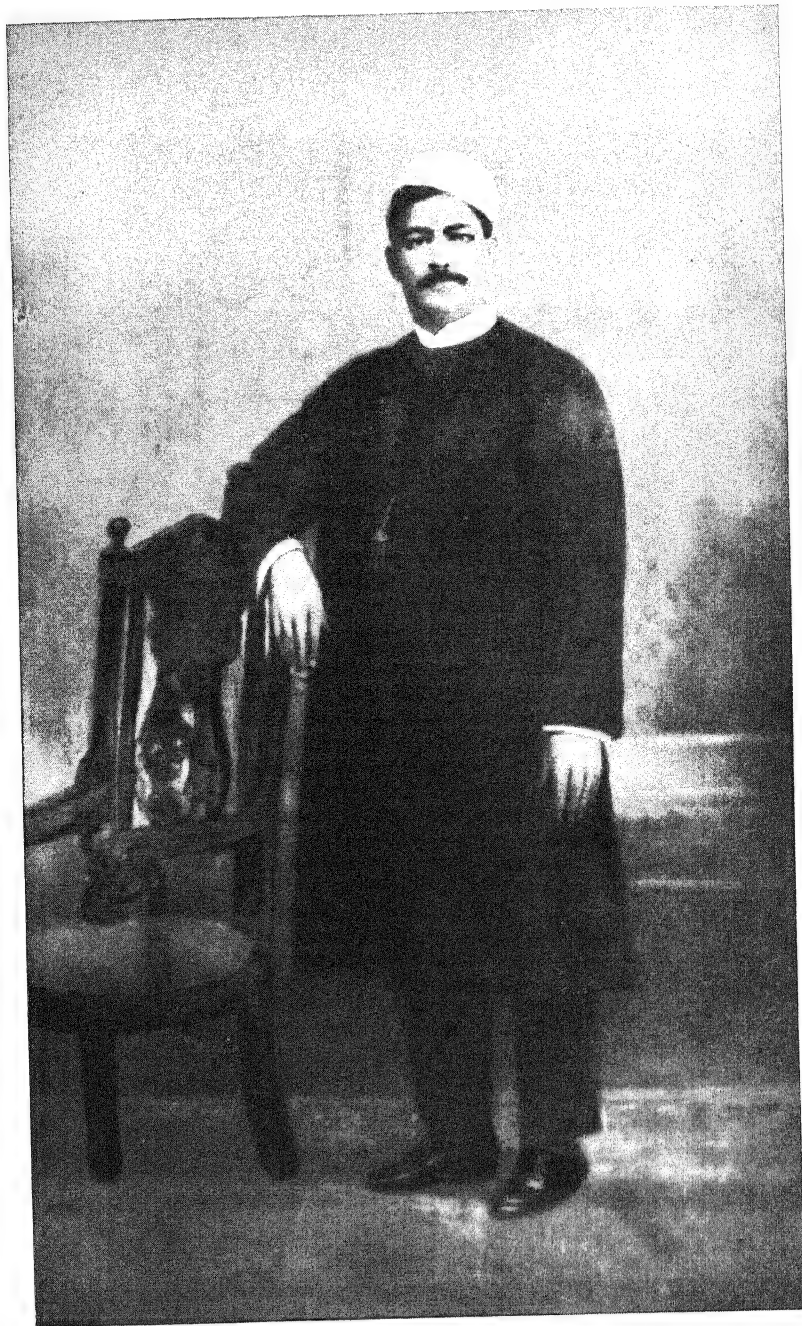
रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट ने पिछले पैंतालीस वर्षों में भारत के प्रायः हर प्रान्त में अनेक संस्थाओं की सहायता की है। सत्तर लाख रुपये से अधिक धन ट्रस्ट अभी तक दान कर चुका है। विश्वभारती से ट्रस्ट का संपर्क अनेक वर्षों से रहा है। हलवासिया ट्रस्ट के, वरिष्ठ ट्रस्टी श्री भागीरथ कानोडिया तथा स्व० मोतीलाल जी हलवासिया के सुपुत्र श्री पुरुषोत्तमदास जी हलवासिया का विश्वभारती से पुराना एवं घनिष्ठ संबन्ध है। विश्वभारती के केन्द्रीय 'विश्वविद्यालय में परिवर्तित होने के पूर्व श्री कानोडिया जी वर्षों

तक उसकी संसद के सदस्य रहे हैं। ट्रस्ट को सुदृढ़ बनाने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। विश्वभारती में हिन्दी-भवन की स्थापना ट्रस्ट की ही सहायता से सन् १९३६ में हुई। सन् १९४५ से १९४८ ई० तक हिन्दी-भवन का पूरा खर्च ट्रस्ट ने वहन किया। इधर हाल में हिन्दी-भवन के पुस्तकालय भवन का विस्तार, विश्वभारती पत्रिका का पुनर्प्रकाशन, हलवासिया शोध ग्रन्थ-माला के प्रकाशन की योजना ट्रस्ट द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता से ही कार्यान्वित हो सकी है। विश्वभारती के कार्यों में श्री कानोडिया जी तथा श्री पुरुषोत्तमदास जी हलवासिया सक्रिय रुचि लेते हैं। अतः जब विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया की जन्मशत-वार्षिकी के अवसर पर स्मृति-ग्रंथ निकालने का प्रस्ताव किया गया तो विश्वभारती के उपाचार्य ने मुझे उसका संपादन भार लेने के लिए सहर्ष अनुमति दी। उदारचरित सज्जनों के प्रति श्रद्धा निवेदन करना हमारी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। मुझे प्रसन्नता है कि इस कार्य द्वारा कीर्तिशेष विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया के प्रति श्रद्धा निवेदन करने का मुझे अवसर मिला।

ग्रंथ के लिए जितने लेख हम चाहते थे उतने प्राप्त न हो सके, विद्वानों से लेख लिखवा लेना बहुत कठिन कार्य है। जिन विद्वानों ने अपने लेख भेजे हैं उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ। हिन्दी-भवन के भित्ति चित्रों के चित्र तैयार करने में कलाभवन के श्री डेविड तथा आवरण पृष्ठ पर शीर्षक लिखने के लिए हिन्दी विभाग के रिसर्च फेलो श्री रणजीतकुमार साहा तथा नाना प्रकार से सहायता करने के लिए डॉ० देवनाथ चतुर्वेदी, डॉ० द्विजराम यादव एवं प्रूफ संशोधन के लिए डॉ० (कुमारी) ऊर्मिला शर्मा का मैं आभारी हूँ।

हिन्दी भवन,
शान्तिनिकेतन।

राम सिंह तोमर



स्व० सेठ मोतीलाल हलवासिया
(१८८६–१९२५ ई०)

विषय-सूची

अर्थ- धर्म-सम्बन्ध खण्ड

कला और संस्कृति खण्ड

चित्र

रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया हिन्दीभवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के भित्तिचित्रों तथा हिन्दी-भवनके उद्घाटन समारोह के छाया चित्र :—भित्तिचित्रों के चित्रकार श्री विनोदबिहारी मुकर्जी। अध्यापक, कलाभवन, शान्तिनिकेतन हैं।

चित्र सूची—

कविता की ओर

डॉ० रामकुमार वर्मा, एम. ए., पी-एच. डी.

कविता आत्मा की आदि प्रेरणा है। आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही 'कविता' है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है, उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय होता है। 'मैं' चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण करता है और 'सब' भावना के किसी विशेष दृष्टि-बिन्दु में 'मैं' में आकर संकुचित हो जाता है। तब व्यक्तिगत भावनाएँ विश्व की समस्त गति में अबाधरूप से प्रवाहित होने लगती हैं और समस्त सृष्टि का संगीत एक कण में स्पन्दित होने लगता है। जिस दैवी क्षण में कवि अपने को इस असीम प्रकृति में विलीन कर देता है, उस क्षण में सृष्टि के समस्त रहस्य उसकी वाणी में फूट पड़ते हैं। वह अपनी भावनाओं के भीतर किसी प्रजापति को देखता है, जो क्षण-क्षण में सृष्टि का निर्माण और विनाश करता है। रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती हैं और दृश्य और अदृश्य उसे अपने संगीत से ओत-प्रोत कर देते हैं। समस्त जगत् हृदय में गतिशीलता भर कर तिरोहित हो जाता है, उसी गतिशीलता का नाम 'कविता' है।

यह कविता की व्याख्या है, परिभाषा नहीं। परिभाषा के लिए हमें काव्य से श्रेष्ठतर सौन्दर्य-कोटि की कल्पना करनी पड़ेगी और उस कोटि के अन्तर्गत काव्य के समकक्ष अन्य रूपों से काव्य की विशेषता स्पष्ट करनी होगी। कठिनाई यह है कि काव्य के ऊपर कोई ऐसी सौन्दर्य-कोटि है ही नहीं। काव्य ही अपने व्यापक रूप में अनेक सौन्दर्य-कोटियाँ निर्धारित करता है और जब काव्य अपने उदात्त रूप में ब्रह्मानन्द के समकक्ष होता है तब जिस प्रकार ब्रह्म की परिभाषा देना कठिन है, उसी प्रकार काव्य की परिभाषा भी देना कठिन होता है। केनोपनिषद् के द्वितीय खण्ड में ब्रह्म-ज्ञान की अनिर्वचनीयता का उल्लेख है :

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केनोपनिषद्—द्वितीय खंड, श्लोक २, ३)

(न तो मैं यह मानता हूँ कि मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता, अतः मैं उसे जानता भी हूँ और नहीं भी जानता। जो उसे 'न तो नहीं जानता और न जानता ही हूँ' इस भाँति जानता है, वही जानता है)

इसी भाँति जिसको ब्रह्म ज्ञात नहीं है, उसी को ज्ञात है, और जिसको ज्ञात है, वह उसे अज्ञात है, क्योंकि वह जानने वालों को बिना जाना हुआ है और न जानने वालों को जाना हुआ है। इस प्रकार कविता भी पूर्ण रूप से जानी जा सकती है, इसमें सन्देह है। इसीलिए कविता की व्याख्या तो हो सकती है, उसकी परिभाषा देना एक अनधिकार चेष्टा है।

साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा कविता की अभिव्यक्ति संभवतः सर्वप्रथम हुई। यह साहित्य-कानन की प्रथम कलिका है, जिसकी सुरभि उत्तरोत्तर अधिक आह्लादमयी होती गई। उसी सुरभि के आकर्षण में साहित्य के अन्य रूपों को मुकुलित होने की भूमिका प्राप्त हुई होगी। कविता के इतिहास में प्रथम कविता महर्षि बाल्मीकि के कण्ठ से क्रौंच-वध के विषाद से नेत्र की अश्रु-धारा के साथ निकली कही जाती है; किन्तु कविता की सृष्टि उस समय आरंभ हो गई होगी जब उल्लास या करुणा, आकर्षण और आत्म-समर्पण की भावना ने हृदय में ऐसी विह्वलता भर दी होगी, जिसे हृदय अपनी भाव-सीमा में सम्हाल न सका होगा और काव्य का अमृत भाषा में छलक पड़ा होगा।

महाकवि तुलसी ने कविता के आविर्भाव के सम्बन्ध में रामचरितमानस में कुछ सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं—

हृदय-सिन्धु, मति सीप समाना,
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरसइ बर-बारि बिचारू,
होइ कवित मुक्तामनि चारू।

हृदय के सिन्धु में मति सीप के समान है, काव्य की प्रतिभा या सरस्वती स्वाति नक्षत्र के समान है। इस अवसर पर यदि सुन्दर विचारों का जल बरस जाय तो भावना की सीपी में कविता का मोती निर्मित हो जाय। सीप में मोती का निर्माण एक अवसर-विशेष की बात है। यदि सौभाग्य से ऐसा अवसर आ जाय, तभी 'कविता' की सृष्टि हो सकती है। श्रेष्ठ कविता भी संयोग से ही बनती है, और वह भी प्रतिभा के आलोक से संभव होता है।

कविता जीवन का निर्बाध और अकृत्रिम सौन्दर्य-बोध है, उसके द्वारा मानव ऐसे अनवरत और अविरल आनन्द का अनुभव करता है जो समय की गति से धूमिल नहीं होता। इसमें पूर्व-चिन्तन की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार हास्य और रुदन की प्रक्रिया किसी नियम पर आधारित नहीं है, हँसी की कली प्रस्फुटित होने के पूर्व यह नहीं सोचती कि उसे किस प्रकार से प्रस्फुटित होना है, जिस प्रकार रुदन के मोती किसी निश्चित संख्या में नहीं झरते, उसी प्रकार कविता प्रयास-पूर्वक निर्मित नहीं होती। वह आनन्द की धारा में पुष्प की भाँति लहरों की गोद में विकसित होती है।

प्राचीन आचार्यों में भरत, दण्डी, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्द्धन, भोज, मम्मट, वाग्भट्ट, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के रूप को परखने की चेष्टा विविध दृष्टि-कोणों से की है। आचार्य भरत ने रस को, दण्डी ने संक्षिप्त वाक्य को, रुद्रट ने शब्द और उसमें निहित अर्थ के युग्म को, वामन ने ललित पद-रीति को, आनन्दवर्द्धन ने ध्वनिमयी अर्थ-निष्पत्ति को, भोज ने निर्दोष अलंकारमय अर्थ को, मम्मट ने शब्द और अर्थ की संयो-

जना को, वाग्भट्ट ने दोषरहित शब्द को, जयदेव ने रसमयी शब्द–योजना को, विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को और पण्डितराज जगन्नाथ ने रस से पूर्ण अर्थ-वर्णन को काव्य माना। काव्य की इस नाना दृष्टिमयी विवेचना में तीन तत्त्व निहित ज्ञात होते हैं :—

१. रस की अनिर्वचनीय अलौकिक भाव-भूमि।
२. शब्द और अर्थ का ललित युग्म।
३. चमत्कार उत्पन्न करने वाली व्यञ्जना।

यह कहा जा सकता है कि अनुभूति के स्तर पर शब्द और अर्थ का तादात्म्य उपस्थित होने पर ही रस को निष्पत्ति होती है। जिस अनुपात में यह तादात्म्य होगा, उसी अनुपात में रस-जनित आनन्द की सृष्टि होगी, कठिनाई केवल तादात्म्य उपस्थित करने में है। यह स्पष्ट है कि अनुभूति-जगत् इतना विस्तृत है कि उसकी अभिव्यक्ति कभी शब्द द्वारा हो सकेगी, इसमें सन्देह है। मन की गति जितनी शीघ्रता से अर्थ के विराट् विश्व में प्रवेश करती है, उतनी शीघ्रता से भाषा अपना स्थूल उपादान प्रस्तुत नहीं कर सकती। इस समस्या का अनुभव करते हुए मैंने एक स्थान पर लिखा था :

प्रेम की इस अग्नि से,
क्यों धूम-सी उठती निराशा ?
क्यों हृदय की भावना को,
मिल सकी अब तक न भाषा!

अंतर्जगत् अपनी सम्पूर्ण परिधि शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। भावनाएँ अपनी गहराई में अथाह हैं और शब्द किनारे पर बैठे हुए पथिक हैं जो केवल लहरें गिनना जानते हैं। जिस साधक में अपने शब्दों को अर्थ में डुबाने की जितनी अधिक सहज क्षमता होगी उतनी ही गहरी रसानुभूति काव्य के माध्यम से हो सकेगी।



हिन्दी के एकभाषीय कोश

श्री हरदेव बाहरी

हिन्दी में कोशों का आरम्भ १३वीं शताब्दी से माना जा सकता है जब कि प्रायः अमर-कोश, मेदिनी कोश, आदि के आधार पर समानार्थी और अनेकार्थी कोश लिखे जाने लगे। हिन्दी कोशों के आदि काल में इसी प्रकार के कोश उपलब्ध होते हैं। सही अर्थ में इन्हें हिन्दी भाषा के शब्द कोश, कहना उचित नहीं होगा; क्योंकि इनमें न तो तत्कालीन साहित्यिक शब्द-भंडार संगृहीत है और न तो जन-प्रचलित शब्दावली। प्रायः कोशकार कवि भी थे और उनका उद्देश्य अपने कार्य के लिए एक व्यावहारिक शब्दावली का संकलन करना था। उन्हें संस्कृत की अधिक चिन्ता थी, हिन्दी की कम। हिन्दी शब्दों की संख्या 'प्रकाश नाममाला' और 'नाम प्रकाश' में भरपूर है। 'उमराव कोश' में इनकी संख्या सबसे अधिक है। आवश्यकतानुसार इनमें अरबी-फारसी शब्द भी मिल जाते हैं। डिंगल कोशों में विशेष रूप से बहुत से स्थानीय शब्द हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इन शब्दावलियों की अपनी सीमा है। इस तरह के ४०-४५ समानार्थी कोश, १५-२० अनेकार्थी कोश, ४-५ एकाक्षरी कोश और ६-७ डिंगल के कोश प्राप्त हैं। सबसे छोटे कोश में २८ और सबसे बड़े में २८०० शब्द हैं।

छापेखाने के अभाव में तत्कालीन ज्ञान मौखिक परम्परा द्वारा आगे बढ़ता था। संदर्भ ग्रंथों की बात नहीं उठी थी। शब्द भंडार को कंठस्थ कर लेना होता था। इसलिए लगभग सब कोश पद्य-बद्ध हैं। उदाहरणार्थ, हरी विलास की 'नाममाला' में चौपाइयाँ है; मियाँ नूर की 'प्रकाशनाम माला' में दोहे, बद्रीदास की 'मान मंजरी' में सोरठे, सखिजन की 'भारती नाम माला' में दोहों के अतिरिक्त कवित्त और 'उमराव कोश' तथा 'नाम प्रकाश' में अनेकानेक छंद प्रयुक्त हुए हैं। प्रायः कोशों में केवल संज्ञापद हैं। केवल एक-दो धातु-कोश प्राप्त हैं। बड़े कोशों में एकाध वर्ग विशेषणों पर है। किन्तु काव्य में नाम (संज्ञा) की ही अधिक लीला होती थी। छंद के बंधनों के कारण अनेक शब्द विकृत रूप में आ गए हैं। शब्दों का क्रम हमारी लिपि माला के अनुसार नहीं है। प्रायः शब्दों को वर्गों या अधिकारों के अन्तर्गत रखा गया है। इन वर्गों के शीर्षक स्पष्ट हैं, जैसे देवतानाथ, समुद्रनाथ, स्त्रीवर्ग, दरबारी नाम, स्वर्ग-वर्ग, पाताल वर्ग, शैल वर्ग इत्यादि।

अनेकार्थी कोश साधारण हैं, किन्तु कुछ एक में ज्ञान-कोशोपयुक्त सामग्री संगृहीत हैं। एकाक्षरी कोशों का हिन्दी की दृष्टि से क्या महत्त्व है, यह ठीक तरह मेरी समझ में नहीं आया। कुछ कोश ऐसे हैं, जिनकी विशिष्ट उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं। चंदन राम ने अर्थों को आदि वर्ग के अनुसार एक साथ रखा है, जैसे 'सारंग' के अर्थ हैं—

पावक पंकज पीक पट, धन धनु घन घट क्षीर
कनक कठिन कुच कीर कटि, नव नग नव निसि नीर। इत्यादि

आचार्य भिखारी दास ने 'नाम प्रकाश' में अनेकार्थी शब्दों को 'अन्तिम' अक्षर के अनु-

सार क्रमबद्ध किया। जैसे 'क' में समाप्त होनेवाले, 'च' में समाप्त होने वाले, अथवा 'श' आदि में होने वाले शब्द। धातु कोशों में भी, विशेषतया 'भाषा धातु माला' में क्रिया-पदों को अंतिम वर्ण के अनुसार संचित किया गया है, जैसे—

कह गह दुह रह गुह लहु मोह सोह अवगाह।
रोह मोह अवरोह ढह सह चह निबह सराह॥

इस तरह के अंत्यानुप्रास पर आधारित शब्दकोश की तो आज भी आवश्यकता है। कवियों के लिए भी और भाषा-विज्ञानियों के लिए भी।

ऊपर के विवरण का अर्थ यह है कि हमारे प्राचीन कोशकार शब्दों को वर्णानुक्रम के अनुसार रखने की पद्धति जानते अवश्य थे, किन्तु इसकी उपादेयता समानार्थी और एकार्थी कोशों की तुलना में क्या समझते थे। वर्णाक्रमानुसार कोश संपादन की कला का आरम्भ भारत में यूरोपियन विद्वानों से हुआ। प्राय: इन लोगों ने हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी या अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी कोश तैयार किए, जिनमें सब तरह के शब्द संगृहीत थे—संज्ञापद, क्रियापद, विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि। इन्हीं के अनुकरण में भारतीयों ने भी कोश निर्माण के क्षेत्र में कार्य किया। १९वीं शती के अंतिम और २०वीं शती के प्रथम चरण में लगभग २० हिन्दी शब्द कोश प्रकाशित हुए। प्राय: यह कोश छात्रोपयोगी थे। शैल्पिक दृष्टि से किसी की कोई विशेष महत्ता नहीं है। वर्णक्रमानुसार शब्दों का संयोजन, प्रत्येक शब्द का व्याकरण, उसके अर्थ और यत्र-तत्र परिभाषा अथवा व्याख्या—यह सब कुछ है और सब कोशों में एक-सा है। शब्द संख्या किसी में कम है तो किसी में अधिक। इनमें 'मंगल कोश', 'कैसर कोश', श्रीधर भाषा कोश और 'हिन्दी शब्दार्थ पारिजात' प्रसिद्ध रहे हैं।

हिन्दी-शब्द-सागर के प्रकाशन (१९१५–१९२७ ई०) से हिन्दी-कोश-कला में एक नये युग का आरम्भ माना जाता है। इतना बड़ा आयोजन, इतने प्रसिद्ध साहित्यकारों और विद्वानों—श्यामसुन्दरदास, बालकृष्ण भट्ट, रामचन्द्र शुक्ल, भगवान दीन, रामचन्द्र वर्मा, अमर सिंह और जगमोहन वर्मा के सक्रिय संपादकत्व में (तब इस तरह के संपादक मंडल नहीं होते थे किन्तु पढ़े न लिखे नाम आलम खाँ), इतनी स्वच्छता और इतनी मौलिकता के साथ हिन्दी जगत् में आज तक संपन्न नहीं हुआ। उन दिनों इस कोश का सर्वत्र स्वागत हुआ। युग के विचार से यह कोश सबसे बड़ा, प्रामाणिक और उपयोगी माना जाता था। इसके २०–२५ वर्ष बाद तब जितने कोश बने, सबका आधार यही था। बालकोश, संक्षिप्त कोश, छोटे-मझोले और बृहत् कोश सबमें 'एकोऽहं बहुस्याम्।' यह सचमुच एक सागर था, शब्दों, अर्थों, मुहावरों, लोकोक्तियाँ और उद्धरणों का। इस कोश के संचयन, संपादन, मुद्रण और प्रकाशन में २० वर्ष लगे और कुल मिलाकर एक लाख रुपया व्यय हुआ। अब इसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाश में आने लगा हैं। १५-१६ वर्ष से काम चल रहा है और इसके दस खंडों में से ७ प्रकाशित हो चुके हैं। इसके संपादन में १ लाख ६५ हजार रुपया व्यय हो चुका है। मुद्रण के लिए अलग से सहायता मिली है। (इस पर भी प्रत्येक खंड का मूल्य बहुत ही अधिक रखा गया है।) इसकी प्रविधि की चर्चा थोड़ी देर में की जायगी।

हिन्दी में एक-भाषीय कोशों की कमी नहीं है। अधिकतर कोश विद्यार्थियों के लिए

तैयार किए गए हैं, किन्तु किस स्तर के विद्यार्थियों के लिए—यह कोई भी संपादक नहीं बता सकता। अंग्रेजी में प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक, स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों की शब्दावली पर खोज हो चुकी है और उसी के अनुसार कोशों का संपादन होता है। हिन्दी में ऐसा कुछ भी नहीं है। हिन्दी में प्रचलित भाषा का कोई शब्द कोश नहीं है। स्कूलों, कालेजों में राजस्थानी, अवधी और ब्रज भाषा की कविताएँ पढ़ाई जाती हैं, इसलए बीसलदेव रासो से लेकर रामचरित मानस तक और पद्मावत से लेकर कामायनी तक के शब्दों का समावेश होना ही चाहिए। ऐसा नहीं है कि हिन्दी बोलियों के सब शब्द इनमें मिल ही जायँ। हिन्दी में अभी तक कोशों से कोश बनते चले आ रहे हैं, पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से नहीं। मेरे पास १०० शब्द प्रेमचंद से और १५० शब्द प्रसाद से संगृहीत पड़े हैं जो हिन्दी के बड़े से बड़े कोश में नहीं मिलते। 'हिन्दी शब्द सागर' (नवीन संस्करण) में 'आत्म' के अंतर्गत आत्म-कथा, आत्मघात, आत्मचिंतन, आत्मचरित, आत्मज्ञानी, आत्मनिवेदन, आत्मविश्वास, आदि एक सौ के लगभग शब्द हैं, किंतु आत्मग्लानि, आत्मदर्शी, आत्मनिग्रह, आत्मनिर्णय, आत्मनिर्भर, आत्मप्रवंचन, आत्मबलिदान, आत्मशक्ति, आत्मशिक्षा, आत्मशुद्धि, आत्मसंरक्षण, आत्मस्तुति, आत्माभिव्यक्ति आदि बहुत सारे शब्द हैं ही नहीं। सैकड़ों शब्द प्रतिवर्ष हमारी भाषा में प्रविष्ट हो रहे हैं—अभी-अभी घेराव, आयाराम-गयाराम, नक्सलवादी, दलबदलू, नसबंदी, भाई भतीजावाद, प्रसोपा, संसोपा, सिंडीकेट और इसके मुकाबले में इंडीकेट आदि शब्द चले हैं। है कोई ऐसी संस्था जो इस सम्पत्ति को बचाकर रखती जा रही है!

कोश का संकलन कोई मामूली काम नहीं है। अमेरिका की प्रसिद्ध वेब्सटर डिक्शनरी का चौथा संस्करण १९३४ में प्रकाशित हुआ था। इसके लिए २५ संपादक, ९ सहायक संपादक और २०७ विशिष्ट संपादक लगाए गए थे। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ७० वर्ष में तैयार हुई थी और इसकी समाप्ति तक संपादकों की तीन पीढ़ियाँ समाप्त हो गयी थीं, चौथी ने उसकी अंतिम जिल्द देखी। इन दोनों कोशों का संशोधन परिवर्द्धन होता ही रहता है। स्थायी संपादक पीढ़ी दर पीढ़ी काम करते ही जाते हैं। प्रतिदिन नयी पुस्तकें और पत्र पत्रिकाएँ चली आ रही हैं और संकलन कर्त्ता उनको पढ़कर सैकड़ों नए शब्दों और बीसियों नये अर्थों के कार्ड बनाते जाते हैं। इस तरह वे अपने कोश को शब्द-सम्पत्ति की दृष्टि से अद्यतन और आधुनिकतम बनाए रखने की चेष्टा करते रहते हैं।

हिन्दी शब्द सागर (नवीन संस्करण) आधुनिकता की दृष्टि से कितना पिछड़ा हुआ है इसका सही मूल्यांकन इस बात से किया जा सकता है कि इसमें सैकड़ों-हजारों ऐसे शब्द नहीं मिलते जो आज के हिन्दी जगत् में प्रचलित हैं—अंकसूची, अंगघात, अंतःकालीन, अंतर्लोचन, अंतर्विवेक, अंतरविवाह, अंशभागिता, अकादमी, अकाल प्रौढ़ (बालक), अकुशलता, अकेलापन, अखंडता, अखबारबाला, अखाड़बाजी, अगुप्त, अग्रता, अचलता, अज्ञात भाव, अज्ञानाधंकार, अणुव्रत, अणुशक्ति, अणुशास्त्र, अतिप्राकृतिक, अतिव्याप्त, अत्यावश्यक, अधिक्रम अधिनद्ध, अधिनायकत्व, अधिभार, अधियाचित, अधिशास्त्री, अनंतिम, अन्नवर्ती, अनिद्रा-रोग, अनिश्चयात्मक, अनुक्रमांक, अनुचिंतन, अनुज्ञात्मक, अनुबंध-पत्र, अनुभवसापेक्ष्य, अनुभवाश्रित, अनुभवातीत, अनुमस्तिष्क, अनुरक्षण, अनुशास्त्रि, अनौपचारिक, अपकर्षी, अपकेन्द्री, अपमिश्रण, अपराधजीवी, अपराधिता, अपसामान्य, अप्रचलन, अभिकथन, अभिकेन्द्री, अभिगृहीत,

अभियंता, अभियाचना, अभिरक्षक, अयात्रिक, अभिलेखागार, अजिशुष्णता, अर्थलिप्सा, अर्द्धोन्मीलित, असहमति, अहंकेन्द्रित, अहंमन्यता, आंदोलनकारी, आँधी-पानी, आँसू-गैस, आकण्ठ, आकाशमार्ग, आकृतिमूलक, आक्षरिक, आख्यापत्र, आख्यायिककार, आग्रहपूर्ण, आग्रहपूर्वक, आचारसंहिता, आचारशास्त्र, आचार-व्यवहार, आज्ञानुवर्ती, आतंककारी, आतिशबाजी, आदरसूचक, आदाना, आदिगुरू, आदियुग, आदेशानुसार, आद्यक्षर, आधारवाक्य, आधारभूत, आधारशिला, आधोआध, आनंददायक, आनंदपुर, आनंदमग्न, आपत्तिजनक, आपातिक, अप्रवास, आफसेट, आय-कर, आरामतलबी, आरामपसन्द, आरोग्यलाभ, आरोग्यशास्त्र, आर्टिस्ट, आलोच्य, आवंटन, आवक्ष (मूर्त्ति), आवधिक, आवेगपूर्ण, आवेशमय, आशान्वित, आशावादवान, आशावादी, आशुलिपि, आश्चर्यचकित, आहार-नाल, आहारशास्त्र आदि-आदि बहुत से शब्द जिनका इस निबंध लेखक के लिए संग्रह करके दे देना लगभग असंभव ही है। इस कोश , मेंआधुनिकता' शब्द भी नहीं है, 'प्राचीनता' है 'आचार्यत्व' नहीं है, 'नायकत्व' भी नहीं है, 'दुष्टत्व' तो है।

कोश की भूमिका के बाद एक सूचना दी गयी है कि लगभग ३५० ग्रंथों से (जिनकी सूची संकेतिका के अंतर्गत दी गयी है) शब्दों का संग्रह किया गया है। इनमें ९५% ग्रंथ साहित्यिक हैं और उनमें लगभग ६०% खड़ी बोली के नहीं हैं। साहित्येतर पुस्तकों से शब्दों का संकलन नहीं किया गया है। आज हमारे ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र बहुत बड़ा है। हिन्दी केवल ललित साहित्य की भाषा नहीं है। कोश के संपादक (संपादक मंडल के लोग नहीं) यदि भाषा विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, भूगोल, भूगर्भशास्त्र, रसायन, चिकित्सा, भौतिकी, काष्ठविद्या, आलेखन, वास्तुकला, संगीत, चित्रकला, जहाजरानी, वायुयान विद्या, यांत्रिकी, प्राविधिक विज्ञान आदि पर एक-एक पुस्तक भी देख लेते तो उनके शब्द भंडार में हिन्दी का कुछ प्रतिनिधित्व हो जाता। कम से कम एक दिशा का निर्देश तो अवश्य होता। जब हमारे बड़े से बड़े कोश की यह हालत है तो और कोशों की यहाँ त्रुटियाँ दिखाने की आवश्यकता नहीं है। 'आधुनिकता' के अभाव का एक और दृष्टान्त 'डालर' के अर्थ में देखिए—लिखा है "अमेरिका का एक सिक्का—ये १०० सेंट या टके का होता है; रुपयों में इसका मूल्य विनिमय दर के आधार पर सदा बदलता रहता है। कभी एक डालर ३ रुपए दो आने के बराबर था। सम्प्रति उसकी भारतीय रुपयों में कीमत लगभग ४.८७ न० पैसे।" वह खंड जिसमें यह शब्द है सन् १९६८ ई० में प्रकाशित हुआ है और १९६५ से डालर ७.५० के बराबर है।

प्राय: लोग शब्दों की शुद्ध वर्तनी जानने के लिए कोश देखते हैं। हम हिन्दी के इस बड़े कोश के केवल चार पृष्ठों से कुछ उदाहरण दे रहे हैं—

पृ० १७८५—'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' के स्थान पर छपा है तत्त्वमिस श्वेतकेती

पृ० १७७०—तत्व, पोधा, ह्लस्वांग छपे हैं।

पृ० १७७१—संतति के स्थान पर संवति और चार बार जीवन चरित में 'त्' (त हलन्त) छपा है।

पृ० १७७४—मूर्च्छा के स्थान पर 'मूर्छा'

प्राय: लोग शब्द के अर्थ जानने के लिए कोश देखा करते हैं। रामचन्द्र वर्मा ने पहली बार प्रामाणिक हिन्दी कोश में संगतियुक्त संयोजन और वैज्ञानिक विकास की ओर ध्यान दिया। किन्तु उन्होंने सभी अर्थों का क्रम आवृत्तियों के अनुसार नहीं रखा। अन्य कोशों में तो कोई वैज्ञानिकता नहीं पाई जाती। संस्कृत के कोशों से अंधा धुंध शब्द और अर्थ उठा लेने का दुष्परिणाम हमें भोगना पड़ रहा है। हिन्दी शब्द सागर में 'गो' शब्द के आगे स्त्रीलिंग में १६ और पुल्लिग में १८ अर्थ गिनाए गए हैं—स्त्रीलिंग (१) गाय (२) रश्मि (३) वृषराशि (४) ऋषभ (५) औषधि (६) (७) सरस्वती (८) दृष्टि (९) बिजली (१०) पृथ्वी (११) दिशा (१२) माता (१३) गोमूर्त्ति (१४) बकरी, भैंस, (१५) भेड़ (१६) एकवीथी। पुल्लिग—(१) बैल (२) नंदी (३) घोड़ा (४) सूर्य (५) चन्द्रमा (६) बाग (७) गवइया (८) प्रशंसक (९) आकाश (१०) स्वर्ग (११) जल (१२) वज्र (१३) शब्द (१४) नौकाअंक (१५) शरीर के रोग (१६) पशु (१७) हीरा (१८) गोभेद। हिन्दी का बड़े से बड़ा विद्वान भी मानेगा कि हिन्दी भाषा में यह सब अर्थ नहीं चलते। क्या हम विजली के लिए यह कह सकते हैं कि 'गो जला दो', या बकरी के लिए कह सकते हैं कि 'गो जा रही है', या माता के लिए कि 'यह मेरी प्यारी गो हैं, या घोड़े के लिए कि 'टाँगे में गो जुता है' ? ३४ अर्थों में एक अर्थ भी तो हिन्दी में नहीं चलता। गाय के लिए भी चाहे गऊ कह दें, पर उसे कोई गो नहीं कहता। हाँ, समासों में यह अर्थ मिल जाता है जैसे गोदान, गोशाला, गोधूलि, गोपाल, गोपुच्छ, गोमूत्र, गोमुख, गोमेद, गोरस आदि। और 'इन्द्रिय' अर्थ गोचर और गोपाल में पाया जा सकता है। बस। शेष ३२ अर्थों से हिन्दी के विद्यार्थी का कतई कोई सबंध नहीं है।

'पंप' की परिभाषा शब्दसागर में यों दी है—"वह नल जिसके द्वारा पानी ऊपर खींचा या चढ़ाया जाता है अथवा एक ओर से दूसरी ओर भेजा जाता है।" पहली बात तो यह है कि वह केवल नल नहीं है, दूसरी बात यह है कि केवल पानी ही क्यों, तेल, गैस, हवा आदि भी सम्मिलित करने चाहिए थे।

बहुत से पुराने शब्दों में भी अर्थ का विकास होता रहता है, किंतु हमारे बड़े से बड़े कोश ने भी इस बात की चिंता नहीं की। अ, आ से ही कुछ एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अतिरिक्त = फ़ालतू
अधिक्रम = अधिकारियों का क्रमिक पद-क्रम
अधिवक्ता = एडवोकेट
अनुचिंतन = मनन
अभिलेख = रिकार्ड
अभ्यार्थी = उम्मीदवार
आकाशवाणी = आल इण्डिया रेडियो
आख्यापन = एलान
आरक्षी = पुलिस
आशंसन = गुणकथन

ऊपर के सब शब्द तो इस कोश में हैं, किन्तु ये अर्थ नहीं है, दूसरे पुराने अर्थ अवश्य हैं।

शब्दों की निरुक्ति हमारे कोशों का सबसे कमजोर पहलू है। उच्चारण और बलाघात दोनों की आवश्यकता का अनुभव किसी कोशकार को नहीं हुआ। व्याकरणिक निर्देशों के सम्बन्ध में भी थोड़ा और सोचने की गुंजाइश है। क्या सं० पु० और अ० क्रिया मात्र देने से काम चल जाता है? हमें शायद यह भी दिखाना चाहिये कि यह संज्ञा भाववाचक है या समूहवाचक है या जातिवाचक। इस संज्ञा के पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग रूप क्या बनते हैं—भैंस-भैंसा, मौसी-मौसा, धोबी-धोबिन, नौकर-नौकरानी आदि क्योंकि प्रायः कोशों में व्युत्पन्न स्त्रीलिंग शब्दों को छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार क्रिया की विस्तृत जानकारी देने की आवश्यकता है।

ऊपर हमने अपनी अधिकांश चर्चा को 'हिन्दी शब्दसागर' तक सीमित रखा है। कोश तो और भी हैं और उनमें रामशंकर शुक्ल रसाल का 'भाषा शब्दकोश' (पृष्ठ संख्या १९०८), कालिका प्रसाद आदि का 'बृहद् हिन्दी कोश' (पृष्ठ संख्या १८००), और रामचन्द्र वर्मा का 'मानक हिन्दी कोश' (पृष्ठ संख्या लगभग ३१००) प्रसिद्ध हैं। वैज्ञानिकता की दृष्टि से वे और भी पिछड़े हुए हैं। हमने 'सागर' (अनुमानित पृष्ठ सख्या ५५००) को इसीलिए चुना है कि उसमें ये सब नदियाँ समा गई हैं। यह फिर कहना पड़ रहा है कि हिन्दी में कोशों से कोश बनते हैं—संस्कृत का शब्द कोश भर लिया गया है, उर्दू का भी; और अब तो ब्रजभाषा, राजस्थानी और अवधी के कोश भी प्रकाशित हो गए हैं। इन्हें भी भरा जा रहा है, और दावा किया जा रहा है कि हिन्दी की शब्द-संपदा एक लाख, अब सवा लाख, अब डेढ़ लाख और दो लाख हो गई है। अब सुनने में आया है कि भारत सरकार वेब्स्टर के आधार पर एक हिन्दी कोश तैयार करने की योजना बना रही है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वेब्स्टर से हिन्दी का शब्द-भण्डार पूरा हो जायगा? अथवा, क्या वेब्स्टर हिन्दी शब्दों के अर्थ निश्चित करने अथवा उनका क्रम निर्धारित करने में सहायक हो सकेगा? वेब्स्टर में दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—एक तो पदों की वैज्ञानिक परिभाषा और दूसरी पर्याय और विलोम शब्दों का संयोजन तथा विभेदीकरण। किन्तु यह कोश आधुनिक कोश-विधान की दृष्टि से आधुनिक नहीं कहा जा सकता। हमें रूसी, जर्मन, और फ्रेंच के प्रामाणिक कोशों के अतिरिक्त अंग्रेजी के यूनिवर्सल, एडवान्स्ड लर्नर्स, और दूसरे कोशों की पद्धतियों को भी जानना-समझना होगा। आज पाश्चात्य देशों में कोश-कला अत्यन्त समुन्नत और प्रगतिशील है। आज का कोश अपनी भाषा की पूरी संरचनात्मक, व्याकरणिक तथा व्यावहारिक जानकारी देने की चेष्टा करता है। खेद है कि हिन्दी में किसी कोशकार का संपर्क पश्चिम की आधुनिकतम विधियों से नहीं है। हिन्दी में कोशों की कमी नहीं है। हिन्दी को घोर आवश्यकता है प्रशिक्षित, अध्यवसायी, एवं जागरूक कोशकारों की।

●

उपन्यास क्या है ?

गोपाल राय

किसी भी साहित्यिक विधा की परिभाषा देना अथवा उसका स्वरूप निर्धारण करना एक मुश्किल काम होता है[1]; वैसी साहित्य विधा को परिभाषित करना और भी कठिन है जो तेजी से विकास कर रही हो। उपन्यास अन्य काव्यविधाओं की तुलना में आधुनिक है और उसका विकास अभी रुका नहीं है। इसलिए आज उसकी जो परिभाषा दी जाती है, वह कल पुरानी पड़ जाती है। इस कठिनाई के बावजूद उपन्यास की परिभाषा करना और उसका स्वरूप निर्धारण करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि इसके बिना औपन्यासिक कृतियों का सही मूल्यांकन करना संभव नहीं होता।

यद्यपि उपन्यास की परिभाषा करना कठिन है, पर उसके उन तत्त्वों की तलाश की जा सकती है जो हर अच्छे उपन्यास में महत्तम समापवर्त्तक के रूप में विद्यमान रहते हैं। हो सकता है कि कोई उपन्यास इन तत्त्वों का अतिक्रमण भी कर जाए पर सामान्य रूप से अन्य विधाओं से उपन्यास की अलग पहचान के लिए इन तत्त्वों का निर्धारण उपयोगी हो सकता है।

उपन्यास : कथा का वंशज

प्रथमतः उपन्यास को हम कथा का वंशज या विकास कह सकते हैं। यह निर्विवाद और सार्वभौम तथ्य है कि उपन्यास कथा से ही विकसित हुआ है। कथा का मनुष्य से संबंध आदिम और मौलिक है। नृशास्त्रवेत्ताओं के अनुसार पुरापाषाण युग का आदि मानव कथा सुनने-सुनाने का आदी था। आदि मानव अपने अवकाश के क्षणों को किस्सा-कहानी कह-सुनकर बिताता रहा होगा, यह अनुमान बिलकुल स्वाभाविक है। आज भी बच्चे और अशिक्षित व्यक्ति किस्सा-कहानियों से अपना मनोरंजन करते ही हैं। यहाँ तनिक रुककर कथा की परिभाषा कर लेना आवश्यक है। **समयानुक्रम में बँधी घटनाओं का वर्णन ही कथा है**। अच्छी कथा की एक ही विशेषता है। वह यह कि उसमें उत्सुकता और कौतूहल उत्पन्न करने की क्षमता हो। जिस कथा में यह क्षमता जितनी अधिक होगी उसे उतनी श्रेष्ठ कथा मानेंगे। देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' कथा का श्रेष्ठ उदाहरण है।

बहुत दिनों तक कथा बालकों और अशिक्षित व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन बनी रही। बाद में इससे एक और काम लिया जाने लगा। वह उपदेश का भी माध्यम बनी। कथा के माध्यम से उपदेश देना सरल कार्य है और संस्कृत में पंचतंत्र तथा हितोपदेश जैसी कथाएँ इसी उद्देश्य से रची गयीं। दूसरी तरफ काव्यों में भी कथा को ग्रहण किया गया।

---

१. फोर्स्टर्स ई० एम०, दि आस्पेक्ट्स आफ नावेल, पृष्ठ

संस्कृत में कथाओं के आधार पर गद्य-काव्यों की भी रचनाएँ हुईं पर कथा को वास्तविक गौरव उपन्यास के उद्भव के बाद ही मिला। उसके पहले तक कथा कम बुद्धि वाले व्यक्तियों की ही चीज मानी जाती थी और काव्यग्रंथों में, यहाँ तक कि गद्यकाव्यों में भी, कथा का स्थान बहुत गौण हुआ करता था। उपन्यास में आकर पहली बार कथा ने अपना वास्तविक उत्तराधिकारी प्राप्त किया। जैसा स्पष्ट है, कथा के दो ही कार्य थे : हल्के धरातल का मनोरंजन और उपदेश। उपन्यास कथा का वंशज होकर भी मनोरंजन और उपदेश से ऊपर की वस्तु है। वह जीवन को उसकी व्यापकता, जटिलता और गहराई में अभिव्यक्त करने वाला सर्वाधिक प्रतिनिधि काव्य-रूप है। उपन्यास ने अपने पूर्वज, कथा, से अलग होने के लिए विद्रोह किया है। उपन्यास से कथा का तत्त्व दिनोंदिन कम होता गया है, और इस दिशा में निरंतर प्रयोग भी हो रहे हैं। पर इसके बावजूद उपन्यास कथा को बिलकुल छोड़ देने में समर्थ नहीं हुआ है। ई० एम० फोर्स्टर्स के अनुसार उपन्यास अपने पूर्वज के इस रोग से न तो मुक्त हो सका है और न हो सकेगा। कथा उपन्यास की रीढ़ है, चाहे वह कितनी ही पतली क्यों न हो। उसके बिना उपन्यास की रचना संभव नहीं है। उसे कम किया जा सकता है : सूक्ष्म बनाया जा सकता है, समयानुक्रम में हेर फेर, उलट-पुलट की जा सकती है, लेकिन उससे सर्वथा मुक्ति नहीं पाई जा सकती। इस प्रकार कथा को उपन्यास के आधार या रीढ़ के रूप में स्वीकार करना ही होगा। यह उपन्यास का सबसे दुर्बल पर अनिवार्य अंग है।

कथा के मौखिक और लिखित रूप

कथा कई रूपों में उपलब्ध होती है। कथा का आदिम रूप मौखिक है। आज भी मौखिक रूप में कथा अशिक्षितों और बच्चों का मनोरंजन करती है। मुद्रण के आविष्कार के पूर्व कथा अधिकतर मौखिक रूप में ही प्रचलित थी। मौखिक कथा उपन्यास नहीं बन सकती। उपन्यास बनने के लिए उसको लिखित रूप ग्रहण करना अनिवार्य है। उपन्यास श्रव्य नहीं हो सकता। संसार की सभी भाषाओं में मुद्रण यन्त्र के प्रचलन तथा पाठक वर्ग के निर्माण के बाद ही उपन्यास का उद्भव संभव हुआ है। यह उपन्यास की विशिष्ट माँग है। कथा जब तक श्रव्य रूप में रहती है वह उपन्यास बनने में असमर्थ होती है। इसका कारण यह है कि उपन्यास केवल कथा नहीं है। वह एक विशिष्ट कलाकार की जीवन-दृष्टि की उपज है। उपन्यास जीवन को उसकी व्यापकता और जटिलता में चित्रित करने का प्रयास करता है और यह लिखित रूप में ही सम्भव है। कथा सार्वजनिक होती है इसलिए कोई भी उसका श्रावयिता बन सकता है। उपन्यास किसी विशिष्ट कलाकार की सृष्टि होता है और उसका एक स्थित निश्चित रूप होता है जो लिखित रूप में ही सम्भव है। उपन्यास का लिखित होना इसलिए भी अनिवार्य है कि जीवन की जो जटिलता, संघर्ष और व्यापकता उपन्यास में अभिव्यक्ति पाती है, उसे सुनकर स्मरण नहीं रखा जा सकता। उपन्यासकार की विशेष दृष्टि जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति पर होती है, जबकि किस्सागो समयानुक्रम में नियोजित वैसी घटनाओं पर बल देता है जो श्रोताओं का कौतूहल बनाए रख सकें। समयानुक्रम में नियोजित घटनाओं को याद रखना सरल है पर जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति जिन जटिल रूपों में होती है उन्हें एक बार सम्पन्न कर लेने के बाद पुनः स्मरण-शक्ति के बल पर ज्यों का त्यों उपस्थित नहीं किया जा सकता। चाहे वस्तु शिल्प की जटिलता की दृष्टि से देखें चाहे मनोवैज्ञानिक चित्रण

की दृष्टि से उपन्यास श्रव्य नहीं हो सकता। यह पाठ्य होकर ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार पाठक-वर्ग के साथ उपन्यास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिन्दी क्षेत्र में जब तक श्रोता-मंडली बनी रही तब तक कथाओं का बोल-बाला रहा, पर जब शिक्षा और मुद्रण यन्त्र के प्रसार से श्रोता पाठक में परिणत होने लगे तो कथाओं में भी जैसे अनिवार्य रूप में औपन्यासिक तत्त्वों के दर्शन होने लगे।

पद्य कथा और गद्य कथा

उपन्यास के लिए कथा का केवल लिखित होना ही नहीं गद्य में लिखित होना भी जरूरी है। कथा पद्य में भी होती है, पर पद्य में लिखित कथा उपन्यास रूप में विकसित नहीं हो सकती। गद्य उपन्यास का अनिवार्य माध्यम है। इसका कारण यह है कि उपन्यास का सम्बन्ध यथार्थ की अभिव्यक्ति से है। पद्य गद्य की तुलना में अधिक कृत्रिम होता है। गद्य हमारी अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है। इसी कारण वह यथार्थ के अधिक निकट मालूम पड़ता है। गद्य प्रायः सामान्य बातचीत का प्रभाव पैदा करता है। इस कारण वह उपन्यास का माध्यम बन सकने में समर्थ होता है।

उपन्यास की लम्बाई

इस प्रसंग में एक प्रश्न यह भी उठता है कि कितनी लम्बी कथा को उपन्यास की संज्ञा दी जाए। कथा बड़ी भी हो सकती है, छोटी भी। 'बड़ा' और 'छोटा' सापेक्ष पद हैं और इनकी कोई निश्चित सीमा तय नहीं की जा सकती। यही कारण है कि उपन्यास के आकार का निर्धारण करने में किसी को सफलता नहीं मिल सकी है और न भविष्य में मिलने की कोई सम्भावना है। उपन्यास का आकार सौ सवा सौ पृष्ठों से लेकर हजार डेढ़ हजार पृष्ठों तक का हो सकता है। अतः उपन्यास कला के पंडितों ने केवल इतना कह कर सन्तोष कर लिया है कि उपन्यास का आकार "पर्याप्त लम्बा" होना चाहिए। सुविधा के लिए हम उपन्यास और कहानी के बीच उपन्यासिका (noveletto) को रखकर उपन्यास के आकार का थोड़ा बहुत निर्णय कर सकते हैं। हम मान ले सकते हैं कि कहानी का आकार **छोटा**, उपन्यास का **पर्याप्त लम्बा** और उपन्यासिका का **दोनों के बीच का** होता है। कभी-कभी कहानी खींचकर उपन्यासिका के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है और कभी उपन्यास सिमटकर उपन्यासिका की सीमा में चला आता है, पर प्रायः इन्हें पहचानने में, यद्यपि थोड़े मनमानेपन के साथ, हम कोई भूल नहीं करते। अतः आकार के सम्बन्ध में इसी निष्कर्ष पर सन्तोष करना पड़ता है कि उपन्यास पर्याप्त लम्बा होता है।

कल्पनाप्रसूत किन्तु यथार्थ संसार का निर्माण

उपन्यास के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें एक काल्पनिक, पर यथार्थ संसार का निर्माण होता है। उपन्यास में चित्रित पात्र और उनके कार्यकलाप कल्पना-प्रसूत होते हैं। इसी दृष्टि से उपन्यास इतिहास, जीवनी और आत्मकथा से भिन्न होता है। इतिहास और जीवनी में वर्णित पात्र और उनके कार्यकलाप तथ्य होते हैं, जबकि उपन्यासकार काल्पनिक व्यक्तियों के काल्पनिक कार्यों का वर्णन करता है। इतिहासकार जो कुछ भी लिखता है, उसके लिए उसे साक्ष्य प्रस्तुत करना पड़ता है। उपन्यासकार के साथ ऐसी कोई सीमा नहीं

है। कभी-कभी उपन्यासों के काल्पनिक पात्र इतने वास्तविक प्रतीत होते हैं कि पाठक भ्रम में पड़ जाता है। कथरीन लीवर (Cathrine Lever) ने इस प्रसंग में एक बड़ा ही मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किया है। क्रिस्टोफर मार्लो के 'किट्टी फ्वायल' नामक उपन्यास को पढ़ते हुए एक पाठक को भ्रम हो गया कि वह वास्तविक घटना का वर्णन पढ़ रहा है। उसने फिलाडेलफिया के पत्र सम्पादक को लिखा कि वह जीवन भर ग्रिस्कॉम स्ट्रीट में रहता आया है, पर फ्वायल नामधारी किसी परिवार को वह नहीं जानता। किन्तु, उपन्यास का विवेकशील पाठक जानता है कि उपन्यास के पात्र वास्तविक संसार में नहीं जीते। वे केवल पुस्तक के पृष्ठों में या लेखक और पाठक की कल्पना में जीते हैं। अतः इतिहास, जीवनी, आत्मकथा, मनोवैज्ञानिक रोगों के इतिहास तथा डायरी से उपन्यास की भिन्नता स्पष्ट है। उपन्यास और तथ्य में कभी-कभी इस कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि आरम्भ से ही उपन्यासकार अपने पाठकों को अपने द्वारा निर्मित संसार की यथार्थता का अधिकाधिक बोध कराने के लिए इस प्रकार की शैली अपनाते रहे हैं मानों वे किसी तथ्य का वर्णन कर रहे हों। पर विवेकशील पाठक बाहरी रूप से भ्रम में नहीं पड़ता। वह जानता है कि 'शेखर एक जीवनी' का शेखर और 'बाणभट्ट का आत्मकथा' का बाणभट्ट काल्पनिक पात्र हैं, वास्तविक नहीं।

पर जैसा ऊपर कहा गया है उपन्यास का संसार कल्पना-प्रसूत होने पर भी यथार्त होता है। कुछ लोग **यथार्थ** और **कल्पना-प्रसूत** में कोई फर्क नहीं कर पाते। इसलिए उनकी दृष्टि में जो कुछ भी कल्पना प्रसूत है वह अयथार्थ होता है। किन्तु यह सीमित और संकुचित दृष्टि का परिणाम है। वास्तव में जो कुछ भी विश्वसनीय और सम्भव होता है वह वास्तविक संसार में अधिकृत होने पर भी यथार्थ कहलाने का अधिकारी है। उपन्यासकार के पात्र, उनकी परिस्थितियाँ और कार्य-कलाप अवश्य ही काल्पनिक होते हैं, पर उनमें कोई भी ऐसी बात नहीं होती जो संभावना से परे हो। पात्रों की परिस्थितियाँ, उनके आस पास के वातावरण एवं उनके कार्यकलाप ही नहीं, उनके नाम, निवास-स्थान तथा वेशभूषा तक संसार के अन्य व्यक्तियों की तरह होते हैं। उपन्यास में कुछ भी ऐसा नहीं होता जो विश्वसनीय न कहा जा सके। कोई कथा उपन्यास की संज्ञा तब तक नहीं पा सकती जबतक उसमें चित्रित जीवन विश्वसनीय और संभव न हो। इसी आधार पर हम रूमानी कथाओं और उपदेशाख्यानों को उपन्यास की संज्ञा नहीं देते। रूमानी कथाएँ अपने श्रोताओं को जिस संसार में ले जाती हैं, वह शौर्य और उत्तेजक साहसाभियानो, वीर पुरुषों और संमोहक स्त्रियों, दुर्जन जादूगरों और सज्जन महात्माओं और सबसे ऊपर एक आदर्शाकृत प्रेम का संसार होता है। इस संसार के पर्वत, नदियाँ, जमीन, मनुष्य तथा उसके नियम हमारे संसार से सर्वथा भिन्न होते हैं। वहाँ के पर्वतों में तिलिस्म भरे रहते हैं, जमीन सोने और चाँदी की होती है, नदियाँ नालों से भरी होती हैं, नायिकाएँ सोने से मढ़ी होती हैं तथा पशु-पक्षी मनुष्य की भाषा बोलते हैं। इन कथाओं के नायक-नायिका केवल प्रेम की दुनियाँ में विचरण करने वाले आलंकारिक भाषा में विरह-निवेदन करने वाले तथा जीवन की दैनिक समस्याओं से मुक्त स्वच्छन्द प्राणी होते हैं। ये रोमांस के दो कार्य करते थे—एक गुदगुदाहट दूसरा मनोरंजन तथा एक विशेष प्रकार के जीवन दर्शन का सुस्वादु रूप में संप्रेषण। अधिकांश प्राचीन रूमानी कथाएँ श्रोताओं की चेतना को हितकर रूप में वद्र्धित नहीं करतीं। इन कथाओं का उद्‌देश्य जीवन के अनुभव

का सार उपस्थित करना नहीं, वरन् उत्तेजना के लिए उत्तेजक उत्पन्न करना होता था। वे वैसे व्यक्तियों की अतृप्ति और उचाटपन पर जाती हैं, जिन्हें करने के लिए कोई काम नहीं होता या वे जो कुछ करते हैं उसमें उन्हें अत्यल्प संतोष होता है।

यथार्थ सम्बन्धी इसी वैशिष्ट्य के कारण उपन्यास उपदेशाख्यानों (मोरल फेबल्स) से भिन्न हो जाता है। उपदेशाख्यान भी लिखित गद्यकथा है जो कल्पना प्रसूत तो होती ही है पर जिसमें कोई संसार नहीं होता। उपदेशाख्यान में उपदेश की प्रधानता होती है। उसके पात्र कुछ विशेष गुणों को उदाहृत करते हैं। उनका कोई अस्तित्व नहीं होता, केवल 'अर्थ' होता हैं। उनके कार्य-कलाप किसी विचार की पुष्टि मात्र करते हैं। उनमें कोई नैतिक दर्शन प्रधान होता है और पात्र तथा कथानक लेखक के दृष्टिकोण के सामने गौण होते हैं। उदाहरणार्थ पंचतन्त्र के पात्रों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, यद्यपि के लेखक के उद्देश्य की पूर्ति करने में पर्याप्त सक्षम हैं। उपदेशाख्यान का लेखक लिखना आरम्भ करने के पूर्व उसके केन्द्रीय विचार का निर्धारण कर चुका रहता हैं। उपदेशाख्यान जीवन सम्बन्धी किसी विचार या नैतिक सत्य को उदाहृत या व्याख्यात करता है। वह विचार या दृष्टिकोण एक सूक्ति के रूप में भी हो सकता है या काफी स्पष्ट जीवन-दृष्टि के रूप में। जैसे अंग्रेजी उपन्यास (गुलिवर्क्स ट्रेवेल) में मुख्य बात है व्याख्या और दृष्टान्तीकरण। इस प्रकार उपदेशाख्यान का लक्ष्य किसी नैतिक सत्य को उदाहृत करना होता है जबकि उपन्यास एक ठोस संसार को हमारे सामने रखता है। उपदेशाख्यान की सीमा यह होती है कि इसमें जीवन का अति सरलीकरण या मिथ्या दर्शन होता है। इसमें 'जीवन' नहीं होता, केवल विचार या नैतिक सत्य का उदाहरणीकरण होता है, जबकि उपन्यास के पृष्ठों में जीवन उफनाता रहता है। उपन्यासकार जीवन के यथार्थ अनुभव को पात्रों के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास करता है। उपन्यास-लेखक नैतिक सत्य के चित्रण में नहीं, जीवन के चित्रण में रुचि रखता है। उसकी दृष्टि इस बात पर रहती है कि पुरुष या स्त्रियाँ क्या करती हैं। वह निर्णय और मूल्यांकन में उतना समय नहीं लगाता, जितना मानव प्राणियों और उनके कार्यों का रुचि और उत्साह के साथ आलेखन करने में।

इस प्रकार उपन्यास यथार्थवादी गद्य कथा है—उपदेशाख्यानों और रूमानी कथाओं से सर्वथा भिन्न। इस दृष्टि के 'कादम्बरी' और 'दशकुमार चरित' जैसे गद्य काव्य,—'बैताल पचीसी' 'सिंहासन बत्तीसी' 'चहार दर बेश' और 'किस्सा तोता मैना' जैसी लोक प्रचलित कहानियाँ, 'रानी केतकी की कहानी' जैसे प्रेमाख्यान, तिलस्मी तथा जासूसी कथाएँ उपन्यास नहीं कहला सकती। यद्यपि इन्हें भी सामान्य रूप में 'उपन्यास' की संज्ञा मिल जाती हैं, पर यहाँ 'उपन्यास' शब्द प्रयोग उहुत शिथिल रूप से होता है उपन्यास एक कला रूप है और अपने यथार्थवादी वैशिष्ट्य के कारण वह कथा के इन रूपों से भिन्न होता है।

औपन्यासिक यथार्थ

अब हम विवेचन के उस बिन्दु पर पहुँच गए हैं, जहाँ उपन्यास में चित्रित 'जीवन' अथवा यथार्थ की व्याख्या अपेक्षित है। हम कहते हैं कि उपन्यास जीवन का प्रतिनिधित्व करता है, पर जब हम इसके अर्थ पर विचार करने लगते हैं तो हमें काफो उलझन का सामना करना पड़ता है। 'जीवन' का आखिर मतलब क्या है ? यदि हम किसी व्यक्ति के जीवन को देखें

तो हमें उसमें पाँच प्रमुख बातें दिखाई पड़ती हैं—जन्म, मृत्यु, भोजन, शयन और प्रेम। जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर हैं पर उपन्यास में इनका चित्रण बहुत गौण रूप में ही होता है। इसी प्रकार भोजन और शयन हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग है, पर उपन्यास में इनकी स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होती। रहा प्रेम जिसका चित्रण उपन्यास में बहुत व्यापक रूप में होता है। प्रेम शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया जा रहा है। सभी मानव सम्बन्धों में मूल में यह प्रेम विद्यमान होता है। उपन्यास मानव सम्बन्धों के चित्रण का प्रयास करता है। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने पर उपन्यास वास्तविक जीवन का पूरा प्रतिनिधित्व करता नहीं दीखता। वह जीवन के पञ्चम अंश का ही प्रतिनिधित्व करता है। फिर उपन्यास को जीवन का पूर्ण प्रतिनिधि कैसे माना जाए ? पर यह आपत्ति स्थूल रूप से देखने पर ही महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ती है। जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर होने पर भी हमारे लिए उतना महत्त्व नहीं रखते। हमें अपने जन्म की कोई स्मृति नहीं रहती और मृत्यु के बाद जीवन व्यर्थ हो जाता है। यही कारण है कि हम अपने जीवन में जन्म और मृत्यु की बहुत परवाह नहीं करते। शयन की स्थिति भी निष्क्रियता की स्थिति होती है, और भोजन न हो तो भोजन की समस्या उपन्यास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती है। मनुष्य के सारे कार्यकलाप प्रेम से स्पन्दित होते हैं और इसलिए उसके अन्तर्गत सार रूप में सारा जीवन आ जाता है। इस लिए यह कहना कि उपन्यास मानव जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करता, स्थूल दृष्टि का परिचायक है सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उपन्यास ही वह काव्य-रूप मालूम पड़ता है जो जीवन का सही प्रतिनिधित्व करता है।

पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि औपन्यासिक यथार्थ की पहचान इस बात से नहीं होती कि उपन्यास में किस प्रकार के जीवन का चित्रण किया गया है; वरन् उसकी पहचान इस रूप में होती है कि जीवन किस रूप में चित्रित किया गया है। उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत अनुभव द्वारा उपलब्ध सत्य—जो सदा अनन्य और इसलिए नवीन होता है—का चित्रण है। इस सत्य को उपन्यासकार इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह कार्य-कारण की शृंखला में बँधा हुआ हो। उपन्यास की घटनाएँ वास्तविक संसार की घटनाओं की तरह किसी खास व्यक्ति, किसी खास समय और किसी खास स्थान से सम्बद्ध होती हैं। प्राचीन कथाओं में इस 'खासियत' पर जोर नहीं दिया जाता था। उन कथाओं के पात्र सामान्यतः मानव प्रतिरूप हुआ करते हैं, जो साहित्यिक रूढ़ियों से नियोजित पृष्ठभूमि में कार्यशील दिखायी पड़ते हैं। उदाहरण के लिए पुरानी प्रेम कहानियों के नायकों की कोई अपनी व्यक्तिगत विशेषता नहीं होती। वे प्रतिरूप अथवा टाइप मात्र होते हैं। इसके विपरीत उपन्यासकार उपन्यासों के पात्रों का व्यक्तिकरण करता है। वह उन्हें विशिष्ट नाम ही नहीं देता वरन् विशिष्ट व्यक्तित्व से भी सम्पन्न कर देता है। उपन्यास ने पहली बार व्यक्तिवाचक नामों की सार्थकता स्थापित की। उपन्यासकार अपने पात्रों का नामकरण इस रूप में करता है कि वे विशेष व्यक्ति जान पड़ें। इसके साथ-साथ उपन्यासकार सरल, स्पष्ट और सटीक भाषा में पात्रों के अंग-विन्यास तथा वेश-भूषा का ऐसा विश्वसनीय वर्णन करता है, जिससे कि वह विशिष्ट व्यक्ति के रूप में अपनी छाप हमारे मन पर छोड़ सके।

मनुष्य के कार्य-कलाप किसी विशेष समय और विशेष स्थान में ही सम्पन्न होते हैं।

सच पूछें तो हम किसी कार्यरत मनुष्य को दिक् और काल के आयाम से अलग करके पहचान नहीं सकते। उपन्यासकार पात्रों के कार्य-कलापों के समय और स्थान का ब्योरेवार वर्णन करके पाठकों के मन में यह प्रतीति उत्पन्न करता है कि उसकी कथा एक विशेष काल और स्थान में घटित हो रही है। उपन्यासों में वर्ष, माह, सप्ताह, दिन यहाँ तक कि समय तक का उल्लेख देखा जाता है। अंगरेजी के १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार रिचर्डसन ने एक घटना का वर्णन इस रूप में किया है—"सात सितम्बर बृहस्पतिवार को छः बजकर चालीस मिनट पर क्लैरिसा का देहान्त हुआ।" इस प्रकार की समय-योजना से उपन्यास में वर्णित कार्य-कलाप सहज ही विश्वसनीय बन जाते हैं। दिक् और काल में अन्योन्याश्रय है। उपन्यासकार समय की तरह स्थान के वैशिष्ट्य पर भी बल देता है। वह उस स्थान का, जहाँ कोई कार्य सम्पन्न होता है, ब्योरेवार वर्णन प्रस्तुत करता है। उपन्यासों में स्थानों, गाँवों और नगरों के नाम ही नहीं, उनके विवरण भी वास्तविक होते हैं। उपन्यासकार घटनाओं के भूगोल के प्रति पूरा सावधान रहता है। अंगरेज उपन्यासकार फिल्डिङ्ग का टॉम जॉन्स जिन मार्गों से होकर लन्दन जाता है, उनके बिलकुल वास्तविक नाम और ब्योरे उपन्यास में दिये गये हैं। अमृत लाल नागर के उपन्यासों में लखनऊ की सड़कों, गलियों तथा अन्य जगहों के नाम और उनके ब्योरे बिलकुल वास्तविक रूप में आये हैं। प्रायः सभी उपन्यासकार अपने कल्पनाप्रसूत संसार को वास्तविक बनाने के लिए इस पद्धति का सहारा लेते हैं।

इस प्रकार किसी विशिष्ट स्थान और समय में व्यक्तियों के यथार्थ अनुभव और कार्य कलाप का विश्वसनीय लेखा-जोखा प्रस्तुत करना उपन्यास का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपन्यासकार ऐसी गद्यशैली का सहारा लेता है, जो पूर्ण प्रामाणिकता का भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ होती है। पुरानी कथाओं में आलंकारिक भाषा, जिसे पाश्चात्य दार्शनिक लॉक भाषा का दुरुपयोग कहते हैं प्रयुक्त होती है, जबकि उपन्यासों में इसका सावधानी के साथ त्याग किया जाता है। प्राचीन कथाओं की गद्य शैली का प्रमुख उद्देश्य शब्दों के द्वारा किसी वस्तु को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना नहीं, वरन् बाह्य सौन्दर्य उत्पन्न करना होता था जो अलंकारों के रूप में वर्णनों पर आरोपित कर दिया जाता था। उपन्यास की भाषा बाह्य सौंदर्य, आलंकारिकता या सजावट से सर्वथा रहित पात्रों के कार्य कलापों को ठीक उसी रूप में व्यक्त करने वाली होती है, जिस रूप में वे घटित होते हैं।

'नया' पन : उपन्यास की पहली माँग

उपन्यास का स्वरूप तब तक स्पष्ट नहीं किया जा सकता जब तक हम उसके अंगरेजी पर्याय 'नोवेल' के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को ध्यान में न रखें। 'नोवेल' का शाब्दिक अर्थ है 'नया' अतः उपन्यास होने के लिए रचनाकार द्वारा निर्मित संसार का 'नया' होना अनिवार्य है। यदि उपन्यास का उद्भव यथार्थ के प्रत्यक्ष दर्शन से होता है तो वह अनिवार्यतः 'नया' होगा ही। उपन्यासकार अपने आस-पास की दुनिया को, अपने चार ओरों फैले यथार्थ को, नवीन रूप में ही देखता है। उसका 'विजन' उसकी दृष्टि बिलकुल मौलिक अथवा नवीन होती है। इसके बिना कलात्मक उपन्यास या वास्तविक उपन्यास की रचना सम्भव नहीं है। वास्तविक उपन्यास किसी सूत्र या परिपाटी का अनुकरण मात्र नहीं होता। जासूसी कहानियाँ तथा

रूमानी कथाओं के अपने-अपने सूत्र या रूढ़ियाँ होती हैं। इन कथाओं में जिस संसार का विवरण होता है वह ऊपर-ऊपर से इतना भर विश्वसनीय होता है कि हम उसे पढ़ना बन्द न करें, पर वह उतना विश्वसनीय नहीं होता कि हमारे मन में उसके यथार्थ होने का भ्रम उत्पन्न हो। इस प्रकार उपन्यास की नवीनता व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि की नवीनता और उपन्यासकार के व्यक्तित्व के अनोखेपन में निहित है। नोवेल के हिन्दी पर्याय 'उपन्यास' में इस नवीनता को व्यंजित करने वाला कोई अर्थ निहित नहीं है। हिन्दी उपन्यास के आरम्भिक काल में कुछ लेखकों ने नोवेल के लिए 'नवन्यास' शब्द को चलाना चाहा था पर वह नहीं चल सका। किन्तु उपन्यास शब्द से भले ही यह अर्थ व्यञ्जित न होता हो, पर उपन्यास की परिभाषा करते समय हम इस विशेषता को भूल नहीं सकते।

इस विवेचन के आधार पर हम उपन्यास की एक संक्षिप्त और यथा सम्भव दोषरहित परिभाषा का निर्माण कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि उपन्यास पर्याप्त आकार वाली वह लिखित गद्य कथा है जो पाठक को एक काल्पनिक, किन्तु यथार्थ संसार में ले जाती है जो लेखक के व्यक्तिगत अनुभव और उसकी अन्तर्दृष्टि से युक्त होने के कारण नवीन होती है। यह परिभाषा सम्भव है, किसी उपन्यास विशेष के लिए पर्याप्त न हो; पर इससे 'उपन्यास' को पहचानने में सुविधा होगी, यह बिना संकोच के कहा जा सकता है। उपन्यास के क्षेत्र में प्रयोग होते रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे, अतः उपन्यास की कोई भी परिभाषा पूर्ण और निर्विवाद नहीं हो सकती। फिर भी उपन्यास को समझने के लिए कोई 'प्रस्थान-बिन्दु' चाहिए और यह परिभाषा वह बना सकती है।



समकालीन जीवन प्रक्रिया और अज्ञेय का कृतित्व

रामस्वरूप चतुर्वेदी

विवेचन को शुरू करते समय यह जरूरी होगा कि हम आधुनिक मानव परिवेश की प्रकृति और रचना से उसके सम्बन्ध को समझें। यह मानना होगा कि मनुष्य सारे मूल्यों का स्रोत और उपादान है, और वह स्वयं उनके विघटन का कारण भी है। ईश्वरवादियों को भी यह उपपत्ति मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि मनुष्य ईश्वर की आकृति में ढला है या कि उसने ही ईश्वर को अपनी आकृति में ढाला है। बहरहाल, तत्त्वतः संबद्ध दोनों स्थितियों में कोई बड़ा भेद नहीं है। पर सहस्रों वर्षों में निर्मित और विकसित मानवीय मूल्य अब सर्वतः विघटित होते जा रहे हैं, यह हमारी वर्तमान सभ्यता की चिन्ता का केन्द्रीय विषय है। यों तो संक्रमण और मूल्यहीनता की स्थिति मानवीय इतिहास में अनेक बार आयी है—संक्रमण का रोना लगभग हर युग का साहित्यकार रोया है—पर यह मानना होगा कि अब तक के संक्रमण अपनी प्रकृति में संशोधन और सुधारपरक अधिक थे। इधर प्रायः द्वितीय महा-युद्ध की समाप्ति के बाद से तो मूल्य संबंधी मौलिक आधार ही जैसे उखड़ गए हैं।

द्वितीय महायुद्ध को इस प्रसंग में तिथि जैसा मानने का कारण है। यह सर्वस्वीकृत है कि मूल्य विघटन की इस स्थिति को लाने में विज्ञान और प्रविधि का सबसे अधिक हाथ है। एक बार यह मान लेने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध के समय संबद्ध राष्ट्रों ने जैसे भीषण दबाव में जीवन-यापन किया, उसी में यह संभव था कि प्रतिद्वन्द्विता और आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित हो कर के विज्ञान और प्रविधि का इतनी तेजी से विकास कर सके। अणुबम के विकास का जो इतिहास अब हमारे सामने है, उस से स्पष्ट है कि यदि द्वितीय महायुद्ध न होता तो अणुबम और अणु-विद्या का विकास कई दशकों के बाद होता, शायद न भी होता, और यदि होता भी तो कुछ भिन्न रूप में होता। इस तरह अणुशक्ति के आविष्कार से लेकर अंतरिक्ष-यात्रा का आयोजन तक युद्धकालीन मनः स्थिति के दबाव में अधिक हुआ है। युद्धकालीन जीवन की क्षिप्रता और गति शांतिकालीन जीवन की तुलना में कहीं अधिक होगी, और उस युद्ध काल के उखड़े हुए मूल्य—परिवार, धर्म, परंपरागत नैतिकता आदि के मौलिक संदर्भों में—फिर नहीं जम सके। क्यों कि महायुद्ध तो समाप्त हो गया, पर उसके स्थान पर आसानी से न समाप्त होने वाला शनि-युद्ध आरम्भ हो गया। अमरीका, रूस, इंगलैण्ड, फ्रांस और एशिया के अपेक्षाकृत विकसित देश भी अन्दर-अन्दर युद्ध के लिए अपने को तैयारी की हालत में रखते रहे हैं। इस प्रकार युद्ध की मनोवृत्ति का दबाव कम नहीं हुआ है, बढ़ा ही है। और इस मनोवृत्ति का प्रभाव-क्षेत्र फैलता जाता है। फलतः चाहे-अनचाहे भारी उद्योग और प्रविधि की लपटें भी फैलती जाती हैं। संकटकालीन स्थिति अब हमारी सामान्य स्थिति हो गयी है।

प्रविधि के विकास का एक सीधा परिणाम यह हुआ है कि गति बढ़ी है, और संसार की सीमाएँ संकुचित हुई हैं। इससे मनुष्य एक दूसरे के अधिकाधिक संपर्क में आया है। और यह मनुष्य का तेजी से बढ़ता हुआ संपर्क मूल्य-हीनता की स्थिति का एक प्रधान कारण है। एक सीमा के बाद मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा हो जाता है। अधिकाधिक बार संपर्क होते रहने से मनुष्य की अनुभूति शक्ति का क्षरण होता है। लोहे को लोहा ही काट देता है। और अनुभूति के क्षरण का अर्थ है मानवीय सौहार्द में उत्तरोत्तर कमी तथा एक तरह की कठोरता का विकास, जिसका साक्ष्य हमारा समकालीन जीवन और साहित्य दोनों ही प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य का मनुष्य से संपर्क बढ़ते हुए रूप में तनाव, द्वन्द्व या संघर्ष की मनः स्थिति को जन्म देता है, जो कि बौद्धिक चेतना-केन्द्रों के परस्पर संपर्क का स्वाभाविक परिणाम है, खासतौर से आधुनिक परिग्रही समाज में। अब से कोई बीस वर्ष पहले तक भारत का औसत मनुष्य अपने समूचे जीवनकाल में सौ-दो सौ व्यक्तियों से मिल पाता था। पर संचार (रेल, मोटर, जहाज) और अप्रत्यक्ष (डाक-तार-टेलीफोन, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा आदि) साधनों की सहायता से अब उसके परिचय और भावनात्मक संसक्ति का क्षेत्र कई सौ प्रतिशत बढ़ गया है। उन्नत देशों में तो इस परिचय ओर संसक्ति का विस्तार और भी तेजी से बढ़ा है। चेतना-केन्द्रों का यह तीव्र गति से बढ़ता हुआ संपर्क मानवीय अनुभूति पर बहुत बड़ा दबाव हो रहा है, जिससे अनुभूति का क्षरण होता है, और स्नायविक रोगों की बढ़ोतरी। कुल मिला कर 'अनुभूति' के क्षेत्र में 'सनसनी' का प्रवेश तेजी से बढ़ता जा रहा है।

दूसरी ओर, बढ़ती हुई गति ने सारे मानवीय संबंधों और प्रतिमानों को अस्थिर कर दिया है। परिवार, धर्म, प्रेम और सामाजिक आचरण की अन्य मर्यादाएँ अनिश्चित हैं। यह इसलिए भी है कि जहाँ मनुष्य-मनुष्य से टकरा रहा है वहाँ अनेक राष्ट्र और जातियाँ, उनकी जीवन-पद्धतियाँ और संस्कृतियाँ परस्पर टकरा रही हैं। इन प्रभावों, संघातों को उनकी बढ़ती हुई संख्या में आत्मसात् करना, समरस बनाना एक सीमा के बाद संभव नहीं लगता। फलतः संसार के विभिन्न क्षेत्रों के बीच परस्पर के संपर्क में जितनी समता विकसित होती है, उससे कहीं अधिक संघर्ष और वैमनस्य बढ़ता है। ऐसी स्थिति में अनुभूति का क्षरण मानव जीवन के आंतरिक अर्थ को विकसित नहीं होने देता। उसका परिणाम है अनर्थक, मूल्यहीन, अर्थहीन जीवन की स्थिति।

समकालीन साहित्य का नवीनतम अंश (भूखी-विद्रोही पीढ़ी, अन्यथावद्ध और अनर्थकता के आंदोलन, कथा-साहित्य में अनेक नामों के अंतर्गत "सेक्स" का बढ़ता हुआ यापन-भाव आदि) जहाँ तक इन स्थितियों का अंकन करता है, वह एक माने में सही और प्रामाणिक है। उसका मूल विद्रोह परंपरागत जीवन की अर्थहीनता को ले कर है, जो समझ में आता है। इस संदर्भ में किया गया अनेक सामाजिक स्थितियों का नितांत उघरा चित्रण उपलक्षण मात्र है। पर उस समूचे बिखराव में सार्थकता खोजना ही तो मनुष्य का लक्षण और दायित्व है। यह ठीक है कि जीवन में परंपरागत ढंग से प्रतिष्ठित अर्थ आज बेमानी, कृत्रिम और उबकाई लाने वाला लग सकता है पर तब उचित होगा कि पुराने अर्थ को निरस्त करके हम नये अर्थ का सृजन करें, क्यों कि जीवन में अर्थ को नकार कर तो हम मानवीय जीवन के वैशिष्ट्य को ही नकारते हैं, और मनुष्य को सामान्य पशु के धरातल पर उतार देते हैं।

इस दृष्टि से समकालीन साहित्य के लिए सबसे बड़ी चुनौती अर्थहीन लगने वाले मानव जीवन में नये अर्थ-संदर्भों के निर्माण की है। ये अर्थ-संदर्भ सर्वथा नये हों, परंपरागत मान्यताओं से बिल्कुल अलग हों, इसमें एतराज नहीं हो सकता। पर जीवन के लिए—या कि समस्त सृजन के लिए ही—अर्थ-संदर्भ हो, यह मौलिक अनिवार्यता है। सृजन का उद्देश्य ही अर्थ का निर्माण है, उससे छुटकारा नहीं। इस प्रकार अर्थहीनता मानवीय नियति नहीं है, वरन् अर्थ का सृजन मानवीय नियति है। जैविक धरातल का सृजन तो प्राणि-मात्र में समान है। इस जैविक सृष्टि के अन्तर्गत संवेदनात्मक अर्थ का सृजन और संचरण मानवीय जीवन की विशिष्टता, इसलिए चरम-मूल्य और दायित्व है। साहित्य इस सार्थकता की खोज का प्रमुख माध्यम रहा है, और अब भी है, क्योंकि धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान की तुलना में उसकी प्रकृति और उसकी भाषा अधिक संपृक्त, अधिक मानवीय और इसीलिए अधिक सर्जनात्मक है। साहित्य इस स्तर पर अर्थ से साक्षात्कार का माध्यम नहीं, वरन् अर्थ से साक्षात्कार की प्रक्रिया है। अपने संश्लिष्ट रचना-संगठन के माध्यम से, अपने मासिक अर्थों की टकराहट और उससे उत्पन्न वैविध्य और विस्तार से जीवन में सार्थकता की अनुभूति निष्पन्न कराते चलना ही साहित्य का मुख्य दायित्व और उपलब्धि है। अपने इस दायित्व को छोड़कर साहित्य साहित्य नहीं रह जाता, भले वह सामाजिक या राजनैतिक आंदोलन हो जाये याकि दिलचस्प किस्सा गोई बन जाये या संप्रेक्षण की शक्ति घोषित रूप में विरहित रूपाकार मात्र रह जाये। भूखी पीढ़ी, नयी कहानी या अकविता के लिए ये बहुत बड़े खतरे हैं, जिन्हें ठीक-ठीक समझने की कोशिश अभी प्रायः नहीं हुई है।

आधुनिक सभ्यता का गठन अधिकाधिक यंत्र को केन्द्र में रखकर हो रहा है। यंत्र में आवृत्ति और प्रसार की क्षमता है, संप्रेषण की नहीं। इसलिए यंत्र की सहायता से अधिकाधिक मनुष्य एक दूसरे के संपर्क में तो आ रहे हैं, पर उनमें संप्रेषण और संप्रेषण से उत्पन्न आपसी समझदारी का अभाव होता जा रहा है। यंत्र से गति बढ़ी है, पर प्रायः अनुभावन शक्ति की कीमत पर। इस प्रसंग में तर्क किया जा सकता है कि मानवता के इतिहास में अभी तक गति तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही है और उसके साथ क्रमशः समायोजन भी किया जाता रहा है। और तब फिर कोई कारण नहीं कि यह समायोजन भविष्य में भी संभव न हो।

इस तर्क में निश्चय ही शक्ति है। वस्तुतः यह समूची स्थिति ही आधुनिक साहित्य की भाव-भूमि है, जिसे बिना समझे हम हिंदी के आधुनिक कृतित्व का सार्थक आस्वादन और सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। इस संदर्भ में जो मुख्य विचारणीय बात है, वह यह कि मनुष्य की गति और उसकी अनुभावन क्षमता के बीच, इतनी शताब्दियों के समायोजन के बाद, अब उल्टे अनुपात की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी है। गति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है—और वह उत्तरोत्तर तेजी से बढ़ती ही जाती है—त्यों-त्यों मनुष्य की अनुभावन-क्षमता क्षीणतर होती जाती है, क्योंकि उसकी स्मरण-शक्ति की ही तरह अनुभावन शक्ति की भी अन्ततः एक सीमा है। पर दूसरी ओर मनुष्य बराबर एक दूसरे के संपर्क में अधिकाधिक आते जायँगे, फलतः उनकी अनुभूति पर दबाव बढ़ता जायेगा, जिससे कि एक सीमा के बाद वह भोथरी होने लगेगी। इस दृष्टि से वन्य सभ्यता से कृषि सभ्यता और फिर औद्योगिक जीवन के आरम्भ तक मानवीय विकास की गति जो रही, वह औद्योगिक सभ्यता के अपने विकास को देखते हुए

कुछ भी नहीं है। अब तो गति का होना ही गति के बढ़ने का कारण हो गया है। परंपरित शब्दावली का सहारा लेते हुए कहा जा सकता है कि भौतिक विकास ज्यामितिक गति से बढ़ रहा है और अनुभावन क्षमता बमुश्किल अंकगणितीय गति से बढ़ पा रही है। अतः इन दोनों प्रकार की गतियों के बीच किसी प्रकार समायोजन की संभावना नहीं दिखाई पड़ती। इस वैषम्य को देखते हुए, हमारी वर्तमान प्रविधि-प्रधान संस्कृति की समस्या है—यंत्र में मानवीय संस्पर्श लाना और यह देखना कि मशीन के संस्पर्श से मनुष्य भी यंत्र न हो जाये, व्यक्तित्व और अनुभूति से विहीन न हो जाये। इस खतरे की ओर पश्चिम के अल्डस हक्सले जैसे वैज्ञानिक लेखकों ने तीव्र संकेत किया है। आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषी गाँधी अपने समूचे जीवन में, और साहित्यकार जयशंकर प्रसाद ने अपनी उत्कृष्ट रचना 'कामायनी' में मानवीय सभ्यता के इस वर्तमान खतरे की ओर बड़ी क्षमता के साथ ध्यान आकृष्ट किया है।

भारत उद्योगीकरण के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है, और इस स्थिति की वजह से हमें इस बात की छूट और सुविधा है कि हम उन गलतियों से बच सकते हैं, जो यूरोप ने अपने विकास के दौरान की हैं। धार्मिक संस्कृति का कभी हमने विकास किया था, और अब वैज्ञानिक संस्कृति के परिष्कार का दायित्व हमारे ऊपर है। यह हमारे वश में है, और करणीय है। पर इसके लिए हमें इतिहास के दबाव को समझना होगा, और उसके प्रति सही प्रतिक्रिया करनी होगी। हमें इस रूप में विकास करना है जिससे मनुष्य की अनुभूति और उसके व्यक्तित्व का क्षरण न हो। उसके लिए खतरे कई तरह के हैं। पहला खतरा यन्त्र या प्रविधि-सभ्यता का है, जिसकी चर्चा हमने अभी की है और जिसका एक मूर्त्त डरावना रूप अल्डस हक्सले की प्रसिद्ध कथा कृति 'दि ब्रेवन्यू वर्ल्ड' में अंकित हुआ है। एक दूसरा खतरा राजनैतिक स्तर पर सर्व-सत्तावादी पद्धति का है, जिसका चित्रण अपेक्षाकृत अधिक मनोरंजक ढंग से जॉर्ज ऑरवैल ने 'एनीमल फार्म' में किया है। इस व्यंग-कथा में एक ऐसे समाज का अंकन है, जिसमें सब लोग बराबर हैं, पर सबकी तुलना में कुछ लोग अधिक बराबर हैं। 'अधिक बराबरी' का यह मुहावरा अपने में जितना अर्थवान है, उतना ही तीखा भी। इन्हीं से सम्बद्ध कुछ खतरे और हैं, जैसे महानगरीय जीवन के, या कि प्रविधि सभ्यता में अन्तर्निहित गति के और सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाना है। इस सबका उपाय एक ही है—मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र के बीच उचित अनुपात विकसित करना। मनुष्य का मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र से सही अनुपात में सम्बन्ध हो, यही काम्य है। मनुष्य न तो यन्त्र से क्षरित हो और न मनुष्य से ही। नये समाज और संसार की यही केन्द्रीय समस्या है। इसे सुलझाने में साहित्य का गुणात्मक योग होना चाहिये।

आधुनिक साहित्य में व्यक्तित्व और उसकी सर्जनात्मकता की सबसे गहरी और सार्थक चिन्तना अज्ञेय के कृतित्व में मिलती है। समकालीन जीवन के जिन खतरों की ओर अभी उल्लेख किया गया है, उनसे उबरने के लिए मनुष्य के सर्जनात्मक व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए विकसित करना ही, पुरानी शब्दावली में, आधुनिक जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। सर्जनात्मक व्यक्तित्व मूलतः स्वाधीन होगा, और स्वाधीन होकर ही दायित्व का अनुभव किया जा सकता है। इसीलिए महायुद्ध में फासिस्टों के विरुद्ध न्याय के पक्ष का समर्थन करने में दायित्व स्वीकार के लिए गाँधीजी ने भारतीय स्वाधीनता को पहली शर्त माना था। अज्ञेय ने

अपने कृतित्व में बुनियादी तौर पर मानव व्यक्तित्व को इस स्वाधीनता, सर्जनात्मकता और दायित्व को सूक्ष्म और प्रभावी रूप में अंकित किया है। उनके काव्य, कथा-साहित्य, यात्रा-वृत्त, समीक्षा में यही मौलिक दृष्टि सर्वत्र परिव्याप्त है। यन्त्र में आवृत्ति और प्रसार की क्षमता है, पर इसीलिए सर्जन की शक्ति नहीं है। सर्जन व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य में ही संभव है–

यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया,
सब तुम्हें दिया।

'अनुभव अद्वितीय' सम्भव हो पाता है, क्योंकि अज्ञेय के अनुसार "ईश्वर ने मानव के रूप में अपनी प्रतिमा का निर्माण किया है। कुशल शिल्पी होने के नाते उसने प्रत्येक प्रतिमा भिन्न और अद्वितीय बनायी, भिन्न होने क कारण प्रतिमाएँ परस्पर प्रेम न कर सकीं।" और प्रेम तथा वेदना में ही दैविक सृष्टि तथा कलात्मक सर्जन की प्रक्रिया गतिशील होती है। अज्ञेय की पंक्तियाँ हैं—

एक क्षण-भर और
लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।
बूँद स्वाती की भले हो
वेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मल त्वरा से
वज्र जिसमें फोड़ता चट्टान को।
भले ही फिर व्यथा के तप में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता रूप को पकते।

इस तरह अनुभव की अद्वितीयता, व्यक्तित्व (कोरा व्यक्तित्व नहीं) का वैशिष्ट्य और सर्जनात्मक क्षमता—मानवीय अस्तित्व और उसकी सार्थकता के ये मूल उपादान हैं। मृत्यु के आधुनिक अस्तित्ववादी आतंक और तज्जन्य अनर्थकता से सर्जनशील होकर ही उबरा जा सकता है।

अज्ञेय के कृतित्व में यह आधारभूत अपने विचित्र पक्षों सन्दर्भों में अंकित हुई है। और विडम्बना यह है कि मृत्यु के अस्तित्ववादी आतंक के समक्ष भारतीय जीवन प्रियता की मूल वस्तु को प्रतिपादित करने के बावजूद अज्ञेय को समकालीन समीक्षा में "अस्तित्ववादी" घोषित किया जाता है। यह सही है कि अस्तित्ववाद से अज्ञेय ने कुछ बौद्धिक उत्तेजना पायी हो, पर अपने समूचे उत्तरकालीन कृतित्व में लेखक का यत्न यही रहा है कि भारतीय परि-स्थितियों में अस्तित्ववाद से कोई बड़ी और अधिक संगत दृष्टि विकसित की जाये, 'आँगन के पार द्वार' संकलन की कविताएँ, 'अपने-अपने अजनवी' शीर्षक उपन्यास तथा 'एक बूँद सहसा उछली' शीर्षक यात्रावृत्त—१९६०–६१ में प्रकाशित इन तीनों कृतियों में माध्यमगत भिन्नता के बावजूद जीवन-प्रियता की मूल वस्तु अभिव्यक्त हुई है। और तीनों ही रचनाओं में आस्था-आस्तिकता का एक सर्वथा नया स्तर आया हैं। यहाँ ईश्वर का भी साक्षात्कार सर्जन के रूप में होता है। 'अपने अपने अजनवी' में सेल्मा की मृत्यु होने पर योके सोचती है—"ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है—उसे भी सृष्टि करनी ही है क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन आदि

कार्य हैं—"यह महत्त्वपूर्ण उपपत्ति समूची रचना के केन्द्र में है। अज्ञेय के इस चिन्तन में जीवन-प्रियता के भारतीय आधार को ईसाई आस्था—विशेषत: इटली के 'पियर क्व वीर' मठ की प्रेरणा—और जापान की ज़ेन पद्धति ने भी किसी सीमा तक समृद्ध किया है। और बाह्य प्रभावों को रचनात्मक भाव से आत्मसात् करने के लिए तो लेखक बराबर प्रस्तुत रहा है। "अरी ओ करुणा प्रभामय" की भूमिका में उसने कहा है—"प्रस्तुत संग्रह में अनुवादों को छोड़कर अन्य अनेक कविताओं में भी पूर्व के (और पश्चिम के भी क्यों नही ?) प्रभाव मिलेंगे, लेखक सभी का स्वीकारी है····बन्द घर में प्रकाश पूर्व या पश्चिम या किसी भी निश्चित दिशा से आता है—पर खुले आकाश में वह सभी ओर से समाया रहता है, इसी में उसका आकाशत्व है।"

ऐसे समृद्ध व्यक्तित्व से अज्ञेय ने पश्चिमी मृत्यु के आतंक को भारतीय जीवन-प्रियता और आस्था के सहारे अतिक्रमित करना चाहा है। इससे उनके कृतित्व का महत्त्वाकांक्षी रूप ही प्रमाणित होता है, जिसने भारतीय रचना-परम्परा को निश्चित रूप से समृद्ध किया है। सृजन के इस रहस्य की आत्मदान के रूप में व्याख्या रचनाकार ने 'आँगन के घर द्वार' में संकलित लम्बी कविता 'असाध्य की वीणा' में की है, जो अपनी गठन में निराला की 'राम की शक्ति पूजा' से तुलनीय है। दोनों ही कविताओं में शक्ति और सृजन को अन्तर और बाह्य की टकराहट में देखने का यत्न किया गया है। "शक्ति-पूजा" के अन्त में है—

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।"

और "असाध्य वीणा" को साधने वाला केशकम्बली अन्त में कहता है—

"श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ सौंप दिया था
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी—"

"अपनी" और "सब कुछ की तत्रता" का यह अद्वैत निराला और अज्ञेय को गहरे संवेदनात्मक स्तर पर जोड़ता है। आत्मदान के माध्यम से "शक्तिपूजा के राम शक्ति-साधन करते हैं, और आत्मदान के ही माध्यम से ही "असाध्य वीणा" का कलावंत वीणा को साधता है। यही शक्ति और सृजन के रहस्य का साक्षात्कार है।

अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या में भाषा को अनिवार्य तत्त्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभव ही है। सर्जनात्मकता की समस्या से सतत जूझने वाले रचनाकार के लिए यह उचित है कि वह भाषिक सर्जन की क्षमता को गहरे ढंग से समझे। अज्ञेय की अधिकांश प्रसिद्ध कविताओं में भाषा और अनुभव के अद्वैत को व्यवस्थित करने का यत्न हुआ है। "कलगी बाजरे की", "शब्द और सत्य", "जितना तुम्हारा सच है" आदि कविताओं

की मूल वस्तु सर्जन और भाषा का अन्तर-सम्बन्ध ही है। अज्ञेय ने एक जगह लिखा भी है, "मैं उन व्यक्तियों में से हूँ—और ऐसे व्यक्तियों की संख्या शायद दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है—जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने-आप में एक सिद्धि मानते हैं" (आत्मनेपद, पृ० २४०)। यहाँ "अच्छी भाषा" का अर्थ अलंकृत या चमकदार भाषा नहीं है, वरन् "अच्छी भाषा" की अच्छाई यही है कि वह भाषा और अनुभव के अद्वैत को स्थापित करे। अज्ञेय की काव्यभाषा उनकी इसी मान्यता का समर्थन करनी है। भाषा को अनेक भंगिमाओं को निखारते-निखारते उन्होंने भाषा का सबसे प्रभावी रूप "मौन" के स्तर पर अनुभव किया है। इस "मौन" से शैथिल्य नहीं, तनाव व्यंजित होता है, ऐसा तनाव जो कलाकृति का आधार है—

तू काव्य :
सदा वेष्टित यथार्थ
चिर तनित,
भारहीन, गुरु
अव्यय।
तू छलता है
पर हर छल में
तू और विशद अभ्रांत,
अनूठा होता जाता है।

यहाँ काव्य द्वारा छला जाना सम्भव हो पाता है, क्योंकि वह 'चिर-तनित' है और रचना का यह तनाव आर्थिक-द्वन्द्व की विकासमान अर्थ-प्रक्रिया से बनता है। इसीलिए कवि के अनुसार मौन भी अभिव्यंजना है :

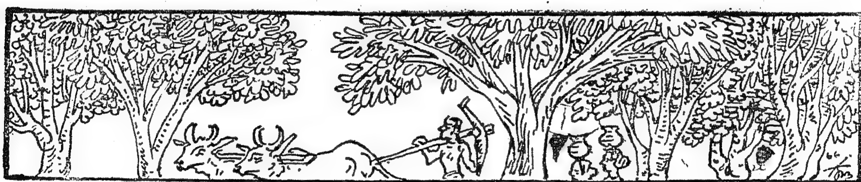
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो।

अज्ञेय के सन्दर्भ में यह "मौन" मित कथन है, कहने और कहने के बीच अनकहना है तथा और गहरे स्तर पर आत्मदान का भाव है, जहाँ बोलना मानो आक्रमण है, मौन ही अपने को दे देना है। समकालीन समीक्षा की यह एक और विडम्बना है कि आत्मदान के लिए प्रतिश्रुत कवि अज्ञेय को अभी तक "व्यक्तिवादी" कहा जाता रहा है। समीक्षा के इस रूप में "व्यक्ति" और "व्यक्तित्व" के बीच भी विवेक नहीं किया गया। पर अज्ञेय के कृतित्व का वैशिष्ट्य व्यक्तित्व और भाषा के गहरे आयामों को अभिव्यक्ति देने में रहा है, कविता और कथा-साहित्य दोनों में ही।

इस प्रसंग में अज्ञेय और नयी कविता के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना जरूरी है। यह स्मरणीय है कि वर्तमान अर्थ में "नयी कविता" नामकरण अज्ञेय का किया हुआ है (आकाशवाणी से प्रसारित एक फीचर में—"नये पत्ते"–१९५३ में प्रकाशित)। और नये लेखकों की विशिष्ट गोष्ठी "परिमल" से भी अज्ञेय का निकट सम्बन्ध रहा है। सच तो यह है कि अज्ञेय और "परिमल" के निकट सम्बन्धों में कभी-कभी तनाव भी आया है। यह जरूर है कि लेखक के मन में इस तनाव का अनुभव व्यक्तिगत अथवा व्यावहारिक स्तर पर न होकर

रचनात्मक स्तर पर ही अधिक लगता हैं। इस प्रसंग में नये कवि को सम्बोधित एक कविता "नये कवि के प्रति" उल्लेखनीय है, जो पहले 'कल्पना' में छपी और फिर बाद में 'अरीओ करुणा प्रभामय' में संकलित हुई। वस्तु के धरातल पर इस कविता में नये कवि के प्रति व्यंग, विद्रूप और आक्रोश की अभिव्यक्ति हुई है। इसे, और इस प्रकार की दो-एक अन्य कविताओं को लेकर नये लेखकों में एक विक्षोभ और उत्तेजना का वातावरण फैला, पर अज्ञेय इस विवाद में नहीं पड़े, और वह असुखद प्रसंग समाप्त हो गया।

नयी कविता के संक्रमण और विकास को अज्ञेय ने सम्भव बनाया, और उसे सहयोग दिया। पर बाद में उसकी चुनौती भी उन्होंने महसूस की, और उनकी सर्जनात्मक क्षमता को प्रेरणा और उत्तेजना मिली है। अज्ञेय की उत्तर कालीन रचनाओं में संस्कृत और अंग्रेजी से प्रेरित भाषा के आभिजात्य से जो विमुखता है, उसके पीछे किसी हद तक रघुबीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और लक्ष्मीकान्त वर्मा जैसे नये कवियों का नैतिक समर्थन समझा जा सकता है। नयी कविता की चुनौती से अज्ञेय को बल मिला, यह उनके व्यक्तित्व की प्रखर गतिशीलता और गहरी सर्जनात्मकता का ही प्रमाण है।



'ज्ञानरतन' : एक विस्मृत निर्गुण प्रेमाख्यान

भगवती प्रसाद सिंह

भारतीय प्रेमाख्यानों पर इधर जो शोध-कार्य हिन्दी में हुए है, उनमें कहीं भी 'ज्ञान-रतन' नामक किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन हस्तलेखों के विविध संस्थाओं द्वारा प्रकाशित खोज विवरणों में भी इसकी चर्चा नहीं है। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति मुझे बलरामपुर के प्रसिद्ध साहित्य सेवी स्वर्गीय श्री सरकार बख्श सेवक के संग्रह में प्राप्त हुई थी और अब वह इन पंक्तियों के लेखक के पास सुरक्षित है।

'ज्ञानरतन' के रचयिता साहेब नवलदास सतनामी सम्प्रदाय की कोटवा गद्दी के संस्थापक जगजीवनदास के शिष्य थे। ग्रन्थारंभ में अपना परिचय देते हुए वे स्वयं लिखते हैं—

सतगुरु साँचे राम, सत दिनकर तम भ्रम हरन
हृदय करिय विश्राम, जगजीवन जग तारनो।
तुम्ह सन्तन्ह सिरताज, गुन निरगुन सब कहँ कृपा।
बड़े गरीब नेवाज, दास नेवल विनती करै॥[1]

वे जगजीवन प्रभु सबही के। दीनदयाल भावते जी के॥
वन्ह सन सरत जवत कर कामा। वन्ह मोहिं दीन्ह अमर सतनामा॥[2]

नवलदास ने अपने दस गुरु भ्राताओं की चर्चा की है, जिनमें जगजीवन साहब के दो पुत्रों—गिरिवरदास और अगमदास के साथ ही आठ शिष्यों—दूलनदास, जलालीसाहब, देवीदास, गोसाईंदास, खेमदास, सिवदास, अहलाददास और भवानीदास का उल्लेख है। इनकी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति की चर्चा करते हुए नवलदास ने इन्हें सम्प्रदाय का प्रमुख स्तम्भ और असंख्य पथभ्रांत शरणागतों का उद्धारक बताया है।[3]

---

१. ज्ञानरतन, पत्र २

२. वही, पत्र ४

३. जगजीवन कर जस जग बाजा। जिन्ह अस अगम इन्दु उपराजा॥
गिरिवर सुवन अगम जिन्ह जाए। जगमग जात इन्द्र जनु आए॥
नाम जलाली साहेब साँचे। जिन्हकी सरन जाय सो बाँचे॥
अवर सात दीपक वन्ह करे। छवि जगमगत गगन जनु तारे॥
दीपक प्रथम जगत जगमगाए। जगमग दूलन दास कहाए॥
दूसर देविदास उजियारे। जिन्ह बहु भन्हँ कहँ पार उतारे॥
तीसर दीप गोसाईं दासा। जस जगमग जस रतन प्रकासा॥
दीपक चौथ जगमगाई नारा। षेमदास अति अगम अपारा।
पंचम दीपक जग सिवदासा। जिन्ह चलि कीन्ह पछिम दिसि बासा॥
दीपक जन अहलाद अपारा। जगत विदित जस मानिक बारा॥
सप्तम दीपक अगम सुहेला। दास भवानी थल बहरेला॥

—वही, पत्र २, ३, ४

संत नवलदास इस प्रकार अपने गुरु तथा गुरु भ्राताओं का उल्लेख करते हुए भी संतपरंपरानुसार अपने भौतिक जीवन विषयक तथ्यों के सम्बन्ध में मौन रहे हैं। किन्तु सतनामीसाहित्य से यह पता लगता है कि जग जीवन साहब के पंथ प्रचारक शिष्यों द्वारा स्थापित १४ गद्दियों में से ये एक गद्दी के प्रवर्तक थे। इससे उक्त सम्प्रदाय के विशिष्ट संतों में इनकी गणना की जाती है। बोधे दास कृत 'भक्तिविनोद' में ये उमापुर नामक गाँव के निवासी कहे गये हैं।[1] यह बाराबंकी जिले में स्थित है। आरंभिक जीवन में इन्होंने गोमती तटस्थ रेछ नाम के किसी गाँव में रह कर अजपाजप की साधना की किन्तु किसी कारण वश स्थानीय लोगों की प्रतिकूलता से खिन्न होकर ये सुलतान जिले के धनेसा नाम के गाँव में एक बाग में जाकर रहने लगे।[२] कालान्तर में उसे भी छोड़ कर ये अपनी जन्मभूमि उमापुर को चले आये फिर जीवन का शेष अंश वहीं बिताया।

नवल दास का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था[3] और ये आजीवन गृहस्थ रहे। इनकी मात्र संतान एक पुत्री थी जिसको अम्बर दास नाम के एक भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण से व्याह कर ये निश्चिन्त हो गये थे। इसी रक्त सम्बन्ध के कारण आज तक उमापुर में स्थापित गद्दी के अधिकारी इनकी पुत्री के वंशज ही होते हैं।

ये जिस प्रकार उच्चकोटि के साधक थे उसी भाँति काव्य-मर्मज्ञ और शास्त्रतत्त्ववेत्ता भी। सतनामी संप्रदाय के संत ईश्वरदास ने इनकी प्रशास्ति में लिखा है—

सम्रथ नवल प्रवींण सकल विधा के रासी।
पंडित कविता बड़े नाम के दिढ़ अभ्यासी॥[४]

अब तक इनकी लिखी आठ रचनायें प्रकाश में आई हैं—सुख सागर, ज्ञान सरोवर, भागवत दसमस्कंध भाषा, शब्दसागर, कहरानामा, रामगीता, स्तुति बजरंगजी, और ज्ञानरतन इनमें से सुखसागर का रचना काल सं० १८१८ है और ज्ञानरतन का सं० १८३८। अतः यही इनका कविताकाल निश्चित किया जा सकता है। इनका देहावसान उमापुर में ही सं० १८५० में हुआ।

'ज्ञानरतन' की मूल प्रति का पता नहीं चलता। प्रस्तुत प्रति हरिहरपुर ग्राम (संभ-

---

१. दास नेवल उमापुर केरे

भक्तिविनोद, त्रयोदश अध्याय

२. करि अजपा जपु काल बितावा।
रेछ गोमती निकट सुठावां॥
कछु उपहास जानि टरि आवा।
जहँ धन ऐस धनेसा गावा।
तासु दखिन बट विमल सुहावन।
पीपर बाग तड़ाग सो पावन॥

सुखसागर, पृ० २

३. ग्राम उमापुर विप्र कुल जन्म प्रानि तहवा धरेउ। भक्तमाल (ईश्वर दास) पृ० २८

४. वही पृ० २८

'ज्ञानरतन' : एक विस्मृत निर्गुण प्रेमाख्यान

भगवती प्रसाद सिंह

भारतीय प्रेमाख्यानों पर इधर जो शोध-कार्य हिन्दी में हुए है, उनमें कहीं भी 'ज्ञानरतन' नामक किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन हस्तलेखों के विविध संस्थाओं द्वारा प्रकाशित खोज विवरणों में भी इसकी चर्चा नहीं है। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति मुझे बलरामपुर के प्रसिद्ध साहित्य सेवी स्वर्गीय श्री सरकार बख्श सेवक के संग्रह में प्राप्त हुई थी और अब वह इन पंक्तियों के लेखक के पास सुरक्षित है।

'ज्ञानरतन' के रचयिता साहेब नवलदास सतनामी सम्प्रदाय की कोटवा गद्दी के संस्थापक जगजीवनदास के शिष्य थे। ग्रन्थारंभ में अपना परिचय देते हुए वे स्वयं लिखते हैं—

सतगुरु साँचे राम, सत दिनकर तम भ्रम हरन
हृदय करिय विश्राम, जगजीवन जग तारनो।
तुम्ह सन्तन्ह सिरताज, गुन निरगुन सब कहँ कृपा।
बड़े गरीब नेवाज, दास नेवल विनती करै॥[१]
वे जगजीवन प्रभु सबही के। दीनदयाल भावते जी के॥
वन्ह सन सरत जवत कर कामा। वन्ह मोहिं दीन्ह अमर सतनामा॥[२]

नवलदास ने अपने दस गुरु भ्राताओं की चर्चा की है, जिनमें जगजीवन साहब के दो पुत्रों—गिरिवरदास और अगमदास के साथ ही आठ शिष्यों—दूलनदास, जलालीसाहब, देवीदास, गोसाईंदास, खेमदास, सिवदास, अहलाददास और भवानीदास का उल्लेख है। इनकी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति की चर्चा करते हुए नवलदास ने इन्हें सम्प्रदाय का प्रमुख स्तम्भ और असंख्य पथभ्रांत शरणागतों का उद्धारक बताया है।[3]

---

१. ज्ञानरतन, पत्र २

२. वही, पत्र ४

३. जगजीवन कर जस जग बाजा। जिन्ह अस अगम इन्दु उपराजा॥
गिरिवर सुवन अगम जिन्ह जाए। जगमग जात इन्द्र जनु आए॥
नाम जलाली साहेब साँचे। जिन्हकी सरन जाय सो बाँचे॥
अवर सात दीपक वन्ह करे। छवि जगमगत गगन जनु तारे॥
दीपक प्रथम जगत जगमगाए। जगमग दूलन दास कहाए॥
दूसर देविदास उजियारे। जिन्ह बहु भन्हँ कहँ पार उतारे॥
तीसर दीप गोसाईं दासा। जस जगमग जस रतन प्रकासा॥
दीपक चौथ जगमगाई नारा। षेमदास अति अगम अपारा।
पंचम दीपक जग सिवदासा। जिन्ह चलि कीन्ह पछिम दिसि बासा॥
दीपक जन अहलाद अपारा। जगत विदित जस मानिक बारा॥
सप्तम दीपक अगम सुहेला। दास भवानी थल बहरेला॥
—वही, पत्र २, ३, ४

संत नवलदास इस प्रकार अपने गुरु तथा गुरु भ्राताओं का उल्लेख करते हुए भी संतपरंपरानुसार अपने भौतिक जीवन विषयक तथ्यों के सम्बन्ध में मौन रहे हैं। किन्तु सतनामीसाहित्य से यह पता लगता है कि जग जीवन साहब के पंथ प्रचारक शिष्यों द्वारा स्थापित १४ गद्दियों में से ये एक गद्दी के प्रवर्तक थे। इससे उक्त सम्प्रदाय के विशिष्ट संतों में इनकी गणना की जाती है। बोधे दास कृत 'भक्तिविनोद' में ये उमापुर नामक गाँव के निवासी कहे गये हैं।[1] यह बाराबंकी जिले में स्थित है। आरंभिक जीवन में इन्होंने गोमती तटस्थ रेछ नाम के किसी गाँव में रह कर अजपाजप की साधना की किन्तु किसी कारण वश स्थानीय लोगों की प्रतिकूलता से खिन्न होकर ये सुलतान जिले के धनेसा नाम के गाँव में एक बाग में जाकर रहने लगे।[2] कालान्तर में उसे भी छोड़ कर ये अपनी जन्मभूमि उमापुर को चले आये फिर जीवन का शेष अंश वहीं बिताया।

नवल दास का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था[3] और ये आजीवन गृहस्थ रहे। इनकी मात्र संतान एक पुत्री थी जिसको अम्बर दास नाम के एक भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण से व्याह कर ये निश्चिन्त हो गये थे। इसी रक्त सम्बन्ध के कारण आज तक उमापुर में स्थापित गद्दी के अधिकारी इनकी पुत्री के वंशज ही होते हैं।

ये जिस प्रकार उच्चकोटि के साधक थे उसी भाँति काव्य-मर्मज्ञ और शास्त्रतत्ववेत्ता भी। सतनामी संप्रदाय के संत ईश्वरदास ने इनकी प्रशास्ति में लिखा है—

सम्रथ नवल प्रवींण सकल विधा के रासी।
पंडित कविता बड़े नाम के दिढ़ अभ्यासी॥[4]

अब तक इनकी लिखी आठ रचनायें प्रकाश में आई हैं—सुख सागर, ज्ञान सरोवर, भागवत दसमस्कंध भाषा, शब्द सागर, कहरानामा, रामगीता, स्तुति बजरंगजी, और ज्ञानरतन इनमें से सुखसागर का रचना काल सं० १८१८ है और ज्ञानरतन का सं० १८३८। अतः यही इनका कविताकाल निश्चित किया जा सकता है। इनका देहावसान उमापुर में ही सं० १८५० में हुआ।

'ज्ञानरतन' की मूल प्रति का पता नहीं चलता। प्रस्तुत प्रति हरिहरपुर ग्राम (संभ-

---

१. दास नेवल उमापुर केरे

भक्तिविनोद, त्रयोदश अध्याय

२. करि अजपा जपु काल बितावा।
रेछ गोमती निकट सुठावा॥
कछु उपहास जानि टरि आवा।
जहँ धन ऐस धनेसा गावा।
तासु दखिन बट विमल सुहावन।
पीपर बाग तड़ाग सो पावन॥

सुखसागर, पृ० २

३. ग्राम उमापुर विप्र कुल जन्म प्रानि तहवा धरेउ। भक्तमाल (ईश्वर दास) पृ० २८

४. वही पृ० २८

वतः बहरायच जिले में स्थित) के निवासी हनुमान कायस्थ के द्वारा की गई उसकी प्रतिलिपि है। यह प्रतिलिपि ग्रंथ की रचना के ९३ वर्ष पश्चात् लिखी गई थी। अंत में दी गई पुष्पिका से यह ज्ञात होता है कि प्रतिलिपिकार भी 'सत्यनाम' में निष्ठा रखने वाला सतनामी संप्रदाय का अनुयायी था—

"।। इति श्री माधौ रतन ज्ञान साहेब नवलदास कृतौ समाप्त सुभमस्तु ।।
जादृसं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृसं लिखितं मया।
जदि सुद्धं असुद्धं वा मम दोषो न दीयताम् ।।
माघमासे कृष्णमक्षे सप्तम्यां गुरुवासरे सं १९३१. लिखितं ।।
दासानुदास हनुमान कायस्थ बसंतं हरिहर पुरः ।।
संत सुमति कवि नृप द्विज सबसे अरज हमारि।
आपन किंकर जानि के, बाँचन बरन सुधारि ।।
।। श्री सत्यनामाय रामाय नमः। राम राम राम राम राम राम राम राम राम राम ।।"

'रतन ज्ञान' निर्गुण पंथी प्रेमाख्यान है। इसकी रचना का उद्देश्य न्यायदेशिक पद्धति पर साधकों को ध्यानयोग द्वारा परमज्योति के दर्शन की योग्यता प्राप्त कराना है। इसी प्रणाली में अंतस्थ सतनाम अथवा 'रतन' की प्राप्ति हो सकती है—सतनामियों का ऐसा विश्वास है। अतः प्रत्यक्ष रूप से अनुरक्तिमूलक दिखायी पड़ते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से यह विरक्ति परक रचना है और इस प्रकार रचयिता के मत से केवल संतों के लिये ही उपादेय है। लौकिक बुद्धि वाले इसके आध्यात्मिक महत्त्व को न समझ सकने के कारण कथा की यथार्थता पर विश्वास नहीं करेंगे, अतः वे इसके लाभ से वंचित रहेंगे। नवलदास ने इतना लिखते हुए भी यथासंभव कथा को रोचक बनाने का प्रयत्न किया है, जिससे भक्ति के साथ पाठकों के हृदय में लोक जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न हो—

रतनज्ञान तम कलुष नसावन। सुनत श्रवन मन रुचि उपजावन।
भगत लगनि जगतहिं रुचि बाढ़ै। सतमत समुझि रतन मथि काढ़ै ।।
करियत सुरति गगन चढ़ि जाहीं। रमित रहत सत चरनन्ह माँही ।।
जगमग झिलमिल किरिन उजेरी। जोत अमित अति सत प्रभु केरी ।।
ध्यान अगम दरसन जेहि भावे। सो यह रतन ज्ञान मन लावै ।।
यह सत-मत संतन्ह हित भाषा। जग सब सुनत प्रतीति न राषा ।। पत्र–९

साधनात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण प्रबन्ध के बीच में स्थान स्थान पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सांप्रदायिक सिद्धांतों का प्रतिपादन तथा रहस्यात्मक संकेतों की विस्तृत योजना नवलदास ने की है। जहाँ तक दार्शनिक तत्त्वों का सम्बन्ध है, अद्वैतवाद और तसब्बुफ के साथ ही हठयोग पर भी कवि की अगाध निष्ठा प्रतीत होती है। इस दृष्टि से यह प्राचीन प्रेमाख्यान परम्परा के ही आदर्श पर निर्मित हुआ है। भेद केवल इतना है कि जगजीवन साहब के परवर्ती कतिपय निर्गुण मार्गी साधकों की मान्यतानुसार इसमें सगुण एवं साकार ब्रह्म तथा उसके उपासकों के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की गई है और इस प्रकार अवतारवाद को अन्य प्रेमाख्यानों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। मंगलाचरण में गणेशस्तुति दशावतार-वर्णन, शंकर द्वारा पार्वती को सतनाम उपदेश, विभीषण, हनुमान, काकभुशुन्डि, अर्जुन,

उद्धव, भरद्वाज, सुदामा, सवरी, कूबरी, लोमश, रामानन्द, कबीर, पीपा, रैदास, सेन, मीरा, तुलसी, आदि भक्तों की वन्दना कवि की सगुण रूपमें निष्ठा व्यक्त करती है। परवर्ती निर्गुण भक्ति काव्य में यह सगुणपरक प्रवृत्ति अविच्छिन्न रुप से प्रवाहित होती रही हैं। इसका मुख्य कारण तुलसी और सूर द्वारा जनमानस में प्रतिष्ठित राम और कृष्ण के प्रति अविच्छिन्न श्रद्धा थी जिससे उत्तरमध्यकाल में समग्र भक्ति क्षेत्र आप्लावित हो गया था।

रतन ज्ञान की कथा

रतनज्ञान मध्यकालीन प्रेमगाथाओं के सर्वाधिक प्रिय विषय माधवानल कामकन्दला के वृत्त पर आधारित है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है :—

काशी नगर में माधवानल नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह जितना रूपवान् था उतना ही गुणवान् भी। आध्यात्मिक एवं लौकिक शास्त्रों में उसकी अद्भुत गति थी। वीणा बजाने की अलौकिक कला से वह श्रोताओं को आत्म-विभोर कर देता था। नित्य वीणा बजाता वह काशी कोट में जाकर दिव्य ज्योति के दर्शन करता था। उसके पहुँचते ही कोट के द्वार स्वयं खुल जाते थे। उसके इन दिव्य गुणों को देखेकर शिवगण ईर्ष्या करने लगे। उनके उत्पात से माधव का ज्ञान-ध्यान छूट गया। इस विषम स्थिति में उसने सत्गुरु का स्मरण किया। तत्काल आकाशवाणी हुई 'सात कोस ऊँचे पर पुष्पावती नगर है वहाँ चले जाओ।' सत्गुरु की कृपा से माधव की ज्ञानदृष्टि निर्मल हो गई। हाथ में पुस्तक, माथे पर तिलक, शिर पर मुकुट धारण कर उसने पुष्पावती नगर के लिये प्रस्थान किया।

पुष्पावती नगर राजा गोपीचन्द की राजधानी थी। उनका धौराहर सतखंडा था। उसमें दस द्वार थे। राजा का आवास सातवें खंड में था। दसवाँ द्वार सदैव बंद रहता था। सारा राजप्रासाद मणि दीपों से ज्योतित रहता था। माधव का प्रवेश नवें द्वार तक हो सका। प्रयत्न करने पर भी दसवाँ द्वार पार करके दिव्य ज्योति का दर्शन करने की स्वीकृति उसे नहीं मिली। उसने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये घोर तप किया। खानपान त्याग कर सात दिनों तक निरंतर ध्यान करने के कारण तपश्चर्या के प्रभाव से माधव का अन्तःकरण पवित्र हो गया और तब दशम द्वार खुल गया। ज्योति के दर्शन करते ही वह मूर्च्छित हो गया। सचेत होने पर गोपीचन्द ने उसे अपने कोट में ही स्थान दे दिया। माधव कभी-कभी कोट से उतर कर पुष्पावती नगर में आया करता था। उसकी वीणा सुनकर मनुष्यों की कौन कहे पशु पक्षी तक मुग्ध हो जाते थे। स्त्रियों पर तो उसने मोहिनी सी डाल दी। वे नाना प्रकार के श्रृंगार कर हाव-भाव दिखाती हुई उसे आकृष्ट करने का प्रयत्न करने लगीं। माधव इस प्रलोभन से अपने को विरत न रख सका। गोपीचन्द के दरबार में भी उसकी उपस्थिति कम होने लगी और वह अधिकांश समय पुष्पावती की कामिनियों के मध्य व्यतीत करने लगा। इधर स्त्रियाँ भी माधव के प्रेम में इस प्रकार तन्मय हो गई कि अपने गृहकार्य से उदासीन होने लगीं : जब पतियों ने उन्हें ताड़ना दी तब भी उनकी मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन न आया। एक दिन एक स्त्री ने माधव के प्रेम में आत्म विस्मृत हो पति के भोजन को थाल में न डालकर पृथ्वी पर गिरा दिया। इस घटना को सामाजिक भ्रष्टाचार का द्योतक मानकर प्रमुख नागरिकों ने माधव के आचरण के विरुद्ध गोपीचन्द से फरियाद की। गोपीचन्द संगठित जनमत

की अवहेलना न कर सके। उन्हें विवश होकर माधव को तत्काल नगर छोड़ देने की आज्ञा देनी पड़ी। राजा ने माधव को पुष्पावती से सात कोस पर स्थित कामावती नगर को जाने की सलाह दी। इस आपत्तिकाल में माधव ने सतगुरु का ध्यान किया, जिससे उसकी विषय लिप्सा जाती रही और उसने कामावती को प्रस्थान किया।

कामावती का राजा कामसेन था। उसके दरबार में कामकंदला नाम की वेश्या थी। उस राजनर्तकी का सौन्दर्य और नृत्यकला का ज्ञान लोक-विश्रुत था। माधव जिस समय राज द्वार पर पहुँचा महल के भीतर उसका नृत्य ही रहा था। प्रतिहार ने उसे राजाज्ञा के बिना भीतर जाने से रोक दिया। माधव द्वार पर ही बैठ गया। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद उसने प्रतिहार से कहा—'जाकर महाराज से कहो कि द्वार पर एक ब्राह्मण आया है। वह आप की सारी सभा को मूर्ख कह रहा है क्योंकि बीस समाजियों में से एक मृदंगी के दाहिने हाथ में चार ही अँगुलियाँ हैं। इससे ताल भंग हो रहा है। राजा और दरबारी संगीत कला में कोरे हैं। वे इसे जान ही नहीं सकते। इन शब्दों को सुन कर कामसेन ने समाजियों की परीक्षा की। माधव का अनुमान सच निकला। उसने माधव को तत्काल भीतर बुला लिया और उसके संगीत ज्ञान पर मुग्ध होकर दो करोड़ टका दक्षिणा दो। इसके अतिरिक्त उसे बहुत से बहुमूल्य वस्त्रालंकार भी भेंट किये। राजा के अनुरोध से माधवानल ने वीणा बजाई। उसके मधुर आलाप से राग मूर्तिमान होते प्रतीत हुए। कामकंदला उसी ताल पर नृत्य करने लगी। इसी समय एक भ्रमर उड़ता हुआ आया और कामकंदला के कुच पर बैठ गया। कोमलांगी राजनर्तकी उसके दंशन से व्याकुल हो गई किन्तु तालभंग होने के भय से उस पीड़ा को सहती रही। जब वेदना असहनीय हो गयी तो उसने शरीर में पवन तत्त्व को केन्द्रित कर उसे स्तनद्वार से तीव्र वेग के साथ प्रवाहित किया जिससे भौंरा उड़ गया। इस सारी क्रिया को उपस्थित सभासदों में केवल माधवानल देख रहा था। वह कामकंदला की अद्भुत नृत्यकला पर रीझ गया और कामसेन के द्वारा प्राप्त समस्त द्रव्य, वस्तु एवं आभूषण सरे-दरबार उसे पुरस्कार में दे दिये। कामसेन को माधवानल के चरित्र पर संदेह हो गया। माधवानल ने इस बात को लेकर उनसे वाद-विवाद किया। राजा ने इस पर क्रुद्ध होकर तत्काल माधवानल को देश से निकल जाने का आदेश दिया।

राजाज्ञा को शिरोधार्य करके माधवानल ने कामावती छोड़कर देशान्तर के लिये प्रस्थान किया। संध्या हो गयी थी अतः उसने नगर के बाहर एक पेड़ के नीचे डेरा डाला। वहाँ बैठा मन ही मन अपनी कर्म गति की वक्रता पर खेद प्रकट कर ही रहा था कि पहर रात बीतने पर सहसा अकेली कामकंदला आयी। वह उसकी उपस्थिति से पुलकित हो उठा। उसके आगमन से वह निर्जन अंधकार युक्त स्थान दिव्य आभा से आलोकित हो उठा। कामकंदला बहुत अनुनय विनय के पश्चात् माधवानल को अपने घर ले गई। रात्रि पर्यन्त दोनों में प्रेम वार्ता होती रही। प्रातः होने पर माधवानल ने चलने की बात कही। कामकंदला ने साथ जाने की इच्छा प्रकट की। माधव उसे पुनः दर्शन का आश्वासन देकर चला गया। कामकंदला प्रियतम से वियुक्त होते ही भीषण विरह ज्वाला से जलने लगी। माता-पिता और सखियों के अनेक प्रकार से समझाने पर भी उसकी विरह व्यथा कम न हुई। विक्षिप्त सी होकर जिधर माधवानल गया था उसी ओर वह भी चल पड़ी। चलते-चलते जंगल के भीतर उसे एक कोट दिखाई दिया उसके

ऊँचे शिखर पर चढ़कर उसने बहुत दूर तक देखा किन्तु माधव का कहीं पता न लगा। निराश होकर वह नीचे उतर आई और प्राणत्याग करने के विचार से गढ़ के भीतर ही स्थित जलाशय में कूद पड़ी। तालाब के भीतर जाने पर उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे वह दिव्यलोक में आ गई हो। जलाशय में डूबे अभी कुछ ही क्षण हुए होंगे कि उसकी सखियों के साथ माता-पिता खोजते हुए आ गये और तालाब से निकालने पर पुत्री को जीवित देखकर बड़े हर्षित हुए। घर आने पर कामकंदला ने कहीं भी आना-जाना बन्द कर दिया। वह माधवानल के वियोग मे तिल तिल करके शरीर को सुखाती हुई अन्तिम घड़ी की प्रतीक्षा करने लगी।

उधर माधवानल भी प्रियतमा से वियुक्त होकर सुध-बुध खो बैठा। कामकंदला के वियोग में वह योगी बन गया और विक्षिप्त की भाँति उसे ढूँढ़ते हुए वन-पर्वतों में विचरने लगा। एक दिन जब वह कामकंदला की स्मृति में आँसू बहाते हुए थककर सो गया तो उसे स्वप्न में ऐसा आभास हुआ जैसे कोई निकट ही हंसता हुआ कह रहा हो कि 'अभी तुम्हारी साधना कच्ची है, इसीलिये अभीप्सित नहीं मिल सका है। उसकी प्राप्ति प्राणों की बाजी लगाने वाले को ही होती है। यह शब्द सुनते ही माधव की आँखें खुल गई। उसने प्रतिज्ञा की कि प्रियतमा को प्राप्त करने के लिये अपने प्राण विसर्जित कर दूँगा। इसी बीच वहाँ वैताल आ गया उसने माधव को सलाह दी कि अपनी कार्य-सिद्धि के लिये उज्जैन नरेश विक्रमादित्य से मिलो।

विक्रमादित्य दानशीलता एवं परोपकार के लिये विख्यात थे। उन्होंने एक-बाजार लगवाया था उसमें जो वस्तुएँ बिकने से बच जाती थीं वे सभी राजकोष से खरीद ली जाती थीं। एक दिन कोई कारीगर काठ का एक विचित्र घोड़ा बनाकर लाया। उसकी विशेषता यह थी कि वह सवार की इच्छानुसार चलता था किन्तु लौटाने पर उसके खण्ड खण्ड हो जाते थे। एक दिन उस घोड़े पर राजा सैर करने निकले। बड़े वेग से चलते हुए वह घोड़ा बहुत दूर निकल गया। राजा ने उसे लौटाना चाहा कि वह खण्ड खण्ड होकर गिर पड़ा। वहाँ एक विशाल बन था। उस समय संध्या हो रही थी। राजा निराश होकर कहीं ठहरने का स्थान खोजने लगा। एक स्थान पर घनी छाया वाले वृक्ष के नीचे उसने देखा कि एक पलंग बिछा हुआ है। उसके निकट दो सरोवर हैं। रात्रि में जंगली पशुओं के भय से राजा उसी वृक्ष पर चढ़ गया। उसने देखा कि उस पर बंदरी बैठी हुई है। वह विक्रम को देखते ही रोने लगी। उसी समय वहाँ एक योगी आया और उसी पलंग पर बैठ गया। उसने बंदरी को बुलाया। जब बंदरी नीचे आ गयी तब उसने उसे एक तालाब में नहलाया। स्नान करते ही उस बंदरी ने अति रूपवती युवती का रूप प्राप्त कर लिया। रात्रि भर योगी ने उसके साथ भोग विलास किया। प्रातः होते ही उसे निकटस्थ दूसरे तालाब में नहला कर पुनः बंदरी बना दिया और उसी वृक्ष पर बैठा कर कहीं चला गया। विक्रम रात भर यह चरित्र देखता रहा। उसे बंदरी की दयनीय दशा पर बड़ी चिन्ता हुई। पूछने पर बंदरी ने राजा को अपना रहस्यमय वृत्तांत रो रो कर सुनाया। उसने कहा कि मैं सुखमंगला नाम की राजकुमारी हूँ। यह योगी मेरे पिता का गुरु था और महल में बराबर आया करता था। मेरे सौन्दर्य पर मुग्ध होकर इसने जादू के बल से मेरा हरण किया और मुझे लेकर आकाश में उड़ गया। मेरा ब्याह उज्जैन नरेश के साथ निश्चित हो चुका था किन्तु कर्म के फेर से आज बंदरी के रूप में इस निर्जन बन में

यातना पूर्ण पशु जीवन व्यतीत कर रही हूँ। इतना कह कर वह फूट फूट कर रोने लगी। राजा ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा "मैं उज्जैन का राजा विक्रमादित्य हूँ। आज तुम्हें इसके पंजे से मुक्त करके अपने साथ ले चलूँगा। राजा ने उसे तत्काल पहले सरोवर में स्नान कराया जिससे वह अत्यन्त सुन्दरी रमणी बन गई। फिर उसे साथ लेकर अपने नगर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में एक नगर पड़ा जहाँ अपनी मृत पत्नी के वियोग में एक ब्राह्मण चिता में आग लगाकर भस्म होने जा रहा था। राजा को उसकी दशा देखकर दया आयी उसने उसे ढाढ़स बँधाते हुए अपने साथ की राजकुमारी ब्याह दी। वैताल के द्वारा विक्रमादित्य की यह यशोगाथा सुनकर माधवानल ने उज्जैन को प्रस्थान किया।

उज्जैन पहुँच कर माधवानल ने विक्रमादित्य से भेंट करने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु सफल न हो सका। निराश होकर उसने नगर के उत्तर में डेरा डाला और प्रिया के विरह में प्राणोत्सर्ग करने को सोचा। वैताल ने पुनः उपस्थित होकर उसे सांत्वना दी और विक्रम के दर्शनार्थ शिवमंदिर के निकट ठहरने को कहा। माधवानल शिवमंदिर में गया। उस मंदिर में विक्रमादित्य नित्य ही देवाराधन के निमित्त आया करते थे। मंदिर में जाकर माधव ने सतगुरु की विधिवत् पूजा की। राजा जब दर्शनार्थ आया तब उसके साथ इतनी भीड़ थी कि माधव उससे मिलकर कुछ कह ही न सका। अंत में निराश होकर उसने एक पत्र लिख कर मंदिर के किवाड़ों में लटका दिया। दूसरे दिन प्रातः जब विक्रमादित्य शिवमंदिर में आये तब उन्हें वह पत्र प्राप्त हुआ। पूजा के पश्चात् पत्र पढ़ते ही वे उद्विग्न हो उठे। नगर में शोर हो गया कि राजा पर किसी ने जादू कर दिया है। उपचार के लिये वैद्य और तांत्रिक बुलाये गये किन्तु उनका श्रम व्यर्थ गया। थोड़ी देर बाद राजा ने स्वयं आखें खोलीं और मंत्रियों से कहा कि उज्जैन में कोई महाविरही आ गया है उसी की विरह-ज्वाला मुझे भस्म कर रही है। मेरी व्याधि का एकमात्र उपचार उसका पुण्य-दर्शन है। मंत्रियों ने उसी समय उस विरही को खोजने के लिए दूती और दूत दौड़ाये। अंत में शिवमंदिर के पास एक योगी मिला जो कामकंदला की रट लगा रहा था। उसकी दशा देखकर सहज ही अनुमान लग गया कि यही वह योगी है जिसकी विरह ज्वाला से राजा व्यथित हो गया है। मंत्रियों द्वारा भेजी गई स्त्रियां उसका हाथ पकड़कर विक्रम के पास ले गईं। राजा ने जब माधव को देखा तो उसे योगी भेष में राजकुमार होने भ्रम हुआ। शास्त्र चर्चा में माधव की निपुणता से राजा बहुत प्रभावित हुआ और उससे उसका अभीष्ट बताने को कहा। तब माधव ने कामकंदला को शीघ्र प्राप्त कराने को कहा। विक्रम ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा 'हमारे रनिवास में में बहुत सी सुन्दरियाँ हैं, उनमें से जिसे चाहो चुन लो कामकंदला की प्राप्ति के लिये कामसेन से युद्ध करना पड़ेगा जिसमें हजारों सैनिक मरेंगे।' राजा की आज्ञा पर महल की सुन्दरियों ने माधव को विविध हावभाव दिखाकर आकृष्ट रचना चाहा पर माधव उनकी ओर रंचमात्र भी भी आकृष्ट नहीं हुआ। इससे वे सभी रुष्ट होकर चली गईं।

इधर कामकंदला माधव से वियुक्त होते ही भीषण विरह-ज्वर से पीड़ित हो मृत्यु शैया पर पड़ गई। उसने उस समय अपने प्राण केवल माधव के पुनर्दर्शन की आशा में नहीं त्यागे। इधर माधव के हृदय में कामकंदला के प्रति अगाध प्रेम देखकर विक्रमादित्य ने उससे पूछा 'यदि तुम कहो तो मैं जाकर यह पता लगाऊँ कि क्या कामकंदला भी तुम्हें उतना ही

प्रेम करती है जितना तुम उसे चाहते हो ? यह जान लेने के पश्चात् उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करूँगा ।

विक्रम ने वैद्य का वेष धारण कर कामकंदला की परीक्षा के लिये प्रस्थान किया । घूमते घूमते वह कामसेन की नगरी में जा पहुँचा । कामकंदला ने वैद्य जानकर पुत्री की प्राण रक्षा के लिये विक्रम से प्रार्थना की । उसके घर आने पर कामकंदला के व्याधिग्रस्त होने के कारण को जान कर राजा ने कहा कि जिसके प्रेम में तुम्हारी पुत्री-प्राण दे रही है, वह तो कब का मर गया । यह सुनते ही कामकंदला के प्राण पखेरु उड़ गये । उसके माता-पिता बिक्षिप्त होकर आर्तनाद करने लगे । यह सुनकर विक्रम ने उनसे कहा, 'तीन दिन तक अपनी पुत्री के शव की रक्षा करो । मेरे घर पर संजीवनी बूटी है । उसे मैं भूल आया हूँ । चौथे दिन लाकर कामकंदला को जीवित कर दूँगा ।' नारी-वध के पाप से व्यथित राजा विक्रम उज्जैन लौट आये। इधर माधवानल बड़ी ही उत्सुकता से राजा की प्रतीक्षा कर रहा था। जब उसे कामकंदला की मृत्यु का समाचार मिला तो तत्क्षण ही उसने भी प्राण त्याग दिये। नारी और ब्राह्मण की हत्या से दुखी राजा विक्रम चिता बनाकर प्राण त्याग करने को उद्यत हुए। सारे देश में यह समाचार बिजली की भाँति फैल गया । ऐसा धर्मात्मा राजा का इस प्रकार दुखद अंत होते देख स्वर्ग में खलबली मच गयी । देवताओं ने राजा का प्राण बचाने को बेताल को भेजा । बेताल ने उज्जैन आकर राजा को यह आश्वासन दिया कि मैं अमृत लाकर माधव और कामकन्दला को जीवित कर दूँगा । पाताल जाकर वह गेडुला भर अमृत ले आया । राजा ने उसे माधवानल के मुँह पर छिड़का । वह तत्काल सचेत हो गया और कामकंदला का नाम रटने लगा । राजा ने उसे यह कहकर धीरज बंधाया कि वह इसी अमृत से कामकंदला को जीवित कर देगा। वह जीवित होते ही 'माधव' 'माधव' की रट लगाने लगी । राजा ने उसे यह कहकर ढाढ़स बँधाया कि यदि कामसेन सीधे नहीं मानेगा तो युद्ध करके तुम्हें अपने साथ माधव के पास ले चलूँगा । उज्जैन आकर राजा ने सेना संगठित की और कामसेन पर चढ़ाई की । उसने कामसेन की राजधानी से चार कोस की दूरी पर डेरा डाल कर उनके पास बिना युद्ध किये कामकंदला को दे देने का प्रस्ताव भेजा किन्तु कामसेन के मंत्रियों ने अपनी मर्यादा रक्षा के लिए किसी भी शर्त पर बिना युद्ध किए कामकंदला को देने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। इस पर युद्ध का डंका बज गया। कामसेन और विक्रमादित्य अपनी सेनायें लेकर भिड़ गये । घमसान युद्ध हुआ जिसमें कामसेन पराजित हुआ । विक्रम ने माधव एवं कंदला को मिलाकर उनकी विरह व्यथा दूर की । फिर उनके लिए एक भव्य रंग महल का निर्माण कराया । माधव राजा को वेद-पुराण की कथा सुनाते और योग-शिक्षा देते हुए दिन व्यतीत करने लगा ।

अन्तर्कथाएँ

'ज्ञानरतन' में मूलकथा माधवानल कामकंदला की ही है किन्तु प्रमुख अन्तर्कथाएँ तीन हैं जो दो वर्गों में बाटी जा सकती है—प्रथम प्रकार की अन्तर्कथायें कथात्मक विकास में तीव्रता लाने के लिए हैं, जैसे काठ के घोड़े और योगी के वश में बंदरी रूप में परिवर्तित राजकुमारी की अर्न्तकथा । दूसरे प्रकार की अर्न्तकथायें उपदेशात्मक हैं । माधव और कामकंदला

के मिलन के साथ-साथ अधिकारिक कथा समाप्त हो जाती है किन्तु विक्रम के अनुरोध पर माधव विभिन्न कथाएँ सुनाता है, जिनमें प्रमुख हैं :—१. राजकुमार कमलनयन की कथा, २. जड़भरत चरित और ३. प्रीतम कुँवर की कथा। इन कथाओं के माध्यम से नवलदास ने सतनामी संप्रदाय के सिद्धान्तों के निरूपण का सफल प्रयास किया है। इन अंतर्कथाओं से 'ज्ञानरतन' का कलेवर डयोढ़ा हो गया है। एक स्थान पर नवल दास ने 'बेतालपचीसी' का उल्लेख किया है और प्रीतम कुँअर की कथा को वैतालपचीसी का दूसरा चरित कहा है। इस प्रकार अपने वर्तमान रूप में ज्ञानरतन पूर्ण है किन्तु लगता है कि अपने समय में उपलब्ध 'बेतालपचीसी' की विभिन्न कथाओं में से कुछ प्रमुख को सांप्रदायिक उपदेश का आधार बनाने का उद्देश्य नवलदास का अवश्य रहा होगा। ज्ञानरतन में दी गयी उक्त तीनों अन्तर्कथायें इस प्रकार हैं :—

(१) कुमुदावती और कमल नयन की कथा :—

काशी में बानराय नाम के एक राजा थे। उनकी रानी का नाम कुसुमावती था। उनके सुरथ नाम का एक पुत्र और कुमुदावती नाम की एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। जब वह ब्याहने योग्य हुई तो पिता, माता, भाई और मंत्री उसके लिए वर ढूँढ़ने लिये प्रयत्नशील हुये। चारों ने एक दूसरे से विना परामर्श किये, अपनी अपनी रुचि के अनुसार चार पृथक् स्थानों पर उसका विवाह ठीक करके तिलक चढ़ा दिया और विवाह की तिथि निश्चित कर दी। संयोगवश चारों द्वारा निश्चित तिथि एक ही निकली। फलतः एक ही दिन काशिराज की पुत्री को व्याहने के लिये चार पृथक्-पृथक् स्थानों से चार बारातें आ गयीं। जनवास में पहुंचने पर जब उन चारों को पता चला कि कन्या एक ही है तब उन लोगों ने निर्णय किया कि हम लोग परस्पर युद्ध करेंगे जो सर्वविजयी होगा वही कुमुदावती से ब्याह कर सकेगा। इस भयंकर परिस्थिति को टालने के लिये कुमुदावती ने अपनी ओर से एक ब्राह्मण को भेजकर उन चारों वरोंको आपस में लड़नेसे यह कहकर रोक दिया कि मैं स्वयम् इसका कल प्रातः निर्णय करूँगी। प्रात.काल उसने एक चिता बनवाई। चारों वर वहाँ बुलवाये गये। उनमें से एक राजकुमार जिसका नाम कमलनयन था, आगे आया और उसने कुमुदावती के साथ गाँठ जोड़-कर चिता में भस्म हो जाने की इच्छा व्यक्त की। पिता ने चिता में अग्नि प्रज्वलित की और वे दोनों सबके देखते-देखते भस्मसात् हो गये। शेष तीनों में से एक वियोगी हो गया। दूसरा उसी स्थान पर भस्म एकत्र करके योग साधना करने लगा। तीसरा बाजा बजाते हुए बारात लेकर घर लौट गया। जो वर वियोगी हो गया वह वैरागी वेश धारण कर कुमुदावती को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते झारखण्ड गया किंतु वहाँ उसके प्राप्त न होने पर कामरूप जा पहुँचा। उसकी भेंट लोनाचमारिन से हुई जो तन्त्र-मन्त्र, टोना, पुरश्चरण आदि बिविध विद्याओं में अत्यन्त दक्ष थी। सारा कामाख्या-प्रदेश उससे आतंकित रहता था। उसने अष्टांग-योग साधना से शिव को भी अपने वश में कर रखा था। चार मुद्रायें, १८ विद्या, भैरव तन्त्र, उड़ीस तन्त्र, कौतुक चिन्ता-मणि, बीसा मन्त्र, रसायनादि उसे सिद्ध थे। राजकुमार को लोनाचमारिन ने अपने घर पर रख सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर अपना चेला बना लिया। वह अपने हाथ से भोजन बनाकर उसे खिलाती थी। एक दिन बहुत जाड़ा पड़ा। घर में लकड़ी न थी, लोना अँगेठी में एक जिन्दा बालक को डालकर तापने लगी। राजकुमार इस भीषण दृश्य को देखकर भयभीत

हो गया। उसने लोना से कहा 'तुमने बालक को जिन्दा जलाकर बड़ा पाप किया है। अब मुझसे प्रीति न करो। लोना बोली 'मैं उसे मन्त्र के बल से भस्म से पुनः जिन्दा निकाल कर तुम्हें दिखा दूँगी।' यह कहते हुए उसने सचमुच ही बालक को राख से जीवित निकालकर सामने खड़ा कर दिया। राजकुमार ने यह विद्या जानने के उद्देश्य से लोना की बड़ी सेवा की। लोना ने प्रसन्न होकर एक दिन मन्त्र बता दिया। इसके कुछ दिन बाद राजकुमार उसके यहाँ से भाग खड़ा हुआ। कामरूप से वह सीधे काशी आया और कुमुदावती के चितास्थल पर गया। उसने वहां पहुँच कर देखा कि उसका प्रतिद्वन्द्वी वर उसी स्थान पर भस्म लगाये हुए पूर्ववत् तपश्चर्यारत है। इसने उसे अलग बैठाकर चिता में से एक मुट्ठी राख उठाकर मन्त्र पढ़ा। मन्त्र पढ़ते ही उससे राजकुमारी कुमुदावती और कमल नयन निकल आये। इस आश्चर्य जनक घटना का समाचार पाकर नगर के लोगों की वहाँ भीड़ लग गयी। कुमुदावती के माता-पिता को जब यह संवाद मिला तो वे भी चिता भूमि पर आये। उनके साथ कुमुदावती घर पर आ गई। तीनों वरों में उसको व्याहने के लिए फिर झगड़ा होने लगा। समाचार पाकर चौथा वर भी बारात लेकर आ धमका। न्याय के लिए आसपास के लोगों की पंचायत बुलाई गई। पंचों ने निर्णय किया कि घर लौटने वाले वर के साथ कुमुदावती ब्याह दी जाय। इसे शेष तीनों वरों ने अस्वीकार कर दिया। तब कुमुदावती ने स्वयं निर्णय किया। वह बोली 'जब हम दोनों चिता में भस्म होने के बाद सत्यलोक में पहुँचे तो वहाँ साहेब ने हम दोनों को प्रणय-सूत्र में बाँध दिया था। अतः अब कमलनयन ही मेरा पति होगा। माधवानल ने यह प्रेम कथा महाराज विक्रमादित्य को सुनाई।

(२) जड़भरत चरित्र :—

माधवानल ने जड़भरत का चरित सुनाते सुए महाराज विक्रमादित्य से कहा, 'मैं जिन भरत की कथा सुना रहा हूँ, वे अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र भरत और जिनके नाम पर इस देश का भारतवर्ष पड़ा, उन भरत से भिन्न एक तीसरे भरत हैं। ये भी बड़े धर्मात्मा और शास्त्रों में आस्था रखनेवाले महापुरुष थे। राज्य करते हुए भी उनकी वृत्ति उपराम रहती थी। एक दिन तीव्र विराग जागृत होने पर इन्होंने राजपाट त्याग कर तपोव्रत धारण कर लिया। बनमें जाकर सतनाम का जप करते हुए कालयापन करने लगे। एक दिन इनके आश्रम के पास ही सिंह ने एक हिरन युग्म पर आक्रमण कर दिया, हिरन तो छलांग मारकर भाग गया किन्तु गर्भिणी होने के कारण हिरनी भाग न सकी वह भयातुर हो भागने का प्रयत्न ही कर रही थी कि उसके उदर से दो बच्चे पृथ्वी पर गिर पड़े। भरत ने उनमें से एक मृग शिशु उठा लिया और बड़े प्रेम से उसका पालन-पोषण करने लगे। उसके स्नेह में वे इतने तन्मय हो गये कि भजन का स्मरण जाता रहा। दिन भर उसे चराते-खिलाते और रात में उसे अपने पास रख-कर दुलार करते। जब वह मृगशावक हृष्ट पुष्ट हो गया तो वन में अपने सजातियों के साथ जाकर चरने लगा। वह फिर लौटा ही नहीं। भरत उसके वियोग में व्याकुल हो गये—'मृग-मृग' पुकारते वे पागल जैसे जंगल में घूमने लगे। अन्न-पानी छोड़ दिया। आसपास के लोगों ने उनकी यह स्थिति देखकर बहुत समझाया बुझाया किन्तु उनका विरह दुःख बढ़ता ही गया। इसी दुख में उनका शरीर छूट गया। उनकी आत्मा जमलोक को गई। वहाँ मुनियों ने उनसे

प्रश्न किया 'तुमने राजकाज ईश्वर के भजन के लिए छोड़ा था किन्तु वन में जाकर उसे भूलकर मृग का भजन करने लगे। तुम्हें धिक्कार है। 'इतना कहकर उन लोगों ने निश्चय किया कि इनको मृग का ही शरीर दिया जाय। इनके फलस्वरूप भरत का दूसरा जन्म मृग रूप में कलिंजर देश में हुआ। उसने अपनी जीवन की अवधि पूरी होने पर नर्मदा नदी में प्रवेश करके प्राण त्याग किया। इसके बाद उनका जन्म अयोध्या के निकटवर्ती प्रदेश में एक ब्राह्मण के घर में हुआ। अबकी बार उन्हें अपने पूर्व जन्म की स्मृति आ गई। अतः बाल्यवस्था से ही भजन में लीन रहने लगे। पाँच वर्ष की आयु तक बोले ही नहीं इसलिए कुटुम्बियों ने उन्हें गूंगा मान लिया। उनकी अंतर्दशा का किसी को पता ही न चला। बारह वर्ष तक वे भीतर ही भीतर सतनाम रटते रहे। जहाँ बैठते थे सिर झुकाये दिन भर बैठे रह जाते। उठाने से भी नहीं उठते थे। संध्या समय घर के लोग हाथ पकड़कर घर लाते और अपने हाथ से भोजन खिलाते थे। फिर जहाँ बैठा देते वहीं रात बैठे बैठे बिता देते। इस प्रकार बीस वर्ष बीत गये। भरत को यह पता न लगा कि कब दिन हुआ और कब रात बीत गयी। घर के लोग किसान थे। वे प्रातः खेत पर जाते समय उन्हें साथ ले जाकर मेंड़ पर बैठा देते थे और संध्या होने पर खेतो बारी समाप्त करके उन्हें साथ घर ले आते थे। एक दिन संयोगवश वे लोग गूँगे को खेत से घर लाना भूल गये। वह बेचारा सिर झुकाये खेत में बैठा रह गया। आधीरात में उधर से आठ चोर निकले। उन्होंने कभी देवी को मेंढ़े की बलि देने की मनौती की थी। पगले को खेत में बैठे देखकर बोले 'इसके देखते-देखते खेत को सूअर चरे जा रहे हैं। यह गूँगे की तरह बैठा है उन्हें भगाता नहीं। अतः पशुवत् ही है। इसी की बलि क्यों न दे दी जाय। सुनते हैं मनुष्य बलि से देवी बहुत प्रसन्न होती है।' इतना कहकर वे उस ब्राह्मण को लेकर देवी मण्डप पर गये। बलि के निमित्त उसको मण्डप में ले जाते ही शब्द हुआ 'तुम लोग कहाँ से विष्णु भक्त इस को पकड़ लाये। इसके बलि देने से हमारा धर्म नष्ट हो जायगा। यह सर्वथा अवध्य हैं।' इतने से ही संतुष्ट न रह कर देवी ने बलि के लिए उद्यत चोर के हाथ से तलवार छीन लिया और उसी से उन आठों के सिर काट डाले। फिर आकाशवाणी हुई 'हे ब्राह्मण! तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। अपने घर जाओ। यदा कदा दर्शन करते रहना।' किन्तु वह ब्राह्मण वहाँ से हटा नहीं। उसी मण्डप में बैठकर सत्पुरुष का ध्यान करने लगा।

इधर प्रातः होने पर ब्राह्मण के घर बालक की खोज होने लगी। चारों ओर शोर हो गया कि पगला बालक रात भर खेत में ही पड़ा रह गया। उसकी माता रोती हुई दौड़ो, पिता भी ढूँढ़ने निकले। सब खेत के पास आये किन्तु वहाँ उसका पता न था। सारे गाँव में कुहराम मच गया—माता और पिता घने वन में उसे ढूँढ़ने निकले—माता छाती पीट पीट कर कहने लगी। 'मेरे बच्चे को सिंह खा गया। सब लोग निराश हो कर पछताते हुए घर लौट आये। फिर गाँव वाले ढूँढ़ने निकले। उनमें से एक व्यक्ति देवी के मंडप पर पहुँचा वहाँ उसने गूँगे को आसन लगा कर बैठे देखा। वह उसका हाथ पकड़कर कर ले आया। माता उसे पा कर गदगद् हो गयी। उसने अपने हाथों से उसे भोजन कराया। घर वाले प्रातः फिर थसका हाथ पकड़ कर, खेत पर ले गये। वह वहाँ बैठा हुआ त्रिकुटी ज्योति दर्शन करता हुआ मग्न हो गया।

इसी समय उधर से राजा रहूगण इन्द्रलोक को जाते हुए आ निकले। वे सुखपाल पर

बैठे थे, जिसे कहार कंधे पर रखे चल रहे थे। राजा भगवत्-स्मरण में मग्न थे। पालकी ढोने वाले कहारों में एक अत्यन्त निर्बल था — जिससे उसके अन्य साथियों पर अधिक बोझ पड़ जाता था। उसी समय उन्हें यह गूँगा ब्राह्मण सामने बैठा दिखायी दिया। उन कहारों ने उसे खींच कर पालकी ढोने में लगा लिया। निर्बल कहार के स्थान पर इस अदला बदली में पालकी का बाँस हिलने लगा। राजा रहूगण का ध्यान टूट गया। उन्होंने दुर्बल कहार से पूछा 'तुम्हारा शरीर इतना क्षीण क्यों है ? कहार बोलने को ही था कि नवागत ब्राह्मण बोल उठा, जिनके वश में हो कर मन अहर्निश दौड़ता फिरता है वे पाँच; पचीस तीन और दस—तो कभी दुर्बल नहीं होते—शरीर के क्षीण होने से क्या हुआ ?' यह गूढ़ वाणी सुन कर राजा ने पालकी रोक दी और उस ब्राह्मण निकट जा कर हाथ जोड़ कर चरण वंदन करते हुए बोला 'महर्षि आप कौन हैं ? आपके दर्शन से मेरा जीवन कृतार्थ हो गया।' ब्राह्मण ने अपना नाम जड़ भरत बताया। राजा ने कहा 'भगवन् ! मैं अध्यात्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन्द्र के पास जा रहा था। 'जड़भरत ने उत्तर दिया' निर्गुण, सगुण तथा सत्य पुरुष ज्ञान के गूढ़ तत्त्व, संतमत, वेदमत, योगमत, आदि जिस विषय में चाहो पूछ सकते हो।' राजा ने चरण स्पर्श करते हुए जड़भरत से भक्तितत्व की व्याख्या करने की प्रार्थना की। जड़भरत बोले 'मनुष्य का परम पुरुषार्थ आत्मज्ञान प्राप्त करने में है, इसकी अभिव्यक्ति सत्संगति और अन्तर्मुखी साधना से होती है। त्रिकुटी तीर्थ में स्नान किये बिना सारी साधना व्यर्थ है।' इस प्रकार जड़भरत ने ज्ञानतत्व की सम्यक् व्याख्या कर रहूगण को सतनाम का उपदेश दिया और ग्यान-ध्यान की सभी विधियों में उन्हें निष्णात कर दिया। राजा ने उसी समय से जड़भरत को गुरु मान लिया। इस घटना के पश्चात् तत्ववेत्ता गुरु के रूप में जड़भरत लोकविश्रुत हो गये।

(३) प्रीतम कुँवर की कथा—

पश्चिम दिशा में सेहुंड़ा नाम का एक नगर था। वहाँ क्षत्रियों का राज्य था। राजा का नाम साधु कुँवर था। वह बड़ा ही धर्मात्मा था। मधु मालती उसकी रानी थी। समय पा कर उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जन्म लग्न विचारने के लिये पंडित बुलाये गये। उन सब ने कहा 'और सब तो ठीक है किन्तु बारह वर्ष तक ही यह संसार में रहेगा।' इस समाचार से राजभवन में मंगल के अवसर पर चारों ओर शोक सा छा गया। पुरजनों और मंत्रियों ने चिन्तामग्न राजा को समझाते हुए कहा 'ब्रह्मा की रेखा को कौन मेट सकता है। कुँवर चिरंजीवी होंगे।' धीरे-धीरे चिन्ता दूर हुई और नगर में चारों ओर राजकुमार के जन्म के उपलक्ष्य में उत्सव होने लगे। इस प्रकार पाँच वर्ष बीत गये। नवजात शिशु का नाम प्रीतम कुँवर रखा गया। राजा ने गुरू को बुला कर कुमार का विद्यारंभ-संस्कार कराया। कुछ ही दिनों में कुशाग्र बुद्धि कुमार सभी विद्याओं में पारंगत हो गया। किशोरावस्था प्राप्त होने पर उसके विवाह की बातें चलने लगीं। एक दिन देखुवार आये। वे प्रीतम कुँवर को देख कर मुग्ध हो गये। उन लोगों ने राजा से इसकी चर्चा चलाई। राजा ने कहा 'जब तक बारह वर्ष पार करने के बाद दो-तीन साल और नहीं बीत जाते तब तक मैं इसका विवाह नहीं करूँगा। कारण कि इसकी जन्म पत्री में बारह वर्ष का ही जीवन लिखा है !' कुमार को इसका पता लगा तो उसने छिप कर अपनी जन्मपत्री से आसन्न मृत्यु की तिथि तथा समय एक कागज पर उतार लिया। उसने सोचा सारा संसार नश्वर है, जीवन क्षणभंगुर है। इससे शीघ्र ही शरीर के

सम्बन्धियों से नाता तोड़ लेना चाहिये; आखिर एक दिन तो ये छूटेंगे ही। यह विचार कर वह आधी रात को एक तीव्रगामी घोड़े पर चढ़ कर विश्वस्त सेवकों के साथ, सेहुँड़ा से निकल पड़ा। बीस कोस पार करने पर सवेरा हुआ। प्रातः रानी ने कुँवर को जब घर में न देखा तो चारों ओर ढूँढने के लिये धावन दौड़ाए गये—किन्तु सभी ओर भेजे गये अन्वेषक खाली हाथ लौट आये। माता मधुमालती पुत्र वियोग में विलाप कर के आँसू बहाते-बहाते मूर्च्छित हो गई।

प्रीतम कुँवर ने काशी का रास्ता पकड़ा। रास्ते में जो उसे देखता मंत्रमुग्ध हो जाता। चलते-चलते वह सेवकों सहित काशी के पास पहुँच गया धूप अधिक होने के कारण वह एक वाटिका में विश्राम करने लगा। उसी समय वहाँ किसी राजा की एक बारात आई। वह चँद-उर को जा रही थी। वे लोग भी घनी छाया देख कर उसी बाग में उतर पड़े। उस बारात में और साज सामान तो राजसी थे किन्तु वर कुरूप तथा कुबड़ा था। इससे बराती स्वयं भय-भीत थे कि लड़की वाले इसे देख कर न मालूम बारात वालों की क्या दशा करेंगे। उस बारात के पाँच सात सरदार प्रीतम कुँवर के पास आये और इनका परिचय प्राप्त किया। प्रीतम कुँवर ने और सभी बातों के साथ यह भी बता दिया कि मेरा अल्पायु योग है। मैं १२ वर्ष तक ही जीवित रहूँगा, इसलिये भक्ति प्राप्त करने की इच्छा से काशी जा रहा हूँ। इसके पश्चात् प्रीतम कुँवर ने सरदारों से उनका परिचय पूछा। सरदार बोले 'चँदउर के राजा चंद्रसेन ने अपनी पुत्री का विवाह करने के लिये हमारे यहाँ लगन भेजा था, हम लोगों ने एक दूसरा सुन्दर वर दिखा कर उसे स्वीकार कर लिया। किन्तु अब इस कुबरे वर को ले कर ब्याहने ब्याहने जा रहे हैं। हमारी प्रतिष्ठा और जीवन तुम्हारे हाथ में है। हम जो दूल्हे का साज सामान लाये हैं, उसे तुम पहन लो। केवल एक रात हमारे लिये कष्ट सह लो। विवाह कर लेने के बाद प्रातः काशी चले काना।' प्रीतम कुँवर इस पर राजी न हुआ। तब उन लोगों ने बलपूर्वक उसे दूल्हा बना कर गाजे बाजे के साथ बरात ले कर कूच कर दिया। चंदउर में बारात पहुँ-चते ही दूल्हे के सौन्दर्य का चारों ओर बखान होने लगा। द्वार चार बड़े धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। फिर ब्याह की बेला आई। कुमारी चित्ररेखा बेदी पर लायी गई। प्रीतम कुँवर का उसके साथ विधिवत् विवाह हुआ। फिर ज्योनार हुई। दूल्हा उसके बाद ज्योंही जनवासे को चलने लगा—सखियों ने उसका हाथ पकड़ लिया —रानी भी आ गई और बोली 'हमारे कुल की यह रीति है कि विवाह के बाद वर को सोवनार दी जाती है' इसके पश्चात् युवतियाँ प्रीतम कुँवर को चित्ररेखा के पास पहुँचा कर लौट गई। चित्ररेखा प्रियतम का लोकोत्तर सौन्दर्य देख कर आसक्त हो गई, किन्तु जब वह सेज पर पहुँची तो वहाँ नंगी तलवार रखी देख कर ठिठक गई। उसने पति से पूछा 'मैंने आपको अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया फिर बीच में यह तलवार क्यों रखी है। यह हमारे पूर्ण मिलन में बाधक हो रही है। प्रीतम कुँवर बोला मैं तुम्हारा वर नहीं हूँ। तुम्हारा वास्तविक वर एक कुबरा व्यक्ति है। मैं तो एक राही था यों ही पकड़ लिया गया। फिर यह नाटक करना पड़ा। 'चित्ररेखा ने उत्तर दिया—कुबरा भार में पड़े। हमारे लिये तो ब्रह्मा ने तुम्हें बनाया है। जिऊँ या मरूँ तुम्हें छोड़ कर दूसरे का मुँह न देखूँगी।'' यह कह कर उसने रोते हुए पति का चरण-वंदन किया और उसकी मृत्यु तिथि लिख कर विदा किया। प्रीतम कुँवर जनवासे में आया। अपने सेवकों को लेकर वहीं से उसने काशी को प्रस्थान किया।

इसके अनन्तर बारात में से सात सरदार राजा चन्द्र सेन के द्वार पर गये और बिदाई की प्रार्थना की। राजा ने महल में आकर रानी से बिदाई की तैयारी करने को कहा। तब तक कुमारी चित्ररेखा ने सारा वृत्तान्त अपनी माता को बता दिया था। उसने वही बात राजा से कह दी। इस रहस्य को गुप्त रखकर ही सब लोगों ने विचार किया कि बरातियों से कहा जाय कि बिदाई के लिए दूल्हा महल में भेजें। वह दुलहिनि को डोली पर बैठाएगा तभी बिदाई होगी। हमारे यहाँ यही प्रथा है। सरदार बोले वर तो बारात के साथ ही चला गया। चन्द्रसेन इससे समझ गया कि उसके साथ अवश्य छल किया गया हैं। उसने बरातियों के साथ दूल्हे को पकड़ने के लिए सवार दौड़ाये। सवारों ने कुबरे के सहित बारातियों को कुछ ही दूर पर घेर लिया। महल में जब यह समाचार पहूंचा कि कुबरा वर पकड़ लिया गया तो स्त्रियों में कोई कहने लगी कि अगुओं ने धोखा किया, कोई पण्डितों को गाली देने लगी। बराती तो किसी प्रकार भाग निकले किन्तु कुबरा भाग न सका। वह पकड़ लिया गया।

उधर प्रीतम कुँवर शंकरपुरी काशी पहुँच गया। उसने विश्बेश्वर का दर्शन किया, भैरवजी की पूजा की और पार्वती मठ में जाकर वंदना की। पार्वती जी प्रसन्न हो गई। उनकी प्रेरणा से प्रीतम कुँवर ने व्यास जी का दर्शन करके अत्यन्त दीनतापूर्वक स्तुति की। व्यास जी ने 'चिरंजीव' होने का आशीर्वाद दिया। यह सुनकर प्रीतम कुँवर ने अपने अल्पायु योग की बात बताई। व्यासजी बोले 'मुझे यह ज्ञान न था, अब ब्रह्मा तुम्हारी अभिलाषा पूरी करें।' इतना कहकर व्यासजी प्रीतम कुँवर को ब्रह्माजी के पास मानसरोवर ले गये। वहाँ उन्होंने स्वयं तथा बालक द्वारा ब्रह्माजी की चरण बंदना के अनन्तर सारी व्यवस्था कह सुनाई ब्रह्मा उस समय सत्पुरुष का ध्यान कर रहे थे। वे बोले 'मैंने इस बालक को जीवन दान दिया—अब यह शीघ्र चंदउर जाये अपनी पत्नी को आत्मदाह करने से बचाये। व्यासजी तत्काल उस बालक को लेकर काशी आ गये और उसे तेज घोड़े पर चढ़ा कर उसे उसी समय चंदउर भेज दिया।

यहाँ चंदउर में पति की मृत्युतिथि को चित्ररेखा ने चिता बनाकर जल जाने का उपक्रम किया। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया किन्तु प्रियतम से दिव्य लोक में मिलने की इच्छा एवं असह्य विरह के कारण अपने शरीर को भस्म कर डालना ही उसने श्रेयस्कर समझा। दृढ़ निश्चय जान कर सखियों ने उसे पूर्ण रूप से अलंकृत किया। उधर प्रीतम कुँवर जब चंदउर से बीस कोस की दूरी पर अत्यन्त थक गया तब गरूड ने उसकी सहायता की। उन्होंने अपने ऊपर उसे बैठाया और एक ही दंड में चंदउर लाकर उतार दिया। जब चिता में आग लगाने का समय हो गया तब वह सहसा चिता के पास गया। सारे नगर के लोग उसे आया देखकर आश्चर्य चकित हो गये। राजा और रानी ने उसे पहचाना—चित्ररेखा ने भी चीन्ह लिया। तब चिता पर चढ़ती हुई पुत्री का हाथ पकड़ कर माता-पिता ने नीचे उतारा। इस अलौकिक घटना से सारे नगर में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। राजा ने बहुत सा दानपुण्य करके अपना भाग्य सराहा। प्रीतम कुँवर और चित्ररेखा के दिन भोग विलास में आनन्द पूर्वक बीतते लगे।

इधर कुबरे को सवार रास्ते से ही पकड़ कर चंदउर ले आये। नगर में आने पर लोगों ने उसे खूब पीटा। फिर भगा दिया। किन्तु वह नगर छोड़कर कहीं गया नहीं। वहीं

कर रहने लगा । नगर की निकटवर्ती गोमती नदी के एक घाट पर उसकी बैठक रहती । वहाँ स्त्रियाँ नहाने जाया करती थीं । उसने सोचा कदाचित् इधर कभी चित्ररेखा आये उसका दर्शन कर लूँगा । एक दिन वह उसी घाट पर बैठा अपने दुर्भाग्य पर पश्चात्ताप रहा था कि लड़कियों का एक झुण्ड स्नान के लिए आया । उनके साथ राजकुमारी ात्ररेखा भी थी । कुबरा उसी घाट पर बैठा था । चित्ररेखा के प्रकाशपूर्ण मुख मंडल को ते ही वह मूर्छित हो गया होश आने पर उसने मन ही मन सोचा । मुझे ही यह सुंदरी त होने वाली थी किन्तु बरातियों ने हमारे साथ धोखा किया । जब सब कुमारियां न करके घर जाने लगीं तब कुबरे ने दौड़ कर राजकुमारी का चरण वंदन-किया । त्रयों ने उससे पूछा 'तुम घाट पर क्यों रहते हो । तुम तो चोर मालूम पड़ते हो, अब घाट को छोड़ कर शीघ्र ही किसी अन्य स्थान में चले जाओ । स्त्रियों के नहाने के घाट पर षों की क्या आवश्यकता ?' किन्तु वह कुबरा टस से मस न हुआ—टकटकी लगाकर राज- ारी के मुख को देखता ही रहा । युवतियों ने सोचा इसकी नीयत ठीक नहीं है । अतः सभी जूतियों से उसे खूब पीटा । उसे इसमें आनन्द आने लगा । बार-बार जूतियां उठा कर उन्हें रने को प्रोत्साहित करता रहा । युवतियों के राजकुमारी के साथ चली जाने पर वह सिर : कर घंटों रोता रहा किन्तु कुछ देर के बाद मन को सांत्वना देता हुआ वह बोला 'अब पश्चिम दिशा में तुर्कों के पास जाऊंगा और उन्हें चंदउर पर चढ़ा लाऊँगा । इस सारे शवासियों को इस दुर्व्यवहार का मजा चखाऊँगा ।' यह निश्चय करके वह पश्चिम की ओर ा । तुर्कों के पास जाकर उसने सारा वृत्तांत कहा । तुर्कों ने चंदउर पर चढ़ाई का डंका ा दिया । इसकी खबर चंदउर के राजा चंद्रसेन को लगी । उसने बालबच्चों को प्रीतम वर और चित्ररेखा सहित उत्तर-दिशिवर्त्ती गह्वर पहाड़ में सुरक्षार्थ भेज दिया । इधर दउर की रक्षा के लिए आस पास के हिन्दू राजा अपनी अपनी सेनाएँ लेकर एकत्र हो गये । न्दू तथा तुर्क सेना में बारह दिन तक घमासान युद्ध होता रहा । अन्त में तुर्कों की विजय ई । हजारों हिन्दू खेत रहे । कुबरे ने अन्त में अपना बदला ले ही लिया ।

माख्यानक काव्य परंपरा और ज्ञानरतन

प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा में ज्ञानरतन बहुत बाद की रचना है । हिन्दी में प्राप्त हुत से भारतीय और सूफी शैली के प्रेमाख्यानक इसके पूर्व लिखे जा चुके थे । उनमें से कुछ हत्त्वपूर्ण प्रेमाख्यानों का स्पष्ट प्रभाव भी ज्ञानरतन पर पड़ा है । प्रेमाख्यानों की यह सामान्य वशेषता है कि उनमें परवर्ती प्रेमकथाओं की चर्चा कथानक रूढ़ि के रूप में प्रायः हुई हैं, जसमें नलदमयंती, सुलोचना, रानी पिंगला, मधुमालती, कुमुदावती, रत्नसेन पद्मावती, सप- ावती, हंस जवाहिर, उषा अनिरुद्ध, मैनावती और जड़भरत के आख्यान प्रमुख हैं । इनमें े कुछ प्रसिद्ध और कुछ अज्ञात हैं । कुमुदावती, जड़भरत, और प्रीतम कुँवर की कथाओं का प्रयोग तो स्वयं नवलदास ने किया है और जिस प्रकार वे संकेत देते हैं उससे प्रतीत होता है कि इनसे पूर्व भी इन कथाओं की परम्परा अवश्य रही है । प्रीतम कुँवर की कथा थोड़े परिवर्तन के साथ जायसी की 'चित्ररेखा' में मिल जाती है । नवलदास ने कुछ ऐसे भी प्रेमाख्यानों की चर्चा की है जिनके विवरण पूर्णतः प्राप्त नहीं ।

परंपरागत प्रभाव की दृष्टि से नवलदास पर सर्वाधिक प्रभाव जायसी का है। कामकंद ा की कथा कहते हुए उन्होंने यत्र तत्र ठीक वैसे ही वर्णन किये हैं जैसे जायसी ने। बीच-बीच में वे पद्मावत की कथा के उद्धरण भी देते गये हैं। यह संभवतः उन्हें सांप्रदायिक साधना की परंपरा में 'पद्मावत' की महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण करना पड़ा होगा। विचारणीय है कि सूफी शाखा में जिस प्रकार प्रेमाख्यानों की रचना-प्रकिया चल रही थी उसी प्रकार निर्गुण धारा में भी लोक-प्रसिद्ध आख्यानों के आधार पर निर्गुण साधना के प्रचार-प्रसार का कार्य चल रहा था। नवलदास पर जायसी के प्रभाव को हम तत्कालीन स्थिति में 'पद्मावत' की सम्पूर्णता ही मान सकते हैं क्योंकि नवलदास सम्भवतः प्रथम कवि हैं जिन्होंने 'ज्ञानरतन' में प्राचीन भारतीय पौराणिक आख्यानों की विस्तार से चर्चा की है। उनके सामने सेवरी, कूबरी, हरिश्चन्द्र, ध्रुव चरित, रामकथा, सतीमोह, गोपीप्रेम, सती सुलोचना, उषा अनिरूद्ध, भानु प्रताप, बलि, द्रोपदी, कीचक वध आदि कथायें उपलब्ध थीं—

धन्य भक्ति सेवरी अस पावा। जेहि बल प्रभु कह जूठ षवावा।
धन्य कूबरी भगतिनि साँची। सुमिरन समन जाल तजि राँची।
ऊँचे पर हरिचंद नरेसू। मगन भये तजि अवध सुदेसू।
ऊँचे पर ध्रुव ध्यान लगावा। ऊँच प्रताप अमै पद पावा।
साथ ही भरम नारि कर संगा। सीताराम जानु यक अंगा।
जो संकर-त्रिय संगति कीन्हा। जरि बरि बिछुरि सतिहुँ दुष दीन्हा।

तात्पर्य यह कि नवल दास भारतीय और सूफी दोनों ही परंपराओं से परिचित थे और उन्होंये दोनों का यथावसर ज्ञानरतन के स्वरूप-निर्माण में उपयोग किया है।

सत्यनाम साधना :

'ज्ञानरतन' निर्गुण प्रेमाख्यान है। माधवानल-कामकंदला की लोकप्रसिद्ध कथा के माध्यम से नवलदास ने सतनामी पंथ की साधना पद्धति का निरूपण किया है। प्रारंभिक स्थिति में संत साहित्य अपनी पूर्ववर्ती साधना-पद्धतियों से बहुत प्रभावित था। कालान्तर में 'नाथ' और 'सिद्ध' साधनाओं की जटिलता इससे दूर होने लगी थी। यहाँ तक कि 'हरिदासी', 'सतनामी' 'चरणदासी' आदि संप्रदायों में बहुत अंशों तक निर्गुण-सगुण का समन्वय सा होने लगा था। सूर और तुलसी की लोकव्यापी समन्वय साधना का इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यही कारण है कि नवलदास के समय तक आते आते निर्गुण साधना में हठयोग सम्बन्धी कुछ शब्द मात्र शेष बचे थे। 'ज्ञानरतन' में साधनामार्ग की कठिनाई और आराध्य को पाने की विकलता तो है किन्तु इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, ब्रह्मरंध्र, सहस्रारचक्र, अनहदनाद आदि के वर्णन बहुत कम हैं। 'ज्ञानरतन, में गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। ग्रंथ के प्रारम्भ में में ही गणेश वंदना के पश्चात् नवलदास ने गुरु-वंदना की है। गुरू समस्त साधनाओं में सफलता दिलाने वाला, मोहान्धकार को विच्छिन्न करने वाला और द्विधा चित्तवृत्ति को एकाग्र कराने वाला है। संसार में 'अनहद नाद' सभी घटों में निरंतर होता रहता है किन्तु चित्त की चंचलता के कारण सामान्य लोग उसे सुन नहीं पाते। इस साधना की कुंजी गुरु के ही पास है। उनके बिना कोई परम ज्योति का दर्शन नहीं करा सकता—

अनहद शब्द सुनत सब कोई। दुचित जक्त समुझत नहिं कोई।
वह घरिआल शब्द जग बाजा। प्रगट रहत नित नौ दरवाजा॥

दस्सम द्वारा गुप्त गति रहता। पहुँचत भक्त जगत नहिं चहता।
अटपट द्वार अगम सुठिबाँका। बरनत सत श्रुति साँकर नाका।
करि पट असित कपाट देषावा। दुचित जक्त केहु मरम न पावा।
वह कुंजी सतगुरु सन पावे। गुरु बिन कवन उघारि देषावै।
सतगुरु बल चलि भक्त उघारहिं। दरसन करि तन मन धन वारहिं।

इस साधनामार्ग में मोहग्रस्त जीव को पहले यह दिव्य आवास अत्यंत समीप प्रतीत होता है किन्तु चलने पर उसकी अगम्य कठिनाई सामने आती है। अतः कोई बिरला ही 'सतगुरु' तक पहुँच पाता है—

मूरिष जीवनिमेरु पर, निरषत नियर देषाइ।
चढ़त सो अटपट पथ अगम, बिरले पहुँचहिं जाइ॥

—दो० १९, पत्र ९

नवल दास ने इस विकट साधनामार्ग का वर्णन करते हुए बताया है कि इसकी कठिनाइयों को जो सहन करते चलता है, उसे कुछ प्रकाश मिलता चलता है किन्तु वह मार्ग इतना अटपटा है कि बिना पथप्रदर्शक गुरू के पग-पग पर भ्रांत हो जाने का भय है। उनकी यह दृढ़ धारणा है कि निर्गुण के प्रकाश का आभास उसे ही हो सकता है जो प्राणों की चिंता किये बिना साधना मार्ग में आगे बढ़े। अन्ततोगत्वा परम ज्योति के दर्शन मात्र से युगों का संचित पाप धुल जाता है ओर काम-क्रोध का अस्तित्व मिट जाता है—

अति उजियार जगामग होई। सिर दैं चढ़ै सो पहुंचै कोई।
तब चढ़ि देषै दरस गोसाईं। निरगुन झलक कहीं कहँ ताईं।
रवि मनि उदै रहत असमाना। सिर संगम सत जलहिं नहाना।

जन्म मरन तिन्हकर मिटै, बसि निरगुन के पास।
दास नेवल सो भक्त भा, करि मन बच क्रम आस॥

—दो० २३, पत्र १२.

यह अगम्य साधना नई नहीं है। नवलदास कहते हैं कि शंकर, ब्रह्मा, नारद, गणपति गिरिजा, सनकसनंदन आदि ने इसी पथ का अनुसरण करके परम सिद्धि प्राप्त की थी।

बहै मंदिल हर हठि मन लावा। वहै मंदिल नित विधि मन भावा।

× × ×

वह घर अगम अपार है, बहुरि बहुत औसान
दास नेवल सतगुरु कहैं, जेहि जस निश्चै ज्ञान

—दो० २०, पत्र— ॥.

युगों से भक्तों ने इसी परम तत्त्व प्राप्ति के लिए साधना की है। इस निर्गुण तत्त्व की झलक कण-कण से मिल रही है किन्तु अज्ञान के कारण बिरले लोगों को ही गुरु कृपा से उसका दर्शन होता है—

सुनि लोक है घट घट, वह धुनि घट घट बाजु।
अति उजियार जगामग, निरगुन झलक बिराजु॥

—दो० २२, पत्र ११.

परम तत्त्व ज्ञान का यह अमृत फल जिस वृक्ष पर लगा है, वह बड़े विकट रखवालों द्वारा रक्षित है। उनसे लड़कर पहुँचना बड़ा कठिन है। जो साधक गुरू का निर्देश प्राप्त करके जीवन की आशा त्याग कर इस दुरूह पथ पर अग्रसर होगा वही अमृत तत्त्व का आस्वादन कर सकेगा—

तेहि महँ एक तरिवर अस राजे। जरपताल नभ डार विराजे॥
फूल जुगल निसि बासर फूले। येक चाँद यक रवि सम तूले॥
तेहि फल केरि होत रख बारी। पाँच सुभट निसुदिन बलभारी॥
और पचीस नारि बन्ह केरि। चौकी देत पेड़ वहि घेरि॥

× × ×

तरू पर चढ़ै बेलार सो, बढ़ै विरह की आगि।
मउत बिना जो मरि जियै, तौ चाषै फल जागि॥

—दो० २४, पत्र १२.

ज्ञान और ध्यान के बिना यह शरीर अन्धकार भय है। यदि ध्यान किया जाय तो आत्मप्रकाश प्राप्त हो सकता है। जब निर्गुण को पाने की विकलता हृदय में उत्पन्न हो जाती है तब गुरू के शब्द सुनाई पड़ने लगते हैं। माधवानल भी जब काशी से ऊब गया तब सत-गुरू की वाणी उसे सुनाई दी। साधना में लक्ष्य एक होना चाहिये चाहे उसकी प्राप्ति के लिए प्राण त्याग ही क्यों न करना पड़े—

रवि तनुजा अस नाभ डहर को। तेहि चढ़ि पावै मरम सहर को।
वाम डहरि कर सुरसरि नामा। सो माधोनल याहिन तामा।
जब दिन वह पिंगला पथ पावा। पुहुपावती नगर नियरावा॥

× × ×

कुन्ड येक अमृत भरा, महा सुरंग छवि रूप।
जो वहि नगर पहूँचै, देषै दरस अनूप॥

— दो० २९ पत्र १३.

कहीं-कहीं नवलदास ने परम्परागत, साधनों में रूढ़ शब्दों का भी प्रयोग किया है यद्यपि ऐसे वर्णन सम्भवतः साधना मार्ग की दुरूहता के बीच साधक की निष्ठा को अविचल रखने के लिये किये गये हैं—

सेल्ही सुरति नयन करि प्याला। पियत प्रेम रस मन मतवाला।
पिअर बदन जस भरि दोउ नैना। गावत शब्द प्रेम के बेना।
विधिकर जन्त्र बजाव विरागी। कसि तन मनहिं अगम धुनि लागी।
वरू यह विरह करै जरि छारा। तजउँ न जुग-जुग अब यह द्वारा॥

—पत्र—१६.

नवलदास ने सिद्धिगोटिका आदि की साधना को हेय कहा है। उनके मत में वास्तविक सिद्धिगोटिका तो 'सत्यमति' है अन्य गोटिकायें कच्ची हैं—

सतमत सिद्ध गोटिका साँचा। गुटिका अवरि गनब सब काँचा।
पारा ते सिरजत बनै, तौ साल भरे महँ होई।
सिद्ध गोटिका वही हैं, जो पावै नर कोई॥ दो० ४३.

एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि सिद्धिगोटिका प्राप्त योगी निर्गुण ब्रह्म में प्रवेश ही नहीं पा सकते। वे निर्गुणाकाश के बाहर ही चक्कर लगाते रहते हैं—

सो मुख मेलि उड़त बहुतेरे। नहीं पहुँचहि निर्गुन नभ नेरे।
उपर उड़हिं जहँ लगु मन चाही। भीतर अगुन गगन महँ नाहीं।

विभिन्न तांत्रिक साधनायें किस प्रकार प्रच्छन्न कायिक वृत्तियों की पोषक मात्र थीं इसे नवलदास जानते थे। किन्तु ये साधनायें तो ऊपर उड़ने की थीं। अन्तर्ज्ञान उनसे कोसों दूर है। उसे गुरू की कृपा प्राप्त करके मन, वचन और कर्म की एकाग्रता से प्राणों की चिंता किये बिना अपने साध्य की साधना में लगे रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। उस साधना की प्रक्रिया और कठिनाई पर संसारी लोगों का विश्वास ही नहीं हो सकता—

यह सत मत संतन्ह हित भाषा। जग सब सुनत प्रतीति न रापा।

निर्गुण मन्दिर का भी वर्णन नवलदास ने किया है। वह सांसारिक महलों जैसा नहीं है। वहाँ तो बिना दीपक के ही उजाला रहता है। सूर्य-चन्द्र किरण तारों और नक्षत्रों के बिना ही वह सतत ज्योतिर्मान रहता है—

बिना दीपक उजियार अपारा। रहित नषत जगमग सब तारा।
बिन ससि चन्द्र उदै असमानू। बिन रवि दरसन जन मत भानू।
बिन मसिआल उजेर मसाला। निरखहु उधरत कुन्जी ताला।

× × ×

अगिनि पवन जल पंषि भरि, उपर न पावहिं पार।
अनहद बानी घंट येक, सुनत जक्त झंकार॥—दो० ७०.

शरीर की चिंता त्याग कर जो सुरति साधना में समाधिस्थ हो प्रियतम के नाम की रट लगाने लगता है उसी का दसम द्वार खुलता है। यह स्थिति तब आती है जब निर्गुण की प्राप्ति की विकलता में रोम-रोम से खून पसीना बन कर प्रस्रवित होने लगता है—

तजितन सुधि बुधि सुरति समानी। मुष रट उचरत पिय पिय बानी।
दसम द्वार गुप्त जहँ नाकी। डहर अगम अति अट पट बाँकी।
सोत सोत ढरि रकत पसेऊ। तब समुझै यहि मत कर भेऊ।

उस अगम्य घर तक पहुँचने के लिये सत्संग ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच तत्त्वों की पच्चीस प्रकृतियों को वश में कर सके; काम, क्रोध लोभ आदि का संयमन कर सके, दसों इन्द्रियों को जो निष्क्रिय कर सके, आत्मा को साधना मार्ग से विचलित करने वाले अज्ञान रूपी चोरों को ज्ञान के प्रकाश से दूर खदेड़ सके, जो प्राणों का मोह त्याग सके, इन गुणों से समन्वित अहर्निश साधना में लीन मूकबत् वाक्संयमी, गुरुप्रदत्त बीजमंत्र की गोप-

नीयता का संरक्षक—धीर और स्थितप्रज्ञ साधक ही सतगुरु की कृपा प्राप्ति का अधिकारी हो सकता है—

निसुदिन छिन भरि निमिषि न छूटे। तब सब सिद्धि सम सरिगढ़ टूटे।
मूक सरिस मुष वचन न बोले। अगम अमर मत कबहुँ न बोले।
अब तन मन धुनि रटनि पिरीती। दिन निसि नहिं समुझत कित बीती।

ज्ञानरतन में निर्गुणसाधना किसी क्रमिक रूप में विकसित होती हुई स्थिति के अनुरूप चित्रित न होकर स्थानिक है। इसमें वर्णित घटनाओं के प्रसंग भी इस प्रकार हैं कि उनके आधार पर किसी साधनात्मक रूपक की कल्पना स्वाभाविक न होगी। नवलदास ने आत्मत्याग, चिन्तन, सत्संग, सदाचार, गुरु उपदेश, सतनाम जप और प्राप्ति की विकलता को ही स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। जहाँ कहीं, सुरति, सेल्ही, उन्मन और 'सुषमन' आदि की बातें उन्होंने की हैं वे उस स्थान विशेष पर कथन की मार्मिकता, घटना की तीव्रता, और वेदना की गंभीरता व्यक्त करने के लिये ही आयी हैं। संभव है, निर्गुण काव्यधारा में प्रयुक्त इनका परंपरागत सांप्रदायिक स्वरूप ही इसका कारण रहा हो।

पूर्ववर्ती प्रभाव :

'ज्ञानरतन' भारतीय जनजीवन में विकास पाते गये विभिन्न साधना मार्गों, धार्मिक आंदोलनों एवं साहित्यिक उपलब्धियों का आकर है। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ज्ञानरतन का रचना काल रीतिकाल का उत्तरार्द्ध है। इस दृष्टि से नवलदास के समक्ष भक्तिकाल और रीतिकाल का सम्पूर्ण साहित्य रहा होगा किन्तु उनकी इस रचना में अनुभव और सत्संग का का प्रभाव सर्वाधिक है। 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत' को छोड़कर किसी अन्य ग्रंथ का प्रभाव ज्ञानरतन पर नहीं दिखाई देता। निर्गुण संत कवि होते हुए भी नवलदास पर 'मानस' की स्पष्ट छाप है। इन्होंने वंदना, ग्रन्थ-रचना-तिथि और यत्र यत्र घटनाओं में वर्णन में 'मानस' की छाया का निश्चय ही ग्रहण किया है। ज्ञानरतन और रामचरित मानस की रचना तिथियों के वर्णन में कितनी समता है—

संवत अठारह से अरतीसा। कहियत नाइ भगत पद सीसा॥
माघ मास सुभ पूरन मासी। कृपा समुझि हरि चरित प्रकासी॥
रतन ज्ञान तम कलुष नसावन। सुनत श्रवन मन रूचि उपजावन॥

मानस-रूपक-प्रसंग और ज्ञानरतन का साधनामार्ग प्रसंग एक-दूसरे के अत्यंत समीप हैं—

राम रूप सरि मति समुहानी। धारा विमल त्रिविध त्रिमुहानी॥

समस्यायें शाश्वत हैं। समाधिस्य चित्त में उनके प्रति युगों का अन्तर होने पर भी समान भावनाएँ प्रतिफलित हो ही जाती हैं—

अनहित सब जग हित कोउ नाहीं। करि विचार देख्यौ मन मांही॥
सुत पितु नारि सकल परिवारा। यह काहुहि कोई देइ न पारा॥ पत्र—१९

जन्म लेना और जीवित रहना स्वप्नवत् है यह कोई ज्ञानी अपने ज्ञान नेत्रों से ही जान सकता है—

जीवन जन्म सपन कर लेषा। ज्ञान नयन्ह करि ज्ञानिन्ह देषा ॥
आवत जात स्वास जग माहीं। नहिं आवै तो अचरज नाहीं ॥ पत्र—३५

नवलदास मानते हैं कि शंकर ने पार्वती से जिस गोपनीय नामभक्ति तत्त्व का उद्घाटन किया था, उसी सतनाम को जालंधर, गोरख, भरथरी आदि ने भी जपा—

वहै नाम संकर मन राषा। पारवती सन गुरुहिं भाषा ॥
विधि सुत सहित वहै सतनामा। सुमिरन करत सरत सब कामा ॥ पत्र—४

प्रीतम कुँवर को देखकर ग्राम्य महिलायें उससे छाया में बैठकर विश्राम करने को कहती हैं। नवलदास के इस प्रसंग का 'वनपथ में राम' प्रसंग से बहुत कुछ साम्य है—

सीतलि छाँव नेवारउ धामा। एक पहर अब करहु अरामा ॥
जनक जननि कहं किन्ह सिष दीन्हा। नयन ओट ज्यन्ह तुम्ह अस कीन्हा ॥
कुलिस कठिन उर जननि तुम्हारी। तुम्ह कहं तजि करि घर रखवारी ॥
जीवनि मनि तुम चलेउ विहाई। वह घर बार भार परै जाई ॥ पत्र–११३

प्रेमाख्यानक परंपरा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ जायसी का पद्मावत भी नवलदास के सामने एक आदर्श रहा होगा। नवलदास ने ज्ञानरतन की कथा-योजना, निर्गुण-निरूपण, साधनामार्ग की कठिनाइयों का वर्णन, विरह की लोकव्यापी व्यंजना और विरहातिशयोक्ति बहुत कुछ पद्मावत के आदर्श पर किया है। जैसा कहा जा चुका है जिस प्रकार जायसी आदि सूफी कवियों ने प्रसिद्ध आख्यानों का आश्रय लेकर प्रेममार्गी सूफी शाखा के काव्यों की रचना की उसी प्रकार निर्गुण संत कवियों ने भी निर्गुण साधना के प्रचार प्रसार के लिए लोकाख्यानों का उपयोग किया। ऐसा करते समय पद्मावत उनका मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ रहा हो यह नितान्त स्वाभाविक है। ज्ञानरतन की घटनायें भी पद्मावत से मिलती-जुलती है। प्रिय की प्राप्ति के लिए प्राण त्याग की कामना जायसी को भाँति नवलदास ने भी आवश्यक मानी है—

अब तेहि पंथ चढौ मैं, चढ़ि वह दरसन लेऊँ।
की नयना सीतल करौं, की वोहि पथ जिउ देउँ ॥ दो० २८

नागमती और कामकंदला के विरह में कितना साम्य है—

केहि पावों मैं परम संदेशी। जेहि कर बचन सुनै परदेशी।
कोई अस भँवर काक पिक होई। विरह विथा तहँ बरनत कोई।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि जायसी का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी नवलदास सर्वत्र अपनी मौलिकता, सूझ बूझ, और वास्तविकता को बनाये रखते हैं। वियोग की तीव्रता दिखाने के लिये एकाध स्थलों पर नवलदास ने भी सेल्ही, सुरति आदि के वर्णन किये हैं किन्तु विरह की नाप जोख और अतिशयोक्ति से वचकर—

वह दुष देषत सघन बन, भीजे तरिवर पात।
धरनि अकास पसीजेउ, कठिन विरह दुष बात ॥ दो० ६३.

आकाश को काला कर देने और पशु पक्षियों तक को दुखित कर देने वाले जायसी और नवलदास के विरह वर्णनों में बहुत कुछ साम्य है—

बिरह अगिनि तिय तन मन तापी । बिरह बज्रागि अकाशहु व्यापी ।।
परचि अकास भयो जरि कारे । तपत भानु नभ चलत न हारे ।।
कुल पसु पषि मृगन्ह दुष पावा । विरह लहरि अस केहि न सतावा ।।

सौन्दर्य वर्णन के परंपरागत उपमानों के प्रयोग में भी पद्मावत और ज्ञानरतन के वर्णन साम्य रखते हैं—

अस वह जुवति रूप जेहि पूरा । बिहंसत लाल होत जरि कूरा ।।
ससि मुख तनु जनु दामिनी जोती । बोलत बोल रतन मनि मोती ।।

ज्ञानरतन में स्थान स्थान पर नवलदास ने 'पद्मावत' की ओर स्पष्ट संकेत भी किये हैं जिससे प्रतीत होता है कि पद्मावत की संपूर्ण कथा उनके सामने आदर्श रूप में उपस्थित थी—

१. को सिव अस जिन्ह जरत बचावा । रतनि सेन पद्मावति पावा ।
२. गोरा बादिल जस जग जोधा । पद्मावति कर कीन्ह प्रबोधा ।
३. विरह लहरि तप काहि न जागी । रतन सेन चितउर गढ़ त्यागी ।

साधनात्मक प्रतीक के रूप में 'पद्मावत' और 'ज्ञानरतन' के नगर वर्णन लगभग समान हैं—

सुरति न पहुँचत निरषत कोई । अगिनि सुवन थकि लौटा रोई ।।
सात षंड धवरहर अपारा । शुभ सिवराजु बाजु घरियारा ।।
अनहद सब्द सुनत सब कोई । दुचित जक्त समुझत नहिं कोई ।।
वह घरिआल सब्द जग बाजा । प्रगट रहत नित नौ दरवाजा ।
दस्सम द्वार गुप्त गति रहता । पहुँचत भक्त जगत नहि चहता ।। पत्र—९

जो उस सत्य की प्राप्ति कर लेता है उसको यहाँ के सांसारिक कष्टों को सहने की क्या आवश्यकता—

ज्येन्ह पावा तेहि बहुत अरामा । सो किमि आइ सहै यह धामा । पत्र—१२
जे वहि छाँह पाइ फल खावा । ते यहि जग फिरि काहेक आवा । पत्र—२६

कामकंदला का साथ चलने के लिये आग्रह नागमती के आग्रह से साम्य रखता है—

जहं काया तहं छाया, जहाँ सुमन तहं बास ।
जहं जहं प्रीतम पगु धरै, तहं तहं नारि नेवास ।। पत्र—३५

परंपरागत प्रेमाख्यानों का परिचय देते समय भी नवलदास जायसी का अनुकरण करते हैं—

साथ कुँवर साधा तप जोगू । मधु मालति कर विरह वियोगू ।
कुमुदावति सर जरिवर साधा । राजकुँवर रोवत मलि हाथा ।

× × ×

रतनसेन चितउर गढ़ त्यागी । विरह लहरि तन काहि न जागी ।

× × ×

सपनावति कहं गयउ पतारा । अति अटपट द्विज राज सवारा ।

'ज्ञान रतन' पर 'नाथपंथ' का भी पर्याप्त प्रभाव है यद्यपि नवलदास ने निर्गुण साधना की 'नाथपंथी' रहस्यात्मकता को बहुत कुछ सहज एवं स्वभाविक बना दिया है फिर भी निर्गुण-पंथ में प्रचलित नाथयोग की परंपरागत शब्दावली का परित्याग वे नहीं कर सके हैं। सिद्ध-गोटिका आदि के निर्माण तथा पारद के घोटने की प्रक्रिया का पता नवलदास को था, यह दूसरी बात है कि वे उसे महत्त्व नहीं देते थे—

पारा ते सिरजत बनै, तौ वर्ष भरे महँ होइ।
सिद्धिगोटिका वहौ है, जो पावै नर कोइ॥ — दो० ४३

संत साहित्य में गृहस्थ जीवन साधना में बाधक नहीं माना गया है। कबीर, नानक आदि संतों के विवाहित होने और गृहस्थी जोड़ने से यह सिद्ध होता है कि संत कवि प्रकृत लोक जीवन के प्रति असहिष्णु नहीं थे। उनका मुख्य विरोध लोक में व्याप्त आडम्बर से था। नारी भी यदि साधना मार्ग में बाधक है, तभी माया है। किन्तु नाथ योग में स्त्री सर्वथा त्याज्य मानी गई है। माधवानल ने कामकंदला का त्याग इसी आदर्श के लिये किया था—

परदेसी नृप नवल विहंगू। जोगी भँवर न राषहि संगू।

नाथ योगी की दूसरी विशेषता है उसका निरंतर विचरण। इसी से उसके आचरण की निर्मलता सुरक्षित रहती है—

जोगी भँवर जगत महँ जेते। जग रस पर थिर कबहुँ न ते ते॥
केहि के दरद केर बै चहतू। यहि जग महँ जल निरमल वहतू॥ — ६३

माधवानल को सतनाम की शिक्षा देने में भी नाथ पंथ का प्रभाव स्पष्ट है—

माधौनल सतगुरु सुधि आने। तंत्र अगम अति कहत सोहाने।
अमर मंत्र यह सुख सतनामा। यह तुव करब सकल सिधि रामा।

× × ×

यह जपि सिधि विधि संभु हित, गोरस जुत नौ नाथ।
चौरासी सिद्धन जपा, बैठि सकल यक साथ॥ — पत्र।

नाथयोगी रहस्य-साधना-मार्ग का पथिक होता है इसलिये अपनी अनुभूतियों को गुप्त रखना उसका अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है—

मूक सरिस मुष बचन न बोलै। अगम अमर मत कबहुँ न खोलै॥

कामरूप की लोना चमारिन की विविध तंत्र मंत्र में अद्भुत गति के वर्णनों में नाथपंथ का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है—

सिव अष्टांग जोग पढ़ि साधा। वह जहँ चहत रहत नहिं बाधा॥
मुद्रा चारि सिद्ध वहि माहीं। सिध्य अवरि अष्टादस ताही।
भैरो तंत्र उडीस समेता। अवर तंत्र गुन जहँ लगु जेता॥
—दो० १८० के आगे।

तात्पर्य यह कि नवलदास ने तुलसी और जायसी, के आदर्श पर 'ज्ञानरतन' की रचना की है। नाथपंथी सिद्धों के चमत्कारों और उनकी साधना प्रणाली से भी वे परिचित थे। सबसे बड़ी बात यह है कि नवलदास ने हिन्दू जीवन-दर्शन और जीवन-पद्धति की भी मार्मिक

अभिव्यक्ति की है। देवी देवताओं की वंदना, ऋषियों के माहात्म्य एवं अवतारों की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवलदास पर हिन्दू धर्म का सर्वाधिक प्रभाव था। कथा के बीच-बीच में रामचरित की घटनाओं से वे अपनी कथा को पुष्ट करते हैं और माधव के अध्ययन के प्रसंग में चारों वेदों की चर्चा करते हैं। इस प्रकार नवलदास ने अपने समय में प्रचलित आचार विचारों, साहित्यिक उपलब्धियों, लोकाख्यानों परंपराओं आदि को यथोचित महत्त्व देते हुए दृढ़ सांस्कृतिक आधार भूमि पर ज्ञानरतन की रचना की है। इस ग्रंथ में कवि ने निर्गुण-सगुण, साकार-निराकार आदि तत्त्वों का विशद निरूपण करते हुए समकालीन लोक जीवन के साथ ही सांप्रदायिक विश्वासों की भी यथार्थ अभिव्यक्ति बड़े ही कौशल से की है। अन्य सूफी तथा निर्गुण मार्गी रचनाओं में इस तत्त्व का प्रायः अभाव है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी परंपरा में यह ग्रन्थ विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

प्रेमतत्त्व वर्णन

ज्ञानरतन प्रेमगाथा है। नवलदास के मत में प्रेम साधना की सबसे बड़ी विशेषता है अनन्यता—

प्रीति असिल कर अचल प्रभाऊ। अवर जगत निरखत नहिं काऊ।
तन मन रटन पिरीतम नामा। तेहि पर अवर मंत्र केहि कामा।

—ज्ञानरतन, पत्र ६०

जिस साधक के हृदय में यह तत्त्व आ गया वह निर्भय हो जाता है, संशयहीनता प्रेमी का नित्य लक्षण है—

बीज प्रेम कर जेहि घट जामा। तेहिकस भरम सीत औ घामा॥
सीस दीन्ह प्रिय दरसन आसा। तेहि कस सिंह सेर कर त्रासा॥

—वही, पत्र ४२

जेहि के हृदै पिरीतम होई। तेहि जग मरम न पूछै कोई।

प्रेमाकाश के निर्गुण ज्ञानसूर्य का दर्शन साधक अनन्त बाधाओं को पार करके आत्म-बलि देकर ही प्राप्त कर सकता है। वहाँ पहुँच कर जीव अनन्त काल तक अखंड अमृत का पान करता हुआ सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है—

प्रेम गगन जहँ निरगुन भानू। महि ते वह ऊँचा अरु भानू।
पहुँचै जो सिर दै चढ़ै, पकरि सजीवनि सूरि।
जुग जुग सो अमृत पियै, जन्म जन्म दुख दूरि॥ वही, पत्र १०

यह गूढ़ प्रेम साधना साधक के अपने वश की बात नहीं। मार्गदर्शक सतगुरु के बिना इस बीहड़ पथ पर दो कदम भी आगे नहीं चला जा सकता। साधना के गुह्य द्वार की कुञ्जी उसी के हाथ में रहती है—

वह कुंजी सतगुर सन पावे। वन्ह विन कवन उधारि देषावै॥
सतगुर बल चलि भक्ति उधारहि। दरसन कीरतन मन धन बारहि॥
मूरि सजीवनि मेरु पर, निरखत निभर देखाई।
चढ़ते सो अटपट पथ अगम, बिरले पहुँचहि जाई॥ वही, पत्र १०

महात्मा नवलदास ने साधना के इस दुर्गम पथ का साधकों की सुविधा के लिए सत-नामी संप्रदाय के सिद्धान्तानुसार विशद विवरण प्रस्तुत किया है—

वाम उहर अंधियार बरावै। दहिने रवि नंदिनि महँ धावै।
चलत कछुक तहँ मिलत उजेरा। कुंड सुरंग सुंदर मनि घेरा।
अमृत अरुन भरा तेहि माहीं। दरसन करत अगर चलि जाहीं।
धरम राज दरसन वहि बाटा। चढ़त मिलत सरि सुषमन घाटा।
उतर दछिन दिसि कनक सुमेरु। बिन गुरु चढ़त परत तेहि फेरू।
कनक सु तरिवर कमल सुमन वन। कनक पत्र फलफूल कनक बन।
वह वन उतरि हेवंचल पारा। दरसन कनक मंदिल उजियारा।
बहै मंदिल हर हठि मन लावा। बहै मंदिल हठि विधि मन भावा।
सनक सनंदन सनत कुमारा। कहे मंदिल निसि देवस अधारा।
सुर मुनि वर नर असुर जो कोई। वहि पर बसत भगत सत होई।
वह घर अगम अपार है; बहुरि बहुत औसान।
दास नेवल सतगुर कहै, जेहि जस निश्चै ग्यान। वही, पत्र १०-११

नवलदास ने मुख्य कथा के नायक माधवानल तथा अंतर्कथाओं के नायक जड़भरत, कमलनयन और प्रीतम कुँवर को इस साधनापथ का तत्त्वज्ञ पथिक माना है, और इसी रूप में उनका चित्रण किया है। उन्होंने इन सभी को अपनी साम्प्रदायिक मान्यतानुसार 'सतनाम' का अनन्य प्रेमी बताया है। 'निर्गुण प्रेमाख्यान होने के कारण इसके अन्तर्गत शून्य लोक, अनाहत नाद, कुंडलिनी जागरण आदि तत्वों की स्थान स्थान पर व्याख्या की गयी है। कवि ने इस 'संतमत' को ही जीव के उद्धार का सर्वोत्कृष्ट पंथ बताया है।

यह निरगुन सतमत सुमत, अगम अथाह अनन्त।
महरम कौ भरि समुद रस, वन्ह कर कबहु न अंत।। वही, पत्र ८४

नवलदास वीतराग संत थे। फिर भी प्रेम अथवा श्रृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों के जैसे बिम्ब रतनज्ञान में चित्रित हैं वे कवि की अद्भुत काव्य प्रतिभा के परि-चायक हैं।

माधवानल-कामकंदला के आख्यान को आधार बना कर लिखी गयी रचनाओं में गण-पति, कुशल लाभ, आनन्दघन, आलम, बोधा आदि कवियों ने संयोग श्रृंगार का बड़ा ही हृदयाकर्षक स्वरूप प्रस्तुत किया है। साहब नवलदास की संत प्रकृति को 'काम' और उसके उद्दीपक तत्त्वों का विवरण उतना रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ। ऐसे प्रसंगों में भी उनका साध-नात्मक दृष्टिकोण ही प्रधान दिखाई देता है—

माधौ कहं तिन्ह कर गहि लीन्हा। अपने महल तुरित सुभ कीन्हा।।
सुन्दर महल कनक बहु भाँती। मानिक दीपक बरई दिन राती।।
देखि महल नैना ठगे, औ अछरी कर रूप।
जहँ निरखत तहँ जोति छवि, आवा दरस अनूप।
पलंग रंगति वहि महल सोहावा। तेहि पर सुमन सुगंध बिछावा।
तेहि पर अरुन बिछावन सोहे। माधोनल निरखत मन मोहे।

माधौ कहँ बिसराम करावा। तब अछरी सेवन मन लावा।
कोक सार चरचा मन आना। सकल कला माधौ कर जाना ।।
असित पाख नीचे कहँ आवै। सेत पाख ऊँचे कहँ धावै।
सब तिथि गति तिय अंग मिलावा। मदनबास महि जु लि चिल्लावा।

कहना न होगा ऐसे शृंगार पूर्ण विषम स्थलों पर कवि का निर्लिप्त भाव मर्यादा रक्षा में सहायक हुआ है। लौकिक दृष्टि से इसे भले ही कवि की असफलता की संज्ञा दी जाय किन्तु कवि का, साधनात्मक दृष्टि से इससे आगे कुछ कहना संगत न होता। नवलदास के मत में संयोग अथवा मिलन का क्षण रात्रि की भाँति काला होता है, उस पर पर्दा पड़ा रहना ही अच्छा होता है।

संयोग वर्णन के नखशिख सम्बन्धी प्रसंगों में प्रयुक्त उपमान प्रायः परम्पराभुक्त बहु-श्रुत और बहुप्रयुक्त है फिर भी कथन की सहजता और अवसरोचित मार्मिकता के कारण उनमें अजब अनूठापन आ गया है। काव्य और साधनात्मक निर्गुणवाद का अपूर्व सामञ्जस्य रात्री के धुँधलके में माधवानल को दृश्यमान कामकंदला के इस चित्र में देखा जा सकता है

माधोनल मन करत विचारा। किन्ह मानिक दीपक यह बारा।
भा उजियार अगम अस देखा। जिमि जन अगुन ध्यान करि लेखा।
अस विघटत मारुत पछियावा। संपूरन ससि निकसि देखावा।

नवलदास की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने उत्तर मध्यकाल के उस सामंतीय वातावरण में जबकि परकीया का महत्त्व सर्वोपरि था, स्वकीया-परक दांपत्य भाव की व्यापक प्रतिष्ठा की, वह भी एक वेश्या के साथ। नवलदास संत होते हुए भी सामाजिक सम्बन्धों के प्रति बड़े निष्ठावान् हैं। स्थान स्थान पर सती, सावित्री और सीता के आदर्श पातिव्रत की चर्चा उन्होंने की है। माधव के साथ जाने का हठ कामकंदला का ही नहीं संपूर्ण प्रेमिका-वर्ग का अपने प्रिय के सान्निध्य में रहने का हठ है। नवलदास ने अपनी अनुभूति की व्यापकता से कामसेन के बन्धन में बँधी, प्रिय के मिलन के लिए आतुर कामकंदला के भाव-मग्न अंतस्तल में बैठकर उसकी वेदना का चित्रण किया है

जीवन जन्म सपन करिलेषा। ज्ञान नयन्ह करि ज्ञानिन्ह देषा ।।
आवत जान स्वास जग माँहि। नहिं आवै तौ अचरज नाहीं ।।
को अस जगत जबर जेन्हजीते। तुम किन करत बिछोह पिरीते ।।
बिछुरत भषम चढ़ाइ कै, तन मन तुम्ह कह देऊँ।
जोगिनी ह्वै जग छाँड़ि कै, ढूँढ़ि मित्र कहँ लेऊँ ।।

कन्दला के वियोग से दुखी नवलदास अपनी सामान्य मनःस्थिति में आते हैं तब वे उप-देश देते हैं :—

परदेशी नृप नवल विहँगू। जोगी भँवर न राषहिं संगू ।।
जोगी भँवर करे जेहि भावा। तिन्ह की प्रीति कवन सुष पावा ।।

निष्ठुर प्रियतम जाने को प्रस्तुत हैं। न जाने कब लौटेगा। यदि योगी है तो उसे शिष्य की आवश्यकता पड़ेगी ही, फिर क्यों नहीं मुझे ही शिष्य बना लेता? यदि कुछ भी करने को तैयार

नहीं है तो अपने ही हाथों प्राण ले ले क्योंकि नारी तो युगों से पुरुष की छाया है। जहाँ काया वहाँ छाया :—

की मोहि लाइ लेव पिय साथा। की तौ मारि चलब सयं हाथा॥
सेवा करौं पषारौं पाया। जुग-जुग नारि पुरुष कै छाया॥
का गोरष सम फिरहु अकेला। संग लाइ मो कहँ करु चेला॥
जहँ काया तहँ छाया, जहाँ सुमन तहँ बास।
जहँ जहँ प्रीतम पगु धरै, तहँ तहँ नारि नेवास॥ —दो० ५७.

प्रेम की यह एकनिष्ठा माधव में भी है। उज्जैन की सुन्दरियाँ उसे रंचमात्र भी आकृष्ट नहीं कर पातीं। वे दुखित होकर लौट जाती हैं :—

माधौनलहिं रिझाइ भल, वह अति निठुर न रीझ।
फिरीं सकल मन मइल करि, आपु आपु कहँ षीझि॥

'ज्ञानरतन' में वात्सल्य चित्रण भी बड़ा ही मार्मिक है। कामकन्दला की मृत्यु पर उसके माता-पिता बिलखने लगते हैं।

आजु प्रीति तुम्ह सकल निबाही। तन इत राषि गइहु जहाँ चाही।
आजु नेह कर भयउ निबेरा। आजु अवनि तजि गगन बसेरा॥
आजु बनिज भइ पूरी तुम्हारी। आजु सकल जग चलिहु बिसारी॥

प्रीतमकुँवर को अकेले निराश्रित घूमते देखकर ग्रामीण नारियाँ जो कुछ कहती हैं, उसमें मातृत्व की उत्कृष्ट छाप है। इतने रूपवान पुत्र को छोड़कर जो माँ घर की रक्षा करे वह वज्रहृदया नहीं तो और क्या है? जब जीवन मणि ही दूर हो जा रहा है तब घर भाड़ में जाय :—

सीतलि छाँह नेवारउ धामा। एक पहर अब करहु अरामा॥
जनक जननि कहँ किन्ह सिख दीन्हा। नयन ओट जिन्ह तुम अस कीन्हा॥
कुलिस कठिन उर जननि तुम्हारी। तुम्ह कहँ तजि करि घर रखवारी॥
जीवन धन तुम चलेहु पराई। वह घरबार भार परै जाई॥

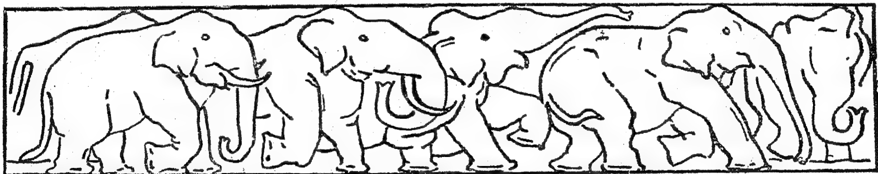
भावुकता और स्वाभाविकता के साथ साथ नवलदास में काव्योचित मार्मिकता भी है। कामकन्दला के सौन्दर्य वर्णन में उन्होंने अपनी कविजनोचित सरसता का परिचय दिया है :—

सुभ लिलाट पर पूरन मासी। उदित विदित जग जोति प्रगासी॥
निरषि नयन मृग सकल सिहाने। जल बन षंजन मीन लुकाने॥
सुक मुष सरिस नाक सुभ लोनी। अपनेहुं कर गढ़ि सारस जोनी॥
जानहु तड़ित सुतनु धरि आई। बेंदी बेसरि वनक बनाई॥

सच तो यह है कि सभी सौन्दर्य युक्त प्राणियों में परमेश्वर की दिव्य आभा को देखने वाले नवलदास ने प्रेम, वियोग और श्रृंगार के विविध पक्षों की मनोहारी कल्पनायें की हैं। जहाँ उनकी दृष्टि कवि की है वहाँ मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु जब उन्हें अपनी साधना, संसार की अवास्तविकता और ज्ञान की चरम सत्यता की स्मृति आती है उन्हें यह सारा संसार ही परदेसी लगने लगता है :—

हम जौ कहा बुझाय भल, आगेह विमल विचार।
यह परदेसी जक्त सब, को केहि लावै पार॥

संसार के प्रति विरक्ति का भाव रखते हुए भी नवलदास कामकन्दला के वियोग से व्यथित हैं, योगी के वश में राजकुमारी की परवशता को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, पुत्री के मरण पर माता-पिता के रुदन से साश्रु हैं। संसार की बुराइयों को देखकर 'बाउर' की तरह चुप हैं और सारे वैषयिक प्रलोभनों को निर्लिप्त भाव से झेल जाने वाले हैं। उनकी यह विशेषता उन्हें प्रेमाख्यान परंपरा के कवियों में महत्त्व-पूर्ण स्थान प्रदान करती है। उनके उप-मान किसी परम्परा की नकल नहीं अपितु लोक जीवन के सूक्ष्म अध्ययन के परिणाम हैं उनका सौन्दर्य चित्रण नारी और पुरुष में परमेश्वर की दिव्य आभा का आभास कराता चलता है। उनके वियोग-वर्णनों में लोक-जीवन की सहज सकरुण वेदना है। साहित्यिक उत्कर्ष में 'ज्ञानरतन' किसी भी सूफी तथा उत्तरमध्यकालीन भारतीय प्रेमाख्यान के समकक्ष रखा जा सकता है। यह हो सकता है कि ज्ञानरतन में सांगोपांग नखशिख वर्णन न मिले, नायिकाभेद खोजने वालों को निराश होना पड़े, आलंकारिक वर्णनों की छटा देखनेवालों को संतोष न हो, किंतु ज्ञानरतन में वह बहुत कुछ है जिसके कारण वह प्रेमाख्यानक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। संत कवि ने जिस प्रकार आत्मज्ञापन और प्रचार से अपने को दूर रखा उसी प्रकार उनका यह ग्रंथ भी काव्यरसिकों की आँखों से ओझल, अज्ञात एवम् अनिर्दिष्ट पड़ा रहा।



संतकवि देवीदास और उनके वाणीकार शिष्य

राधिका प्रसाद त्रिपाठी

संत देवीदास जगजीवन साहब के उन चार प्रमुख शिष्यों में से थे जिन्हें सत्तनामी सम्प्रदायान्तर्गत चार पावा या स्तम्भ के रूप में जाना जाता है।[१] कदाचित् देवीदास जी जगजीवन साहब के शिष्यों में वरिष्ठता की दृष्टि से द्वितीय थे।[२] इनका जन्म भाद्रपद कृष्ण ८ मंगलवार विक्रम सं० १७३५ को बाराबंकी जिलान्तर्गत लक्ष्मणगढ़ नामक ग्राम में हुआ था। कालान्तर में यह लक्ष्मणगढ़ को छोड़ कर पुरवा नामक ग्राम में रहने लगे थे।[३] इनके पिता भवानी सिंह साधारण जमींदार थे। यह भारद्वाज गोत्रीय अमेठिया (गौड़) वंश के क्षत्रिय थे। साम्प्रदायिक साहित्य एक स्वर से इन्हें गौड़वंशीय या अमेठिया वंश का बताता है।[४] देवीदास जी शरीर से बड़े ही सुन्दर थे। बोधेदास ने 'नील स्वरूप वारि छवि कामा' कह कर इनकी सुन्दरता का वर्णन किया है।[५] ईश्वरदास कृत 'भक्तमाल' से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[६]

---

१. (क) प्रभु जगजीवन वंश जथा मति कहा सुहाई।
अब पावा कहि चारि नाम तिनके समुझाई ॥
प्रभु दूलन प्रभु देवि सेव्य सेवक के साँचे।
बहुरि गोसाईंदास श्याम प्रभु सुमिरण साँचे ॥
ये चारों जन जक्त के खंभ आपु सब सो भन्यो।
पइहैं मुक्ति विसेख ते जेहि सनेह इनते बन्यों ॥ —भक्तमाल, पृ० १६

(ख) अन्तःसाक्ष्य से भी इनका जगजीवन साहब का शिष्य होना प्रमाणित होता है—
—देवीदास के प्रभु जगजीवन। —शब्द लीला, लीला १ छंद

२. दूसर देविदास उजियारे जिन्ह बहुतन्ह कहँ पार उतारे।—रतन ज्ञान, प० सं० ३

३. (क) लछिमनगढ़ ते कूच करि पुरवा में आसन ठयो। —भक्तमाल

(ख) देविदास प्रभु गौड़ कहाये।
तजि लछिमन गढ़ पुरवै आये ॥ —कोटवा माहात्म्य, पृ० १३

४. (क) बहुरि अमेठिया वंश में जन्म कर्म उत्तिमलयो। —भक्तमाल, पृ० २०

(ख) गौरवंश छत्री पुनि········। वही, पृ० २०

(ग) गौरवंश छत्री केर जाना। —भक्ति विनोद, दशम अध्याय

(घ) देविदास प्रभु गौड़ कहाये। —कोटवा माहात्म्य, पृ० १३

५. भक्ति विनोद, दशम अध्याय

६. भक्तमाल, पृ० २०

कहा जाता है कि देवीदास जी बाल्यकाल में ही माता और पिता दोनों की स्नेह छाया के वंचित हो गये थे तथा माता-पिता का देहान्त हो जाने के बाद इनकी वृत्ति परमपिता की ओर उन्मुख हो गयी थी। परिणाम स्वरूप मात्र १८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने जगजीवन साहब से दीक्षा ले ली थी।[१] यह बात पुष्ट प्रमाणों पर आधृत नहीं जान पड़ती। बोधेदास[२] और ईश्वरदास[३] के अनुसार जब देवीदासजी दीक्षा ले कर कठोर साधना में रत हुए थे तब इनके माता-पिता को बड़ी चिंता हुई थी। ऐसी स्थिति में बाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता के निधन की बात असत्य सिद्ध हो जाती है। कहना न होगा इस सम्बन्ध में बोधेदास और ईश्वरदास के कथन को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक माना जायगा। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि देवीदास की चित्तवृत्ति बाल्यकाल में ही ईश्वरोन्मुख हो गयी थी।

जब यह जगजीवन साहब की शरण में पहली बार सरदहा गये तब अत्यंत भावाकुल हो कर उनके चरणों में लोटने लगे थे। अन्त में जगजीवन साहब ने प्रभावित हो कर इन्हें स्वयं उठाया और नाम की दीक्षा दे दी। इस प्रसंग का वर्णन ईश्वरदास ने बड़े मार्मिक ढंग से किया है—

सबहिं पसारि अंग हाथ पाँव कीन्हेउ तंग
बहुरि बटोरि धूरि माथे पै चढ़ावहीं
मानो रंक पायो धन वेगि होइ मुदित मन
लाग्यो लेन ताको हिये भाव को बढ़ावहीं
रज को प्रभाव जौन जानै कोऊ ऐसो नीच
माया के नसे में लखि कर्म को न पावहीं
तिनको सकल वादि नेम धर्म क्रिया आदि
नेक ना सुफल भक्तमाल सो बतावहीं ॥
बोल्यो तब साईं जगजीवन कृपालु चित।
उठौ उठौ उठौ न लगावो नेक ढील है ॥

× × ×

वेगि सो पकरि कर कह्यो आप उठौ अब
छोड़ि बकवादि सब कीजै यादि नाम की ॥
प्रानन पियारे मेरे रह्यो मैं तलास तेरे
कीन्हेउ भल आयउ नेरे बात भै अराम की ॥

---

१. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६१५
२. तात मात भ्रात जन व्याकुल सकलगात रोवत उफात दुःख अमित जनायो है
—भक्तमाल पृ० २२
३. पुरजन कहँ का भयो विधाता, करुना करहिं पिता अरु माता।
—भक्ति विनोद, दशम अध्याय

लीजे पुनि मंत्र कान कानन लगाइ ध्यान
राखौ सो प्रमान गहौ पंथ निज धाम की ॥[1]

दीक्षोपरान्त यह सरदहा निकट स्थित सैलखपुर नामक ग्राम में अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ रहते हुये जगजीवन साहब का सत्संग लाभ करने लगे।[2] इसके अनन्तर देवीदास जी सैलखपुर से पुरवा लौट कर कठोर नाम-साधना में लीन हो गये। साधना काल में इनकी असामान्य दशा देखकर इनके परिवार के लोग अत्यंत व्याकुल हो उठे थे।[3] इन्होंने कुछ समय तक अभरन तट पर एक वृक्ष की छाया में बैठ कर जगजीवन साहब की वाणी का प्रचार भी किया।[4] कहते हैं इसी स्थान पर गुरुदेव की वाणी का अध्ययन और चिंतन करते हुए इन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई।[5] ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् इन्होंने लक्ष्मणगढ़ जा कर कुछ समय भजन सत्संग में व्यतीत किया और फिर पुरवा में आ कर रहने लगे।[6] यह गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले महात्मा थे। इनकी वंश परम्परा आज भी चल रही है।

---

१. भक्तमाल, पृ० २०

२. (क) देह ते सो भयो विदा मन ते न भयोजुदा, आयो पुर सैलष समुझि स्थली नात की।
गुरुद्वार निकट विचारि तहाँ डटि रह्यो करैं सतसंग जाते सुद्ध होत पातकी ॥
—वही, पृ० २१

(ख) लै उपदेस विदा तब भयऊ देविदास सैलषपुर गयऊ। —भक्ति विनोद, दशम अध्याय

३ (क) निजपुर त्यागी कीन्हेउ प्रथम निवास जहाँ आनि तहँ लायो दिढ़ नाम ही की जाप है
गुरु जो लखायो मंत्र ताहि लै जगायो इमि, खायो न पीयो सो जल विख ज्यो बरायो है
रयन दिन रहैं परे अंतर सो ध्यान धरे डोलत न बोलत सो काहू के बोलायो है
गड़ी दृष्टि दृष्टि मांहि खोलत सो नेक नाहिं पुरजन कहैं इन्हें अल्प कोऊ आयो है
तात मात भ्रात जन व्याकुल सकलगात, रोवत उफात दुःख अमित जनायो है
—भक्तमाल, पृ० २२

(ख) निजपुर छाड़ि लीन्ह जहँ वासा तहाँ क आये देवीदासा।
देविदास गुरु मंत्र जगावा निसुवासर कछु पिया न खावा ॥
नहिं डोलहि नहिं काहु ते बोलहिं गाड़े दृष्टि नेत्र नहिं खोलहिं।
पुरजन कहँ का भयो बिधाता करुना करहिं पिता अरु माता ॥
—भक्ति विनोद, दशम अध्याय

४. अभरन तट एक सुन्दर निहारि तरु ताके तर बैठि कीन्हेउ ग्रंथ को प्रचार है।
—भक्तमाल, पृ० २२

५. पढ़ै पुनि गुनै सुनै समुझै विचारै ताहि जो जो कछु करै पुनि ताके अनुसार है ॥
अस केहू विरलेक ग्रंथ को मनन कीन जैसे कछु देविदास ताको मत बूझ्यो है ॥
बूझ तहिं होत भो प्रकाश रविज्ञान यह जानत ब्रह्मांड खेल अन्तरहिं सूझ्यो है।
—वही, पृ० २२

६. साहब सो साँवले के और हू चरित्र सुनौ लछिमनगढ़ पुनि कीन्हेउ आनिवास है।
कीन्हेंउ कछु काल तहँ भजन विहार जुत बहुरि सो चालि किह्यो पुरवा प्रकाश है।
—वही, पृ० २२

देवीदास अपने समय के बड़े ही यशस्वी संत थे। जगजीवन साहब के एक दूसरे शिष्य नवलदास ने इन्हे 'संत सिरताज' की संज्ञा दी है।[१] 'भक्ति सुमिरनी प्रकाश' के लेखक ने इन्हें 'भक्ति दीप' नाम से अभिहित करते हुए श्रद्धा संवलित भावों की व्यंजना की है—

भक्तिदीप देवी भयेउ जग उदित हृदै परकास करन।
भजन भाउ निसुदिन अड़ो बड़ौ प्रेम सुष धाम।
वचन प्रीति अमृत द्रवै गुन गाइ मनोहर नाम।
करि सेवकाई भक्त जक्त में नीति सिषाएउ।
जगजीवन गुर परताप ते नाम के बीज बोवाएउ।
रामनाम दृढ़ किएउ संत प्रगट जग दुष हरन।
भक्ति दीप देवी भयेउ जग उदित हृदै परकास करन।[२]

सत्तनामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी इन्हें सम्पूर्ण समाज को तारने वाले के रूप में देखा जाता है—

जगजीवन धारा सरिस, दूलनदास जहाज।
देविदास केवट भयो, तारचो सकल समाज ॥[३]

कहा जाता है कि इन्होंने १३५ वर्ष की आयु भोगकर सं० १८७० में परमगति पायी।[४] ईश्वरदास के अनुसार भी इनका १३५ वर्ष तक जीवित रहना प्रमाणित होता है।[५] डॉ० ग्रियर्सन ने भी इन्हें १७९० ई० अर्थात् सं० १८४७ के आसपास उपस्थित बताया है जिसके अनुसार थह ११२ वर्ष के हो चुके थे।[६]

देवीदास जी न केवल उच्चकोटि के साधक के रूप में विख्यात थे वरन् एक सशक्त वाणीकार के रूप में भी आज तक स्मरण किये जाते हैं। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास-ग्रंथों में जगजीवन साहब और नवलदास के बाद यदि किसी का नामोल्लेख हुआ है तो वह देवीदास जी ही हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने इनका उल्लेख शांत रस के कवि के रूप में किया है।[७] अबतक देवीदास जी कृत १२ ग्रंथ और कुछ स्फुट पद प्राप्त हो चुके हैं। ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है—

---

१. सुख सागर, पृ० २
२. भक्ति सुमिरनी प्रकाश, पृ० ३०
३. नवज्योति से उद्धृत
४. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६१५
५. एक सै औ दस वर्ष बीतिगो करार जब देह भै सिथिल तब कह्यो आप बोलि है
अब हम जब निज देश को शरीर त्यागि तौलों जेठ बधू मर्म भाख्यो निज खोलि है
अबै न पचीस वर्ष आप सो गवन करौ मेरे कहे दीनबन्धु कौनिउ दिसि डोलि है
कीन्हेउ सो कबूल तन रहेउ पुनि जौ लै चहेउ बहुरि उड़ाई धूरि जक्त खेलि होलि है
—भक्तमाल, पृ० २४
६. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० २३९
७. वही, पृ० २३९

१. सुखसनाथ
२. भ्रमविनास
३. विनोदमंगल
४. भक्तिमंगल
५. भक्त लीला
६. शब्द लीला
७. भरतध्यान
८. गुरुचरन
९. भ्रमरगीत
१०. ज्ञान सेवा
११. नारदज्ञान
१२. वैराग्य ज्ञान

इन ग्रंथों में से अभी तक केवल 'शब्द लीला' का प्रकाशन 'श्री सत्यनाम मुमुक्षु आश्रम बछरावाँ से सन् १९६५ में हुआ है। इस कृति को सम्प्रदायान्तर्गत 'ब्रह्मवाणी' के नाम से भी जाना जाता है। अड़तालीस पाठों में विभक्त इस ग्रंथ में संत लक्षण, ज्ञान साधना, भक्ति साधना, सतगुरु, गैवी देश, नाम सुमिरन, संसार की नश्वरता, राम की भक्त-वत्सलता तथा भक्ति के महत्त्व का विशद निरूपण किया गया है। उदाहरणार्थ देवीदास के कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

सब घट रमिता रमिता मधुर मारुत की नाईं।
पैदा और निपैद किह्यो तुमहिनि एक साईं।
तेज अग्नि परमान हौ सीतल जलहि सरूप।
जेहि जस जानि परै सो तैसे धनि तुम त्रिभुवन भूप।[1]
उनके कया न काम धाम धन उनके नाहीं।
गैबी पुरुष अलेप लेप काहू माँ नाहीं।
पद्दुम पत्र हम देखिये बुन्द न जल ठहराई।
अस सब माँ सबहीं ते न्यारा समुझि तकहु तुम जाई।[2]
तरै मात औ पिता तरै बान्धव सुतनारी।
तरै बहुत परिवार तरै प्रीतम हितकारी।
जिन सुमिरा तिनहीं लहा जक्त जन्म को लाह।
संकट परै भक्त के संगी अपनावत गहि बांह।[3]
तप करि देह जराय पाप यह वृथा कमायो।
गुरु बिन ज्ञान के हीन अन्त कछु जानि न पायो।
नख सिख जटा रखाइ कै अंग विभूति लगाय।
यहु दहुँ कवन मुक्ति मत सुनि कै राम दिहिन बिसराय।[4]
छोटे छोटे पेड़न को सुन्दर कियारी करै
पनरे से पौदा तिन्हें पानी से पालिबों
नीचै गिर गये तिन्हें टेक दै ऊँची करो
ऊँचै चढ़ि गये तिन्हें जरूर काटि डारिबो

१. शब्द लीला, पृ० ७।
२. वही, पृ० १०।
३. वही, पृ० २७।
४. वही, पृ० ९४।

फूलै फूलै फूल सब बीन एक ठौर करो
घनै घनै सब एक तरफ से उजारिबो
राजन को मालिन को नीति कहैं देवीदास
चारि घरी राति रहै इतना विचारिबो ।[1]

गिरिवरदास

संत गिरिवर दासजी जलालीदास के पुत्र थे ।[2] कहना न होगा, जलाली दास सत्तनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक संत जगजीवन साहब के पुत्र थे ।[3] तात्पर्य यह कि गिरिवरदास, जगजीवन साहब के पौत्र थे । सम्प्रदायान्तर्गत इन्हें जगजीवन साहब के अवतार की प्रतिष्ठा प्राप्त है ।[4] यह बड़े सहज स्वभाव के महात्मा थे । इन्हें अपनी कुल परम्परा का तनिक भी अभिमान नहीं था । बाल्यकाल से ही इनके अलौकिक व्यक्तित्व का लोगों पर व्यापक प्रभाव पड़ने लगा था । इनका विवाह तो हुआ था किन्तु इन्होंने वैवाहिक जीवन के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई ।[5]

संत जलालीदास की मृत्यु के उपरान्त गिरिवरदासजी कोटवा की गद्दी पर समासीन हुए । जिस समय यह कोटवा धाम (बाराबंकी) के पीठाचार्य हुए सत्तनामी पंथ के संतों में त्याग वृत्ति का अभाव होने लगा था, लोग संत की रहनी को विस्मृत करने लगे थे । ऐसे समय में गिरिवर दासजी ने अपनी सूझबूझ का परिचय दिया । इन्होंने अपनी संगठन शक्ति के द्वारा पंथ के भीतर नव-चेतना का संचार किया । बोधेदास के अनुसार जब संसार एवं भक्त गण रूपी लक्ष्मण अत्यन्त व्याकुल और बेहाल हो उठे थे तब गिरिवर दास रूपी हनुमानजी ने अपने उपदेश की संजीवनी से सबको नवजीवन दिया था ।[6]

---

१. राम ऋषिदास के व्यक्तिगत नोट बुक से ।

२. साईं गिरिवर गुरु अग्नि कै प्रगट भयौ ।

—भक्तमाल, पृ० ११

३. जगजीवन सुत भयो जलाली ।

—भक्तिविनोद

४. साईं जगजीवन शरीरनिजत्याग समे कह्यौ हम अबही पलटि जग जाइ है ।
प्रगट भैं बानी जौन जीवन कल्याण हेत ताहि सो करब पुनि खोजि एक ठई है ।
बहुरि अमेठिया जो देविदास शिष्य मेरा तिन्हैं सो करब गुरु गर्व सो विहाई है ।
सोई गिरिवर गुरु आनि के प्रगट भयो .... ;

—भक्तमाल, पृ० ११

५. भयो जो विवाह नेक कीन्हेउ ना प्रसंग अंग
कुटी करि रह्यो आप बाहिर उछाहि के ।

—वही, पृ० ११

६. जक्त भक्त लक्षमन भये व्याकुल बहुत बेहाल ।
सहित सजीवनि गिरवर ल्याये कपि तेहि काल ॥

—भक्त विनोद चौदहवाँ अध्याय

गिरिवरदास जी बड़े तेजस्वी और साधनामय जीवन व्यतीत करने वाले महात्मा थे। इनकी महिमा का वर्णन करते हुए बोधेदास ने लिखा भी है—

गिरिवर गिरि मंदर जस भारी, ज्ञान सिंधु मथि सुधा निकारी।
सो अमृत सजीविन भाई, जेहि ते अजर अमर पद पाई ॥[1]

इनके जन्म एवं मरण की निश्चित तिथि प्रस्तुत लेखक को नहीं ज्ञात हो सकी है फिर भी इतना स्पष्ट है कि यह विक्रम की उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में अवश्य ही वर्तमान थे क्योंकि इनके गुरु देवीदासजी का जीवन काल १७३५ से १८७० के मध्य पड़ता है।

इन्होंने जगजीवन साहब की वाणी का संग्रह करने के साथ ही स्वयं भी कुछ स्फुट वाणी की रचना की है। नमूने के लिए कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

आरति जै सतगुरू बजरङ्गी, कृपा सिंधु समरथ सतसङ्गी।
विरद पाल सति लगन सुधारन सतिनासी जन-चूक निवारन।
पायक राम भक्त भयहारी, असरन सरन प्रणत सुखकारी।
वेद पुराण विदित सत करनी सुमिरत पाप ताप त्रयहरनी।
इष्ट देव सन्तन सिरताजा, महाबीर राखिय जन लाजा।
गिरवर पर अब कीजै दाया, दे वर दरस अभय कपिराया।[2]
पूजा विषय समान हैं, जग जीवन मत जान।
गिरवर लिखा सो कीन्हेउ ओर न हिरदय आन ॥
पियत भांग औ गांजा भगत अमल नहि खाँहि।
गिरवर जगजीवन कहा खाँहि सो नरकहिं जाँहि ॥
असबारी पर ना चढ़ेउ बाहन अहै निषिद्ध।
गिरिवर सो त्यागन किहेउ किहेउ रिष्य मुनि सिद्ध ॥[3]

अनूपदास

अनूपदास जी संतदेवीदास के पुत्र थे।[4] संत वृत्ति इन्हें रिक्थ रूप में प्राप्त हुई थी। इन्होंने बाह्य प्रभावों से सर्वथा ऊपर उठकर नाम साधना की थी।[5] कहते हैं साधना में अत्यधिक लीन रहने के कारण इन्हें दस-दस दिन तक भोजन करने की सुधि नहीं रहती

---

१. भक्ति विनोद, पन्द्रहवाँ अध्याय
२. आरती संग्रह, आरती संख्या १२
३. नव ज्योति से
४. पुनि प्रभु देवी सुवन, भयो समस्त अनूपा।

—भक्तमाल (ईश्वरदास) पृ० ३८

५. गहेउ नाम निर्वान लग्यो अंग सीत न धूपा।
नहि कछु भूख पियास नहीं दुख सुख कछु लागे'

—वही, पृ० ३८

थी ।[१] यह भ्रमर वृत्ति से जीवन यापन करने वाले महात्मा थे ।[२] इन्होंने भी स्फुट वाणी की रचना की है । हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में से शिवसिंह सेंगर ने अपनी पुस्तक में इनका उल्लेख किया है । इनकी काव्य शैलीं के नमूने के रूप में दो छंद नीचे दिये जाते हैं—

गुरु लखावै नामको नाम लखावै रूप ।
रूप लखावै आपको कहिगे दास अनूप ।।[३]

पासनि सो बाँधि कै अगाधि जल बोरि राखे ।
तरि तरवारि सो मारि मारि हारे हैं ।
गिरि ते गिराय दिये डरपे न नेक तब ।
मतवारे भूधर से हाथी तरे डारे हैं ।
फेरे सिर आरा लै अगिनि मांझ डारै पुनि ।
पूँछ मीड़ि तन सो लगाये नाग कारै हैं ।
पूछते बतायो खम्भ तहँई दिखायो रूप ।
प्रकट अनूपदास वानि ही से प्यारे हैं ।[४]

रामसेवक दास

संत रामसेवक दास के पिता का नाम उदयराम था ।[५] उदयराम जी जगजीवन साहब के शिष्य और बाराबंकी जिलांतर्गत हरिश्चन्द पुर नामक ग्राम के निवासी थे ।[६] रामसेवक दास जी देवीदास के प्रिय शिष्य थे ।[७] यह ब्राह्म मूहूर्त में उठकर अपने पिता उदयराम की समाधि के पास बैठकर बड़ी शुचिता के साथ साधना किया करते थे ।[८] कहते हैं कि इन-

---

१. दस-दस रोज तक भोजन की सुधि नाहीं,
सुधि ज़ो करावै केऊ ताते उछरत हैं ।
—वही, पृ० ३९

२. करेउ न ठौर एक भ्रमर की वृत्ति लीन्हेउ
आज यई काल्हि वई रहेउ न सो छाम है । —वही, पृ० ३९

३. राम ऋषिदास के व्यक्तिगत नोट बुक से

४. शिव सिंह सरोज, पृ० १०-११ से उद्धृत

५. उदयराम प्रभु तनय राम सेवक सुभ खानी ।
प्रगटे महा उदार भजन मूरति पहचानी ।। —भक्तमाल (ईश्वर दास) पृ० ७६

६. उदैसम साहेब गुरु प्यारा, हरिश्चन्द पुरी माँ ध्यान संभारा ।
अइसे दास भरा अनुरागी, प्रभु जगजीवन के पद लागी ।। —अवनाशन से

७. सकल सुकृत भाजन विमल प्रभु देवी प्रगटेव भनौ ।
सोइ समस्त कृपाल होइ, ईश्वर निज करि जग जनौ । —भक्तमाल पृ० ७६

८. उदयराम साहब को सुन्दरि समाधि मद्धि,
बैठे मारि आसन कै कामना रदन ते ।
प्रान औ अपान वायु सोधि सो करत सम,
सूरति लगावैं खींच गुरु के पदन ते । —वही, पृ० ७६

की सेवामें एक दासी रहती थी जिसके नाते इनके चरित्र के विषय में लोकापवाद फैलने लगा था। एक दिन जब इन्होंने सबके भ्रम का निवारण करने के लिए सबके सामने दासी को नंगा हो जाने का आदेश दिया। गुरु का आदेश मानकर जब दासी ने वस्त्र उतारा तब लोगों ने उसे पुरुष रूप में देखा और अपनी गलती स्वीकार करते हुये स्वामी जी से क्षमा याचना की।[1]

रामसेवक दास जी सत्तनामी सम्प्रदाय के वाणीकार संतों में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। इन्होंने 'गुरु वन्दना' और 'अरवरावती' नामक दो ग्रंथों की रचना की। इनके द्वारा विरचित कुछ शब्द भी प्राप्त होते हैं। ईश्वर दास ने इनके कवि रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

अनुभौ भाखेउ गिरा सिरा बहु विधि ते चोखी।
होत भक्त मन मगन सुनत पुनि गुनत अनोखी॥

ईश्वरदास की रचना का नमूना नीचे दिया जाता है—

साधो समझि ले मन माहि।
नाम सम कछु और सतपथ संत. भाखत नाहिं।
तीर्थ व्रत और जग्य जप तप जोग साधि रहाहिं।
नाम विन भे सर्व मिथ्या भरमि भटका खाहिं।
खैचि प्राणायाम रहते भांड की गति आहिं।
नहीं मुक्ती होहि याते भजन बिनु पछिताहिं।
नाम अविचल अकल अनुभव प्रीति जेहि मन माह्नि।
'राम सेवक' धन्य वे नर सुमिरि सत मिलि जाहिं।

इसी प्रकार देवीदास जी के शिष्यों के अतिरिक्त इनकी शिष्य परम्परा में वाणी की रचना करने वाले और भी बहुत से संत हो चुके हैं। संत गुरुदत्तदास और संत जवाहिरदास जैसे वाणीकार न केवल सतनामी सम्प्रदाय वरन् समस्त निर्गुण-संत-काव्य परम्परा के श्रृंगार हैं। मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साहित्य का अध्ययन इनकी कृतियों से अनुशीलन के अभाव में अधूरा रहेगा।



१. वही, पृ०७६

इलियट का "निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत" और "साधारणीकरण"

प्रेमनाथ टंडन

टी० एस इलियट (सन् १८८८-१९६५) का नाम २०वीं शताब्दी के प्रमुख अंगरेजी कवि-आलोचकों में परिगणित किया जाता है। अंग्रेजी साहित्य में इलियट के सैद्धान्तिक-चिंतन का विशेष स्थान हैं। इलियट ने क्रमबद्ध रूप में सैद्धान्तिक आलोचना संबंधी किसी स्वतंत्र ग्रंथ का प्रणयन नहीं किया। आलोचक के रूप में उनकी प्रसिद्धि के प्रमुख आधार उनके वे विचार-विवेचन हैं जो उनके अनेक फुटकर निबंधों और उनके द्वारा की गयी शेक्सपियर, दान्ते, एन्ड्रयू मार्वेल आदि की कृतियों की व्यावहारिक आलोचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

इलियट के काव्य संबंधी विवेचनों से एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि उन्होंने विशुद्ध आत्माभिव्यक्तिपरक तथा भावनावेगपूर्ण काव्य का प्रबल विरोध किया है। उनके आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य रोमानी भाव-चेतना का काव्य था क्योंकि वह मूलतः व्यक्तिवादी काव्य है। इलियट की धारणा थी कि काव्य में कवि के निजी भावों की अभिव्यक्ति काव्य की संकीर्णता की द्योतक है। इसके अतिरिक्त अनियंत्रित भावावेग से युक्त काव्य किसी शाश्वत मूल्य की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता; रोमानी काव्य की अतिशय कल्पना-प्रवणता एवं प्रबल भावावेगमयता उसे अस्पष्ट एवं अमर्यादित बना देती है। इसके परिणामस्वरूप मानसिक संघटना, जो काव्य का मूल तत्त्व है, भंग हो जाती है। उनकी स्थापना है कि काव्य में 'अनेकता में एकता' के स्वर और मर्यादित तथा व्यवस्थित भावों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने काव्य में संघटन, सम्यक् नियोजना, उपयुक्त शिल्प-विधान आदि पर विशेष बल दिया। काव्य की आत्मनिष्ठता एवं वैयक्तिकता की घोर भर्त्सना करते हुए उन्होंने एतद्विषयक चिन्तन-क्रम में सर्वप्रथम 'व्यक्तित्व से पलायन' (एस्केप फ्राम पर्सनेलिटी) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे व्यापक स्तर पर 'निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त का सिद्धान्त' अथवा 'अव्यक्तिवाद' कहा जा सकता है। प्रस्तुत सिद्धान्त का क्रोचे के चरम आदर्शवादी सिद्धान्त 'अभिव्यंजनावाद' से सीधा विरोध है। काव्य से रचनात्मक स्तर पर सम्बद्ध होने के कारण ,इलियट ने निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त का प्रतिपादन मूलतः और मुख्यतः कवि की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में किया गया है। परन्तु काव्यास्वादक-पक्ष में भी प्रस्तुत सिद्धान्त को उसी अनिवार्यता के साथ लागू किया जा सकता है जिस अनिवार्य-अपेक्षा के साथ इलियट इसे कवि पर लागू करते हैं। इलियट ने एक स्थान पर स्वयं इसका संकेत किया है : 'काव्य के अस्वादन का एक ऐसा विशुद्ध अनुचिंतन है जिस पर से वैयक्तिक संवेगों की सभी प्रकार की हलचलें अपसृत हो जाती हैं। इस प्रकार वस्तु जैसी है, उसी रूप में हम उसे देखने का प्रयत्न करते हैं।[1]

१. सेक्रेड वुड, पृ० १४-१५।

निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त का दूसरा पक्ष स्वयं काव्य के स्तर पर व्यवस्था (आर्डर) से सम्बद्ध है। यह प्रस्तुत सिद्धान्त के प्रथम पक्ष का सहज प्रतिफलन है। वैयक्तिकता के परिहार एवं निर्वैयक्तिकता की सिद्धि के फलस्वरूप भावावेग नियंत्रित होता है। इस प्रकार काव्य संबंधी समान विवेचना की केन्द्रत्रयी—कवि, काव्य और आस्वादक—में से प्रत्येक के धरातल पर इलियट ने वैयक्तिकता का निषेध कर काव्य को मर्यादित, संतुलित, व्यवस्थित करने एवं उसे वस्तुगत रूप प्रदान करने की चेष्टा की। काव्य-कृति के सम्बन्ध में, इलियट ने एक अन्य सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है, जिसे 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' अथवा 'वस्तुगत सह संबंधी' का सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त काव्य की आत्मनिष्ठता का आत्यन्तिक निषेध कर काव्य की निपट वस्तुरूपता का प्रतिपादन तो नहीं करता, पर काव्य की वस्तुनिष्ठ प्रकृति को अपेक्षाकृत महत्ता अवश्य प्रदान करता है।

निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त के प्रतिपादन का सूत्र इलियट ने परम्परा और काव्य के तारतम्य की अपनी व्यक्तिगत अवधारणा के आधार पर प्राप्त किया है। वे, एक माने में, इतिहास और परम्परा को काव्य का आधार मानते हैं, और इन्हीं को उन्होंने अपने काव्य विषयक समस्त चिन्तन-विवेचन का प्रस्थान-बिन्दु स्वीकार किया है। अपने प्रसिद्ध निबंध 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' में उन्होंने काव्य और परम्परा के अनिवार्य अपेक्षित संबंध निर्भ्रान्त शब्दावली में महत्त्व-प्रतिपादन किया है। काव्य और पारस्परिक संबंध के गहरे और सूक्ष्म विश्लेषण को, एवं उसके फलस्वरूप काव्य में अव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा को, इलियट के समग्र चिन्तन को एक महत् उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

इलियट के अनुसार परम्परा का तात्पर्य 'संस्कृति' से है। परम्परा और इतिहास से उनका आशय किसी विशिष्ट जाति एवं समाज के समग्र सांस्कृतिक उत्तराधिकार से है। संस्कृति समाज के जीवन का एक ढंग विशेष है; वह एक ऐसा ढंग है जो रक्त संबंध से जुड़े हुए पूरे समाज की उपलब्धियों एवं रीति-रिवाजों को अभिव्यक्त करता चलता है। यह ढंग ही काव्य में वैयक्तिक विभिन्नताओं का परिहार कर अनेकता में एकता की स्थापना करता है, कलाकारों को जाने-अनजाने एक सामान्य उत्तराधिकार और सामान्य लक्ष्य के सूत्र में बाँध देता है।[1] इलियट की दृष्टि में समस्त साहित्य अखण्ड-रूप है, किसी विशिष्ट काल अथवा व्यक्ति के साहित्य का अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता, साहित्य मात्र में परम्परा की अखंड एवं निर्बाध अभिव्यक्ति होती चलती हैं। इलियट परम्परा को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। परम्परा में वर्तमान और अतीत दोनों का समावेश हैं, वह अतीत बोध भी है और वर्तमान बोध भी वह शाश्वत भी है और परिवर्तनशील भी; उसकी सतत गत्यात्मक धारा अपने अखण्ड, अविच्छिन्न प्रवाह में समग्र जातीय अथवा सामाजिक जीवन के अत्युत्कृष्ट अंशों को समाहित करती हुई प्रवाहित होती है। जो अपेक्षाकृत साधारण और अनुत्कृष्ट अंश होते हैं, वे परम्परा के अखण्ड प्रवाह में स्वयमेव विलीन होकर नष्ट हो जाते हैं। श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए कवि को समाज की, देश की, इस अखण्ड चेतना का ज्ञान होना चाहिए, यह ज्ञान उसके लिए अनिवार्य है; उसको प्राप्त किये बिना वह उत्कृष्ट काव्य की रचना कर ही

---

१. सेलेक्टेड एसेज, पृ० २४।

नहीं सकता। प्रत्येक युग में समय की शाश्वत गति और मानव इतिहास की सतत गत्यात्मकता के साथ ही उस युग की विभिन्न परिस्थितियों में भी परिवर्तन होता है; काव्य प्रकारान्तर से जीवन की ही अभिव्यक्ति है, इसलिए यह नितान्त स्वाभाविक है कि उसके स्वरूप और उसके आकलन के मानदण्डों में भी परिवर्तन हो। परन्तु परम्परा के सम्यक् ज्ञान के अभाव में यह परिवर्तन किसी भी पक्ष में सम्यक् रूप में प्रतिफलित नहीं किया जा सकता। इलियट की दृष्टि में परम्परा कोई जड़, स्थिर वस्तु नहीं है, उसमें नवीनता का सहज समावेश है और नवीनता एवं परिवर्तन इलियट के अनुसार सदा ही श्रेय हैं। पर इस परम्परा का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा क्या होनी चाहिए ?—इलियट के अनुसार इसकी दिशा यही है कि वर्तमान और अतीत दोनों का संस्कृति-विशेष के संदर्भ में ज्ञान प्राप्त किया जाय; वर्तमान को अतीत के संदर्भ में और अतीत को वर्तमान के संदर्भ में देखा समझा जाय। यह ज्ञान स्वतः उपलब्ध नहीं हो जाता, उसे सायास अर्जित करना होता है।

प्रश्न है कि काव्य में परिवर्तन को प्रतिफलित करने, नवीनता को समाविष्ट करने, की समुचित दिशा क्या हो सकती है ?—समुचित दिशा यही हो सकती है कि परिवर्तित युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में काव्य में नवीनता का समावेश जातीय जीवन एवं उसकी परम्परा के अनुसार ही हो, किसी दूसरी जाति की संस्कृति के अनुसार अथवा उसके अनुसरण पर नहीं। इलियट के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्य में नवीनता का समावेश भारतीय परंपरा और संस्कृति के अनुरूप ही होना चाहिए, किसी दूसरे देश की परम्परा के अनुरूप अथवा उसके आधार पर नहीं, क्योंकि ऐसा करने से वह काव्य युग-जीवन में खप नहीं सकता। भारत के आधुनिक साहित्यकार जो पाश्चात्य काव्य-परम्परा के अनुकरण, बल्कि अंधानुकरण, को फैशन मानते हैं, इलियट की दृष्टि में हेय ठहराये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कवि-कलाकार का यह भी दायित्व है कि वह अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को व्यापक सामाजिक अनूभूतियों एवं भावों—परम्परा—में विलीन कर देता है। परम्परा-बोध उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों से अधिक मूल्यवान् है, इलियट इसी को 'मूल्यवान् के प्रति आत्म-समर्पण' कहते हैं। कवि का यह दायित्व है कि वह अतीत बोध को अर्जित कर उसे परिवर्तित एवं परिविकसित करता रहे और इस क्रम में अपने व्यक्तित्व को उसके प्रति पूर्णतया समर्पित कर दे। जब कवि परम्परागत सांस्कृतिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है तब उसके व्यक्तिगत भाव सार्वभौम में रूपान्तरित होकर व्यक्त होते हैं। कविता व्यक्तिगत भावों का प्रकाशन न होकर उनसे पलायन है, इलियट के अनुसार इस उक्ति का यही तात्पर्य है। यही काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि है। कवि तो एक माध्यम मात्र रहता है, काव्य में उसके निजी भावों-प्रभावों की अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु जातीय जीवन के प्रभावों की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत यदि कोई कवि अपनी रचना में अपने निजी दुख-दर्द की गाथा लिखता है, तो वह काव्य के महान् उद्देश्य से च्युत हो जाता है।

कवि अपनी रचनाओं में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि किस प्रकार करता है, अथवा उसका काव्य निर्वैयक्तिक कैसे हो सकता है इसके स्वष्टीकरण के लिए इलियट ने कवि और उसके काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करते हुए एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है : दोनों गैस आक्सीज़न और सल्फर-डाइ-आक्साइड जब प्लैटिनम के तार की मौजूदगी में मिलायी जाती है

तो उनसे सल्फ्यूरिक एसिड बनता है। यह संयोग तभी होता है जब प्लेटिनम का तार भी मौजूद हो तथापि नये बने एसिड में प्लेटिनम के तार का लेशमात्र भी नहीं होता और प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव नहीं प्रतीत होता—उसमें न कोई परिवर्तन आता है, और न उसका कोई अंश घोल में जाता है। कवि का मन इस प्लेटिनम के टुकड़े की भाँति होता है। व्यक्ति के अनुभव को वह अंशतः अथवा पूर्णतः प्रभावित कर सकता है परन्तु कलाकार जितना सिद्ध-हस्त होगा उतने ही उसमें भोक्ता और स्रष्टा मन परस्पर पृथक् रहेंगे और उतनी ही सुष्ठु रीति से मन अपनी उपादानरूप वासनाओं को आत्मसात् और रूपान्तरित करेगा।[1]

इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो की भाँति इलियट भी कवि को एक यांत्रिक माध्यम मात्र स्वीकार करते हैं। यहाँ उन्होंने बताया है कि कवि मानस में भाव और भावनाएँ कविव्यक्तित्व से सर्वथा असंपृक्त रहते हुए उसी प्रकार विशिष्ट एवं अप्रत्याशित रूपों में संघटित होती रहती हैं जिस प्रकार प्लेटिनम के टुकड़े की उपस्थिति में उक्त दोनों गैसें संघटित होकर एसिड बनाती हैं और प्लेटिनम का टुकड़ा सर्वथा अप्रभावित एवं निष्क्रिय रहता है। इलियट ने इस सम्बध में अन्यत्र कहा है : "कवि का मन वास्तव में एक ऐसा ग्रहण यंत्र है जो उन सभी अगणित अनुभूतियों, वाक्यांशों तथा बिम्बों को ग्रहण करता है और उन्हें जमा करता हैं जो वहाँ पर तब तक पड़े रहते हैं जब तक नव मिश्रित वस्तु को रूप प्रदान करने के लिए सभी तत्त्व एक साथ उपस्थित नहीं हो जाते।"[2]

प्रस्तुत उद्धरण में इलियट ने कवि-मन के लिए ग्रहण-यंत्र शब्द का प्रयोग किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि वे एक स्व-चालित यंत्र और काव्य-कृति को कवि की अचेतावस्था की उपज स्वीकार करते हैं। एक अन्य स्थान पर उन्होंने बलपूर्वक कथन किया है कि कला का जीवन सर्वथा स्वतंत्र हैं, काव्य-कृति का आकलन कवि-व्यक्तित्व से सर्वथा असं-पृक्त रूप में किया जाना चाहिए, और यह, कि उत्कृष्ट आलोचना कविता की होती है, कवि की नहीं। इलियट के ये सारे कथन इस अनुमान को पुष्ट करते हैं कि इलियट काव्य में कवि-व्यक्तित्व की सत्ता का आत्यन्तिक निषेध स्वीकार करते हैं। उद्धरण में सृजन-प्रक्रिया के संबंध में प्लेटिनम के तार का रूपक उपस्थित करते हुए उन्होंने यह भी बताया है कि एसिड के निर्माण की प्रक्रिया में प्लेटिनम का तार "निष्क्रिय" रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य-सृजन की प्रक्रिया में कवि "निष्क्रिय" रहता है, और सृजन-प्रक्रिया कवि के चेतनमन की प्रक्रिया न होकर एक जड़, यांत्रिक प्रक्रिया है। पर प्रश्न यह है कि क्या कलाकार के व्यक्तित्व से सर्वथा अस्पृष्ट किसी कलाकृति की कल्पना की जा सकती है ? क्या कोई ऐसी कलाकृति हो सकती है जो कलाकार की अनुभूति के योग के बिना ही निर्मित हो गयी हो ? क्या सृजन-प्रक्रिया वस्तुतः कोई जड़, यांत्रिक प्रक्रिया है ?—क्या वह कलाकार के सतत चेतन मन की प्रक्रिया नहीं हैं ?—स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक नहीं हो सकता। तब क्या इलियट काव्य में कवि-व्यक्तित्व के सहज, अनिवार्य

---

१. सेलेक्टेड एसेज, पृ० १२४-२५।
२. ट्रेडीशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेंट, ।

योग के तथ्य को हृदयंगम नहीं कर पाए, या उनका तत्संबंधी समस्त विवेचन भ्रामक है ?—इलियट के विषय में कोई ऐसी धारणा बनाना कदाचित् भूल होगी। इस सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इलियट ने अपने एतद्विषयक विवेचन को बहुत स्पष्ट शब्दावली में प्रस्तुत नहीं किया या नहीं कर पाये जिसके फलस्वरूप भ्रम की स्थिति कहीं-कहीं उत्पन्न हो गयी है। सन् १९४० में दिये गये यीट्स-विषयक अपने एक भाषण में उन्होंने स्वीकार किया है : "यीट्स के प्रारम्भिक कविता-संग्रहों की सभी कविताओं में मुझे इधर-उधर केवल कुछ ऐसी पंक्तियां मिल जाती हैं जिनमें अपूर्व व्यक्तित्व का भान होता है, जो हमें कवि के मानस और अनुभूतियों के विषय में और अधिक जानने की जिज्ञासा और उत्तेजना में बाँध देता है। यीट्स के निजी भावात्मक अनुभव की उत्कटता हमें कदाचित् ही मिलती हैं।.... उसकी कुछ उत्तरकालीन कृतियों में हमें यह तत्त्व मिलता है।"

इलियट के स्फुट समीक्षात्मक निबन्धों के संकलन "सेक्रेड वुड" जिसमें उनका प्रसिद्ध निबंध 'ट्रेडीशन एन्ड दि इन्डिविजुअल टैलेंट' संकलित है, और जिसमें उन्होंने काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि को अनिवार्य माना हैं—का प्रकाशन सन् १९२८ में हुआ था। पर १९४० में उन्होंने यीट्स के विषय में उक्त कथन किया है। इसमें यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है—कि इलियट इट्स की प्रारंभिक कविताओं में उसका अपूर्व व्यक्तित्व न मिलने, उसके भावात्मक अनुभवों की उत्कटता न मिलने, के कारण चिन्तित हैं। इलियट जो अभी तक काव्य को 'व्यक्तित्व से पलायन' मानते आये हैं, यीट्स के सम्बंध में अब यह आपत्ति कर रहे हैं कि उसकी कविताओं में उसका व्यक्तित्व मुखरित नहीं होता, इसलिये वे उत्कृष्ट नहीं है। उक्त कथनों में निहित विरोधाभास को इलियट ने स्वयं लक्षित किया, और उसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा है : ' मैंने" अपने प्रारम्भिक लेखों में कला की निर्वैयक्तिकता को स्वीकार किया है, और जब (यह) प्रतीत होता है कि यीट्स की उत्तरकालीन कविताओं का, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के कारण श्रेष्ठ बताने से मैं अपने उस मत का विरोध कर रहा हूँ तो यह हो सकता है कि मैं अपनी बात (उस समय) ठीक से न कह सका या न व्यक्त कर सका, या उस विचार को मैंने अप्रौढ़ रूप से ग्रहण किया। किंतु अब मैं सोचता हूं कि इस विषय में तथ्य इस प्रकार हैं—निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते है। एक वह निर्वैयक्तिकता है जो केवल कुशल शिल्पी के लिए प्राकृतिक होती है। दूसरी वह है जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है...यह दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से, सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है। वह अपने अनुभव की सम्पूर्ण विशिष्टता को, उसके द्वारा सामान्य प्रतोक प्रस्तुत करने लिए, बनाए रखता है।"

इलियट के उक्त परवर्ती मत से उनके पूर्ववर्ती मत का विरोधाभास और पुष्ट होता है। पर ऊपर कहा जा चुका है, और जैसा इलियट ने स्वयम् भी स्वीकार किया है, यह केवल विरोधाभास हैं, वास्तविक विरोध नहीं 'और इस प्रतीयमान विरोध का करण विषय का सम्यक् और स्पष्ट शब्दावली में व्यक्त न किया जाना हैं। इलियट का विचार अप्रौढ़ या उनकी चिंतन अपरिपक्व नहीं हैं; उन्होंने काव्य की सृजन-प्रक्रिया को सही रूप में हृदयंगम किया हैं, इसमें संदेह नहीं, बस वे उसे स्पष्ट ढंग से कह नहीं पाये। कालान्तर में उन्होंने उसे स्पष्ट शब्दावली में व्यक्त किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में भी साधारणीकरण के अन्तर्गत "निर्वैयक्तिकता" की चर्चा की गयी है। वास्तव में व्यक्ति रूप कवि के दो रूप हैं :— १–भोक्ता या व्यक्ति रूप कवि, और २–सर्जक कवि। पहला पक्ष कवि का सामान्य मानवीय व्यक्तित्व हैं। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपने दैनंदिन जीवन में नाना प्रकार के भावों का अनुभव करते हैं उसी प्रकार कवि भी करता है। परन्तु सामान्य व्यक्ति से कवि एक बात में विशिष्ट है कि वह सांसारिक अनुभवों को भावित कर काव्य रूप में व्यक्त भी कर सकता है। भावों के भावन और अभिव्यक्तिकरण के क्रम में उसका स्रष्टा-मन सक्रिय होता है जिसे कवि का सर्जक व्यक्तित्व (पोइटिक अथवा क्रियेटिव पर्सनेलिटी) भी कहते हैं। यह सर्जक व्यक्तित्व कवि के सामान्य मानवीय अर्थात् लौकिक व्यक्तित्व से सर्वथा पृथक् और विशिष्ट प्रकार का होता है। इलियट जहाँ कहते हैं कि कवि काव्य में अपने व्यक्तित्व की अभिव्यवित नहीं करता- अथवा 'काव्य व्यक्तित्व से पलायन' हैं, वहाँ उनका तात्पर्य कवि के उसी सामान्य, लौकिक व्यक्तित्व से है, भोक्ता व्यक्ति रूप कवि से है, उसके सर्जक व्यक्तित्व से नहीं। कवि के सर्जक व्यक्तित्व के योगदान के अभाव में काव्य की कल्पना ही असंगत है। इलियट ने भी इस तथ्य को भली-भांति हृदयंगम किया है। वे काव्य सृजन में कवि की महत्ता स्वीकार न करते हों, अथवा उसकी अनिवार्य-अपेक्षा न मानते हों, ऐसी बात नहीं है—यह प्लेटिनम वाले रूपक से सिद्ध है। जिस प्रकार प्लेटिनम की उपस्थिति में ही दोनों गैसें मिलकर एसिड बना पाती हैं, भले ही प्लेटिनम अप्रभावित रहता हो, उसी प्रकार कवि के सर्जक व्यक्तित्व की मौजूदगी में अथवा उसके माध्यम से भाव एवं भावनाएं काव्य रूप में व्यक्त हो पाती हैं, भले ही कवि-व्यक्तित्व अप्रभावित रहता हो। यह अप्रभावित रहने वाला और अघुलनशील व्यक्तित्व कवि का सामान्य मानवीय व्यक्तित्व होता है, क्योंकि काव्य में कवि के वैयक्तिक भावों, उसके निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति नहीं होती अपितु उसके कलात्मक अनुभव (पाइटिक या क्रियेटिव एक्सपीरियंस) की अभिव्यक्ति होती है जो कवि के सर्जक व्यक्तित्व के माध्यम से होती है। निजी भाव, व्यक्तिगत अनुभव लौकिक, संसर्गयुक्त एवं सुख-दुःखात्मक होते हैं; और यही कारण है कि वे आस्वाद्य नहीं हो सकते। काव्य का अनुभव अन्य सभी प्रकार के लौकिक अनुभवों से विलक्षण है, इलियट इसे स्वीकार करते हैं : [१] "दि एन्ड आफ दि एन्ज्वायमेन्ट आफ पोइट्री इज ए प्योर कन्टेम्प्लेशन फ्राम ह्विच आल दि ऐक्सिडेन्ट्स आफ पर्सनल इमोशन आर रिमूव्ड"[1] और [२] "दि इफेक्ट आफ् ए वर्क आफ् आर्ट अपान दि पर्सन हू एन्ज्वायज् इट इज् एन एक्सपीरियंस डिफरेन्ट इन काइंड फ्राम एनी एक्सपीरियंस नाट आफ आर्ट"[2]। काव्यानन्द विलक्षण इसीलिए है कि काव्य कवि के उस विशिष्ट सर्जनात्मक व्यक्तित्व का प्रतिफलन है जो व्यक्तिगत संसर्गों से मुक्त होता है, और व्यक्तिगत संसर्ग मुक्त सहृदय द्वारा ही आस्वाद्य होता है। भावन एवं सृजन के क्षणों में कवि अपने सामान्य, संसारी व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है, वैयक्तिक राग-द्वेषों से मुक्त हो जाता है, जिसका सहज परिणाम यह होता है कि कवि का किसी विशिष्ट स्थिति, किसी विशिष्ट घटना अथवा भाव का अनुभव भावन के क्रम में देश-कालादि की सीमाओं से मुक्त होता हुआ कलात्मक अनुभव में रूपान्तरित होकर आस्वाद्य बन जाता है। यह सब कवि की सर्जनात्मक कल्पना अथवा प्रतिभा के सहारे होता है। इलियट के

१—व २—सेक्रेड वुड।

अनुसार काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि की प्रक्रिया और उसका स्वरूप यही हो सकता है। उन्होंने लिखा भी है कि जो कलाकार जितना अधिक पूर्ण एवं परिपक्व होगा उसमें भोक्ता व्यक्ति एवं स्रष्टा मन का पार्थक्य उतना ही अधिक स्पष्ट और पूर्ण होगा।[१] अर्थात् प्रौढ़ कवि अपने काव्य को अधिक से अधिक निर्वैयक्तिक बताने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह निर्वैयक्तिकता केवल कवि के निजी भावों का अपसरण नहीं है, अपितु निजी मात्र भाव का अपसरण है, वैयक्तिकता मात्र का अपसरण है।. इलियट ने इस तथ्य को अपने अनेक कथनों में स्वीकार किया हैं :—

[क] "महान् कला निर्वैयक्तिक होती है, इस अर्थ में कि व्यक्तिगत संवेद और व्यक्तिगत अनुभव विस्तृत होकर एक प्रकार के निर्वैयक्तिक में पूर्णता प्राप्त करते हैं, इस अर्थ में नहीं कि व्यक्तिगत अनुभव तथा मनोविकार से वे विच्छिन्न हो जाते हैं।"[२]

[ख] "काव्य के आस्वाद का लक्ष्य एक ऐसा विशुद्ध अनुचिन्तन हैं जिस पर से वैयक्तिक संवेगों की सभी प्रकार की हलचलें अपसृत हो जाती हैं।"[3]

[ग] "The program of an artist is a·conditional self-sacrifice, a conditional extinction of personlity."[४]

[घ] "....Retaining all the particularity of his experienCe, to make of it a generat symbol."[५]

इलियट काव्य में कवि-व्यक्तित्व के निरन्तर विलय की बात करते हैं; परम्परा के प्रति कवि के पूर्ण आत्म-समर्पण को श्रेय मानते हैं। 'साधारणीकरण' के अन्तर्गत भी इस संबंध में विस्तृत चर्चा की गयी है। संस्कृत काव्यशास्त्र में भी काव्य में कवि के व्यक्तिगत मनोविकार की अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं किया गया है। ध्वन्यालोक लोचन में 'शोकः श्लोकत्वमागतः' की व्याख्या के संदर्भ में अभिनवगुप्त ने कहा है : 'न तु मुनेः शोकः इति मन्तव्यम्', अर्थात् श्लोक रूप में परिणत होने वाला यह शोक मुनि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं था। पर क्रौंच वध की इस विशिष्ट घटना को देख कर कवि ने जिस भाव का अनुभव किया, क्या वह उसका निजी भाव नहीं कहा जायगा ?—इसका स्पष्ट उत्तर है कि वह उसका निजी अनुभव तो था, पर निजी भाव या मनोविकार नहीं। निजी अनुभव भी इस दृष्टि से कि कवि ने उस सारी घटना का एक विशिष्ट रूप, एक विशिष्ट परिवेश में और एक विशिष्ट प्रकार से अनुभव किया और वह विशिष्ट अनुभव कवि की भावयित्री ·प्रतिभा के योग से कलात्मक अनुभव में रूपान्तरित हो गया। यह कलात्मक अनुभव के अन्तर्गत अनुभूत होने वाला भाव (शोक) न कवि का व्यक्तिगत मनोविकार था, न क्रौंची का और न किसी और का ही। वह भाव वस्तुतः काव्योपम भाव

---

१. सैक्रेड वुड।

१. ला सर्पेण्ट की भूमिका।

३. सैक्रेड वुड।

४. सैक्रेड बुड।

५. समीक्षालोक, भगीरथ दीक्षित, पृ० ५७२ पर उद्धृत।

था जो कवि के मानस में उत्पन्न हुआ था। और कवि-प्रतिभा के योगदान से सार्वभौम बन गया था। "सार्वभौम" का अर्थ 'प्रत्येक का' नहीं है; अपितु 'किसी का न होते हुए सबका' है; यह 'पर्सनल इम्पर्सनल अनुभव' या 'भाव' है; उसकी सत्ता वस्तुरूप है। हुआ यह कि वध की घटना देखते समय कवि-मानस में संस्कार रूप में सुप्त स्थायी भाव शोक जागृत हुआ। स्थायी भाव प्रकृत्या सार्वभौम होने के कारण साधारणीकरण की संभावना से युक्त होता है। डा० निर्मला जैन ने स्थायी के सार्वभौम स्वरूप के विषय में लिखा है :" अन्य भावों के साथ स्थायी का वही सम्बन्ध है जो विशेषों के साथ सामान्य का होता है। जिस प्रकार काव्यगत चरित्रों एवं बिम्बों में अनेक छोटे-छोटे ब्यौरों के बीच एक सामान्य तत्त्व अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार काव्यगत भावों में भी अनेक संचारियों के बीच एक स्थायी की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार स्थायी भाव प्रकृत्या 'सामान्य' ही होते हैं। सामान्य होने के कारण ही स्थायी भावों के साधारणीकरण की समस्त संभावना उनकी प्रकृति में ही विद्यमान है।"[१]

इस प्रकार, साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य में काव्योपम, सार्वभौम स्थायी की अभिव्यक्ति का स्वीकार प्रकारान्तर से कवि का अपने निजी व्यक्तित्व, निजी भाव, का सार्वभौम के प्रति समर्पण तथा काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि ही है। स्मरणीय है कि इलियट ने अपने समस्त काव्य-चिन्तन में स्थायी भाव जैसे किसी तत्त्व का उल्लेख नहीं किया है; पाश्चात्य काव्य चिंतन में स्थायी की धारणा ही अनुपलब्ध है। पर इलियट जिसे 'परम्परा' अथवा 'सामूहिक भाव अथवा चेतना' का अभिधान दे रहे हैं, वह दूसरी शब्दावली में स्थायी भाव ही है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने एक स्थान पर अवश्य कहा है :—" "....Those elementary feelings which subsist permanently in the race..." जिसमें स्थायी भाव का संकेत प्राप्त किया जा सकता है, और इलियट, जिन पर आर्नाल्ड का पर्याप्त प्रभाव है, ने भी कहा है :—"Not to find new emotions but to use the ordinary ones." । इस कथन में भी स्थायी का संकेत मिलता है। वैसे, इलियट की 'परम्परा' में सामूहिक भाव का और 'सामूहिक भाव' में स्थायी का समावेश है, और सामूहिक भाव व्यक्तिगत संसर्ग युक्त नहीं होते। जहाँ इलियट कहते हैं कि काव्य व्यक्तित्व से पलायन है, वहाँ वे कवि के लौकिक, बिल्कुल निजी व्यक्तित्व का परिहार तो स्वीकार करते ही हैं[२], उनका आशय व्यक्तित्व-मात्र के परिहार से है, यह पहले बताया गया है। इसका सहज परिणाम यह है कि काव्य वर्णित भाव काव्योपम हो जाता है, वह न मेरा रह जाता है, न तेरा, न कवि का और न किसी और का; उसकी सत्ता वस्तुनिष्ठ हो जाती है और इसलिए वह सर्वजन-ग्राह्य बन जाता है। इस प्रकार 'महान् कला निर्वैयक्तिक होती है,—इलियट की प्रस्तुत उपपत्ति का आशय स्पष्ट है। पर, जैसा कहा जा चुका है, इलियट काव्य में कवि-व्यक्ति मात्र का निषेध नहीं करते; क्योंकि ऐसा करने पर रचनागत वैशिष्ट्य के औचित्य को सिद्ध करना प्रायः असं-

---

१. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृ० २०६-२०७।

२. एक ओर वास्तविक जीवन सदैव विषय सामग्री है और दूसरी ओर वास्तविक जीवन से अपसरण कलाकृति के सृजन के लिए आवश्यक शर्त है।"

—सेलेक्टेड एसेज़, पृ० १११।

भव हो जायगा। इसलिए उन्होंने स्वयं लिखा है:"....Retaining all the particularity of his experience, to make of it a general symbol।" अतएव इलियट के विवेचन में कवि के सर्जनात्मक व्यक्तित्व के योगदान का निषेध नहीं है। काव्यास्वाद के विषय में एम० हिरियाना ने लिखा है:" it is a personal empersonal experience।"[१] लौकिक व्यक्तित्व और निजी भावों का अपसरण हो जाने पर काव्य वैयक्तिकता और अतिशय भावुकता से मुक्त हो कर संतुलित और व्यवस्थित हो जाता है, जिसकी सिद्धि इलियट को अभिप्रेत है। सृजन के धरातल पर यदि कवि आत्मसमर्पण के द्वारा निर्वैयक्तिकता की सिद्धि करता हुआ काव्य को वस्तुनिष्ठ एवं सर्वजनग्राह्य रूप प्रदान करता है तो आस्वाद के धरातल पर सामाजिक भावावेश, यहाँ तक कि व्यक्तिगत रागद्वेष मात्र, से मुक्त हो कर काव्य के आस्वादन में प्रवृत्त होता है।

इलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त अथवा वस्तुनिष्ठता के सिद्धान्त का एक अन्य पक्ष है जिसका सम्बन्ध भाव-व्यंजना के माध्यम से है। इलियट की मान्यता है कि कवि अपने मानसगत काव्योपम भाव को सीधे पाठक तक संप्रेषित नहीं कर सकता, उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए मूर्त्त माध्यम की आवश्यकता है। अपने एक प्रसिद्ध निबन्ध 'हैमलेट एण्ड हिज़ प्राब्लम्स' में हैमलेट के संदर्भ में उक्त माध्यम के स्वरूप की चर्चा करते हुए इलियट ने लिखा है—'कला के रूप में संवेगों की अभिव्यक्ति का एकमात्र ढंग वस्तुगत सहसंबन्धों की खोज हैं, दूसरे शब्दों में वस्तुओं की एक राशि, एक स्थिति, घटनाओं की एक श्रृंखला जो उस संवेग विशेष के लिए 'फार्मूला' है जिसमें ऐन्द्रिय अनुभव में परिणत होने वाले बाह्य तथ्यों के प्रस्तुत होने पर वह संवेग तत्काल उद्‌बुद्ध हो जाता है।'[१] इलियट की यह शब्दावली काफ़ी स्पष्ट हैं। काव्योपम भावों को कवि कुछ ऐसी स्थितियों, वस्तुओं, घटनाओं आदि के माध्यम से प्रस्तुत करता है कि उनसे संपर्क स्थापित होते ही पाठक के मानस में भी तत्काल वह संवेग उद्‌बुद्ध हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति के निमित्त से वस्तुएं आदि 'फ़ार्मूला' बनी हैं। इस प्रकार यह सामग्री (वस्तुगत सह-संबंधी वस्तुएं, स्थितियाँ, घटनाएँ) कवि की अमूर्त अनुभूति, काव्योपम भाव, का मूर्त्त रूप हैं जिनसे कवि एवं ग्राहक के बीच संबंध सूत्र स्थापित होता है।

साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत भी कवि के अन्तर्गत काव्योपम भाव के सम्मूर्त्तन का विशद विवेचन है। इलियट के वस्तुगत सह संबंधियों के समकक्ष संस्कृत काव्यशास्त्र के विभावानुभावादि प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कवि भावों को उन्हीं वस्तुरूप विभावानुभावों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, जिन से साक्षात्कार होते ही पाठक के हृदय में वही भाव उद्‌बुद्ध हो उठते हैं। एक प्रकार से वे वस्तुगत सहसंबंधी, विभावानुभाव, भाव के कारण हैं। पर संस्कृत काव्यशास्त्र में इसका निर्भ्रान्त विवेचन है कि ये विभवानुभाव लौकिक कारण नहीं हैं। और न उनके साक्षात्कार से सहृदय-हृदय में उद्‌बुद्ध होने वाला भाव लौकिक भाव ही है। लौकिक कारण एवं भाव से इनके पार्थक्य एवं वैलक्षण्य के बोध के लिए ही उन्हें

---

१. आर्ट एक्सपीरिएंस—एम० हिरियाना।
२. सेलेक्टेड एसेज़, पृ० १२४-२५।

विभाव, स्थायीभाव आदि संज्ञाएँ दी गयी हैं। ध्वन्यालोक लोचन में अभिनवगुप्त ने यह चर्चा उठायी है कि विभावानुभावों से भाव किस प्रकार उद्‌बुद्ध अथवा अभिव्यक्त होते हैं और इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि वे घट-दीप-न्याय से प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त होते हैं; विभाव और स्थायीभाव में कोई तार्किक अथवा आनुमानिक सम्बन्ध नहीं है। इलियट ने भावव्यंजना की प्रक्रिया पर संभवतः कोई प्रकाश नहीं डाला। पर यह उन्होंने अवश्य कहा है कि कवि अपने भावों को पाठक तक सीधे संप्रेषित नहीं कर सकता, संप्रेषण के लिए मूर्त माध्यम की आवश्यकता है। भारतीय काव्यशास्त्र के एक आधुनिक अध्येता श्रीकृष्ण रायन ने अपने एक निबन्ध 'रस और वस्तुगत सह-सम्बन्धी' में इस विषय पर प्रश्न उठाया है कि 'भाव और ऐन्द्रिय सहसम्बन्धियों के बीच जो सम्बन्ध भाव होता है, उसकी निश्चित प्रकृति क्या है और फिर वह प्रक्रिया क्या है जिससे भाव का उदय होता है?' और अभिनवगुप्त के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री रायन ने कहा है कि 'काव्य के अन्तर्गत ऐन्द्रिय सह-सम्बन्धी कहलाने वाली वस्तुएँ भाव को उसी प्रकार व्यंजित करती हैं जिस प्रकार ध्वनि के सहारे शब्द अर्थ को व्यंजित करते हैं।'[1] श्री रायन ने आधुनिक शब्दावली में काव्यगत वस्तु को भाव का 'व्यंजक सहधर्मी' कहा है।[2]

इलियट के कुछ समीक्षकों के अनुसार इस प्रकार की विचारधारा का प्रतिपादन इलियट से पूर्व अन्य कई आलोचक कर चुके थे। उदाहरण के लिए प्रोफेसर मेरियो प्राज़ ने इस सिद्धान्त का स्रोत एज़रा पाउण्ड के प्रस्तुत कथन में स्वीकार किया है: 'कविता एक प्रकार का प्रातिभ गणित है, जो हमें समीकरण प्रदान करता है—अमूर्त आकारों त्रिकोणों, वृत्तों आदि के समीकरण नहीं, बल्कि मानव संवेगों के समीकरण।[3] कुछ विद्वानों ने इलियट के उक्त मत का मूल फ्रांसीसी प्रतीकवादियों के काव्य-विषयक विवेचनों में खोजने की चेष्टा की है। प्रतीकवादियों की मान्यता है कि कविता भावों को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकती, भाव केवल उद्‌बुद्ध किये जा सकते हैं। वस्तुस्थिति चाहे जो हो, इलियट के 'वस्तुगत सहसंबंधी' के सिद्धान्त की अनेक दृष्टियों से आलोचना की गयी है। एक तो यह कहा गया है कि इलियट ने प्रस्तुत सिद्धान्त का प्रतिपादन यद्यपि काव्य की वैयक्तिकता एवं भावावेगमयता के प्रति विरोध भाव व्यक्त करते हुए किया था और उसे वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करना चाहा था, तथापि उक्त सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप में भावाभिव्यक्ति पर ही बल देता है, क्योंकि वस्तुगत सह संबंधी अन्ततः भाव को ही अभिव्यक्त करते हैं। अतएव, कुल मिलाकर यह सिद्धान्त भाव को ही काव्य का आधारभूत तत्त्व स्वीकार करता है।[4]

इलियट और उनके प्रस्तुत सिद्धान्त पर यह आक्षेप लगाया जाना कदाचित् संगत नहीं

---

१. ब्रिटिश जर्नल आफ एस्थेटिक्स, जुलाई '६५, पृष्ठ ३५०-५१।

२. रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, निर्मला जैन।

३. दि स्पिरिट आफ रोमान्स, पृ० ५।

४. "In this Eliat accepts inspite of his avowed classicision that' the artist is primarily concerned with tenstion."

—क्रियेशन एण्ड डिस्कवरी, इलीसियो बाइबस, पृ० २४८।

है, क्योंकि उन्होंने काव्य की सत्ता, अथवा भावाभिव्यक्ति मात्र का निषेध नहीं किया है, उन्होंने एक ओर तो काव्य में वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति का निषेध किया है और दूसरी ओर रोमानी काव्य जैसी अतिशय भावावेगमयता का। प्रस्तुत सिद्धान्त के प्रतिपादन से वे बहुत कुछ अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुए हैं, क्योंकि वस्तुगत सह-संबंधियों के माध्यम से अभिव्यक्त काव्योपमभाव भी वस्तुनिष्ठ स्वरूप प्राप्त कर लेता है, इस अर्थ में कि वह किसी एक का न रहता हुआ भी सर्वजन संवेद्य बन जाता है।

कुछ अन्य विचारकों ने हैमलेट एण्ड हिज़ प्राब्लम्स में इलियट के उक्त वक्तव्य में प्रयुक्त 'संवेग' शब्द पर आपत्ति की है, और इलियट पर आक्षेप करते हुए कहा है कि जिस भाषा में इलियट ने उपर्युक्त संदर्भ में भावव्यंजना की वस्तुनिष्ठता का निरूपण किया है, वह अभिव्यंजनावादी भावात्मकता का आभास देती है, साथ ही....वह इतनी तर्कशिथिल है कि उसमें वस्तुनिष्ठता की अभीष्ट प्रतिष्ठा नहीं हो पाती।"[१] इस संदर्भ में विलियम विमसैट ने इलियट के उक्त कथन के स्थान पर उनके एक अन्य कथन को वस्तुगत सह-संबंधी के सिद्धान्त का अपेक्षाकृत अधिक संतोषजनक रूप माना है। इलियट का वह कथन इस प्रकार है : "वे अपने सर्वोत्तम रूप में मन की स्थितियों और अनुभूतियों के लिए शाब्दिक पर्याय खोजने के प्रयास में संलग्न थे।"[२] विमसैट के अनुसार प्रस्तुत कथन में "संवेग" के स्थान पर 'मन की स्थितियों और अनुभूति' पद का प्रयोग अधिक परिष्कृत एवं संतोषप्रद है। श्रीकृष्ण रायन ने इलियट के प्रस्तुत कथन पर एक अन्य दृष्टि से आक्षेप किया है, यद्यपि यह आक्षेप अप्रत्यक्ष है। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि वह वास्तविक प्रक्रिया क्या है जिसके द्वारा लौकिक पदार्थ आस्वाद्य पदार्थों में परिणत हो जाते हैं?—और इसका उत्तर देते हुए -उन्होंने कहा है कि संस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसका उत्तर एक सा ही है—'साधारणीकरण'। परन्तु इलियट की अपनी स्वयं की रचनाओं में उनके निजी बिम्ब किस प्रकार एक सामान्य अर्थवत्ता से युक्त वस्तुगत सह संबन्धी हो जाते हैं—इलियट के समीक्षक इसके स्पष्टीकरण में असमर्थ रहे हैं।[3] श्री रायन के प्रस्तुत वक्तव्य को इलियट के उक्त सिद्धान्त पर अप्रत्यक्ष आरोप माना जा सकता है। उन्होंने आगे कहा है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त की व्याख्या के अन्तर्गत सामग्री के साधारणीकरण का विधान नहीं है, अपितु उसे एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में निरूपित किया गया है जो वस्तुतः सहृदय-हृदय में घटित होती है। अभिनव के अनुसार साधारणीकरण शैली, आलंकारिक अभिव्यक्ति और लय के द्वारा, तथा संगीत, गान और नृत्य के द्वारा संभव होता है; ये सब कवि की सामग्री को प्रभावित नहीं करते अपितु ग्राहक के मन को प्रभावित करते हुए उसे लौकिक जगत् से ऊपर उठाकर सौन्दर्य लोक में समासीन कर देते हैं, जहाँ लौकिक, निजी और विशिष्ट का कोई स्थान नही रहता। इसमें कोई संदेह नहीं कि साधारणीकरण की प्रक्रिया का जितना सूक्ष्म, विशद और

---

१. रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, निर्मला जैन, पृ० ३२९।

२. "The metaphysical, were, at best, engaged in the task of trying to find the verbal equivalent for states of mind and feeling."

सेलेक्टेड एसेज पृ० २४८

सागोपांग विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ; और इलियट ने तो कोई सुव्यवस्थित आलोचना-ग्रंथ लिखा भी नहीं है, इसीलिए उनके फुटकर आलोचनात्मक निबन्धों में साधारणीकरण अथवा 'यूनिवर्सलाइज़ेशन' का उतना सूक्ष्म और विशद विवेचन ढूँढ़ना कदाचित् संगत न होगा, और इतना निश्चित ही है कि इलियट ने इस सम्बन्ध में उस मूलभूत तथ्य का संकेत किया ही है उसकी ओर श्री रायन ने ध्यान आकृष्ट किया है। और उनका निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त कवि और ग्राहक दोनों पक्षों पर समान रूप से लागू किया जा सकता है, यह ऊपर बताया जा चुका है।

यहाँ तक तो इलियट के सिद्धान्त-विवेचन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। पर इसके आगे, जहाँ वे परस्पर विरोधी कथन कहते हैं, वहाँ से कठिनाई की शुरुआत होती है। इलियट का सृजन-प्रक्रिया विषयक विवेचन समग्र सृजन-प्रकिया को दो स्पष्ट भागों में बाँट देता है। एक तो यह कि कवि पहले अपने मन में किसी विशिष्ट भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति का निश्चय करता है, और दूसरा यह कि इस निश्चय के अनन्तर वह उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए समुचित ''आब्जेक्टिव को रिलेटिव्स' ढूँढ़ता है। इस सम्बन्ध में इलियट का कथन है : ''कवि का मन वास्तव में एक ऐसा ग्रहण-यंत्र है, जो उन सभी अगणित अनुभूतियों, वाक्यांशों तथा बिम्बों को ग्रहण करता है और जमा करता है जो वहाँ पर तब तक पड़े रहते हैं जब तक "नवमिश्रित" वस्तु को रूप प्रदान करने के लिए सभी तत्त्व एक साथ उपस्थित नहीं हो जाते।"[१] इलियट के सुप्रसिद्ध समीक्षक इलीसियो वाइवस ने इलियट के मत पर आपत्ति करते हुए कहा है :"

"Feelings stored up in the poet's mind, which is in fact a storage receptacle; words for which feelings want in order to attach themselves at the time of composition; the pre-established harmony that must be asumed to exist between the waithing feeling and its verbal garment; the very assumption that a feeling can exist by itself in the mind and wait without symbolic expression of any kind—all this is very dubious"[२].

इलीसियो वाइवस की यह आपत्ति बहुत ही उचित है। इलियट के निम्नलिखित कथनों के साथ उनके उक्त कथन को रखकर विचारने पर यह आपत्ति और भी प्रखर हो उठती है :—

---

१. The poet's mind is in fact a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images, which remain there until all the particles which can unite to form a view compound are present togather."

२. क्रिएशन एंड डिस्कवरी, पृ० १७६।

[क] 'कवि तब तक यह नहीं जानता कि उसे क्या कहना है जब तक कि उसने कह नहीं लिया है।"[१]

[ख] "....we do not know until the shell dreaks what kind of egg is laying under it।[२]

यहाँ इलियट यह भी कहना चाहते हैं कि जब तक कविता कागज़ पर शब्दमूर्त्त नहीं हो जाती तब तक उसके स्वरूप, उसके वर्ण्य के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। इलियट के उक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं और उनमें संगति बैठाना कठिन है। यदि कविता के शब्दमूर्त्त होने के पूर्व इलियट के कवि को वर्ण्य की प्रकृति का कोई भान ही नहीं रहता तो वह वस्तुगत सह संबंधियों की योजना किस आधार पर करता है? काव्य के स्तर पर इलियट ने 'व्यवस्था' अथवा 'order' की आवश्यकता बताई है, पर ऐसी स्थिति में भावों की शब्दगत व्यवस्था का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? 'व्यवस्था' की संभावना तो तभी है जब कि भावों का, अनुभूतियों का, ठीक स्वरूप ज्ञात हो।' 'मेटाफिजिकल कवियों' पर विचार करते समय इलियट ने उनके 'वर्बल इक्वीवेलेंट' ढूँढ़ने और 'अत्यधिक व्यस्तता' के साथ ढूँढ़ने का उल्लेख किया है। अर्थात् इलियट के अनुसार ऐसा नहीं है कि कवि-मानस में भावोदय के साथ ही उसके वस्तुगत सहसंबंधी का उदय हो जाता हो, कवि को उसे या उन्हें व्यस्ततापूर्वक ढूँढ़ना पड़ता है। पर भाव की प्रकृति, उसके स्वरूप के स्पष्ट अवबोध के अभाव में वह किसके लिए, किस आधार पर और किस प्रकार वस्तुगत सह-संबंधी ढूँढ़ता है? और शब्दमूर्त्त होने के पूर्व भाव बिना किसी प्रतीक के आश्रय के किस रूप में कवि-मानस में एकत्र रहते हैं? इसके अतिरिक्त, इलियट ने कहीं यह भी स्पष्ट नहीं किया कि कविता भावों को उद्बुद्ध करती है या अभिव्यक्त करती है? यदि वह भावों को अभिव्यक्त करती है तो प्रश्न है कि जड़ वस्तुगत सह संबंधी इसमें किस प्रकार समर्थ हो पाते हैं?—चेतन भाव को वे कैसे अभिव्यक्त कर सकते हैं? और यदि कविता भावों को उद्बुद्ध करती है तो यह इलियट के स्वयं के 'निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त' के विपरीत है, क्योंकि वह तो काव्य में प्रत्येक प्रकार के व्यक्तिगत भाव के निषेध को स्वीकार करता है। वैसे, इसका समाधान कदाचित् यह कह कर किया जा सकता है कि इलियट अन्य किसी उपयुक्त 'शब्दावली के अभाव में 'रस' रूप भाव को ही भाव कह रहे हैं, भावोद्बुद्धि से उनका तात्पर्य लौकिक, विशिष्ट भावों से नहीं है, क्योंकि काव्य के आस्वादन को वे 'विशिष्ट' स्वीकार करते हैं। परन्तु अन्य शंकाओं का समाधान इलियट के काव्य विषयक विवेचन से नहीं हो पाता।

भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त में इस प्रकार की कोई संदिग्ध स्थिति नहीं है। वहाँ सहृदय के चित्त में वस्तु और भाव के उदय का प्रायः एक साथ ही होना स्वीकार किया गया है, और यह साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत वस्तुतत्व और आत्मतत्व के अभेद, उनके सह-अस्तित्व के प्रतिपादन, का स्पष्ट प्रमाण है। वाल्मीकि के श्लोक के प्रसंग में रचना-प्रक्रिया की चर्चा से यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि कवि-मानस में भी वस्तु और भाव का

---

१. दि थ्री वायसेज़ आफ पाइट्री।

२. मेलेक्टेज़ एसेज़,

उदय प्रायः एक साथ ही होता है। रस को 'झटिति प्रत्यय' कहा गया है। आस्वादन-प्रक्रिया के विवेचन में यह बताया गया है कि मुख्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध असंलक्ष्यक्रमरीति से तुरन्त घटित होता है। वाच्य-वाचक रचना प्रपंच से चारु काव्य के पारायण से सहृदय के व्यक्तिगत रागद्वेष तिरोहित होने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप उसके हृदय में उद्बुद्ध स्थायी रस रूप में आस्वाद्य होता है। इलियट काव्यास्वाद में सहृदय को द्रवित करने की क्षमता स्वीकार करते हैं। अपने एक प्रसिद्ध निबंध 'दि म्यूज़िक आफ पाइट्री' में उन्होंने लिखा है : 'If we are moved by a poem, it has meant something, perhaps something important, to us; if we are not moved, then it is, as poetry, meaningless," संस्कृत-काव्यशास्त्र भी रसास्वाद में सहृदय को द्रवित करने की सामर्थ्य मानता है यह रसास्वाद का एक विशेष गुण है। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है इलियट का काव्य-विवेचन अनेक रूपों में भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है और इलियट काव्यास्वाद की समस्या को अपने ढंग से हल करने में बहुत दूर तक सफल भी हैं तथापि साधारणीकरण सिद्धान्त जैसी सर्वांग-सम्पूर्णता, संगति एवं क्रमबद्धता उनके विवेचन में नहीं मिलती।



अपभ्रंश वैयाकरणों तथा प्राचीन हिंदी कवियों के भाषा विषयक उल्लेख

रामसिंह तोमर

प्राकृतापभ्रंश के वैयाकरणों ने कहीं कहीं भाषा के संबंध में ऐसे उल्लेख किये हैं जिनकी व्याख्या अपेक्षित थी, किन्तु की नहीं गयी। प्राकृतों के विवेचन में यह कहीं किसी वैयाकरण ने नहीं कहा कि कौन सी प्राकृत प्रधान है, फिर भी नामोल्लेख किए बिना ही आधारभूत एक प्राकृत का रूप वैयाकरणों के मन में था। हेमचंद्र ने इस आधारभूत स्तरीय प्राकृत को कोई नाम नहीं दिया है उसे केवल प्राकृत ही कहा है। शौरसेनी की विशेषताओं का सत्ताईस सूत्रों में उल्लेख करके कह दिया है 'शेषं प्राकृतवत्' अर्थात् अन्य विशेषतायें प्राकृत के समान ही हैं। मागधी के विवेचन के पश्चात् कहा है 'शेषं शौरसेनीवत्' अर्थात् मागधी के संबंध में जो कुछ कहा है उसके अतिरिक्त अन्य विशेषतायें शौरसेनी के समान रहेंगी। शौरसेनी का विवेचन मात्र सत्ताईस सूत्रों में करके कहा है कि 'शेषं प्राकृतवत्'। प्रकारान्तर से अर्थ हुआ कि मागधी का भी मूल आधार वह सामान्य प्राकृत है जिसको हेमचंद्र ने कोई नाम नहीं दिया है। पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश के विवेचन के अंत में भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं 'शेषं 'शौरसेनीवत्', 'शेषं प्राग्वत्, शौरसेनीवत्।' इन उल्लेखों से शौरसेनी का महत्त्व अवश्य प्रकट होता है किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि 'प्राकृत' नाम से जिस भाषा का विवेचन हुआ है उसका क्षेत्र कहाँ था, तथा उसका नाम क्या था। संभव है वह साहित्यिक प्राकृत हो, शब्दों का विवेचन करते हुए कहीं कहीं कहा है कि महाराष्ट्र, विदर्भ आदि प्रदेशों में व्यवहृत शब्दों से उदाहरण देखना चाहिये। प्राकृत के उपलब्ध साहित्य के आधार पर इसका विवेचन किया जा सकता है। विद्वानों ने तथा कुछ वैयाकरणों ने इसे 'माहाराष्ट्र' कहा है। जो हो इस प्रश्न पर वैयाकरण एक मत नहीं हैं, शौरसेनी, मागधी के क्षेत्र प्राय: निश्चित हैं किन्तु महाराष्ट्री का क्षेत्र क्या था इस पर कोई निश्चित प्रकाश अभी तक नहीं पड़ा है। प्राकृत के सभी वैयाकरण प्राकृतों के अनेक भेदों का बिना सीमा निर्धारित किए उल्लेख करते हैं। भरत दण्डी जैसे काव्य समीक्षकों के प्राकृत विषयक उल्लेखों का भी वैयाकरणों पर बहुत प्रभाव पड़ा होगा।

दण्डी ने माहाराष्ट्री प्राकृत के साहित्य की भूरिभूरि प्रशंसा की है, फलस्वरूप माहाराष्ट्री प्राकृत को प्रधान माना जाने लगा, फिर भी आश्चर्य है हेमचंद्र जैसे वैयाकरण ने उसका उल्लेख नहीं किया। इसका अर्थ है वे दण्डी के मत को नहीं मानते थे। काव्यरचना या श्रेष्ठ काव्यकृतियों के प्रसंग में दण्डी के मत का महत्त्व है, भाषाविज्ञान की दृष्टि से उन्होंने जो कुछ कहा है वह विशेष महत्त्व का नहीं है। नाट्य-समीक्षकों ने नाटकों में विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने वाली भाषा के संबंध में जिन नियमों का उल्लेख किया है वे भी रूढि या परंपरा का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। प्राकृतों में से मागधी कौन बोलेगा यह निश्चय कर

लेना निश्चय ही किसी भाषा के स्वरूप को बताने में सहायक नहीं हो सकता, नाट्य-शास्त्रियों के उल्लेख केवल इतनी सहायता करते हैं कि प्राकृतों के विभिन्न नामों की सूची हमें प्राप्त हो जाती है। भोज आदि काव्य समीक्षकों ने भी प्राकृतों और अपभ्रंश के जो उल्लेख किये हैं उनमें से कुछ इस लिए महत्त्वपूर्ण हैं कि प्रत्येक भेद को स्पष्ट करने के लिए कुछ पद्य उदाहरण रूप में उद्धृत किये गए हैं। प्राकृतों के भाषा, विभाषादि भेदों का भी उल्लेख हुआ है किन्तु उससे स्थिति स्पष्ट नहीं होती। प्राकृत के संबन्ध में हेमचन्द्र ने जो विवेचन किया है वही वास्तव में स्पष्ट है। अन्य भेदों उपभेदों का कोई विवेचन न होने से उल्टा उल्लेख मात्र हमारी कोई सहायता नहीं करता। वररुचि और हेमचंद्र के पीछे के वैयाकरणों ने ही ऐसे उल्लेख किए हैं वे दूसरों के मतों के संग्रहमात्र हैं।

प्राकृत के उद्भव के संबन्ध में कोई भी तर्कसंगत प्रमाणपुष्ट तथ्य हमारे सामने नहीं है। हेमचंद्र ने इस प्रश्न पर विचार किया है और जब वे कहते हैं कि प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है, उसी से जो उत्पन्न हुई है या आई है वह प्राकृत है। अपने इस कथन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे कहा है—प्राकृत में प्रकृति, प्रत्यय, लिङ्ग, कारक समास संज्ञा आदि संस्कृत के समान ही जानना चाहिए। इस कथन में कहीं भी अस्पष्टता नहीं है। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि संस्कृत से प्राकृत बनी है, प्राकृत के व्याकरण का ढाँचा संस्कृत के ही समान है, उसके व्याकरण के ही आधार पर प्राकृत के व्याकरण की रचना हुई है—अनेक बातें एक समान हैं—यहीं उनके कथन का तात्पर्य है। प्राकृत और संस्कृत एक दूसरे की पूरक शाखायें हैं। वैदिक संस्कृत तथा साहित्यिक संस्कृत का ज्ञान प्राकृत के अच्छे ज्ञान के बिना अधूरा ही रहेगा, यही बात प्राकृत ज्ञान के विषय में कही जा सकती है।

वररुचि और हेमचंद्र के पश्चात् प्राकृतापभ्रंश के वैयाकरणों के समय में प्राकृतें मात्र साहित्यिक भाषा के रूप में शेष रह गई थीं। अतः चौदहवीं शती के बाद के या उसके आस-पास के जिन वैयाकरणों ने प्राकृत या अपभ्रंशों के भेदों का उल्लेख किया है वह उनके सम्मुख विद्यमान व्याकरण या काव्य समीक्षा के ग्रंथों के आधार पर हुआ है। हेमचन्द्र (बारहवीं शती ई०) के पश्चात् त्रिविक्रम (तेरहवीं शती ई०) सिंहराज (चौदहवीं शती ई०), लक्ष्मी-धर (सोलहवीं शती ई०), मार्कण्डेय (सोलहवीं शती ई०), अप्पय दीक्षित (सोलहवीं शती ई०) प्रमुख प्राकृत वैयाकरण हैं। त्रिविक्रम का आधार हेमचन्द्र का व्याकरण है। उन्होंने प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश छः भाषाओं का विवेचन किया है। प्राकृत या अपभ्रंश के नवीन भेदों का उल्लेख या विवेचन नहीं किया हैं। सोलहवीं शती में मार्कण्डेय ने अनेक भेदों का उल्लेख किया है—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी के अतिरिक्त आवन्ती प्राकृत का भी अत्यन्त संक्षेप में परिचय दिया है। महाराष्ट्री और शौरसेनी के संकर से आवन्ती वनती है और उसका क्षेत्र अवन्ती प्रदेश है। अन्य ग्रंथों में अवन्ती जनपद का उल्लेख मिलता है उसी के आधार पर अवन्ती प्राकृत का मार्कण्डेय ने उल्लेख किया होगा। अवन्ती की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है उनके आधार पर किसी भाषा का ढाँचा तैयार नहीं किया जा सकता। जो हो अवन्ती का भोज ने उल्लेख किया है और उन्होंने कहीं से अवन्ती के उदाहरण के रूप में एक पद्य भी उद्धृत किया है। आवन्ती को उत्तम प्राकृत माना है। मार्कण्डेय ने प्राकृत के व्यापक भेद, संस्कृतसम और देशी का भी उल्लेख किया

हैं जो भोज की कृति में भी मिलता है। विभाषाओं में शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, औड्री, आभीरी, टक्की का उल्लेख किया है। लक्षणों का विस्तार से विवेचन नहीं किया, अतः इनके स्वरूप के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं बनती। अपभ्रंश के नागर, व्राच और उपनागर भेदों का विवेचन करके अंत में पैशाची, शौरसेन पैशाचिकी और पांचाल पैशाची का संक्षेप में विवेचन किया है। इतने उपभेदों की आधारभूत सामग्री मार्कण्डेय के सामने नहीं थी, किसी परम्परा के आधार पर यह विभाजित किया गया है।

मार्कण्डेय के कई शतियों पहले से ही हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में काव्य रचना होने लग गई थी, अपभ्रंश में आधुनिक भाषा की कुछ विशेषताएँ अधिक स्पष्ट रूप में दिखने लगी थीं। अपभ्रंश में रचना करनेवाले कवि अपनी रचनाओं को कभी अवहंस, कभी अवहट्ठ कभी देसिल वयना कहते थे। उनके समसामयिक भाषा कवियों को अपनी भाषा की जानकारी थी, किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश के सम्बन्ध में कदाचित् उनका ज्ञान बहुत स्पष्ट नहीं था। प्राकृत और अपभ्रंश के वैयाकरणों ने छः भाषाओं का विवेचन किया था। षड्भाषा-चन्द्रिका जैसी रचनाओं से प्रकट होता है कि छः भाषा विषयक धारणा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इसका एक प्रमाण हमें पृथ्वीराज रासो में मिलता है:—चन्द वरदाई अपनी षड्भाषा निपुणता का परिचय देने के लिए जयचंद के दरबारी कवियों के मुख से कहलाता है।

अंभोरुह माणंद जोय लरिसौ डाडिम्म लो बीयलो।
लोयण्णे चलु चालु चालुयारा बिंबाउ कीयग्गहे।
केसीरी के साय बैनिय रसो चक्की भिगी नागवी।
इंदो मध्य सु विद्यमान विहतो एरस्य भाषा छउने॥

संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, अपभ्रंश की ध्वनि-विषयक एकाध विशेषताएँ उपर्युक्त-पद्य में मिलती हैं। कहीं भी चंदवरदाई ने भाषाओं का नामोल्लेख नहीं किया। पृथ्वीराजरासो में अनेक विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु इस पद्य में अरबी फारसी का कोई शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि षड्भाषाओं में वह संस्कृतादि को ही अंतर्भुक्त करते थे।

आगे भिखारीदास ने षड्भाषाओं का स्मरण किया है, 'पारसी' को भी उन्होंने उनमें गिनाया है जो स्वाभाविक ही है। उनके समय फ़ारसी चलती थी, एक प्रबुद्ध कवि को उसे स्थान देना ही चाहिए था। जो हो ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा-कवियों को अपनी प्राचीन भाषा परम्परा का ज्ञान अस्पष्ट रूप में ही था।

इसके विपरीत वैयाकरणों को भी देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त प्राकृतापभ्रंशों का पूरा ज्ञान नहीं था। उदाहरण के लिए मार्कण्डेय ने अनेक प्रकार की प्राकृतों और अपभ्रंशों के नाम गिनाये हैं किन्तु काश्मीरी का उन्हें पता नहीं था, भोज ने शृंगार प्रकाश में काश्मीरी का उल्लेख करते हुए उदाहरण के रूप में एक पद्य भी उद्धृत किया है। यह ध्यान देने योग्य

है कि काश्मीरी अपभ्रंश में अभिनवगुप्त के समय से पूर्व से रचना होती चली आ रही थी। परात्रिंशिका की टीका में अभिनव गुप्त ने अनेक अपभ्रंश पद्य उद्धृत किये हैं जो मात्रिक छंदों में है। महानय-प्रकाश जैसी रचनाएँ पूरी अपभ्रंश में हैं। काश्मीरी प्राकृतापभ्रंश से सम-सामयिक प्रबुद्ध समीक्षक परिचित अवश्य थे किन्तु वैयाकरणों ने उस पर विचार नहीं किया उनका यह अज्ञान या उपेक्षा आश्चर्य की वस्तु है।



धर्म-दर्शन खण्ड

●

षट्कोण-यंत्र

(The Hexagon of Basic Symmetry)

श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी बीज बिन्दु (Point Matrix) ने अपने को किसी निर्दिष्ट 'तल' या स्तर (Plane) में दोनों ओर प्रसारित किया—(homoplaner projection in opposite senses or directions)। फलस्वरूप किसी तल पर एक द्विपाक्षिक (bipolar) द्वन्द्व (Contradiction or opposition) सम्भावित हुआ। यह Homoplaner antithesis है, जैसे धन-उत्पादन के क्षेत्र में एक ही स्तर पर उपाय व पद्धति में एवं एक ही श्रेणी में (जैसे श्रमिक श्रेणी में) विरोध रहता है, ऐसा ही समतलों या समान-स्तरों में विरोध अन्य क्षेत्रों में भी रहता है। साधन के क्षेत्र में भी जैसे समान अधिकार वाले (प्रायः एक ही प्रकार की प्रकृति, रुचि, संस्कार व सामर्थ्य वाले) साधक-समुदाय में विविध साधन पद्धति, प्रक्रिया व यन्त्र-तन्त्र का विसम्वादी सम्बन्ध रहता है।

यदि स्तर या तल एक न होकर भिन्न-भिन्न होते तो यह लेख कुछ अन्य होता, जैसे कि यहाँ नरश्रेणी में श्रमिक व मालिक श्रेणियाँ हैं, मानस क्षेत्र में व्यक्तमानस (Surface mind) एवं अवमानस (Subconscious) हैं, तथा आदर्श व वास्तव का भेद है—इत्यादि।

उपर्युक्त दो क्षेत्रों में विरोध एवं उसका क्षेत्र अभी भी किसी निरूपणीय स्थिति (Spcific concrete) में नहीं आया है। अब तक यह विश्लेषण (analysis) सामान्य एवं 'अवास्तव' (Generic and abstract) ही है। निरूपित वास्तवरूपता में आने के लिये उसे त्रिभुज आकृति लेनी होती है। क्योंकि त्रिभुज, वृत्त, वृत्ताभास, वर्तुल इत्यादि के बिना किसी क्षेत्र में (Functional field) विशेषरूपता (specification) नहीं आती। फलस्वरूप द्विपाक्षिक स्थल पर त्रिपाक्षिक द्वन्द्व—polarity, oppsition रहता है।

हमारी साधारण कारबारी चेतना या अनुभव को यदि कहूँ—चित् + अचित्, भूमि या तल और उसके किसी विशिष्ट अवस्थान को मानूँ उसी तल पर अंकित एक सरल रेखा, तो उस सरल रेखा के ऊपर नीचे के दो लम्ब क्या कहते हैं ? ऊपर का लम्ब कहता है—यह देखो मैं उत्तरोत्तर चेतना की अभिव्यक्ति की ओर जा रहा हूँ। यदि मेरी पूर्णता की सीमा कोई हो तो वह होगी परम चित् या चैतन्य। नीचे वाला लम्ब उतरता उतरता कहता है—देखो मैं अचित् या जड़ मूलसत्ता की ओर जा रहा हूँ। अचित् के मूल में ही अनुभूत विश्व के सब कुछ का पता लगा रहा हूँ।

दोनों पक्षों की दो तरह की बात सुन कर और किसी ने कहा—तुम दोनों ही काष्ठा (चरम स्थिति) की ओर जा रहे दिखते हो; पर यह चलना क्या है यह तो किसी ने कहा नहीं। यह सुनकर किसी ने कहा उसे केवल 'गति' कह कर

ही छोड़ दो। और कोई बोला—'केवल गति से काम नहीं चलता, उसके पीछे शक्ति (Power या Elan) न मानने से गति को कौन नियन्त्रित नाना रूप दे रहा है उस शक्ति को उपनिषद् की भाषा में कोई कहेगा-प्राण (अवश्य ही यह प्राण vital factor मात्र नहीं है, और इस का मूल उपादान amino acid नहीं है)। अब इस गति की विधायक-नियामक प्राण-शक्ति को मानते ही जो द्वन्द्व द्विपाक्षिक था, वह त्रिपाक्षिक अर्थात् त्रिभुजाकृति हो गया। क्योंकि कोई चलिष्णु (गतिशील) बिन्दु ज्यों ही स्वयं को त्रिभुजाकार में दिखाता है, तभी उसको कुछ गति-विधायक-नियामक सूत्र के अनुगत होना होता है, जैसे वृत्त ('पैरारोला' इत्यादि) की सरल रेखा का भी एक निजस्व सूत्र equation है। अवश्य ही वह एकमात्रिक है। यदि तल ठीक ही रखो तब भी त्रिभुज कहता है—मेरे केवल तीन बाहू ही नहीं हैं, उनके कौणिक (कोण-सम्बन्धी) सम्बन्ध का भी मान (माप) दिखाओ।

इस कारण त्रिभुज के साथ वृत्त का सादृश्य है। अवश्य ही वृत्त से हमारे दो मान होंगे—व्यासार्ध (T) समकोणिक (radian) मान (π) नहीं।

इसी कारण 'यन्त्र' के त्रिभुज व वृत्त में इतनी मैत्री है। त्रिभुज कहता है—मेरे भीतर व बाहर वृत्त नहीं आँकोगे? समकौणिक मान को बङ्किम-सुषम-मान में न लें तो सृष्टि में कहीं भी (केवल कमल-विकास में ही नहीं) इतना अपरूप बाँका सुन्दर सुनिविष्ट रूप नहीं मिलता। इस अत्यावश्यक कर्म के लिये ही तो अर्धमात्रा स्थित हैं। (The measure principles that accelerates any process-function either Bindu-wise ar Nada-wise)

अस्तु। अब हमने जो कारबारी चिदचित् तल रेखा लेकर (fd) शुरू किया था, उस पर ऊपर व नीचे यदि दो विप्रतीप त्रिभुज आँक दें तो वे क्या समझायेंगे? ऊपर के त्रिभुज के शीर्षबिन्दु में जो चिद्वस्तु है वह केवल 'कुछ अनिर्वाच्य' (alogical) ही नहीं है। वह है, सत्ता + शक्ति + छन्द + आकृति (pattern) इस चतुष्टय की पूर्णता की भूमि। अथवा एक शब्द में कहें तो ऐश्वर्य (जिसमें ज्ञान, इच्छा व कृति सर्वोत्तम व स्वतन्त्र हैं) है। उस में से हम सबकी व्यावहारिक चेतना की भूमि पर एक क्रम से अवतरण जैसे हुआ है, वैसे ही उसमें 'उत्तरण' का भी एक क्रम निरूपित है या हो रहा है। शीर्ष को यदि कहूँ सत्यम् तो त्रिभुज के दो विपरीत चिह्नित बाहू-द्वय होंगे ऋतम् या ऋतस्य पन्थाः। एक पराक् है, दूसरा प्रत्यक् (coming out and returning unto)। जिस भूमि या नेमि में हम सब सचराचर वर्तमान हैं, उसमें इन दोनों चढ़ने-उतरने (ascent-descent) की धाराओं को समझना व उपलब्ध करना कठिन है। क्योंकि हमारे तल (स्तर) में त्रैगुण्य-वैरूप्य-वैषम्य-जनक हेतुओं की ग्रन्थियाँ अल्पाधिक हैं ही। उनको काटने के साधन हैं—विज्ञान व प्रज्ञान।

नीचे के विप्रतीप त्रिभुज का शीर्षबिन्दु है—अचिद्वस्तु। वह भी स्वरूप में एक × है। प्रज्ञान दृष्टि से यह × ब्रह्म ही है; अवश्य ही निपुटित (enfolded, unfolded नहीं) है। विज्ञान ने उसे जड़ (matter) रूप से पहचानना चाहा है। किन्तु अन्त तक पूरा परिचय अभी मिला नहीं है। अनेक समीक्षा-परीक्षा-अन्वीक्षाओं में से एक पूर्ण परिचय की चेष्टा चल रही है और चलेगी। सांख्य की भाषा में उसको 'प्रकृति' कह सकते हैं, किन्तु यह प्रकृति Physics का matter नहीं है। जो भी हो, नीचे के शीर्षबिन्दु से भी दो धाराएँ (त्रिभुज के

दो बाहू) निकली हैं। उनमें से एक को 'विवर्तन' की धारा कहेंगे—एक ही वस्तु के बहु-रूप, विचित्र रूप बनाने की धारा। दूसरी है, उद्वर्तन की धारा। इसमें जड़ के उद्वर्तन से प्राण और प्राण के उद्वर्तन से चेतना उपलब्ध होती है। इसमें फूल के जड़ को केवल उसी रूप में नहीं, अन्य ही अभावनीय भाव से 'प्राण' बनते देखता हूँ। प्राण भी फिर अभावनीय भाव से ही बनता है चेतना, बुद्धि आदि। यह 'अभावनीय भावन' क्या है इसे समझना ही वास्तव में समझना है। जैसे D. N. A. संयोग से amino acid यदि प्राण की मूल सामग्री बनता है तो वह मूल परमाणुओं से कैसे बनता है? और बन कर भी फिर प्राण के मौलिक धर्म (Pro-creation) आदि की सृष्टि कैसे करता है? मस्तिष्क से चेतना के उद्वर्त्तन में भी यही समस्या है। बल्कि यहाँ समस्या और अधिक गहरी है।

ऊपर हमने एक विप्रतीप के दृष्टान्त की कुछ परीक्षा की। श्रेयः एवं प्रेयः रूप प्रयोजन, धर्म एवं अर्थ-काम-रूप उपाय, रस एवं रसाभास रूप फल इत्यादि नाना भावों से इस विप्रतीपता (opposition) का प्रदर्शन हो सकता है। थोड़े से स्थलों पर विरोध (opposition) दिखाया गया। प्रकृति-प्रत्यय एवं ज्ञान व व्यवहार सभी जगह यह द्वन्द्व वर्तमान है। प्रकृति में जिनकी अध्यक्षता है वे इस षट्कोण द्वारा ही समन्वय करते हैं। मानव-व्यवहार में भी वही करना होगा। देखिये कि षट्कोण के ऊपर के तीन कोण और नीचे के तीन कोण एक सामान्य मौलिक स्थिति या समन्वय से आये हैं—मध्य में वृत्त है, त्रिभुज है और केन्द्र-बिन्दु या पद्म है। मध्य का यह परिमण्डल समन्वय की अभिविधि (formula) का निर्देश कर रहा है। जैसे कि अर्थ + काम व निःश्रेयस् (the supreme good) इन दोनों के विरोध का समन्वय करने के लिये धर्म (religion नहीं) को प्रशासक बनाओ (मध्य में त्रिभुज)। फलस्वरूप केवल अर्थ व काम की समृद्धि इत्यादि नहीं, किन्तु सर्वाङ्गीण अभ्युदय की प्राप्ति होगी।

पहले कहा गया ऊपर व नीचे के दो त्रिभुजों का वैपरीत्य (inversion) दो प्रकार की मौलिक संस्था की भावना के बीच के विरोध को दिखा रहा है। एक को यदि thesis कहें तो दूसरे को antithesis कहना होगा। सामान्यतया (as generally appriciated) यदि एक Hegelianism हो तो दूसरा Materialism, Marxism होगा।

एक पक्ष में जानी जा सकने वाली (ज्ञेय) ही वस्तु का अस्तित्व है या ज्ञात होना ही वस्तु का अस्तित्व है। दूसरे पक्ष में, वस्तु के अस्तित्व से ही उसका ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् वस्तु ही मौलिक (noumenal, fundamental) है, ज्ञान उस पर आधारित (phenomenal, derivative) धर्म है। मूलवस्तु (जो प्राण चैतन्यहीन है) से ही कुछ-कुछ Critical परिणाम निकलते रहते हैं, उसी से प्राण व चैतन्य का उद्भव होता है। मूल में इन दोनों का 'प्राक्भाव' है, जैसे कि जैवधातु प्रोटोप्लाज़्म में यदि जड़ सामग्रियाँ ठीक-ठीक अनुपात व समर्थ परिमाण में (requisite efficiency value) विद्यमान हों तो प्राणिक धर्म का उद्भव होगा। प्राणिक धर्म जड़ उपादानों में नहीं देखे जाते; सुतरां यह एक प्रकार का असामान्य विवर्तन (cataclysmic transformation) है। मस्तिष्क के क्षेत्र में चैतन्य का उद्भव इसी प्रकार का है।

अवश्य ही, विरोधीपक्ष ऐसा उद्भव मानना स्वीकार नहीं करेगा। उसके मत से तो (१) प्राण व चेतना मौलिक पदार्थ हैं, जिनके आत्मसङ्कोच आदि (self-limiting and self conditioning) के फलस्वरूप बाह्यवस्तु (matter) का उद्भव हुआ है। नहीं तो (२) मूल से दो पक्ष (चेतन एवं जड़) स्वतन्त्र रहते हुए भी विश्व के विवर्तन पारस्परिक सम्पर्क (Correlationality) में आये हैं, अथवा (३) मूलवस्तु (Fundamental Being) में चेतना, प्राण व जड़ परस्पर संयुक्त (in mental implication or involution) रह कर भी पहले जड़, फिर प्राण व चैतन्य रूप में अभिव्यक्त हुई है। अर्थात् प्राण-चेतना का उद्भव नहीं अभिव्यक्ति (उत्तरोत्तर emergence) हुई है—विश्व के इतिहास में। संक्षेप में ऊपर के दोनों त्रिभुजों में तात्त्विक विरोध ऐसा ही कहा जाता है।

मेरे अपने सिद्धान्त—(जो कि औपनिषद् ब्रह्मवाद से मुख्य अंश में अभिन्न कहा जा सकता है, तब भी जो अद्वैत, द्वैत आदि किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्त के साथ हूबहू (पूरी तरह) मिलता नहीं)—के अनुसार इस प्रतिलेख में जो भूमि या तलरेखा हैं, वह Alogical Absolute (AA) है, जिसके ठीक अपने सम्पर्क में समग्र रूप से किसी प्रकार का बौद्धविमर्श (logical appriciation by forms and categories) नहीं किया जा सकता। अथ च, उसी में (by an immanent functioning) बौद्धविमर्श 'उदित' होकर नाना प्रकार की सदृश या विसदृश बौद्धविवृति (logical thesis, idiology इत्यादि) गढ़ रहा है। A.A. स्वयं इन सबके सम्बन्ध में निरपेक्ष (neutral) है, अर्थात् स्वरूपतः एवं समग्रतः A. A. को वस्तु या विचार (Thing or Thought) विषय व विषयी (object or subject) कार्य-कारण कुछ भी नहीं कह सकते। कहना ही हो तो केवल एक मूल Matrix या Fact कहा जा सकता है। क्योंकि इस एकवाद (Vide our 'Approaches to Truth') में सभी कुछ सन्दिग्ध या आपेक्षिक हो सकता है। विश्लेषण में एवं समाहार में जितनी सी प्राप्ति होती है वह 'immanent operation' या intrinsic stress के फलस्वरूप उत्पन्न है; ये सब Fact section, Fact review, Fact-judgment इत्यादि हैं। इनमें से कोई भी A. A. नहीं है। सुतरां ऊपर प्रदर्शित 'विरुद्ध' दोनों त्रिभुज भी logical construction के फलस्वरूप प्राप्त दो प्रकार के ideological framework; इनका द्वन्द्व (opposition) भी बुद्धि से या मनन से उत्पन्न होता है।

अब बुद्धि (understanding) के मूल Matrix से जिस किसी द्वन्द्व (contradiction, opposition) की सृष्टि होती है, वह उसी में निश्चिन्त (satisfied) नहीं रहता; द्वन्द्व को निर्द्वन्द्व करने के प्रयास में ही मनन (विज्ञान व दर्शन) को सार्थक साधना है। उसको synthesis या reconciliation का सूत्र मिलाना होता है, यही उसका dialectical progresion है। पूर्ण समन्वय किसमें है व कहाँ मिलेगा ? जपसूत्रम् में परिणयी, अन्वयी, समन्वयी, महासमन्वयी एवं परम-समन्वयी—ऐसे पञ्च-पाद विक्रम का सविस्तार वर्णन किया गया है। (श्री-यन्त्र आदि में केन्द्रबीज से आरम्भ करके त्रिभुज, षट्कोणी, वृत्त, चतुष्कोणादि के द्वारा महासमन्वय पर्यन्त दिखाया जाता है, 'परम' दिखाना सम्भव नहीं)—गणित विज्ञानादि सभी क्षेत्रों में उपर्युक्त पाँचों पादों का प्रयोग हमने दिखाया है।

अवश्य बौद्धविमर्श केवलमात्र हम-आप जैसे अस्मदादि (ego-centric) व्यक्तियों के अधिकार में नहीं; वह तो विभिन्न केन्द्रों, स्तरों व सम्बन्धों में थोड़ा-बहुत विभिन्न एवं विरुद्ध भी होता है। उन सबके 'परिणय' 'अन्वय' एवं 'समन्वय' का प्रयास चल सकता है। किन्तु A. A. या Fact को समग्र एवं पूर्ण (अर्थात् ब्रह्म) रूप से लेने पर उसमें या उसके अधिकार में एक 'महद् बुद्धि' (great or Archetypal Reason) एवं तदभिमानी एक महान् आत्मा (Archetypal self) न लें तो, आणव या वैराज या किसी भी विश्व के अत्यद्भुत रचनाकौशल या परिपाटी की उद्भावना, संयोजना एवं विधारणा—इन सबका कोई सुसङ्गत बौद्धविमर्श (total integral logical appreciation) सम्भावित नहीं होता। हमारा बौद्ध विमर्श सापेक्ष समन्वय की ओर अग्रसर हो रहा है एवं होगा। किन्तु महासमन्वय एवं परसमन्वय तब भी दूर ही रहेंगे। इस कारण हमारे बुद्धि-विमर्श को उसी सर्वाध्यक्ष के पूर्ण अकुण्ठ बुद्धि-बोध के साथ योग में (in congruent relation) लाना होगा। उसी Archetypal Reason एवं उसके स्वनिरूपण (own ratiocination and conclusive proving) को हमें पाना होगा—'महा' एवं 'परम' इन दोनों अत्यावश्यक समन्वय-पर्वों को पाने के लिये। इनकी प्राप्ति का पथ है—योगलब्ध प्रज्ञान; इसमें विज्ञान को विदा नहीं प्रत्युत उसका समादान एवं समाहार है।

विज्ञान व विज्ञानभित्तिक दर्शन की दृष्टि से अभी भी मानव-मनन ने महासमन्वयी तक भी पहुँचाया नहीं है। इस कारण इस दृष्टि के केवल ऊपरी स्तर (surface field) में ही नहीं गंभीर व गम्भीरतर क्षेत्र में (अर्थात् higher and deeper dimension में) प्रसार की अपेक्षा है। तभी विज्ञान बनेगा प्रज्ञान। एक स्थूल दृष्टान्त लें। किसी एक प्रमाता (knower) ने किसी एक प्रमेय के निरूपण में एक प्रकार के प्रमाण (करण, means + ways) का अवलम्बन करके एक त्रिभुज (प्रमाता + प्रमाण + प्रमेय) पाया। अन्य किसी प्रमाता ने दूसरा त्रिभुज पाया। मान लो कि दोनों में विरोध है। उस विरोध का समाधान करने में दोनों त्रिभुजों को अन्तरङ्ग रूप से (intemetely, as far as possible in congruance) मिलाना होगा। ऐसे ही प्रयास के फलस्वरूप बनता है हमारा षट्कोण चित्र।

दोनों त्रिभुज परस्पर का (१) सम्पूर्ण परिहार (total exclusion), (२) सम्पूर्ण समाहार (total inclusion or coincidence) करते हैं, (३) परस्पर का सुषम अवच्छेद (harmonically interlace) करते हैं। यह तृतीय ही समस्त विरोधों का सुसमञ्जस समाहार है।

अर्थनीति आदि स्थलों में भी democracy तथा socialism इत्यादि का विरोध उक्त षट्कोण त्रिभुज द्वारा ही समन्वय में लाना होगा। यहाँ उस विस्तार में नहीं पड़ेंगे।

तात्पर्य यह कि इस षट्कोण (Hexagon) को ही जीवन व साधन, व्यष्टि एवं समष्टि—सभी व्यवहारों में अध्यक्ष बनाना होगा। प्रकृति (nature) में भी यही षट्कोण—rules all evolving creative pattern especialy in the formation for crystals. अपने 'यन्त्रम्' (ग्रन्थ) में से इस प्रसङ्ग में इतना सा अंश उद्धृत करता

हूँ—"For instance the infinitely varied but beautifully patterned hexagons of icicles on your window panes in a frosty night have all the wild look that a night in chaos may be imagined to fear; but how and whence do the beautiful hexagons emerge? Can it be from blind chance? Take other example in Nature outside and inside."

(षट्कोण के सम्बन्ध में लेखक का सम्पूर्ण 'यन्त्रम्' ग्रंथ देखना चाहिये।)

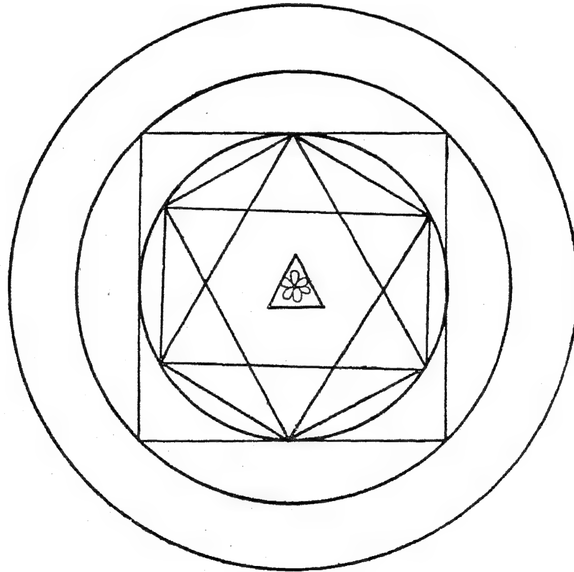
अब देखो $n\pi - 4$ इस सूत्र के अनुसार षड्भुज (Hexagon) की समकौणिक संख्या है ८। इसीलिये षड्भुज के परिमण्डल (operative sphere or field) में पहले (primarily) अष्टदल कमल रहेगा। सचराचर में यह मूलतः व्यक्त (manifest) नहीं है, अतः रहस्य-भाषा में इसे गुप्त अष्टदल कहा जाता है। 'यन्त्रम्' के परिच्छद-पृष्ठ पर जो ॐकार की अष्टदल आकृति दी हुई है एवं उसका व्याख्यान भी वहाँ किया है उसे इस प्रसङ्ग में देखना चाहिये।

परिमण्डल व्यक्त एवं अव्यक्त, प्रकट व गुप्त दो प्रकार का है। षट्कोणी के चारों तरफ़ जो वृत्ताकार परिमण्डल है वह व्यक्त है, और षट्कोणी की नाभि का वृत्त-परिमण्डल अव्यक्त है। यह नाभि एवं हृल्लेखा का 'अपना' मण्डल है। यहाँ प्रणव के स्वाधिकार में गुप्त अष्टदल विद्यमान है। निसर्ग के ऋजुपर्व ('यन्त्रम्' द्रष्टव्य) में ॐकार का शुद्ध (Pure) स्वाधिकार है। सुतरां इस पर्व में ॐकार अभिव्यक्त (Whatever is manifesting) को ही उसके समकोणों की संख्या के अनुसार मर्यादा (शक्तिमान व आकृति) देता है। इस कारण षट्कोणी में शक्तिमान है $२^३ (=८)$ एवं शक्ति की आकृति है अष्टदल। पहले द्विधाकरण, फिर उसी का त्रिवृत्करण ही "$२^३$" है। जैसे कि हमारे साधारण व्यवहार में सभी कुछ धन व ऋण-मुखों से द्विधा होकर देश-काल-सम्बन्ध के त्रिवर्ग में गुणित हो रहा है। धन या ऋणमुख से किसी मात्रा (measure) को जो ऐसे या अन्य किसी भी प्रकार ऋध्यमान करती है वही अर्धमात्रा है। ॐकार "ऐं" "श्रीं" "ह्रीं" इत्यादि रूप क्यों धारण करता है इसे भी अर्धमात्रा द्वारा ही समझना होगा।

कोणशीर्ष पर तल-लम्ब आँकने से पद्म का ढाँचा (Parabolic) बना। यह गुप्त अष्टदल (the hidden eight petalled lotus) है; क्योंकि इसकी नाभि (core) में जो बीज (core-matrix) है वह सूक्ष्म अव्यक्त रूप में ही पहले अपना विन्यास करता है (Atom, जीवकोश इत्यादि सबमें)। स्थूल में (in picturable field) वही इक्यावन अक्षरों की वर्णमाला हो सकती है। (वर्णमाला के विषय में लेखक का जपसूत्रम् विशेष रूप से द्रष्टव्य है)। सूक्ष्म अष्टदल से स्थूल वर्णमाला का विलास होने में जो सेतु या axis of projection है, वह विशेष रूप से मध्यमा है (What keeps the norm or mean characteristic measure)। यह माध्यम (mean measure) न पाने तक कोई भी सूक्ष्म आकृति गोचरता में नहीं आती, हमारे व्यावहारिक स्तर पर दृश्य नहीं बनती। यन्त्र के वृत्त, चतुष्कोण आदि को भी इसी व्यावहारिक दृश्यता (plane-projection) द्वारा समझना होगा। वृत्त के बिना गति चक्रावृत्ति (cyclic pattern) में नहीं आती। इस कारण मूल

समकोण को वृत्त (Circular π) का आकार लेना होता है, जो अमेय (incommensurable) है। चतुष्कोण में देश-काल (x, y, z, t) सामान्य आधार पाते हैं, अन्य व्यञ्जना भी है। जैसे n-dimensional analysis में किन्हीं चार dimensions का चयन selection); और जैसे इन्द्रियग्राह्य (sensible) को यदि three-dimensional कहें तो अतीन्द्रिय (super-sensible) को कहेंगे 4th dimension—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, विज्ञान व गणित के व्यवहार में भी नहीं। संख्या की ओर से कुछ काल्पनिक मान (imaginary quantity i. j.) न मानने पर जागतिक कोई भी समीकरण-सूत्र नहीं बन सकता। उदाहरण के लिये हाईजनवर्ग का समीकरण ही ले सकते हैं।

भीतर अष्टदल षट्कोण यन्त्र एवं नाभि में स्थित बीज—ये सूक्ष्म + कारण स्पन्दों (causal stress) की पश्यन्ती व परा भूमि है। अन्त में, नाभि या हृल्लेखा (core pattern) में कौन सा बीज रहेगा एवं परिपार्श्व में क्या-क्या—यह इन सब बीजों की मौलिक परीक्षा व उसके मौलिक विनियोग, व विचार-पूर्वक समझना होगा। जपसूत्रम् में वैसी गम्भीर व व्यापक दृष्टि से इसे समझने की चेष्टा की गई है। सेतु सामान्यतः अर्धमात्रा (link up principle) है। ("यन्त्रम्" द्रष्टव्य)।



ऊपर चित्रांकन में जो यन्त्राकृति (basic power evolution and power control diagram) प्रदर्शित है, उसके मध्यस्थल में (inmost) जो त्रिभुज (tri poeer disposition)—है, उस त्रिभुज के केन्द्र में (जहाँ तीनों लम्ब कटते हैं) बिन्दु (विश्व का मूलबीज—the Ground Matrix) है, जो एक साथ शून्य (nil, or null point as actual or patent) एवं पूर्ण (full or consumated level of the possible or potential है इसीलिये वह "O" एवं पद्म दोनों प्रकार से दिखाया जाता है।

२. उक्त बिन्दु का आदिम (primary) त्रिमात्रिक self formulation है त्रिभुज; जैसे ॐकार में अ, उ, म। जो किसी अभिव्यक्त के process + End या Result + Root या source इत्यादि हैं। (यन्त्रम् तथा Metaphysics of physics द्रष्टव्य)।

३. त्रिभुज स्वयं को द्वन्द्व (opposition) में लेकर अन्तर्मुख (inverted) हुआ। (मूल प्रस्ताव में इसकी संक्षेप में विवृति है)।

४. उक्त विरोध समन्वित होकर षट्कोणी त्रिभुज बना (यन्त्रम् तथा मूल प्रस्ताव द्रष्टव्य)।

५. उक्त षट्कोणी के छः शीर्षबिन्दु मिल कर (जुड़ जाने पर) एक सुषम षड्भुज (Hexagon) बना। यही सर्व-समन्वय में (Synthesis, congruence इत्यादि का नियामक सूक्ष्म (inner-functioning) यन्त्र है। It rules all harmonic postures and processes in creation. (यन्त्रम्, जपसूत्रम् व मूल प्रस्ताव देखें)

६. मूल केन्द्रबिन्दु (Core Matrix) का आश्रय लिये हुए जो त्रिभुज है और उसको घेरे हुए जो वृत्त है वह निर्देश करता है इस Core Matrix के अपने Causal dynamic field या sphere (causal stress pattern) को। और षड्भुज को घेरे हुए वृत्त निर्देश करता है सूक्ष्म (subtle) अथवा अव्यक्त, अगोचर (unmanifested) व्यूहरूपता की नेमि या परिधि को।

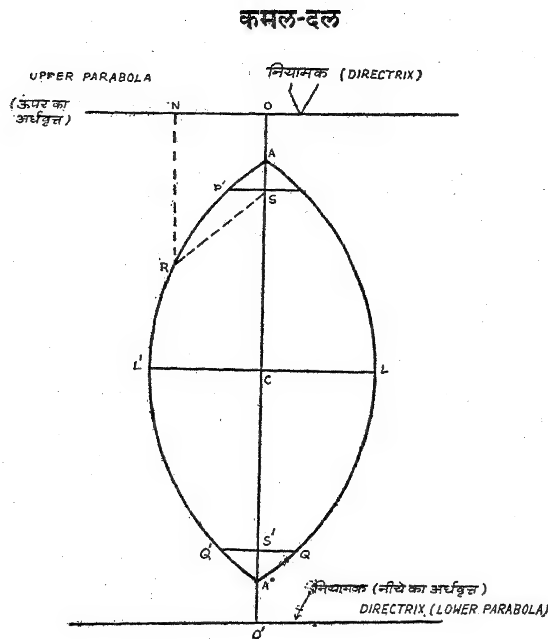
७. अन्तरतम (inmost) वृत्त को यदि Root .Matrixs Realm या नाभि (sphere), तो दूसरे वृत्त को कहेंगे पहले का basic formulating sphere or Norm sphere (वस्तु = real का मूल ऋतलेख = Norm या छान्दसी तनु)। नाभि या causal Matrix की स्वगत (intrinsic) अर-नेमि-विस्तार-रूपता तर्क व गणित की परिभाषा में (logico-mathematical oppriciation) किसी प्रकार सीमित, संकुचित होकर (with limitation or specification) आने पर भी अभी भी वास्तव या कल्पित गोचर-रूपता में (picturable form) में नहीं आयी है, जैसे कि Matageometry, Quantum Physics एवं Wave Mechanics के वे भाग हैं जो साधारण चतुर्मात्रिक विश्लेषण (XYZT) में आबद्ध नहीं रखे जाते।

८. भीतर से दूसरे वृत्त को घेर कर जो चतुर्भुज है वह विशेषतः यही चतुर्मात्रिक विश्लेषण है, सुतरां गोचररूपता (picturability) का निर्देश देता है।

९. उसे भी घेरे जो वृत्त है वह हैं सीमा रेखा = boundary line between what is logico-mathematically understandable and formulatable, and what is actually and concretely observable.

१०. भीतर के पहले वृत्त को यदि कहें Noumenal मण्डल (ऋतञ्च सत्यञ्च) तो द्वितीय को कहेंगे medium मण्डल, और उसके बाहर वाला होगा हमारा साधारण convensional or reactive behaviour मण्डल।

कमल-दल



साधारण अक्ष—Common Axis = AA',, SA = AO = S'A' = A'O' = $\frac{1}{2}$ SP = $\frac{1}{2}$ S'Q,

नाभिलम्ब—Latus Rectum = PP' = QQ',

नाभि—Focus = S & S', SR = RN,

साधारण द्विकोटि—Common Double Ordinate = LL', [CL = CL', CA = CA']

कमल-दल (Lotus-Petal) **का यन्त्ररहस्य**

मान लो 'यह' या 'अयं' ('this') रूप से वास्तव (actual) की भूमि है। यही जपसूत्रम् की संज्ञा के अनुसार 'भूः' लक्षण में आती है। उसे एक सरल रेखा में लिया। मान लो और भी एक भूमि है जहाँ इस 'यह' भूमि पर actual रूप से गृहीत वस्तु या घटना (= सत्ता + शक्ति + सम्बन्ध + आकृति) पूरे व यथार्थ रूप से है व रह सकती है। यह 'यह' के सम्बन्ध में 'वह' ('that' or 'what') की भूमि है। इसे कहते हैं 'स्वः'। अब इन दोनों भूमियों को दो सरल रेखायें मान लिया। स्वः-रेखा को कहो 'upper' और भू-रेखा को 'lower', इन दोनों के बीच जो व्यवधान है वह है अन्तरिक्ष जिसके माध्यम से 'वह', 'यह' बनता है और 'यह', 'वह'। सुतरां यह माध्यम चल (dynamic) है एवं उसमें एक स्वगत शक्ति-संस्था का रूप (intrinsic power picture) है। उक्त आकृति की अनेक प्रकार से कल्पना की जा सकती है। उनमें से जो सर्वाधिक यथार्थ एवं शुद्ध है, सत्य से संयुक्त व ऋतानुग है उसी आकृति को दिखाने के लिये यह कमलदल है। क्यों ? ऊपर अङ्कित चित्र में ऊपर एवं नीचे दो सरल रेखा (Directrix) हैं। दोनों के बीच, उन्हें

दण्ड-रूप से जोड़ती हुई एक और सरल रेखा है। उसमें एक स्थिर बिन्दु है S, संयोजक व ऋत-निरूपक रेखा है अक्ष (Axis) जपसूत्रम् की परिभाषा में यही अक्ष है 'दक्ष'।

अब नीचे का कोई बिन्दु यदि निश्चय करे कि वह नीचे की इस रेखा (actual) एवं अक्ष के स्थिर बिन्दु (S) (इन दोनों) में समदूरत्व रखते हुए अपना गतिपथ (ऋत-पन्था:) निरूपित करेगा तो हमें ऊपर की ओर प्रसारित एक पैराबोला मिला। यदि ऊपर का भी कोई बिन्दु ऐसा ही सङ्कल्प करके चले तो नीचे की ओर प्रसारित एक और पैराबोला मिला। एक आरोही (ascending) है दूसरा अवरोही (descending) साधन की दृष्टि से पहला कृति है दूसरा कृपा। दोनों Parabola सुषम रूप से (symmetically) परस्पर का 'छेद' (भेद) करते हैं। यही दोनों का समन्वय छेद है, जैसा कि दोनों त्रिभुजों के समय था। यह छेद (परस्पर मिल जाना या प्रवेश) दोनों बिन्दुओं की संयोजक सरल रेखाओं (P S P) का समन्वय करता है। अक्ष के सम्पर्क में यही विशेष रूप से दक्ष है, क्योंकि यही Parabola का सूत्र (अभिविधि) दिखाता है। इसीलिये कमल के रूप (form) के सम्बन्ध में यह निरूपक (Norm) है। इसका शासन है ऋत-छन्द। यही 'श्रीं' बीज है। लक्ष्मी या कमला का बीज है। अक्ष (Axis) "ऐं"—ऋत-छन्द में अभ्युदय या अभ्यारोह का बीज है। S या Focus विशेष रूप से "ह्रीं" बीज है। इसका आश्रय लेकर ही ऋतान्वय (unfolding या enfolding) घटित होता है। और स्व: एवं भू इन दोनों की सीमा या काष्ठा जिसके द्वारा निरूपित होती हैं अन्तरिक्ष के माध्यम से वही "क्रीं" या क्लीं बीज है।

कमलदल को Parabola pattern में विश्लेषण करके दिखाया गया। Parabola में SA : AO अनुपात एक (unity) हुआ रहता है। अनुपात को यदि कहूँ e, और इसके धन या ऋण किसी भी प्रकार के परिवर्तन (change) को उसका index (i) कहूँ तो वह i शून्य, इसीसे $e^{\circ} = 1$। किन्हीं दो मूलनियामकों (S एवं Directix) के सम्पर्क से कोई बिन्दु यदि अपना गतिलेख (Iocus) $e^{\circ} = 1$ इस सूत्र में पाना चाहे तो उसका पथ Parabola आकृति का होगा। यह पथ साधारण आधार में ससीम नहीं। अवश्य ही उसको किसी ससीम आधार में (जैसे भूमितल से किसी projectile के क्षेत्र में) ससीम अवच्छेद (finite section) में दिखाया जा सकता है। मैंने पद्म-दल में दो Parabolas को परस्पर सुषम अवच्छेद में दिखलाया उनकी व्यञ्जना भी संक्षेप में दिखाई।

अब प्रश्न यह है कि दो परस्पर अवच्छिन्न (interlaced) सममात्रिक Parabola न दिखा कर उसी अर्थ को एक वृत्ताभास (ellipse) आकृति अथवा interlaced hyperbola इत्यादि रूप में नहीं दिखाया जा सकता? वृत्ताभास में भी तो दो दिशाओं में दो directix, दो axis, दो विभिन्न केन्द्रबिन्दु—यह सभी कुछ है। ठीक है। किन्तु वह समग्र $e^{\circ} = 1$ न होकर यदि कोई भग्नांश हो, तो उसके द्वारा चलिष्णु बिन्दु का गतिवर्त्म ठीक अखण्ड मान में नहीं रहेगा। भग्नांश के 'लव' व 'हर' के अनुपात में विषमता होगी। जैसे सूर्य के चारों ओर किसी ग्रहविशेष का गतिपथ वृत्ताभास है, जहाँ centripetal एवं centrifugal force दोनों का अनुपात वर्त्मनियामक है। इसमें परिवर्तन होता है व हो सकता है (जैसे किसी बाहर की ज्योति के आकर्षण से)। आणविक मण्डल में भी यह सम्भावित है।

इसीलिये atomic disruption घटित होता है। जीवकोश के विवर्तन में, मानस व्यापार में भी ऐसी सम्भावना विशेष रूप से प्रकट है। इन सब 'विषम-विपर्यय' के (सुषम ऋतान्वय रूप से व्याख्यात) परिहार के लिये दो पैराबोला ही लेने पड़ते हैं—अभिव्यक्ति की शुद्ध, सुषम-रूपता दिखाने के लिये। व्याज (वैरूप्य) एवं विघ्न (वैगुण्य) से रहित हुए बिना गति शुद्ध छान्दस ($e^{\circ} = 1$) आकार नहीं पाती। सृष्टि की स्थूलतालिक अभिव्यक्ति में सभी कुछ में eccentrins (e^{i}) होने की झोंक (प्रवणता) है। उसको काटने हटाने का उपाय हैं—$i = o$ (evanascent) कर लेना। कमलदल उसी का संवाद देता है। इसीलिये पद्म विशेष रूप से—harmonic evolution towards a consummated end—का प्रतीक है।

हमारे विश्वानुभव की मूल सामग्री है A. A (Alogical Absolute) उस को किसी पारिभाषिक, व्यावहारिक अवच्छेद में समग्र रूप से एवं स्वभाव में (as a whole and as it is in itself) नहीं लिया जायेगा; सुतरां उसको, जड़, प्राण, मन व्यावहारिक चेतना—इन सबमें से किसी को भी 'पूर्णतत्त्वत:' नहीं कहा जायेगा। तब भी उसको इस जगत् के उद्भव व परिणति के प्रसङ्ग में, घनता-परिसीमा (maximum potency या implication) एवं वितान-परिसीमा (maximum potency या amplification) इन दोनों रूपों में जानने व देखने के प्रयास में विज्ञान उत्पन्न होता है। इन दोनों परिसीमाओं (बिन्दु एवं नाद) के अभिमुख ध्रुव (सतत) अभियान के लिये विज्ञान जिन मौलिक सूत्र-छन्दों का आविष्कार कर रहा है वे ही उसके मन्त्र हैं, जिन मौलिक ऋत-लेखों (true power-functioning diagram या device) का आविष्कार कर रहा है वे ही उसके यन्त्र हैं, और जिन मौलिक प्रक्रियाओं द्वारा इन दोनों में साहित्य, समन्वय (co-ordination) साध रहा है वे ही उसके तन्त्र हैं। इन तीनों में से यन्त्र power-disposition design है अतः उसकी आलोचना (understanding, appreciation) के लिये पहले ही (provisionally) एक दैशिक (ज्यामितिक) पटभूमि तैयार कर लेनी होती है, क्योंकि यन्त्र के स्थल पर संख्या सूत्र-रूप से नियामक होने पर भी परिमाण व परिमेयता की मुख्यता (preponderance of dimensionabilty) है। अवश्य ही dimension आणव, माध्यम (medium) एवं वैराज-तीन पर्वों में लेना होगा। आणव की परिसीमा है बिन्दु; वैराज की नाद और माध्यम की कला। इन तीनों में पारस्परिक स्थिति-परिणति कराती है अर्धमात्रा—The principle of dynamic acceleration, by continued differentiation and integration, with respect to two ultimate limits.

[A measure commensurable or not that accelerates in sense, ratio direction i.e. both in form and norm-evolving primarily harmonic functions.—Mataphysics of Physics p. 18]

(जपसूत्रम् में अर्धमात्राष्टकम् द्रष्टव्य।)

मान लीजिये किसी कागज पर एक यन्त्र आँकना है। क्योंकि यन्त्र है—basic power disposition scheme, एवं पूर्वोक्त अर्धमात्रा है इसका अंकक (tracer)—

इसलिये कागज पर एक 2—dimensional रेखाचित्र (graph) ही दिखाना सम्भव होगा।

यन्त्र के धर्म (आकृति-प्रकृति) में ऐसा कोई सङ्कोचन (reducing or restricting factors) नहीं है, इस कारण रेखा-चित्र द्वारा उसकी निजस्व (अपनी) आकृति-प्रकृति को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं किया जा सकता। वैसे चित्र में व्यञ्जना (implication of sense) व कल्पना (suggestive hints, pointers, indicators आदि) ही उपयुक्त स्थान पायेंगी। अवश्य ही व्यञ्जना व कल्पना—दोनों को ही संवादिनी होना आवश्यक है। जैसे कि यह यन्त्र (जैसे श्रीयन्त्र) अमुक देवता (जैसे ललिता) का है, इसमें उस देवता के ये-ये प्रभाव-विभावादि हैं—केवल इतना समझने से यन्त्र को पूरा-पूरा व वस्तुतः समझना नहीं हो जाता। बीज-वर्ण आदि भी नहीं समझे जाते।

यह जो Cosmic scheme (भुवन-परिकल्पना) है, इसकी उत्पत्ति-स्थिति परिणति में मूल Matrix क्या है—इसका सन्धान लेना होगा। वह मूल-निरूपक बिन्दु (origin या Radix) है। उसके केन्द्र में बैठ कर यन्त्राकृति को उद्भावित (evolve) करना होगा। विन्दु ज्यामितिक 'point' नहीं है। यह सर्व-सम्भावना-बीज की परिसीमा है। यह Primal Evolvent centre है। इसी से रेखा, त्रिभुज, वृत्त आदि सभी evolutes का उद्वर्तन होता है। पहले उद्वर्तन-पर्व में मिलती है 'नाभि' एवं 'नाभिनिष्ठ' (intrinsic) हृल्लेखा (core-picture of power-disposition)। रेखा, त्रिभुज, वृत्त आदि की व्यञ्जना अनुरूप मौलिक दृष्टि से ही समझनी होगी। इनमें से प्रत्येक total power disposition scheme का एक-एक specification है—विशेष-विशेष आलोच्य अनुबन्धों (frame of reference) में।

अन्त में एक प्रश्न है—मूल मातृका रूप बिन्दु किस गोत्र का है?—जड़, प्राण या व्यावहारिक चेतन? उत्तर—इनमें से कोई भी विशेष रूप से नहीं, अथ च इन सभी का मूल अधिष्ठान एवं पूर्ण सम्भावना वही है। विज्ञान में जड़, प्राण, मन को जितने ही घनिष्ठ रूप से समझ रहे हैं उतना ही उस मूल—(Thing or Power in itself) को समझने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उतना ही षट्कोणी आदि सृष्टि में अनुस्यूत यन्त्रसमूह को अच्छी तरह समझ रहे हैं। जड़, प्राण व मन—यह त्रिधारा जहाँ मिलित है, परस्पर की पूर्ण उपकारक व सम्पूरक है वही प्रज्ञान की भूमि है। आज कृत्रिम उपाय से gene तैयार किया गया एक—Chemical entity that works wonder in biological evolution की तरह, यह ठीक है। किन्तु chemical basically and really क्या वस्तु है? Physics कुछ स्पष्ट नहीं कह पायेगा आज नहीं तो परसों? मनोविज्ञान आदि भी तब तक गाल पर हाथ धरे बैठे रहेंगे क्या? मूल की तलाश तो करनी ही होगी—जितना विज्ञान कर सके उतना उससे, बाकी प्रज्ञान से। विज्ञान को छोड़ा तो नहीं जा सकता।

मूल बंगला से अनूदित—डॉ० ऊर्मिला शर्मा

अद्वैत वेदान्त में वृत्ति की धारणा

(कुमारी) ऊर्मिला शर्मा

जो कुछ अनुभवगोचर है, इसका मूलभूत तत्त्व क्या है, और उस तत्त्व का अनुभव क्या है ? कैसे होता है, हो रहा है व हो सकता है—इसी की खोज दर्शन है। तत्त्व का स्वरूप क्या है, तथा अनुभव का स्वरूप, उपाय व प्रकार क्या हैं—इन दो जिज्ञासाओं से प्रवृत्त विचार दर्शन के दो पक्ष हैं, जिनका परस्पर निरपेक्ष अस्तित्व सम्भव नहीं, तत्त्व क्या है इसी की मान्यता पर अनुभव के स्वरूप, उपाय व प्रकार आदि का चिन्तन निर्भर है, इस प्रकार तत्त्व-मीमांसा व अनुभव-मीमांसा ये दो दर्शन-मात्र के अनिवार्य व अविभाज्य दो पहलू हैं।

अद्वैत वेदान्त दर्शन में परमतत्त्व और अनुभव या ज्ञान अभिन्न हैं। किन्तु वह पारमार्थिक स्थिति है, जहाँ अनुभविता, अनुभाव्य व अनुभव की त्रिपुटी नहीं है, निर्विकल्प स्वप्रकाशबोध अपने आपमें विराजमान है, उससे इतर कुछ है ही नहीं। किन्तु जिस स्थिति से विचार किया जाता है वह व्यावहारिक है। यहाँ अनन्त नानात्व से भरा जगत् ही अनुभविताओं के सम्मुख है। विचार का आरम्भ होता है इस प्रश्न को लेकर कि विचारक स्वयं कौन है ? उसका परिवेष रूप यह जगत् क्या है ? तथा इन दोनों में सम्बन्ध क्या है व कब तक है ? तत्त्वमीमांसा से उत्तर मिलता है कि क्योंकि तत्त्व एक ही है, (जिसे कहना ही हो तो ब्रह्म कहा जा सकता है) अतः विचारक भी उस तत्त्व से पृथक् नहीं, उसका परिवेष नानात्मक है, सत्य एक है अतः नाना को मिथ्या मानना होगा, इस परिवेष का भी तत्त्व वह एक ही है, उसी की सत्यता से यह स्थित है, उसी के चैतन्य से यह प्रकाशित है, प्रवृत्तिशील है। इस परिवेष से विचारक का सम्बन्ध भी फिर उस एक तत्त्व से पृथक् कुछ और नहीं हो सकता। स्थूल रीति से कहें तो इन दोनों में सम्बन्ध यही है कि एक ही तत्त्व से ये दोनों अनुप्राणित हैं, प्रकाशित हैं। किन्तु इतने से अन्तिम प्रश्न का पूरा समाधान नहीं होता, क्योंकि एक ही आधार पर स्थित होने से अतिरिक्त भी कुछ सम्बन्ध इन दोनों में परस्पर दिखाई देता है कुछ ऐसा सम्बन्ध कि एक के बिना दूसरे की कोई सार्थकता नहीं, स्थिति ही नहीं, यह कहना भी असत्य नहीं। वह सम्बन्ध है एक (चेतन) पक्ष द्वारा दूसरे (अचेतन) का उपयोग = व्यवहार। इसके भी मूल में है एक के द्वारा दूसरे का जाना जाना। एक के प्रति दूसरे का प्रकट होना। इस प्रकार "जानना" ही वास्तव में तृतीय प्रश्न का उत्तर है। इस प्रकार विपुल विश्व से असंख्य अनुभविताओं की सम्पर्क रेखा भी है ज्ञान ही। अब प्रश्न उठता है कि एकमात्र तत्त्व का स्वरूपभूत ज्ञान तथा विचारक व परिवेष का सम्बन्धभूत ज्ञान क्या एक ही वस्तु है ? परमतत्त्व तथा विचारक-परिवेष (जीव-जगत्, चेतन-चेत्य) की वस्तुता में जितना सा (पारमार्थिक व व्यावहारिक होने का) अन्तर है वह भी इन स्वरूप व सम्बन्ध-रूप ज्ञानों में है या नहीं ? जो तत्त्व विचारक व परिवेष के अस्तित्व की भित्ति है, वही क्या इन दोनों में परस्पर उक्त सम्बन्ध की भी भित्ति है ? तथा अनिर्वचनीय भूल (माया) से रचित इन

दोनों (जीव-जगत्, चेतन-चेत्य) के अधिष्ठान रूप से गूढ़ (छिपा हुआ स्थित) एक तत्त्व ही क्या इनके परस्पर सम्बन्ध (ज्ञातृ-ज्ञेय भाव के घटक ज्ञान) रूप में प्रकट है ? किन्तु यह ज्ञान है अनेक सीमाओं से घिरा, विश्व सागर के अतीव क्षुद्र सीकरों को भी क्रमशः (एक समय में एक ही विषय को) पकड़कर अनुभविता से उसका सम्बन्ध कराने वाला। पारमार्थिक स्थिति के ज्ञान (एकमात्र तत्त्व के स्वरूपभूत ज्ञान = चैतन्य) का इस व्यावहारिक स्थिति के ज्ञान (जीव को होनेवाला, पृथक्-पृथक् विषयों का कादाचित्क ज्ञान) से क्या सम्बन्ध है इसे देखने के लिये प्रवृत्त होने पर सामने आते हैं व्यावहारिक स्थिति की व्याख्या करने वाले अनेक वाद जो सच्चिदानन्द अद्वय निष्कल ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व के—विपरीत स्वरूप वाले सचराचर विश्व की सम्भाविका—माया से हुए, सम्पर्क के—विश्लेषण में विचारक-मति-वैचित्र्य के कारण प्रसृत हुए हैं। इन वादों में अनुभविता व अनुभाव्य जगत् के स्वरूप पृथक्-पृथक् आलोचित हुए हैं। इस पार्थक्य को ध्यान में रखते हुए पूर्वोक्त समस्या (पारमार्थिक ज्ञान व व्यावहारिक ज्ञान का सम्बन्ध क्या है, कैसा व कब तक है ?) पर विचार तथा व्यावहारिक स्थिति में सम्भाव्य सभी ज्ञान-प्रकारों का अद्वैतसिद्धान्तों के प्रकाश में विश्लेषण प्रसंगानुकूल होने पर भी इस लघुनिबन्ध में सम्भाव्य नहीं। तथापि अद्वैतवेदान्त के सर्वतोमान्य तथ्य के रूप में अतिसंक्षेप में कहा ही जा सकता है कि अखण्ड अमेय ब्रह्म तथा अनिर्वचनीयस्वरूपा माया के अनिर्वचनीय ही सम्भेद (परस्पर अध्यास) की कृति है यह विश्व उन दोनों की ही अमेयता, अनिर्देश्यता ("यह ऐसा है"—न कहा जा सकना) समान ही है। स्वयंप्रकाश-रूप ही तत्त्व सभी कुछ का आधार है अवश्य, किन्तु उस रूप में वह कहाँ पकड़ में आ रहा है ? माया द्वारा अनेक प्रकार से नापा जाता हुआ भी वह अमेय है, और उस अमेय को नानाविध माप में लाने वाली माया भी अपने स्वाभाविक स्वरूप में अमेया ही है। अब अमेय "एक" का—अनन्त मेय (दृश्य) मान (दर्शन) माता (द्रष्टा) से भरे जगत् का अधिष्ठान होना, तथा अमेया का उक्त अधिष्ठित की सम्भाविका (स्थिति देने वाली) बनना घटित कैसे होता है ? यह प्रश्न भी पूर्वोक्त प्रश्नों के साथ मिलकर जिज्ञासा को उत्कट बनाता ही है।

इन सब प्रश्नों का उत्तर वेदान्त की ज्ञानमीमांसा में मिल जाता है। तदनुसार पारमार्थिक ज्ञान ही वास्तव में ज्ञान-पदार्थ है, उसके व्यावहारिक रूप—विभिन्न अनुभविताओं को होने वाले विविध प्रकार के कादाचित्क विषयज्ञान-की उपपत्ति के लिये कल्पना की गई है एक उपाधि की, जो विभिन्न जानने वालों व विभिन्न विषयों की अपेक्षा से विभिन्न संख्या वाली होते हुए, अखण्ड नित्य ज्ञान-पदार्थ की खण्डशः अनित्य अभिव्यक्तियाँ कराती हैं, अनुभविता व जगत् की स्थिति रहने पर्यन्त जिस किसी भी स्तर व प्रकार का ज्ञान सम्भव है, उस (ज्ञान) में इस (वृत्तिरूप) उपाधि की नियत अपेक्षा है, अथवा समस्त व्यावहारिक ज्ञानों का अनिवार्य घटक है वृत्ति रूप उपाधि।

इस वृत्ति का स्वरूप है—चिन्मात्र तत्त्व के अविद्या-सन्निधान से निष्पन्न ज्ञाता रूपों (सर्वज्ञ सर्ववित् ईश्वर व अल्पज्ञ जीव) की उपाधियों (माया, अविद्या, अन्तःकरण) का ज्ञानानुकूल ज्ञेयविषयाकार परिणाम, जो कि समस्त सचराचर जगत्-चित्र की भित्ति रूप में सर्वत्र सर्वदा स्थित ब्रह्मचैतन्य (पारमार्थिक ज्ञान-पदार्थ) को "विषयज्ञान" रूप से अभिव्यक्त कराता है, जैसे कि सूर्यकान्त मणि सब ओर सामान्य रूप से व्याप्त होकर सभी को प्रकाशित

करती हुई सूर्यरश्मियों को, किसी एक स्थल पर दाहक (जलाने वाली) रूप में व्यक्त करता है।

जीव के कदाचित्क विषयज्ञान के रहस्य की जिज्ञासा से जिस वृत्तिपदार्थ की कल्पना की गई है, उस पर ध्यान केन्द्रित रख कर उसका स्वरूप-विश्लेषण करने पर दिखाई देता है कि केवल घट-पट आदि विषयों के कदाचित्क ज्ञान की समस्या को सुलझाने में ही वृत्ति-पदार्थ कृत-कृत्य नहीं, अपितु मायावाद के समान ही वृत्तिधारणा भी अद्वैत-वेदान्त के जगद्-व्यवहार के व्याख्यापक सिद्धान्तों की भित्ति है। तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व विलय भी वृत्ति के ही कार्य हैं। ईश्वर जगत्-स्रष्टा है जगद्विषयक ईक्षण करने के कारण। ईक्षण ईश्वर की उपाधि माया का परिणाम होने से वृत्ति ही है, (यह साधारण-सृष्टिवाद का अभिमत है)। जीव को एक ही मानने के पक्ष में उसकी उपाधि द्वारा विषय किये गये ब्रह्मचैतन्य पर अध्यस्त है जगत्, अतः जीव की दृष्टि-निरूपिता ही समस्त सृष्टि है, उस दृष्टि की स्थिति ही सृष्टि की भी स्थिति है। किसी भी प्रकार से जगत् जब तक स्थित है तब तक इसमें चलने वाले, अनुभाव्य के सम्बन्ध रूप ज्ञान का प्रत्येक प्रकार वृत्ति-घटित ही है।

इसके अतिरिक्त, ब्रह्म से लेकर तृण-पर्यन्त जो कुछ भी वर्त्तमान है वह विद्यमान होता (= जाना जाता) है किसी न किसी से सम्बद्ध होकर ही (यह सम्बन्ध व्यक्त हो चाहे न हो)। वृत्ति ही किसी भी स्थितिशील वस्तु को, यहाँ तक कि अमेय असंग वस्तु ब्रह्म को भी किसी सम्बन्ध में लाकर प्रमेयरूपता देती है। शुद्ध चैतन्य को ज्ञप्ति, ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञाता आकारों में लाती है वृत्ति ही। अथवा अखण्ड भान (सभी कुछ के अधिष्ठानभूत चैतन्य या ज्ञान) में विषय-विषयि-भाव उदित होता है वृत्ति की अपेक्षा से ही। जहाँ से वृत्ति उदित होगी वह (ज्ञाता) विषयी है, जहाँ पहुँचेगी व जिसे अपने क्रोड में लाकर अवभास्य बनायेगी वह विषय (ज्ञेय) है, उस वृत्ति पर आरूढ़ होकर चैतन्य विषय को प्रकाशित करेगा वह बोध (ज्ञप्ति) है—इत्यादि।

इस जगत् का व अनुभविताओं के सीमित भाव का विलय भी होता है अखण्ड-ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा ही। अथवा समग्र ब्रह्मचैतन्य के स्वेतर उपाधि से अस्पृष्ट स्वरूप को विषय बनाकर निखिल प्रपंच का प्रविलय करते हुए पारमार्थिक स्थिति के प्रकट होने में साधकतम कारण है वृत्ति ही। इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त-दर्शन के तत्त्वमीमांसा व ज्ञानमीमांसा दोनों पक्षों में वृत्ति-धारणा की महत्ता सम-व्याप्त है।



विट्गेंस्टाइन के अनुसार दर्शन का स्वरूप

देवकीनन्दन द्विवेदी

१. "दर्शन" तथा इसके समानार्थक अन्य शब्दों का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। इन अर्थों में व्याप्त किसी सामान्य प्रत्यय की खोज स्पष्टतः व्यर्थ है। होता यह है कि दर्शन की कोई भी परिभाषा एक विशेष दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार दी जाती है भले ही यह बात प्रथम दृष्टि में स्पष्ट न हो। यह बात वापसमान[1] की तटस्थ लगने वाली परिभाषा के साथ भी कमोवेश रूप से सत्य है। विट्गेंस्टाइन के बिश्लेषण की यह विशेषता है कि उसमें दर्शन की परिभाषा देने का कोई प्रयास नहीं है। इस विषय में विट्गेंस्टाइन का कोई सैद्धांतिक आग्रह नहीं दिखता। यह कहना कि उसके अनुसार दर्शन भाषिक विश्लेषण है, केवल अंशतः सत्य है; और यदि इसे सावधानी से न समझा जाय तो कई भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

सबसे पहले यह बताना उपयोगी होगा कि विट्गेंस्टाइन के दार्शनिक विकास में स्पष्ट रूप से दो अवस्थायें हैं, जिनमें कई महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। किन्तु यह कहना कि इन दो अवस्थाओं में दो विट्गेंस्टाइन हैं, जिनमें कोई साम्य नहीं है, एकदम गलत है। दोनों अवस्थाओं में मूल समस्यायें वही हैं, और उनके समाधान की विधा भी लगभग एक ही है। रसेल[2] का मत कि "ट्रॅक्टेटस" का विट्गेंस्टाइन एक मौलिक विचारक है किन्तु बाद का विट्गेंस्टाइन गंभीर चिन्तन से विमुख हो गया है, निश्चयतः असत्य है। दो अवस्थाओं में उसका सम्बन्ध तर्कशास्त्र की प्रधान समस्याओं से है, और दोनों अवस्थाओं में पारम्परिक दार्शनिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है।

२. विट्गेंस्टाइन कांट की तरह दर्शन को "आलोचना"[3] मानता है। किन्तु यह आलोचना बुद्धि की नहीं, बल्कि भाषा की है। कांट के लिए मुख्य प्रश्न था निर्धारण करना कि मानव-बुद्धि कितना और किस रूप में जान सकती है। विट्गेंस्टाइन ज्ञान-मीमांसा को "मनोविज्ञान का दर्शन"[4] कहता है। बुद्धि की आलोचना किसी न किसी रूप में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। इसलिए विट्गेंस्टाइन भाषा को दार्शनिक विश्लेषण का आधार मानता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं, जैसा कि प्रायः समझा जाता है, कि दर्शन दार्शनिक समस्याओं के रूप में नहीं बल्कि किसी अन्य रूप में भाषा का अध्ययन करता है। भाषा-विश्लेषण की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि जिससे दार्शनिक समस्याओं की सार्थकता का निर्धारण हो सके। वह ट्रॅक्टेटस की प्रस्तावना में कहता है[5]

---

१. वापसमान. एफ., "कन्टेम्पोररी ब्रिटिश फिलासफी",

२. रसेल, बी. "माई फिलसाफिकल डेवलप्मेंट" पृ. २१६–१७

३. ट्रैक्टेटस, ४.००३

४. ,, ,, ४·११२१

५. ,, ,, पृ. २७

(उसका पूरा अर्थ संक्षेप में कुछ इस तरह व्यक्त हो सकता है)—जिसका कथन हो सकता है उसे स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है; और जिस विषय में कथन नहीं हो सकता उसके लिए चुप रहना आवश्यक है।

इसलिए इस पुस्तक में विचारों की, अथवा विचारों की नहीं बल्कि विचारों की अभिव्यक्ति की, सीमा निर्धारित की जायगी।

इस लिए यह सीमा केवल भाषा में खींची जा सकती है और जो सीमा के उस पार है वह निरर्थक है।

अतः ट्रेक्टेटस का एक मुख्य विषय है यह बताना कि किस प्रकार के तर्कवाक्य सार्थक हैं। विट्गेंस्टाइन के अनुसार सभी सार्थक तर्कवाक्य (पुनरुक्ति और व्याघात को छोड़ कर) वास्तविक अथवा संभावित स्थितियों[1] का कथन करते हैं। केवल वर्णनात्मक वाक्यों[2] का ही अर्थ होता है। वे एक विशेष स्थिति के होने अथवा होने का कथन करते हैं। यह कथित अथवा वर्णित स्थिति ही तर्कवाक्य का अर्थ है। किसी अन्य बात का कथन नहीं हो सकता। इस तरह सभी सार्थक भाषायें स्थितियों अथवा तथ्यों का चित्रण करने वाले वाक्यों तक ही सीमित हैं। विचार भी इन तथ्यों तक सीमित हैं क्योंकि "विचार एक सार्थक वाक्य है।"[3] विचार और भाषा की सीमायें एक ही हैं। अतः विचार और भाषा दोनों का विषय स्थितियाँ अथवा तथ्य ही हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो वाक्य किसी तथ्य का चित्रण (या कथन) नहीं करता वह निरर्थक है। उसका कथन निरर्थक है। इस दृष्टि से तथाकथित पारमार्थिक वस्तुओं—ईश्वर, आत्मा के विषय में कोई कथन नहीं हो सकता। मूल्यों—नैतिक एवं सौन्दर्यात्मक का कथन भी अर्थहीन है। केवल प्राकृतिक विज्ञान के तथ्यों का सार्थक कथन हो सकता है। अतः दर्शन के अधिकतर प्रश्न और सिद्धान्त असत्य नहीं, बल्कि निरर्थक हैं। जब ऐसे विवाद उठाये जाते हैं, तो हम केवल कृत्रिम दर्शन में फँस कर रह जाते हैं। तत्त्वशास्त्र, नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अन्य अनुभवातीत विषयों से सम्बद्ध विषय प्रायः ऐसे ही कृत्रिम तथा मिथ्या प्रश्नों पर विवाद करते हैं। केवल उसी विषय का कथन हो सकता है जिसे स्पष्ट रूप से कहा जा सके। अर्थात् केवल वर्णनात्मक भाषा (जो प्राकृतिक तथ्यों का वर्णन करे) ही सार्थक है। इसका यह अर्थ नहीं कि जो अनुभवातीत है वह असत् है, केवल उसका कथन नहीं हो सकता।

यदि सार्थक कथन केवल प्राकृतिक तथ्यों का ही हो सकता है, तो दर्शन में किसी सिद्धान्त का निरूपण नहीं हो सकता। प्राचीन दार्शनिकों के अनुसार दर्शन एक विशेष प्रकार का ज्ञान अथवा ज्ञान की खोज है। यह दार्शनिक ज्ञान पारमार्थिक सत्ता के स्वरूप को व्यक्त

---

१. नोट : "स्थिति" वस्तुओं के क्रमबद्ध संगठन को कहते हैं। "वस्तु" एक, अविभाज्य तत्त्व है जिसे केवल नाम दिया जा सकता है।

२. नोट : यहाँ सुविधा के लिये मैंने "तर्कवाक्य" और "वाक्य" के पारिभाषिक अन्तर पर ध्यान न देते हुए दोनों का लगभग एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।

३. ट्रैक्टेटस, ४।

करता है। कुछ दार्शनिक दर्शन को ज्ञान का विश्लेषण मानते हैं। कुछ आधुनिक दार्शनिक दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करते हैं और दर्शन को एक विशेष प्रकार का संश्लेषात्मक विज्ञान मानते हैं। दर्शन की इन सभी परिभाषाओं में दो कार्यों को मिला दिया गया है—सत्य की खोज और प्रत्ययों का स्पष्टीकरण। प्रथम क्रिया स्पष्टतः सिद्धान्तों का निरूपण करती है, किन्तु द्वितीय केवल अर्थ के स्पष्टीकरण से सम्बन्धित है। पहला कार्य वैज्ञानिक का है और दूसरा दार्शनिक का। वैज्ञानिक केवल सत्य अथवा तथ्य का अन्वेषण करता है। दार्शनिक का कार्य केवल अर्थ का विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण करना है। अतः दर्शन भाषा की आलोचना है। दर्शन सिद्धान्त न होकर एक क्रिया है। दर्शन न तो विशेष प्रकार का विज्ञान है, न विज्ञान के समकक्ष। यह ज्ञान का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी नहीं है। किन्तु दर्शन सभी प्रकार के वाक्यों का उद्देश्यहीन विश्लेषण नहीं है। इसमें प्रयोगों, सन्दर्भों तथा वाक्यों का स्पष्टीकरण किया जाता है जिनका तार्किक रूप न समझने के कारण क्रमिक दार्शनिक विवाद उत्पन्न होते हैं।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि "ट्रैक्टेटस" में विट्गेंस्टाइन का एक मुख्य उद्देश्य दार्शनिक क्रिया का स्वरूप निर्धारित करना था। बाद के लेक्चर नोट तथा "फिलासाफिकल कन्वेस्टीगेशन्स" में भी उसकी प्रधान समस्यायें हैं: दर्शन किस तरह की क्रिया है? एक दार्शनिक समस्या का क्या स्वरूप है? दार्शनिक समस्यायें किस तरह उत्पन्न होती हैं? विट्गेंस्टाइन के विचारों को और अच्छी तरह से जानने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों अवस्थाओं की समता और अन्तर को जान लिया जाय। "ट्रैक्टेटस" में वह मानता है कि दर्शन सिद्धान्त नहीं बल्कि क्रिया है। दर्शन का परिणाम दार्शनिक तर्कवाक्य नहीं बल्कि तर्कवाक्यों का स्पष्टीकरण है। "इन्वेस्टीगेशंस" में वह कहता है कि दार्शनिक सिद्धान्त नहीं होते। कम से कम अपने लिए वह कहता है, "मैं दर्शन में कोई मत नहीं रखता। वह कहता है कि दर्शन किसी प्रकार की व्याख्या नहीं करता, उसमें केवल वर्णन रहता है। दर्शन में समस्याओं का समाधान नई सूचना देने से नहीं बल्कि जो कुछ पहले से ज्ञात है उसे सही क्रम में समझने से होता है।[1] दर्शन में हम कोई निष्कर्ष नहीं निकालते। दर्शन में केवल वही कथन किया जाता है जिसे सभी स्वीकार करते हैं।[2] दर्शन की समस्यायें वैज्ञानिक समस्यायें नहीं हैं। दार्शनिक समस्यायें नए तथ्यों के अभाव के कारण नहीं, भाषा का स्वरूप न समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। भाषा का ऊपरी रूप या उसका साधारण व्याकरण भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है। दार्शनिक समस्यायें भाषाजनित भ्रम पर आधारित हैं। अतः भाषा का स्पष्टीकरण ही दार्शनिक समस्याओं का समाधान कर सकता है:

दर्शन भाषा द्वारा उत्पन्न हमारी बुद्धि के सम्मोहन के विरुद्ध युद्ध है।

फि. इ. सेक्शन १०९

---

१. विज़डम, जे., "लुडविग विट्गेंस्टाइन १९३४-१९३७" माइंड, अप्रैल, १९५९, पृ०२५९
२. फि. इ., सेक्शन १०९
३. फि. इ., सेक्शन ५९९

इस प्रकार दोनों कृतियों में दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति का कारण भाषा के तार्किक स्वरूप को न समझना माना गया है और दोनों स्थानों पर उनका समाधान भाषिक स्पष्टीकरण है। किन्तु भाषा के तार्किक स्वरूप तथा तार्किक स्पष्टीकरण के विषय में दोनों कृतियों में अन्तर है "ट्रैक्टेटस" में विट्गेंस्टाइन ने माना था कि भाषा सरल तर्कवाक्यों का समूह है। यद्यपि साधारण भाषा के वाक्य मिश्रित तथा अस्पष्ट होते हैं, किन्तु उनका तार्किक आकार कलकुलस की तरह शुद्ध और स्पष्ट है। भाषा का बाह्य रूप उसकी आन्तरिक तार्किक रचना को छिपा देता है। दार्शनिक विश्लेषण वाक्यों के तार्किक आकार को अभिव्यक्त करता है। भाषा के स्पष्टीकरण अथवा वाक्यों के विश्लेषण का अर्थ है मिश्र वाक्यों को सरल वाक्यों में इस प्रकार विभाजित करना कि पहले का सत्य-मूल्य सरल वाक्यों के सत्य-मूल्य पर पूर्णतः निर्भर हो। बाद में विट्गेंस्टाइन ने इन दोनों मतों को छोड़ दिया। भाषा कलकुलस नहीं है, उसका प्रच्छन्न रूप है। भाषा की तार्किक रचना समझने के लिए विभक्तात्मक विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। वाक्यों का कोई आन्तरिक आकार नहीं है जिसे दार्शनिक विश्लेषण द्वारा प्रकट किया जाय। भाषा और विश्लेषण का यह स्वरूप कृत्रिम दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित था। "पूर्णतया सरल" और "पूर्णतया सुनिश्चित" केवल दार्शनिक मान्यतायें थी। कोई ऐसा मानदण्ड नहीं है जिसके आधार पर उचित आकार का निर्धारण किया जाय। दार्शनिक का कार्य तर्क-वाक्य का विश्लेषण करना नहीं, अपितु उसे समझना है। और इसको समझने का अर्थ यह जानना नहीं है कि यह वाक्य किस तथ्य का चित्रण करता है, या इसका प्रच्छन्न आकार क्या है। इसे समझने का अर्थ है यह जानना कि यह वाक्य क्या करता है, इसका कार्य क्या है, यह किस उद्देश्य की पूर्ति करता है, और किन भाषिक क्रियाओं में इसका प्रयोग किया जाता है। वाक्य पहले से ही स्पष्ट हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि वाक्यों को गलत समझा जा सकता है। यदि वाक्यों के गलत समझे जाने की संभावना न हो तो दर्शन की आवश्यकता न पड़े।

"ट्रैक्टेटस" के विषय में कुछ आवश्यक बातें और हैं। एक तो यह है कि यद्यपि विट्गेंस्टाइन ने तत्त्व-मीमांसा को अर्थहीन माना. किन्तु "ट्रैक्टेटस" भाषा तथा सत् दोनों के विषय में तात्त्विक सिद्धान्त, परोक्ष रूप से, देता है। जगत् को आणविक तथ्यों तथा भाषा को सरल तर्क वाक्यों का समुदाय मानना और दोनों की तार्किक संरचना को एक मानना किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त से कम शानदार योजना नहीं थी। इसके अतिरिक्त आत्मा, जगत् और दोनों की सीमा, इच्छा, ईश्वर तथा मूल्यों के विषय में विट्गेंस्टाइन के रहस्यात्मक सूत्र जर्मन प्रत्ययवादी दार्शनिकों की परम्परा में ही हैं। दूसरे विट्गेंस्टाइन केवल तथ्य-परक भाषा को ही सार्थक मानते हुए भी एक सम्पूर्ण पुस्तक की रचना करता है जिसकी भाषा उसी के सिद्धान्त के अनुसार अर्थहीन है। इस निष्कर्ष को वह स्वीकार भी करता है। किन्तु इस भाषा का प्रयोग भाषा तथा जगत् की तार्किक संरचना बताने के लिए हुआ है, अतः वह इसे अर्थ हीन होते हुए भी महत्त्वपूर्ण मानता है। इसकी स्थिति सीढ़ी की तरह है जिसकी आवश्यकता चढ़ाई पूरी कर लेने के बाद नहीं पड़ती। यह सब उसके भ्रामक भाषा-सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम था।

४. "इन्वेस्टीगेशंस" तथा अन्य कृतियों में विट्गेंस्टाइन "ट्रैक्टेटस" के दार्शनिक पूर्वा-

ग्रहों से पूर्णतया परिचित है और उनसे मुक्त होने का प्रयास करता है। उसके दर्शन की द्वितीय अवस्था, एक प्रकार से प्रथम अवस्था की प्रतिक्रिया है। भाषा और तर्क का स्वरूप, नियम का प्रयोग, अर्थ का स्वरूप तथा अन्य सभी समस्याओं के विश्लेषण में यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यहाँ हम केवल दार्शनिक समस्याओं के स्वरूप तथा उनकी उत्पत्ति और समाधान तक ही सीमित रहेंगे।

४.१ दार्शनिक समस्या की एक विशेषता जो, उसे अन्य समस्याओं से पृथक करती है, उसकी अस्पष्टता है। उसमें विमूढ़ और भ्रमित करने की शक्ति होती है। दार्शनिक अपनी दार्शनिक मनोदशा में विमूढ़ हुए बिना नहीं रह सकता। जो इस तरह की उलझन महसूस नहीं करता वह समस्या का पूरा रूप समझ नहीं सकता। विट्गेंस्टाइन हमेशा लोगों को यह उलझन महसूस कराना चाहता था, और सुकरात की तरह साधारण स्वीकृत सिद्धान्तों में भ्रान्तियाँ तथा विसंगति निकालता था। यदि कोई व्यक्ति दार्शनिक उलझन में घिर जाता है, तो उसकी दशा बड़ी असहाय हो जाती है। वह कई वैकल्पिक समाधानों का प्रयास करता है, किन्तु व्यर्थ। उसने एक बार माँलकम से कहा था कि दार्शनिक भ्रान्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति उस मनुष्य की तरह है जो एक कमरे से निकलना चाहता है किन्तु निकलना नहीं जानता। यह खिड़की से प्रयास करता है किन्तु वह बहुत ऊँची है। वह चिमनी से निकलना चाहता है किन्तु यह बहुत सँकरी है।[1] एक दूसरी जगह वह कहता है कि दरवाजे की ओर जो सदैव खुला रहता है उसका ध्यान ही नहीं जाता।

यहाँ आप यह कह सकते हैं कि सभी विषयों में ऐसी स्थितियाँ आती हैं। निस्सन्देह अन्यत्र भी ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं, किन्तु नए तथ्यों के प्रकाश में उनका समाधान हो जाता है। यहाँ पर तथ्यों का अज्ञान ही समस्या उत्पन्न करता है। पर दार्शनिक समस्यायें विशेष कर उन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न होती हैं जिनमें नए तथ्यों से कोई मदद नहीं मिल सकती, जिनमें समाधान के लिए नए तथ्यों की आवश्यकता नहीं रहती। हम सभी प्रासंगिक तथ्यों को जानते हैं। उदाहरण के लिए समय सम्बन्धी सभी तथ्य हमें ज्ञात है, फिर भी यह समस्या बनी रहती है कि समय वास्तविक है या नहीं। हम इस पहेली के सभी अंशों को जानते हैं। नहीं जानते तो केवल यह कि वे कैसे एक साथ फिट होते हैं। यहाँ स्पष्ट दृष्टि का अभाव है। दार्शनिक जिस तरह वस्तुओं को देखता है उसी में कुछ गड़बड़ी है। उसकी समस्या वैज्ञानिक नहीं है। वह महज एक भ्रान्ति है जो समस्या के रूप में सामने आती है।[2] उसकी बुद्धि रोगग्रस्त है, और वह संप्रत्ययात्मक रोग से पीड़ित है।

४·२ अब प्रश्न उठता है कि दार्शनिक समस्यायें उत्पन्न कैसे होती है? हमारी बुद्धि क्यों भ्रमित हो जाती है? जो हमें उलझन में डाल देती है? विट्गेंस्टाइन के अनुसार अधिकांश दार्शनिक समस्यायें भाषा सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं से उत्पन्न होती हैं। जिन विभिन्न तरीकों से भाषा हमें भ्रमित करती है उनमें तीन का विशेष महत्त्व हैं। (१) विभिन्न प्रयोगों का समावेश, (२) चित्र (Picture) और (३) शब्दों को वास्तविक सन्दर्भों से अलग रखने की प्रवृत्ति।

---

१. मालकम एन., "लुडविग विट्गेंस्टाइन : ए मेम्वापर" पृ० ५१

२. बी. बी., पृ० ६

विट्गेंस्टाइन कहता है कि "साधारणीकरण की प्रवृत्ति के कारण हम शब्दों के विभिन्न प्रयोगों का एक में ही समावेश कर लेते है।[1] हम यह मान लेते हैं कि शब्दों का एक तरह से ही प्रयोग होता है और सभी वाक्यों का एक ही प्रकार का कार्य है। यह प्रवृत्ति व्याकरण द्वारा और पुष्ट होती है। हम यह भूल जाते हैं कि भाषा के व्याकरणिक रूप उसके विभिन्न कार्यों की अपेक्षा बहुत कम हैं। उदाहरण के लिए, 'विश्वास करना', 'चलना', 'देखना', 'दौड़ना', 'सोचना', क्रियायें हैं, किन्तु इन सबका एक ही प्रयोग नहीं हैं। "क दौड़ रहा है" और "क सोच रहा है" दोनों का व्याकरणिक रूप एक ही है, किन्तु इनके कार्य भिन्न हैं। अर्थात् "दौड़ने" का प्रयोग एक प्रक्रिया के लिए होता है, पर 'सोचने' का प्रयोग किसी प्रक्रिया के लिए नहीं होता। किन्तु व्याकरणिक समरूपता हमें भ्रमित करके इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि सोचना एक प्राइवेट, गुप्त, मानसिक प्रक्रिया है। इसी तरह हम यह मान लेते हैं कि सभी संज्ञा-शब्दों का प्रयोग दृश्य अथवा अदृश्य वस्तुओं के लिए होता है। "दर्द" और "विचार" उसी तरह से वस्तुओं का बोध कराते है जैसे "मेज" और "पेड़"। हम यह भी मान लेते हैं कि सभी वाक्य जिनका ज्ञानात्मक अर्थ है वर्णनात्मक हैं।

दूसरा तरीका पहले से ही सम्बन्धित है। शब्दों के प्रयोग का एक चित्र या रूप हमें मोहित कर देता हैं। व्याकरणिक समरूपता के कारण हम किसी शब्द के एक विशेष प्रयोग को उस प्रकार के शब्दों का मानदण्ड अथवा आदर्श प्रयोग मान लेते हैं। किन्तु मोह अथवा दासता की यह स्थिति व्याकरण तक ही सीमित नहीं है। किसी भी विषय में हम एक विचार या धारणा से इतना प्रभावित हो सकते हैं कि उसके अन्य कार्यों या प्रयोगों को एकदम अस्वीकृत कर दें। उदाहरण के लिए संशयवादी गणित की विधि को आदर्श मानकर उन सभी विषयों पर संशय करता है जिन्हें इस विधि से सिद्ध न किया जा सके। विटगेंस्टाइन इस प्रकार के नमूनों के कई उदाहरण देता है। हम प्रत्यय अथवा धारणा को एक मानसिक वस्तु के रूप में, मन को एक रहस्यात्मक वस्तु अथवा स्थान के रूप में, तथा याद करना, सोचना, आशा करना, समझना इत्यादि को शारीरिक क्रियाओं की भांति मानसिक प्रक्रियाओं के रूप में चित्रित करते हैं। उसके अनुसार दार्शनिक समस्याओं पर विचार करते समय हम एक विशेष चित्र से प्रभावित रहते हैं, और एक आदर्श हमें भ्रमित करता रहता है। दार्शनिक अपने ही चित्रों अथवा नमूनों का बन्दी है।

यहाँ एक चेतावनी आवश्यक है। 'चित्र' का यह अर्थ नहीं कि वह सदैव सचेत और निश्चित हो। इतना ही पर्याप्त है कि हम किसी विषय में एक विशेष प्रकार से या एक विशेष नमूने के अनुसार सोचते हैं और कहते हैं। हम केवल उन्हीं स्थितियों पर ध्यान देते है जो हमें रुचिकर लगती हैं।

तीसरे, दार्शनिक समस्यायें तब उत्पन्न होती हैं जब हम शब्दों को वास्तविक संदर्भों से निकाल कर उन पर अलग से विचार करते हैं। दार्शनिक चिंतन करते समय हम किसी शब्द के वास्तविक प्रयोगों पर ध्यान नहीं देते, केवल चिंतन द्वारा उसके कार्य का निर्धारण

---

१. वही पृ. १४-१८

करते हैं। इस प्रकार हम एक आदर्श स्थापित करते हैं और उसे वास्तविक भाषा पर आरोपित कर देते हैं। उदाहरण के लिए, 'सत्' (real) के स्वरूप पर विचार करते समय मूर 'रियल' शब्द के विभिन्न प्रयोगों पर विचार न करके वह पूछता है कि वह कौन सा गुण है जो उन सभी वस्तुओं में है जिन्हें हम रियल कहते हैं। किन्तु यदि हम विभिन्न प्रयोगों को देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा कोई गुण नहीं है। 'रियल' शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार की विशेषताओं, दोषों, विचलनों और व्यक्तिक्रमों को अलग करने के लिए होता है, किसी सामान्य गुण का कथन करने के लिए नहीं। और हम क्या अलग करना चाहते हैं, क्या अन्तर बताना चाहते हैं, यह विशेष सन्दर्भ से जान सकते हैं। जो बात 'रियल' के लिए सत्य है वही अधिकतर शब्दों के लिए भी सत्य है जिनका दर्शन में महत्त्व है। साधारण मनुष्य, और दार्शनिक भी जब वे दार्शनिक चिंतन न कर रहे हों, इन शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग करते हैं और किसी प्रकार की उलझन में नहीं पड़ते। किन्तु दार्शनिक चिंतन करते समय कोई एक रूप हम पर हावी हो जाता है और हम उलझन में फँस जाते हैं।

विट्गेंस्टाइन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अधिकांश दार्शनिक समस्यायें वास्तविक समस्यायें नहीं हैं। तथाकथित दार्शनिक समस्यायें केवल भ्रांत धारणायें हैं जो भाषा के तार्किक रूप को ठीक-ठीक न समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। किन्तु इससे यह न समझा जाय कि उसके अनुसार दार्शनिक समस्यायें तुच्छ हैं या वे किसी साधारण अर्थ में भ्रान्त हैं। ऐसा नहीं है कि वे भ्रांत धारणायें केवल किसी सामान्य बुद्धि वाले मनुष्य की त्रुटियाँ हैं। ऐसी त्रुटियाँ भाषा के रूप से ही उत्पन्न होती हैं। इन मिथ्या धारणाओं का स्रोत भाषा ही है। भाषा ही हमें हतबुद्धि कर देती हैं। और ये भ्रान्तियाँ हमारे सोचने की आदतों में इतनी घुली मिली रहती हैं कि हम उन्हें साधारणतया जान भी नहीं पाते।

अब प्रश्न यह है कि इन समस्याओं का समाधान क्या है? हमने यह देख लिया है कि विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक चिन्तन करते समय भाषा हमें फांस लेती है। अतः एक वास्तविक दर्शन का कार्य है हमें भाषा के जाल से निकलने में सहायता करना। किसी दार्शनिक समस्या का समाधान यह जानने में है कि क्यों और कैसे भाषा को गलत समझा गया। दार्शनिक समस्या एक संप्रत्ययात्मक बीमारी का लक्षण है और दार्शनिक का कार्य इसके कारण का पता लगाना है। इसके लिए हमें दर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण शब्दों के वास्तविक प्रयोगों को देखना चाहिए।

जब दार्शनिक किसी शब्द, "ज्ञान" "सत्", "वस्तु", "मैं", "तर्क वाक्य", "नाम"—का प्रयोग करते हैं और वस्तु का सार रूप जानना चाहते हैं तो अपने आप से यह पूँछना आवश्यक है : क्या इस शब्द का प्रयोग कभी भी इस रूप में उस भाषा क्षेत्र में होता है जो इसका मूल घर है?—हम शब्दों को उनके तत्वशास्त्रीय प्रयोगों से वापस दैनिक प्रयोगों पर लाते हैं।

—फि. इ., सेक्शन ११६

यहाँ एक चेतावनी आवश्यक है। कोई यह समझ सकता है कि दार्शनिक का कार्य केवल एक कोशकार का कार्य है। अर्थात् केवल शब्द के विभिन्न प्रयोगों को बिना किसी क्रम

के इकट्ठा कर देना। किन्तु दर्शन में किसी जटिल शब्द के विभिन्न प्रयोगों को इस तरह रखा जाता है जिससे एक विशेष समस्या का समाधान किया जा सके।

जैसा कि विट्गेंस्टाइन से आशा की जा सकती है, वह इस कार्य के लिए किसी एक विधि का प्रयोग सभी समस्याओं के समाधान के लिए नहीं करता। प्रत्येक समस्या का अपना अलग स्वभाव है और इसी रूप में उसका अध्ययन होना चाहिए। कोई सामान्य विधि नहीं है :

एक दार्शनिक विधि नहीं है, यद्यपि विभिन्न चिकित्साओं की तरह विभिन्न विधियाँ हैं। फि.इ.,से. १३५

किन्तु इन विधियों के द्वारा विट्गेंस्टाइन का उद्देश्य संप्रत्ययात्मक स्पष्टीकरण प्राप्त करना है। यह जटिल शब्दों के विभिन्न वास्तविक एवं संभावित प्रयोगों का अध्ययन करने से हो सकता है। इसके लिए कुशलता एवं कल्पनाशील अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। केवल प्रयोगों को इकट्ठा कर देने से कोई लाभ नहीं। दार्शनिक विश्लेषण मात्र भाषिक विश्लेषण नहीं है। इसका सम्बन्ध दार्शनिक समस्याओं के समाधान से है। और यह शब्दों के विभिन्न प्रयोगों का क्रमबद्ध अध्ययन करने से सम्भव है। यहाँ विट्गेंस्टाइन कुछ सहायक विधियाँ बताता है, जैसे "मध्यवर्ती प्रयोगों का पता लगाना और निर्माण करना," और "मूल भाषा खेलों का पता लगाना" (या कल्पना करना)। दार्शनिक दृष्टि से जटिल शब्द के कई प्रयोग होते हैं। हमें उनके बीच का सम्बन्ध, जो सदैव स्पष्ट नहीं होता, जानना चाहिए। शब्दों का कार्य जानने की एक अन्य विधि है किसी शब्द का उससे सम्बन्धित अन्य शब्दों से साम्य तथा वैषम्य का अध्ययन करना।

इन सभी विधियों में दर्शन वर्णनात्मक ही रहता है। वह किसी चीज की व्याख्या नहीं करता।[1] यही नहीं दर्शन शब्दों के वास्तविक प्रयोगों में कोई परिवर्तन नहीं करता, वह केवल उनका वर्णन करता है। वह हर चीज को वह जिस रूप में है हमारे समक्ष रख देता है। कुछ भी गुप्त नहीं है जिसकी व्याख्या करनी हो। जो गुप्त है दर्शन में उसका महत्त्व नहीं। किन्तु वर्णन न तो निरुद्देश्य है, न क्रमहीन।

दार्शनिक समस्यायें वैज्ञानिक अथवा तथ्यात्मक नहीं है, अतः दर्शन वर्णनात्मक है न कि व्याख्यात्मक। शब्दों के प्रयोगों का स्पष्ट रूप ज्ञात हो जाने पर समस्यायें विलीन हो जाती है। दार्शनिक चिंतन का उद्देश्य पूर्ण स्पष्टता है इससे समस्या का समाधान नहीं होता, क्यों कि वास्तविक समस्या है ही नहीं। समस्या ही नहीं रह जाती।[2] विट्गेंस्टाइन कहता है कि दार्शनिक बोतल में बन्द मक्खी की तरह है—निकलने का रास्ता न पाकर बार-बार एक वंद दायरे में घूमता हुआ। उसे यह समझ में ही नहीं आता कि दरवाजा सदा खुला है। अतः उसके अनुसार वास्तविक दार्शनिक चिंतन मुक्ति (भ्रांति-निराकरण) प्रद है :

दर्शन में तुम्हारा उद्देश्य क्या है ?—मक्खी को बोतल से निकलने का रास्ता दिखाना। फि. इ., से. ३०९

---

१. फि. इ., से. १०९

२. फि. इ., से. १३३

क्या उसका दर्शन मात्र निषेध नहीं है ? वह स्वयं इस आक्षेप की कल्पना करता है और कहता है :

हम जिसका निषेध कर रहे हैं वह कार्ड के घर के सिवा और कुछ नहीं है, और हम भाषा की वह भूमि साफ कर रहे हैं जिस पर वे खड़े हैं ।

उपरोक्त विवरण से दो प्रश्न मुख्य रूप से उभर कर सामने आते हैं । क्या साधारण भाषा पूर्णतया उपयुक्त हैं ? और, क्या दार्शनिक का कार्य केवल निषेधात्मक है ? बहुत से दार्शनिक यह कहते हैं कि विट्गेंस्टाइन ने साधारण भाषा को पवित्र माना हैं और उसके साथ किसी परिवर्तन को अशुद्ध प्रयोग कहा है । उसके सिद्धांत में भाषा के विकास की कोई संभावना नहीं है । किन्तु ऐसे दार्शनिक यह भूल जाते हैं कि विट्गेंस्टाइन विशेष प्रयोजनों के लिये भ्रांतियों के निराकरण के लिये तथा नए तथ्यों के लिये साधारण भाषा में परिवर्तन स्वीकार करता है ।[1] वह केवल दार्शनिक द्वारा असाधारण प्रयोगों का विरोध करता है सभी शब्दों का चाहे वे सामान्य हों चाहे विशेष (टेक्निकल) वास्तविक संदर्भों में प्रयोग ही सार्थक है । उनका असाधारण प्रयोग भ्रांतियों को ही जन्म देता है । दूसरे प्रश्न के विषय में यह कहा जाता है कि विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्यायें केवल भाषा के सम्बन्ध में है, और वे पूर्णतया तुच्छ और अर्थहीन हैं । ये दोनों बातें गलत हैं ।

विटगेंस्टाइन यह नहीं कहता कि दार्शनिक समस्यायें भाषा के विषय में हैं । यद्यपि अधिकांश दार्शनिक समस्यायें भाषा से ही उत्पन्न होती है । किन्तु उनका विषय ज्ञान, स्मृति सत्य, देश, काल, प्रत्यक्ष संवेदना, समझ, अभिप्राय तथा अन्य दार्शनिक समस्यायें हैं । यह बहुत बड़ी भूल है कि विट्गेंस्टाइन की रुचि केवल भाषा में है, तथ्यों में नहीं । किन्तु दार्शनिक का संबंध तथ्यों से उसी रूप में नहीं होता जिस रूप में बैज्ञानिक का होता है । इसी प्रकार जब वह दार्शनिक समस्याओं को बौद्धिक बीमारी, कार्ड का घर तथा अर्थहीन कहता है तो वह उन्हें व्यर्थ अथवा तुच्छ नहीं मानता । यद्यपि ये समस्यायें भाषा के अशुद्ध प्रयोग से उत्पन्न होती है, किन्तु उनमें एक प्रकार की गहराई होती है । उनमें गम्भीर असंतोष व्यक्त होता है, और उनका वही महत्त्व है जो भाषा का[2] । यदि दार्शनिक समस्यायें अस्पष्ट तथा भ्रांत होती है तो दार्शनिक चिंतन के पश्चात् हमें चीजों को देखने की सही दृष्टि प्राप्त होती है । दर्शन कोई सूचना नहीं देता, न कोई सिद्धांत, किन्तु उससे हमारी भ्रांति दूर होती है, ओर हम वस्तुओं को उनके सही परिप्रेदय में समझ सकते हैं । ५·२ किन्तु त्रिटगेंस्टाइन को विश्लेषण में एक कमी अवश्य है । उसके अनुसार दर्शन अत्यधिक निषेधात्मक है । उसमें केवल विशेष समस्याओं के समाधान अथवा समाप्ति का व्यवधान है । किन्तु एक विशेष विषय से सम्बन्धित सभी समस्याओं के आन्तरिक संबंधों को व्यक्त करते हुए वर्णनात्मक दर्शन भी सम्भव है । विभिन्न समस्याओं का अलग-अलग विश्लेषण करने के साथ-साथ उनका क्रमबद्ध अध्ययन भी आवश्यक है । इस ओर आक्सफोर्ड दार्शनिकों ने ध्यान दिया है और विटगेंस्टाइन के दर्शन को आगे बढ़ाया है ।

---

१. कि. इ., से. १३२

२. कि. इ., से १११

युगलावतार श्री चैतन्य : एक विश्लेषण

तपेश्वरनाथ

१६ वीं शदी के वैष्णवाचार्यों में माधुर्य भावी उपासना की दृष्टि से बंगाल के महाप्रभु चैतन्यदेव का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वे भगवान श्रीकृष्ण की प्रेम-माधुरी के उन्मत्त गायक और राधा-माधव की शृंगार-लीला के रमता संकीर्त्तनकार थे। यद्यपि उन्होंने अपने नाम से किसी विशिष्ट पंथ या सम्प्रदाय का सुचिन्तित प्रवर्त्तन नहीं किया किन्तु अपने चरित्र में विलक्षण सम्मोहन रखने के कारण वह जिधर ही गये उनके चारों ओर वैष्णव भक्तों की भावुक मण्डली बनती गयी। महाप्रभु के जीवनकाल में ही उनकी भावुकतापूर्ण लीला-भक्ति को लेकर बंगाल से लेकर वृन्दावन तक एक विशिष्ट संकीर्त्तन पंथी दल का व्यापक वितान तन गया। सैकड़ों भक्त उनके अनुयायी बन गये। इनमें रूप, जीव, सनातन गोस्वामी, नित्यानन्द, कृष्णदास कविराज, गोपाल भट्ट, गदाधर भट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें रूप-गोस्वामी ने प्रथमबार अपने दो ग्रंथ-'भक्ति रसामृतसिन्धु' तथा 'उज्जवल-नीलमणि' में अपनी विलक्षण प्रतिभा से भक्तिरस को शास्त्रीय पृष्ठाधार प्रदानकर कृष्ण को रस-राट् सिद्ध कर दिया। कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्य-चरितामृत' में महाप्रभु के भ्रमणशील जीवन की सम्पूर्ण मधुर झाँकी प्रस्तुत की। यह एक ओर जहाँ जीवनी-साहित्य है वहाँ दूसरी ओर गौड़ीय वैष्णवों के भक्ति-सिद्धान्तों का तत्त्व-कल्पतरु भी। चैतन्य-मत के रस-सिद्ध हिन्दी कवियों की भी एक समृद्ध परम्परा है जिसमें भक्तियुग के गदाधर भट्ट से लेकर आधुनिक युग के श्री कृष्ण चैतन्य[1] तक सैकड़ों कवि समाविष्ट रहें हैं। इस प्रकार, चैतन्यदेव को सम्पूर्ण साधना और उसके विलक्षण प्रसार पर दृक्पात करने पर यह प्रतिभासित हुए विना नहीं रहता कि अवतार वादी चारित्र्य, शास्त्रीय गरिमा और कवित्व—इन त्रिविध आयामों पर उनकी-युगल - मूर्ति राधा-कृष्ण की मधुरोपासना पूर्णतः श्रेयस्कर सिद्ध हुई।

चैतन्य का व्यक्तित्व मध्ययुग के अन्य सभी वैष्णव साधकों की अपेक्षा विलक्षण था। इनका जन्म सन् १४८५ में बंगाल के नदिया जिले में शान्तिपुर नामक स्थान में हुआ था। इनके जन्म का नाम विश्वभर था। यही बाद में अपने अनुयायियों द्वारा कृष्ण-चैतन्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। अत्यन्त गौरवर्ण के उज्जल पुरुष होने के कारण इन्हें गौराङ्ग महाप्रभु के रूप में भी स्मरण किया जाता है। इन्होंने १८ वर्ष की उम्र में लक्ष्मी देवी से विवाह कर गार्हस्थ जीवन में प्रवेश किया। अल्पायु में ही इन्होंने समस्त शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली दुर्भाग्यवश लक्ष्मीदेवी के आसामयिक निधन से इन्हें दूसरा विवाह करना पड़ा। किन्तु, लक्ष्मी वियोग से चिर दग्ध चित्त में लोकानुरक्ति का बिरवा पुनः पनप न सका। इसी वियुक्त चित्त से जब वह पितरों के पिण्डदान हेतु गया (विष्णुपद) आये तो ईश्वरपुरी नामक एक प्रसिद्ध

---

१. द्रष्टव्य–'चैतन्य मत और ब्रज-साहित्य'–श्री प्रभुदयाल मीतल, हिन्दी संस्थान, मथुरा

वैष्णव सन्त के प्रभाव से उनके हृदय में पूरी विरक्ति जग पड़ी[1] और वे कालान्तर में घर-वार छोड़कर संन्यासी बन गये।[2] हरि-नाम संकीर्त्तन ही इनके संन्यासी जीवन का एकमात्र आधार बन गया। ये इसी मधुर संकीर्त्तन में सुधि-बुधि खोकर रमण करते रहे। निरन्तर कृष्ण नाम का गान ही इनका पावन मंत्र[3] था जो नवद्वीप में प्रस्फुटित होकर जगन्नाथ पुरी से वृन्दावन तक प्रसरित हो गया।

इन्होंने भारत के सभी प्रमुख तीर्थों का भ्रमण किया। इनमें दक्षिण देश की यात्रा का विशेष महत्त्व है। क्योंकि, भारतीय भाषाओं में कदाचित् सर्व प्रथम तमिल साहित्य (आल्वार प्रबन्धन्) में ही राधा-कृष्ण ('नविन्नईकण्णन') की मधुरोपासना का प्रचार-प्रसार हुआ। महाप्रभु तमिल प्रदेश के प्रायः सभी वैष्णव क्षेत्रों में घूमे।[4] बहुत संभव है कि इस यात्रा में वे भावुक भक्तकवि आल्वारों की रचनाओं से परिचित और प्रभावित हुए हों।[5] इस यात्रा के अनन्तर उनके जीवन में एक विशेष उल्लास दृष्टिगोचर होता है। इसी यात्रा में इनका उत्कल देश के प्रसिद्ध विद्वान् (तथा राजमन्त्री) राय रामानन्द से साक्षात्कार हुआ था। गोदा तट पर यह दो वैष्णव भक्तों का एक अद्भुत मिलन था। इसका विस्तृत विवरण कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृत'—मध्यलीला में मिलता है। चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति-रहस्य के संबंध में जो स्फुट जिज्ञासा की, राय रामानन्द ने कहीं संक्षेप और कहीं विस्तार से उत्तर दिये।

महाप्रभु ने पूछा—'हे विद्वन् ! तुम भक्ति किसे कहते हो ?'
राय रामानन्द—'स्वधर्माचरण ही भक्ति है।'

परन्तु, महाप्रभु को इससे सन्तोष न हुआ। वह हर बार पूछते गये—' ए हो बाह्य, आगे कह आर' (अर्थात् यह भी बाह्य है; कुछ और आगे कहो)। क्रमशः कृष्णार्पण, शरणागति, प्रेमा, दास्य, सख्य, कान्ता-प्रेम के भी आगे प्रश्न करने पर राय रामानन्द राधा-प्रेम को सर्वश्रेष्ठ बतलाकर चुप हो गये—

प्रभु कहे—एक साध्यावधि सुनिश्चय
कृपा करि कह यदि आगे किछु हय।
राय कहे—इहार आगे पुछे हेत जने
एतो दिन नाहि जानि आछये भुवने।
इहार मध्ये राधार प्रेम साध्य शिरोमणि
यांहार महिमा सर्वशास्त्रेते बाखानि ॥ ८/९६-९८

---

1. Dr. S, K. De—'Early Hitory of the Vaisnava Faith's Movement in Bengal, P. 76
2. Prof. Sukumar sen–A Hiofory of Brajbuli literature, P. 12
3, Dr. S. K. De–E. H. V. F. M. B. P. 78-80 (Life & Personality of Chaitanya')
4. त्रितब्द भिक्षु-भक्ति प्रदीप तीर्थ, पृ० ७९
5, D. N. Gauguli–'The life of Shree Gauranga, P. 45

कान्ताभाव के आगे चैतन्य की जिज्ञासा पर रामानन्द को विस्मय हुआ इसके आगे पूछने वाला जन संसार में कोई है, ऐसा तो वे इतने दिनों से नहीं जानते थे। कान्ता - प्रेम की साधना में राधा-प्रेम ही चरम साध्य है। इस पर महाप्रभु ने गद्गद् चित्त से कहा–' हाँ, राधाभाव ही श्रेष्ठ है, परन्तु प्रमाण क्या है ?' डॉ. द्विवेदी के शब्दों में—[१] यह लक्ष्य करने की बात है कि महाप्रभु ने केवल अन्तिम बात के लिए प्रमाण माँगा था। पहले जितनी बातें बतायी गयी हैं....वे अतिपरिचित हैं। प्रथम कहे गए सभी मत गीता और श्रीमद्‌भागवत में मिल जाते हैं। परन्तु गीता या भागवत में राधा की चर्चा नही हैं।....राय रामानन्द ने इसके प्रमाण में, 'गीत गोविन्द' का मत उद्‌धृत किया जिसमें बताया गया है कि भगवान् श्री कृष्ण ने राधा को हृदय में धारण करके अन्यान्य ब्रज-सुन्दरियों को त्याग दिया था।[२]

इस प्रसंग से स्पष्टतः दो बातें सामने आती हैं। पहली यह कि राय रामानन्द को यदि राधा-भाव की भक्ति का प्रेरक व्याख्याता मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। दूसरी बात यह कि दक्षिण में राधा-भाव की उपासना पहले ही पनप चुकी थी, जो परवर्ती युग में (निम्बार्कमत से होते हुए) चैतन्यादि मतों में गृहीत और प्रचलित हुई।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त चैतन्यमत को प्रभावित करने वाले कुछ तथ्य ये हैं—

(१) महाप्रभु का दक्षिण के आल्वार भक्तों की मधुर कृतियों से परिचय।

(२) ११ वीं-१२ वीं शतीय लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत'[3] और जय देव के 'गीत गोविन्द' का व्यापक प्रभाव

(३) राय रामानन्द के राधा-कृष्ण युगल प्रेम[४] का चैतन्य-मत पर प्रभाव।

(४) राय रामानन्द से मिलनोपरान्त महाप्रभु का लक्षणीय भावान्तर।

(५) निष्कर्षतः दक्षिण की राधा-कृष्ण माधुर्य-भक्ति का रस-संचार उत्तरापथ में चैतन्य महाप्रभु द्वारा उत्कल देश के माध्यम से हुआ, जहाँ के धार्मिक वातावरण में (विशेषतः जगन्नाथ मन्दिर में) जयदेव के गीत-गोविन्द का पवित्र स्वर पहले से गूँज रहा था।[५] उनके दिव्य भावान्तरण पर दाक्षिणात्य भ्रमण तथा वैष्णव गोष्ठियों का विशेष महत्त्व है। विशेषतः राय रामानन्द से हुई गोष्ठी पूर्ण लाभप्रद रही। वैसे, चैतन्य भी इस युगलवाद से परिचित थे, इसका प्रमाण है। राय रामानन्द ने इसी ओर लक्ष्य करते हुए चैतन्य से स्पष्ट कहा था—

अभिनट तूमि सूत्रधार

ये मत नाचाओ ते मत चाहि नाचिवार। (चै० च०, मध्य०) अतः महाप्रभु के नीलाचल (उत्कल) में अवस्थान काल से पूर्व ही यह भाव-धारा इस क्षेत्र में प्रवाहित हो रही

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधनका, पृ० १४४-१४५

२. गीतगोविन्द—३/१—कंसारिरपि संसारवासनाबद्धश्रृंखलाम्।
राधामाधाय हृदये तत्याज ब्रजसुन्दरीः॥

३ महाप्रभु द्वारा दक्षिण से लायी गयी दो पाण्डुलिपियों में से एक यह भी है।

४. रामानन्द रचित राधाकृष्ण-प्रेम-परक संस्कृत नाटक 'जगन्नाथ-वल्लभ' द्रष्टव्य

५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-१८, अंक-१ (जयदेव और उनका गीतगोबिन्द-पं० शिवदत्त शर्मा)

थी। चैतन्यदेव ने पूर्वी और सुदूर उत्तर पश्चिमी भारतीय अंचल में इस प्रवाह को अपने मधुर व्यक्तित्व से और भी प्रखर वेग प्रदान कर दिया।

चैतन्यदेव का संन्यास भी निराला ही था। उसमें विधि-निषेध और कर्मकाण्ड का कोई व्यवधान नहीं था। निरन्तर राधाभाव की महादशा में आत्मप्रक्षेपण (सेल्फ-प्रोजेक्शन) और हरिनाम संकीर्तन की दिव्य माधुरी से उनका बहिरन्तर पूरी तरह सराबोर हो चुका था।[५]

चैतन्य वल्लभाचार्य के समसामयिक थे। इन दोनों का साक्षात्कार भी विद्वानों को प्रायः मान्य है। तदनुसार 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुशीलन से ऐसा विदित होता है कि वल्लभाचार्य ने सन् १५१८ ई० (सं० १५७५) के आस-पास अपनी पुरी-यात्रा में महाप्रभु से साक्षात्कार किया था। और, वे चैतन्यदेव की युगलोपासना से प्रभावित भी हुए थे। तथापि चैतन्य की भावुकता की अपेक्षा वल्लभाचार्य में गांभीर्य प्रबल था। कृष्ण-प्रेम में तन्मयता, मुक्तता और खुलावा होने के कारण ही चैतन्य का संन्यासी संस्कार शंकराचार्य की तरह बौद्धिक और वल्लभाचार्य की तरह साम्प्रदायिक न था। वल्लभाचार्य की वैष्णवता प्रबन्धात्मक थी। उसके मूल में भागवत की भक्ति भावना कार्यरत थी। इसके प्रतिकूल, चैतन्य देव का चरित्र था—पूर्ण मुक्त और रसपेशल, उसके मूल में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और राधा-कृष्ण पदावली साहित्य की तरलता काम करती थी। इन दो महान् विभूतियों का चारित्रिक अन्तर मध्ययुग की कृष्ण-भावना को समझने का सर्वाधिक विश्वस्त सांस्कृतिक आधार है। वल्लभाचार्य मूलतः बालकृष्ण के उपासक भक्त थे। गोपियों की प्रेम-लक्षणा भक्ति का समावेश उन्होंने भागवत के अतिरिक्त चैतन्य-मत और चरित्र से भी प्रभावित होकर किया, अधिकांश पंडितों[१] का ऐसा ही विश्वास है। इस तरह दक्षिण के पेरियाल्वार(विष्णुचित्त) से मध्यदेश के वल्लभाचार्य और उनके प्रतिनिधि शिष्य सूरदास तक बालकृष्ण की भक्ति का यात्रा-वृत्त पूरा हो जाता है। इस यात्रा-वृत्त के दो मार्गों की यदि कल्पना करें तो चैतन्यदेव ही पूर्वी (संचार) वृत्त के प्रबल संवाहक सिद्ध होते हैं। आण्डाल से मीराँ तक—पश्चिमी (संचार) वृत्त का उल्लेख स्वयं भागवत-माहात्म्य के "उत्पन्ना द्राविड़े....." (१/४८) वाले सूत्र में हो गया है। इसके साथ रामानुज का भी यथेष्ट योग था जिन्हे दक्षिण में 'तिरूप्पावै जीयर' (आण्डाल की माधुर्य पूर्ण कृति 'तिरूप्पावै' के पदों में अहर्निशि रस मग्न रहने वाले) और उत्तर में मध्य युगीन भक्ति-आन्दोलन का पुरोधा कहलाने का द्विविध श्रेय प्राप्त है।

चैतन्य अपने अवतार-स्वरूप में श्रीकृष्ण और उनकी लीला-सहचरी राधा देवी की समन्वित प्रतिमूर्ति थे। उनका अन्तरंग कृष्णमय और बहिरंग राधामय था। गौड़िय वैष्णव

---

५. Prof. S. sen-H, B. B. L, P. 14—'....the Radha Krishna legend... is a grand nallegody of the...eternal relalion between man & god. has been proved by the life of Chaitanya himself.

१. (i) Dr. S. Sen-A History of Braj Buli Literature, P. 379
(ii) डॉ० दीनदयालु गुप्त-अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, पृ० ५२८
(iii) श्री प्रभुदयाल मीतल—'ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद', पृ० ४८

की मान्यता में 'वृन्दावन-नागर' कृष्ण ही 'नदिया-नागर' चैतन्य रूप में अवतरित हुए थे।[1] कृष्ण के रूप में ही उन्होंने कृष्ण-प्रेयसी राधा की उज्ज्वल कान्ति पायी थी। इसीलिए उन्हें 'अन्तः कृष्ण बहिर्गोर' भी कहा जाता है। इस राग-रंग का राज स्वयं भागवत में ही प्रच्छन्न है।[2] इसी भाव के आधार पर रूप गोस्वामी ने अपने 'कड़चा' में 'राधाभावद्युतिसंवलित साक्षात् कृष्ण-स्वरूपी चैतन्य' की वन्दना की है—

चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयं चैक्यमाप्तं।
राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्ण-स्वरूपम्॥

इस अवतरित स्वरूप की प्राप्ति के लिये उन्हें चिरन्तन भाव-योग करना पड़ा था। उनके इस योग के चारों ओर भागवत और ब्रह्मवैवर्त की मधुर लीला, लीलाशुक और जयदेव के श्रृंगारिक श्लोक, कवीन्द्रवचन-समुच्चय और सदुक्ति कर्णामृत के 'असती ब्रज्या' के पद्य विद्यापति और चण्डीदास की मिलन-विरह जन्य पदावली-सब पंचाग्नि का काम दे रही थीं। महाप्रभु के दिव्यचरित का निर्माण इन्हीं तानों-बानों से हुआ था। यह कोई विस्मय की बात नहीं। वैष्णव भक्तों के विश्वास में मध्ययुग का प्रत्येक आचार्य अवश्य ही कृष्ण या कृष्ण के किसी-न-किसी परिकर का अवतरित स्वरूप है।[3] सो, चैतन्य भी राधा कृष्ण के युगल अवतार मान्य थे।[4] राय रामानन्द को उन्होंने अपना यही युगल स्वरूप दर्शाया था—

तबे हासि तारे प्रभु देखाल स्वरूप
रसराज महाभाव दुइ एक रूप॥ (चै० च०, मध्य, अष्टमपरिच्छेद)

बंगाली विद्वानों ने उक्त धारणा में अपना गंभीर प्रत्यय प्रकट किया है।[5]—

"....The life-story of Gauranga (Chaitanya Deva) who was & is believed to be an incarnation of Radha & Krishna in Union."

चैतन्यावतार की कल्पना में राधा-कृष्ण युगल अवतार की भावना स्वयमेव अन्तर्निहित है। उनके इस युगल स्वरूप के निर्माण में तात्कालीन बंग संस्कृति और साधना का हाथ था। चैतन्य-पूर्व पूर्वी प्रदेश बौद्ध धर्म की तांत्रिक प्रवृत्तियों से आछन्न था। इसमें शाक्ततंत्र की साधना के समानान्तर सहज मत में 'युगनद्ध' (आलिंगन-बद्ध स्त्री पुरुष) की कल्पना का विकास हुआ। बंगाल में शिव और शक्ति के समानान्तर राधा और कृष्ण की सम्मिलित प्रतिमूर्ति का प्रचार १२वीं से १४वीं शती के बीच शनैः शनैः होता दिखाई पड़ता है। ब्रह्मवैवर्त में राधा के साथ कृष्ण का प्रथम प्राकट्य इसी रूप में निर्दिष्ट है।[6] विद्यापति-पदावली में

---

१. श्री राधा का क्रम-विकास—डॉ० शशि भूषण दास गुप्ता (पृ० २४२)

२. श्रीमद् भागवत-११/५/२९ ('कृष्णवर्णंत्विषाकृष्णं···')

३. वल्लभाचार्य—अग्नि + कृष्ण—'सम्प्रदायप्रदीप'–५९ { विट्ठलनाथ-कृष्ण, गोपीनाथ-बलराम }
हितहरिवंश-वंशी-'हित चरित्र'
चौरासी वैष्णव बन की वार्ता, पृ० १९१,४७८

४. चैतन्य—राधा + कृष्ण—चैतन्य चरितामृत, आदि लीला।

५. (i) Prof. S. Sen-H. B, B. L, P. 16
(ii) Dr. S. K. De-E. H. V. F. M. B., P. 229-"....they regard Chaitanya as both Krisna&Radha in one Perdonality".

६. ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्म खण्ड, अध्याय-६

भी एकाध स्थल पर इसी बिम्ब का विधान हुआ है। चैतन्य-चरित्र में भी यही भाव प्रकटित हैं। किन्तु तीनों में भाव-साम्य के अतिरिक्त रूपगत सूक्ष्म अन्तर भी है। युगनद्ध रूप में स्त्री-पुरुष पूर्ण आलिंगन-बद्ध हैं, अर्द्धनारीश्वर रूप में दोनों आधे आधे हैं, चैतन्य-स्वरूप में ये दोनों अन्तर्बाह्य हैं। युग्म की प्रेम अद्वैतता तीनों में अभीष्ट है। राधा-कृष्ण युगल मूर्ति में भी यही अन्तरंग सम्बंध है। अतः चैतन्य चरित में राधाकृष्ण युगल चरित्र पूर्णतः प्रतिबिम्बित है। और, इसे देखते हुए यह निस्संकोच स्वीकार करना पड़ता है कि १६वीं शती की वैष्णव-साधना और कृष्ण-भक्ति-काव्य में युगलावतार के रसात्मक प्रवेश का श्रेय चैतन्यावतार को ही है। यदि चैतन्य का अवतरण न हुआ होता तो ब्रज का कृष्ण-काव्य राधा-कृष्ण-काव्य न होता।

मध्य देश में भागवतीय कृष्ण-भक्ति धारा के प्रबन्धक और उन्नायक वल्लभाचार्य हुए। उनकी पुष्टिभक्ति के विषय भगवान् कृष्ण· और आश्रय गोपियाँ हैं। उनका प्रतिपाद्य विषय सम्पूर्ण कृष्णचरित है, केवल कृष्ण की रंजनकारिणी लीला नहीं। उनकी उपासना पंचभावोपासना (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यादि) है, केवल मधुरोपासना नहीं। उन्होंने भागवत की (पश्चिमी) धारा का अनुवर्त्तन किया, जिसमें उक्त बातों के अतिरिक्त अपेक्षित गांभीर्य है।

दूसरी ओर, चैतन्य मत ने ब्रह्मवैवर्त की (पूर्वी) धारा का आश्रय ग्रहण किया है। इनमें वात्सल्य का पक्ष गौण और मधुर भाव का प्राबल्य है। इनमें पंचभावोपासना के स्थान पर माधुर्योपासना सविस्तार व्यंजित है। यहाँ राधा और कृष्ण क्रमशः परकीया और उपपति (जार) हैं। यहाँ कृष्णावतार का लक्ष्य प्रेम-लीला हैं। दोनों पर शाक्त-तंत्र का प्रभाव है। राधा-प्रेम और राधा-विरह दोनों के प्रिय विषय हैं। इनमें शास्त्र की अपेक्षा जन-भावना और जन-काव्य के प्रति प्रबल आग्रह है।

इस पुराण में ऐसे ही कई तत्त्व हैं जिनका सामान्यतः पूर्वी प्रदेश की कृष्ण-भावना के अतिरिक्त चैतन्य की युगलोपासना पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। तो स्पष्ट है कि कृष्ण-भावना को लेकर भागवत-परम्परा से भिन्न पूर्वी अंचल में भागवत परम्परा अर्थात् राधा-प्रधान ब्रह्म-विवर्ती कृष्ण-लीला का प्रतिनिधित्व रहा। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास और चैतन्यदेव इसी परम्परा के गायक और भक्त हैं।[1] इनका मूल उपजीव्य कृष्ण-लीला का मधुर पक्ष है, सम्पूर्ण कृष्णचरित नहीं। गौड़ीय वैष्णवों ने इसी ओर लक्ष्य कर रागात्मिका (साध्य) भक्ति को साधन भक्ति के रागानुगा मार्ग से और आगे बढ़े हुए प्रेम (प्रेमा) को महाभाव दशा (राधा महाभाव) तक अन्तर्व्यास सिद्ध किया है। रूप गोस्वामी ने अपने रस शास्त्र में पुष्टिमार्गी भक्ति (वल्लभ-सम्प्रदाय की भागवतीय भक्ति) का स्पष्ट नाम्मोल्लेख कर इसी अन्तर का साक्षात्कार कराया है[2]—कृष्णतद्भक्त कारुण्य मात्र लाभैक हेतुका ॥ १०८ ॥

पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते।

अर्थात्, 'कृष्ण और उनके भक्तों की करुणा मात्र की प्राप्ति ही जिसका एकमात्र फल

१. द्रष्टव्य–'भारतीय साधना और सूर-साहित्य', पृ० १७४–डॉ० मुंशीराम शर्मा

२. ,,–हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु-श्लोक–१०८, रूप गोस्वामी (सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक)

है इस प्रकार की इस रागानुगा भक्ति को कुछ लोग 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं।' वल्लभाचार्य और चैतन्य का सम्मिलन प्रायः इन्हीं दो धाराओं (भागवत और ब्रह्मवैवर्त) का संगम है। इसमें शास्त्रीयता और लोक-परम्परा, भक्ति और श्रृङ्गार-भावना, प्रबन्ध और मुक्तक शैली सब एक साथ संहित हो गयी हैं। मध्यम युग के कृष्णचरित में इसी भाव-संहिति की अभिव्यक्ति हुई है। ब्रज कवियों के कृष्ण-काव्य में जो माधुरी और महिमा है वह इन स्रोतों के समीकरण का ही परिणाम है।[१] यहाँ पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण-सम्पूर्ण देश की रस-साधना बिल्कुल एकमेक हो गयी है।

ऊपर चैतन्यावतार पर युगल स्वरूप के आरोप की बात कही जा चुकी है। और, इसके साथ ही यह भी बतलाया जा चुका है कि इसका मूल कारण चैतन्य-चरित को प्रभावित करने वाली तत्कालीन बंगभूमि की तांत्रिक साधना है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत विभिन्न वज्रयानी देवताओं को अपनी शक्तियों के साथ समागम करते हुए वर्णित किया गया है। इसी को 'प्रज्ञोपाय-साधना' भी कहते हैं। बंगाल में शिव और शक्ति के समानान्तर राधा और कृष्ण को वैष्णव सहजिया मत में सम्मिलित कर लिया गया है। चैतन्यचरित वैष्णव सहजिया मत की इस युगल साधना का मूर्त प्रतीक है। यह बात बाहर से देखने पर कुछ अजीब-सी लगती है किन्तु राधा-कृष्ण युगल-प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में यह एक रहस्यपूर्ण तथ्य है।

प्रश्न है कि सगुण और निर्गुण का यह समन्वय कब हुआ ? चैतन्यदेव वैष्णव भक्ति और सहज साधना के सम्मिलन की स्वाभाविक परिणति हैं, यह बात उनकी गुरु-परम्परा से भी चरितार्थ होती है। चैतन्य के गुरु ईश्वरपुरी और उनके गुरु माधवेन्द्र पुरी प्रेममार्गी अद्वैत सन्त थे।[२] प्रो० सुकुमार सेन की धारणा में चैतन्य संभवतः माधवेन्द्रपुरी की प्रेमद्वैत भाव-धारा के ही 'जन्मान्तर प्रतीक' थे।[३]

इसके अतिरिक्त, चैतन्यदेव की युगल साधना की एक प्रेरणा-दायिनी पुस्तक 'कृष्ण-कर्णामृत' भी है। और, इसके रचयिता दक्षिणदेशीय लीलाशुक लिल्व-मंगल ठाकुर पहले अद्वैत सन्त थे जो पीछे कृष्ण-भक्त बन गये। यह बात स्वयं 'बिल्व-मंगल स्तव' के इस श्लोक से सिद्ध है—[४]

> अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः।
> शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥ ३७२ ॥

अर्थात्, 'अद्वैतानुयायी पथिकों के पूजनीय एवं आत्मानन्दी मुझको (लीलाशुक) भी गोपियों के किसी जारने बरबस अपना दास बना लिया।"

उपर्युक्त गुरु और कवि-परम्परा की साधना-परिणति को लक्ष्य करने पर यह भलीभाँति

---

१. ,,—मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १४५—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ('लीला और भक्ति से')

२. Dr. S.K. De—E. H. V. F. M. B., P. 23

३. Prof. S. Sen—A. H. B. B. L., P. 12

४. भक्तिरसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग, शान्त लहरी, श्लोक ३७२ में उद्धृत।

कहा जा सकता है कि चैतन्यदेव वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में सहज और तंत्र-मत का बीज पड़ने से उत्पन्न हुए थे।

युगल साधना के अतिरिक्त सहज मत की एक दूसरी विशेषता है—आरोप साधना। यह ससीम रस से सीमाहीन की उपलब्धि और आस्वादन पर जोर देती है। राधा और कृष्ण को युगल स्वरूप में देखने और रसास्वादन करने का श्रेय उत्तरकालीन वैष्णव सहजियों को ही है। चैतन्यावतार में इसका पूर्ण प्रत्यक्षीकरण है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ब्रज-भाषा-काव्य की युगल मूर्ति (राधा-कृष्ण) के संविधान में इस सहजवाद के महत्त्व पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार इस तंत्र तत्त्ववाद का प्रवेश जब वैष्णव भूमि में हुआ तब राधा-कृष्ण ही शिव-शक्ति के स्थानापन्न हो गये।[१] पं० गोपीनाथ कविराज जी के मतानुसार—'प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो शिव और शक्ति हैं, त्रिपुरा सिद्धान्त में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं और गौड़ीय दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न हैं।[२] तन्त्र में कृष्ण को काम-बीजात्मक और राधा को रति-बीजात्मक कहा गया है।[3] कृष्ण और राधा का यह रूप युगल-भाव की माधुर्योपासना का अन्यतम प्रेरक है। राधा और कृष्ण का यह प्रेम माधुर्यभक्ति की सर्वोच्चता का प्रतिष्ठापक है। इसी कारण चैतन्य ने राधा-कृष्ण-पदावली (जयदेव, विद्यापति, चण्डीदासरचित) को अपनी भाव-धारा का मूल उपजीव्य बनाया था, जिसपर माधुर्य भक्ति की प्रतिष्ठा हो सकी।

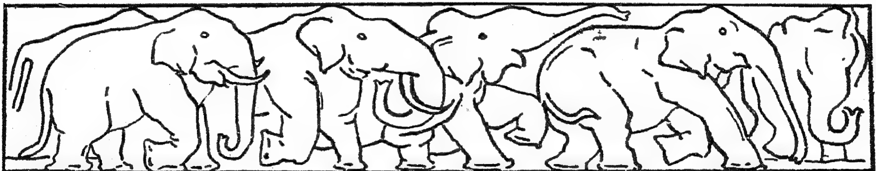
इस माधुर्य के भी आश्रय के स्वरूप-भेद से दो भेद हो जाते हैं। दाम्पत्य प्रेम में जहाँ आश्रय स्वकीया है, इस प्रेम की तीक्ष्णता कम रहती है। किन्तु, युगल प्रेम में जहाँ आश्रय परकीया और आलम्बन जार या विट है, वारण के कारण प्रेम में अपेक्षाकृत अधिक तीक्ष्णता और गरिष्ठता आ जाती है। चैतन्य के राधा और कृष्ण परकीया प्रेम के ही आश्रया-लम्बन हैं।[४]

इस परकीया प्रेम को भी हम सहज और तंत्र मत की तीसरी देन मान सकते हैं। तंत्र में परकीया-साधना को आदर्श रूप प्रदान किया गया है। और, इस मत के प्रायः सभी साधकों ने अपनी साधना की सिद्धि के लिए परकीया नायिका का 'महामुद्रा' या 'सहज सुन्दरी' के रूप में उपयोग किया है। सहजिया वैष्णवों ने भी इसी पद्धति का अनुगमन किया। उनकी यह आरोप-साधना परकीया प्रेम के आश्रय में ही अग्रसर हुई। इसके प्रमाण में जयदेव, चण्डीदास, राय रामानन्द, चैतन्य तथा उनके अनुयायी षड् गोस्वामियों को भी किसी-न-किसी परकीया (मुद्रा) के साथ सम्बद्ध बताया जाता है।[५] संसार में परकीया प्रेम की उत्कंठा और प्रखरता अद्भुत है। वैष्णव सहजियों ने राधा-कृष्ण के आदर्श प्रेम के रसास्वादन में इसी

१. सूर-साहित्य पृ० १९-२१ ('राधा-कृष्ण का विकास' शीर्षक निबन्ध)—डॉ. द्विवेदी।
२. हिन्दी भक्ति-रसामृत-सिन्धु की भूमिका—डॉ. विजयेन्द्र स्नातक द्वारा उद्धृत।
४. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक—'हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु' की भूमिका, पृ० ४।
५. 'परकीया भावे अति रसेर उल्लास'—चै० च०, आदि लीला (चतुर्थ अनुच्छेद)
६. विस्तृत विवरणार्थ द्रष्टव्य—'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' पृ० ७१—डॉ० भुव-नेश्वर मिश्र 'माधव'

परकीया-प्रेम को सोपान बनाकर इसे लोकोत्तर महिमा प्रदान की है। किन्तु यह परकीया-प्रेम जहाँ बौद्ध मत में आत्म-सुख का भी कारण है, वहाँ वैष्णव-मत में राधा और कृष्ण की 'केलि' तटस्थ दर्शन की वस्तु है।[1] और, इसका आनन्द परकीया-भावापन्न साधक ही निरंतर अपने अन्तःकरण में अनुभव करता रहता है।[2] इस मत में निश्चय ही कृष्ण की अपेक्षा राधा की विशेष महिमा है। यहाँ राधा के बिना कृष्ण अपूर्ण हैं।

निष्कर्षतः चैतन्यावतार में राधा-कृष्ण की युगलोपासना पूर्णतः प्रतिबिम्बित है। इस युगलोपासना के स्वरूप और परम्परा पर भली-भाँति विचार करने पर चैतन्य के साथ-साथ कृष्ण-चरित की विशेषताएँ भी प्रकाश में आ जाती है। चैतन्यदेव ने इस युगल स्वरूप को मध्ययुग (१६ वीं शती) के सार्वभौम प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित किया। इससे तत्कालीन सभी वैष्णव आचार्य, सम्प्रदाय और कवि प्रभावित हुए। आचार्य द्विवेदी ने इसी तथ्य को चमत्कार-पूर्ण ढंग से हिन्दी जगत् में यह कहकर उद्घाटित किया था—'वल्लभाचार्य और सूरदास में सहज मतवाद का अस्तित्व हैं।[3] वस्तुतः चैतन्य की ही मध्यस्थता में यह युगलवाद इन भक्तों को उपलब्ध हुआ था।



१. पं० परशुराम चतुर्वेदी—'सहजिया सम्प्रदाय', हिन्दी साहित्य कोश—पृ० ८२६
२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—सूर-साहित्य—पृ० २७ ('स्त्री पूजा और उसका वैष्णव रूप')
३. वही—पृ० २१

अर्थ धर्म संबंध खण्ड

●

महाभारत में धर्म और अर्थ का संबंध-विचार

सुखमय भट्टाचार्य

महर्षि व्यासदेव का महाभारत एक अमूल्य ग्रंथ है। यह महान् ग्रंथ सर्वविध ज्ञान का आकर है, इसीसे पंचम वेद के नाम से यह सुप्रसिद्ध है। धर्थ, अर्थ, काम और मोक्ष—चतुर्वर्ग के सम्बन्ध में समस्त ज्ञातव्य बातें इसमें पाई जाती हैं। भारतसावित्री में व्यासदेव कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

"मैं हाथ ऊँचा उठाकर ऊँचे स्वर से घोषणा कर रहा हूँ कि धर्म का आश्रय लेने से अर्थ और काम की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु कोई भी मेरी बात सुन नहीं रहा है।"

इस कथन से स्पष्ट होता है कि महाभारत के मत से धर्म ही अर्थ का मूल है। धर्म को छोड़कर अर्थ की चिन्ता करना संगत नहीं है। धर्म शब्द की महाभारत में किस प्रकार व्याख्या की गई है, पहले हमें यह जान लेना चाहिए। व्युत्पत्तिगत 'धर्म' के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं। 'धत्' 'पूर्वक' 'ऋ' धातु में 'मक्' प्रत्यय जोड़ने से धर्म शब्द बनता है। उसका अर्थ होता है—जिससे धन की प्राप्ति होती है। धन शब्द से पार्थिव और अपार्थिव सब प्रकार के धन का बोध होता हैं, ऐसा समझना चाहिए। दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—धारणार्थक 'धृ' धातु में 'मन्' प्रत्यय जोड़ने से धर्म शब्द बनता है। उसका अर्थ है—जो सबको धारण करता है, अर्थात् लोकस्थिति जिसके ऊपर निर्भर शील है। ये दोनों ही अर्थ धर्म शब्द से निकलते हैं। व्यष्टि और समष्टिगत लोकस्थिति जिसके ऊपर निर्भर है अर्थात् जिसको केन्द्रित करके प्रत्येक की जीवनायात्रा का निर्वाह होता है तथा जो वस्तु साधु उपाय से अर्थ कामादि की प्राप्ति में सहायक होती है—वही धर्म है।

धर्म शब्द का धातु प्रत्ययलब्ध अर्थ जो भी क्यों न हो, शब्द के सुनते ही अनेक अनिंद्य आचरण के विषय हमारे मन में उदित होते है। नाना अर्थों में प्रयुक्त धर्मशब्द के प्रतिशब्द-स्वरूप 'अनिंद्य आचरण' शब्द का संभवतः व्यवहार किया जा सकता है। आचरण केवल बाहर का व्यवहार मात्र नहीं है, मन की सच्चिन्ता भी धर्माचरण के भीतर गिनी जाती है।

केवल मात्र इहलौकिक स्थिति को धर्म के चरम उद्देश्य रूप में प्रकाश करना महाभारत का अभिप्राय नहीं हैं। आनुष्ठानिक अनेक धर्माचरण कष्टसाध्य हैं। स्वभावतः कष्ट-विमुख मानव परलोक की कल्याण-कामना से ऐहिक दुःख को भी धर्म के निमित्त वरण करता है। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह ने कहा था—

प्रायः लौकिक व्यवहार के ऊपर धर्म का विधान निर्भर करता है, आपत्काल में अधर्म को भी धर्म के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। साधारण लोगों के लिए धर्म का निर्णय

करना दुःसाध्य है। किन्तु यह बात निस्संदेह रूप से कही जा सकती है, कि धर्म इस लोक तथा परलोक में कल्याण प्रदान करता है।धर्म की ग्लानि से मानव की 'महती विनष्टिः' है।

सर्वभूतों की कल्याण चिंता, मैत्री और अहिंसा ही शाश्वत धर्म है। 'सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत्' प्रभृति महाभारत वचनों में इसी सत्य का उपदेश दिया गया है। अतएव अर्थनीति संपर्कित समस्त व्यवस्था इस मूल सत्य का अनुसरण करेगी तो कभी मूल से भ्रष्ट नहीं होगी। यही महाभारत का उपदेश है। प्रधानतः शान्तिपर्व की राजधर्म विषयक आलोचना में यह बात परिष्कृत रूप से ज्ञात होता है सभापर्व की नारदीय राजधर्म तथा कणिक की कूटनीति आश्रमवासिक पर्व की धृतराष्ट्र जिज्ञासा, उद्योगवर्ग की विदुरनीति प्रभृति प्रकरणों में भी इस विषय की अनेक बातें विवृत हुई हैं।

राजा प्रजाजन के मंगल के लिए राज्य तथा तमाज की अर्थनीति स्थिर करते हैं। इस विषय से सम्बन्धित अमात्यों के अतिरिक्त एक निःस्पृह सच्चरित्र विद्वान् ब्राह्मण पुरोहित उनका प्रधान उपदेष्टा होता था। राजा की नियुक्ति के विषय में प्रजासाधारण का भी अधिकार था। राजा होते थे—सद्वंश के क्षत्रिय त्यागी, विद्वान् और धार्मिक व्यक्ति।

राजा अर्थशास्त्रीय नीति के अनुसार राजकार्य की धर्मवृद्धि की व्यवस्था करते थे, केवल प्रजा के पीड़न से आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती। अर्थनीति समस्त रक्षण के अनुकूल होगी, कभी प्रतिकूल नहीं, समाज के सुखस्वाच्छन्द्य की वृद्धि के प्रति दृष्टि रखकर अर्थनीति स्थिर करना उचित है।

असंयत अश्व जिस प्रकार सवार को दुःख देता है, उसी प्रकार अजितेन्द्रिय राजा की अर्थस्पृहा समग्र राज्य का नाश करके राजा का भी नाश कर देती है। राज्यलक्ष्मी उन्हे शीघ्र ही त्याग देती है। करभार से प्रपीड़ित प्रजावर्ग का असन्तोष राजा की श्री नष्ट करने करने का अन्यतम कारण है। अतएव प्रजा के ऊपर कर-निर्धारण विचार पद्धति की सुष्ठु व्यवस्था, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति निषयक नीति आदि के सम्बन्ध में राजा को सदा अवहित रहना चाहिए। सब प्रकार की ही सामाजिक उन्नति अर्थनीति के ऊपर निर्भर रहती है।

अर्थ के संग्रह तथा व्यय के कार्य में साधुचरित्र दक्ष व्यक्तियों को नियुक्त करने का उपदेश दिया है, इस विषय में जो साधुता और दक्षता का परिचय दें, उन्हें पुरस्कृत और सम्मानित करना चाहिए। कोष शस्त्रागार आदि की देखरेख के लिए विश्वस्त, विचक्षण और निर्लोभ पुरुष को नियुक्त करना चाहिए। आय और व्यय का एक संभावित हिसाब पहले से ही स्थिर कर लेना चाहिए। आय और व्यय के बीच नियत सामञ्जस्य की रक्षा करना आवश्यक है। आय के चतुर्थांश, अर्धांश, अथवा त्रिचतुर्थांश द्वारा व्यय चलाने का उपदेश महाभारत में दिया गया है। स्थायी भण्डार या राजकोष को सब समय उन्नत रखने का यत्न करना चाहिए।

अन्ध, मूक, विकलांग, अनाथ व्यक्ति राजकोष से सहायता प्राप्त करेंगे। प्रजा के किसी व्यक्ति की चोरी हो जाने पर राजा चोर को दण्ड दे और मालिक का धन मालिक को लौटवाए। चोर को न पकड़ सकने पर राजकोष से उसी परिमाण में धन मालिक को देना

होगा। ब्रह्मस्व की किसी प्रकार क्षति नहीं करनी चाहिए। उपयुक्त बिद्वान् बुद्धिमान् सद्-वंशज चरित्रवान् अमात्य वर्ग के परामर्श के अनुसार अर्थनोति निश्चित करने का विधान है। अर्थबल और लोकबल ही सब शक्तियों में प्रधान है।

याज्ञिक ब्राह्मण एवं देवता का धन कभी नहीं छीनना चाहिए। जिसके धन का असत्पथ में व्यय होता है राजा को बलपूर्वक उसका धन हरण करके जनता में बाँट देने का आदेश दिया गया है। दस्यु तथा निष्कर्मी व्यक्तियों के हाथ अर्थ नहीं सौंपना चाहिए। उस धन पर समाज का अधिकार है। अर्थ विषयक सभी विचार विवेचना भविष्य के कल्याण पर दृष्टि रखकर करनी चाहिए। अनागत विधाता पुरुष कभी विपन्न नहीं होते।

अर्थनीति का मूल लक्ष्य हो—समाज के साधु और कर्मठ मनुष्यों की वृद्धि। विद्या, शौर्य, बल, दक्षता एवं धैर्य—ये पाँच मानव के सहजात परम मित्र के रूप में वर्णित किए गए हैं। अन्य प्रकार की समस्त सम्पत्ति कृत्रिम मित्र हैं। आवश्यकता पड़ने पर कृत्रिम मित्र का परित्याग करने पर कुण्ठित नहीं होना पड़ता।

वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की शक्ति के परस्पर न मिलने से वैश्य शक्ति और शूद्रशक्ति भी परस्पर मिल नहीं सकतीं। समाज की श्री वृद्धि के लिए यह अत्यंत विपरीत है। अतएव मस्तिष्क और बाहुबल के सुमार्ग पर बढ़ने पर समाज की आर्थिक उन्नति सुनिश्चित है। पुरोहित और अमात्यवर्ग का परामर्श एवं समाजपति राजा का सुशासन न रहने से समाज का आर्थिक विपर्यय अनिवार्य हो जाता है। बृहस्पति और वशिष्ठादि के पौरोहित्य के कारण ही देवराजादि की सर्व प्रकार की समृद्धि संभव हुई थी। यह कथा महाभारत में वर्णित है। नारद युधिष्ठिर से पूछते हैं—'तुम्हारी सभा में आयव्यय का हिसाब रखनेवाले गणितशास्त्र के ज्ञाता व्यक्ति नियुक्त हैं न ?' गणितज्ञ सच्चरित्र व्यक्ति को अर्थसंबंधी दायित्व अर्पित करना चाहिए।

सभी क्षेत्रों में अधिकारी का विचार करना चाहिए। अनधिकारी व्यक्ति के ऊपर अर्थनीति की व्यवस्था स्थापित करने का भार अर्पित करने से समाज की दुर्गति को रोका नहीं जा सकता।

पाँच प्रकार के बल और सात प्रकार की प्रकृति में धन का स्थान है। पहले ही जानना चाहिए—राजकोष की सम्पत्ति राजा की व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है। अपने आमोद-प्रमोद अथवा इच्छा पूरी करने का अधिकार राजा को नहीं दिया गया है। प्रजा के मंगल के लिए ही नृपतिगण राजसूय, अश्वमेधादि यज्ञ करते थे। जहाँ भी राजकोष से अर्थ का व्यय होता दिखता है वहाँ प्रजावर्ग उपकृत होती है—यह भी दिखता है। धन का सार्थक वितरण हो अर्थनीति का आदर्श है। व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्फीततर करना और उससे उत्पन्न मत्तता भारतीय आदर्श नहीं है।

वानप्रस्थ ग्रहण करने के अनन्तर धृतराष्ट्र को जो सब उपदेश दिए हैं, उनमें एक प्रसंग है—'महाराज, कोष जमा करने के लिए सदा न्याययुक्त प्रयास करें, किन्तु अन्यायपूर्वक अर्थ-वृद्धि के लिए प्रयत्न न करें।'

अर्थसंग्रह के संबंध में पितामह भीष्म भी युधिष्ठिर से कहते हैं—'राजा प्रजा के लिए ही उससे कर वसूल करें। देश, काल और पात्र का विचार करके अपना प्रजा का, दोनों पक्षों का मंगल और प्रतिपाल्य-प्रतिपालक संबंध की जिससे कोई क्षति न हो, उसी प्रकार अर्थसंग्रह करना चाहिए। भौंरा जिस प्रकार फूल के पौधे को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाते हुए फूल से मधुसंचय करता है, तुम उसी तरह प्रजा की किसी प्रकार क्षति न करते हुए उनके अतिरिक्त धनांश से कोषवृद्धि की व्यवस्था करो। गाय को दुहते समय बछड़े का अनिष्ट न हो यह ध्यान रखना पड़ता है। राज्यदोहन में भी प्रजा जिससे दुर्बल न हो, यह लक्ष्य रखना होगा। व्याघ्री जिस प्रकार अपने बच्चे को दाँतों में दबाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है और बच्चे को उससे किसी प्रकार की क्षति नहीं होती, ठीक उसी तरह प्रजा को कष्ट न पहुँचाते हुए उससे अर्थसंग्रह करके कोषवृद्धि करनी चाहिए। एक तरह का चूहा होता है, जो सोते हुए मनुष्य के पैरों के तलवे का मांस कोमल ढँग से काटकर ले जाता है और निद्रित व्यक्ति को किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता—तुम भी उसी प्रकार प्रजावर्ग को कष्ट पहुँचाए बिना कर वसूल करो। जो सम्पन्न हों, उनसे हर वर्ष पहले वर्ष की अपेक्षा कुछ अधिक कर वसूल करना चाहिए। इस प्रकार उन्हें कोई कष्ट नहीं होगा। अकाल में, अस्थान में एवं अन्यायपूर्ण उपायों से कर वसूल नहीं करना चाहिए। स्थिरचित्त से सदय निपुणतापूर्वक कर निश्चित करना चाहिए। असंगत आचरण से प्रजागण विद्रोही हो उठते हैं।'

प्रजावर्ग की आय का दशमांश कर के रूप में ग्रहण करने की बात सुलभा-जनक संवाद के रूप में कही गई है। प्रजा द्वारा उत्पन्न वस्तु का षष्ठांश कर के रूप में वसूल करने की बात भी अनेक स्थलों पर कही गई है। इन उल्लेखों से प्रतीत होता है, महाभारत के समय में षष्ठांश कर ही वसूल किया जाता था। कृषक, शिल्पी, वणिक् तथा अन्य वृत्तिविशिष्ट प्रजा की जो वार्षिक आय होती थी, उसके छः भागों में से एक भाग राजा को देने का नियम था। अश्व, वस्त्र, मणिमाणिक्य, धान्य प्रभृति वस्तुएँ भी कर रूप में वसूल की जाती थीं। अर्थात् जिस जनपद में जो वस्तु उत्पन्न होती थी एवं जो परिवार जिस व्यवसाय द्वारा जीविका निर्वाह करता उससे वही वस्तु ही कर रूप में स्वीकार की जाती थी।

उस प्रसंग में हमको यह स्मरण रखना होगा—उसकाल में कर वसूली के बदले राज्य की रक्षा करना—इस प्रकार का कोई समझौता राजा प्रजा के बीच में नहीं था। राजा धर्म-बुद्धि से ही प्रजापालन करते थे, प्रजागण भी धर्मबुद्धि से ही राजकर देते थे। सब श्रेणी की प्रजा से कर नहीं वसूल किया जाता था। दरिद्र, अनाथ, विधवा, विपन्न व्यक्ति, तपस्वी एवं स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मणों से कर वसूल करने का नियम नहीं था। अत्यधिक कर अदायगी की बार-बार निन्दा की गई है।

कृषक, शिल्पी, वणिक् प्रभृति व्यक्तिगण अपने-अपने कार्य में प्रतिष्ठित रहते हुए उत्साहपूर्वक जिससे वृत्ति की उन्नति कर सकें, इस विषय में सतर्क दृष्टि रखने के लिए राजा को उपदेश दिए गए हैं। अत्यधिक धन की लालसा के फलस्वरूप राष्ट्र एवं कृष्यादि वृत्ति का जिससे उच्छेद न हो जाय, कर निर्धारण में इस बात पर तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिए। लोभी राजा के प्रजाविद्रोह होता रहता है। प्रजागण ऐसे राजा पर विश्वास नहीं कर सकते।

शास्त्रानुसार अपराधी को दण्ड देने से प्राप्त धन, करस्वरूप प्राप्त वस्तु, एवं सुरक्षित वणिकों द्वारा प्रदत्त कर राजा को राजकोष में जमा करना होता था। इसके बाद यदि किसी की जीवनयात्रा अचल हो जाय, तो राजकोष से उसकी सहायता करनी होगी। प्रजा का समस्त खर्च चलाने के लिए राजा धर्मतः बाध्य था।

अर्थशास्त्र-विरुद्ध अर्थनीति के प्रयोग से राष्ट्र का ध्वंस अवश्यंभावी है। नारद, शुक्राचार्य, वृहस्पति प्रमुख अर्थनीतिविशारद मनीषियों के विभिन्न उपदेशों की कथा महाभारत में कीर्तित हुई मिलती है। कहा गया है कि राजा यदि उन सब उपदेशों के अनुसार धर्मानुमोदित अर्थनीति का आश्रय ले तो वसुमती उसके ऊपर माता के समान कल्याणदायी रहती हैं।

भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है—'महाराज, आप मालाकरके समान राष्ट्र के कल्याण के लिए अर्थनीति का प्रयोग करें, आंगारिक के समान नहीं। आंगारिक अंगार के लिए वन-जंगल को जला डालता है, और मालाकार बन को उद्यान में परिणत करके उसकी शोभा से स्वयं मुग्ध होता है, दूसरे को भी मुग्ध करता है। अधिक सुगंधित कुसुम चुनकर उत्कृष्ट माला प्रस्तुत करता है। अर्थनीति के सुष्ठु प्रयोग से प्रफुल्ल प्रजावृन्द की श्रद्धा और कृतज्ञता का आनन्द ही तुम्हारे लिए सुगन्धित माला के समान लोभनीय हो।'

राष्ट्र की आर्थिक अवस्था को देखकर व्यय का विधान करना चाहिए। जिस वर्ष कृषि वाणिज्यादि की अवस्था अच्छी रहे, उस वर्ष अर्थ के चतुर्थांश द्वारा सम्पूर्ण व्यय का निर्वाह करना चाहिए। जिस वर्ष उनकी अवस्था मध्यम हो, उस वर्ष संचित अर्थ का आधा खर्च करना चाहिए, और जिस वर्ष देश में दुर्भिक्ष हो, उस वर्ष चार भाग में से तीन भाग धन खर्च करना चाहिए।

जो राजा अर्थ-शोषण में पटु, किन्तु रक्षण के समय उदासीन रहता है—'तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम्।'

—प्रजागण मिलकर उस अधम राजा को निर्दयभाव से मार डाले।

शान्तिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—'केवल अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार सर्वत्र अर्थनीति का प्रयोग करना ठीक नहीं है। धर्म के साथ योग रखकर अर्थनीति का प्रयोग न करने से राष्ट्र समूल विनाश को प्राप्त हो जाता है।'

इस समस्त आलोचना से स्पष्टतः समझ में आता है—समाज की सर्वविधि आर्थिक व्यवस्था का भार राजा के ऊपर न्यस्त था। प्रजाजन के कल्याण के प्रति दृष्टि रखकर ही वे इस कर्त्तव्य का पालन करते थे। सर्वोपरि यह व्यवस्थापना धर्मकेन्द्रित थी। प्रधानतः धर्म के प्रति राजा को लक्ष्य रखने के लिए कहा गया है। लोकस्थिति की अनुकूलता अर्थ एवं धर्म दोनों पर ही चरम लक्ष्य होने पर भी धर्म ही दोनों में प्रधान है। इसी कारण अवस्थाविशेष में धर्म भी रक्षा के निमित्त प्रचलित आर्थिक विधान को परिवर्तित करना पड़ता है।

आपत्काल में अर्थ नीति में परिवर्तन के उपदेश से भी स्पष्ट होता है कि अर्थनीति में परिवर्तन संभव होने पर भी शाश्वत मानवधर्म का परिवर्तन कभी संभव नहीं है। आनु-

भाविक धर्म यद्यपि समाजविशेष तथा समय विशेष में परिवर्तन योग्य है, तथापि सर्वसाधारण मानवधर्म यथा—सत्य, अस्तेय, अहिंसा प्रभृति का अन्यथाचरण नहीं चलेगा। इससे भी धर्म और अर्थ के बीच धर्म का ही प्राधान्य सूचित होता है।

धर्म है उपजीव्य, परन्तु अर्थ उपजीवक है, अर्थात् धर्म के ऊपर निर्भरशील है। यह उपजीव्य–उपजीवक भाव ही दोनों का सम्बन्ध है। व्यासदेव ने इसी तथ्य की ऊँचे स्वर में घोषणा की है—

'धर्मादर्थश्च कामश्च'



व्यापार, व्यापारी और अर्थनीति

हनुमान प्रसाद पोद्दार

भारतीय संस्कृति में प्रसिद्ध चार पुरुषार्थ हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। अर्थ सबसे पहले है, क्योंकि अर्थ के विना संसार में जीवन-यापन नहीं हो सकता, पर अर्थ अनर्थ-रूप बनकर पतन, भीषण दुःख एवं नरक-यन्त्रणाका कारण भी बन सकता है और अर्थ पर-मार्थरूप बनकर उत्थान, आत्यन्तिक सुख और परम कल्याण—मोक्षका हेतु भी बन सकता है। जो अर्थ धर्मनियन्त्रित, धर्ममूलक और धर्मसाधनार्थ है, वह परमार्थरूप है। उससे प्राप्त होनेवाला 'काम' भी पवित्र है और उसका फल मोक्ष है। धर्म वही है, जिससे परिणाम में अपना और दूसरों का हित हो, जिससे सबका धारण हो। यह धर्म तथा अध्यात्म भारतीय संस्कृति का आत्मा है। पर जो अर्थ भोगवासनाप्रेरित है, भोगमूलक और नीच स्वार्थ, मोह-जनित, संग्रह या इन्द्रिय-तृप्त्यर्थ है, उसका फल बन्धन है, नरक है। इसीसे धर्महीन तथा भौतिक भोगों में रचा-पचा मनुष्य पशु या असुर ही हो जाता है।

शुद्ध अर्थ का धर्म के साथ नित्य सम्बन्ध है। इसी से वर्णधर्म के अन्तर्गत एक पूरा वर्ण—वैश्य वाणिज्य, गोरक्षण और कृषि आदि के द्वारा अर्थोत्पादन करके अपना एवं सबका जीवन-निर्वाह करता है, वाणिज्य आदि के द्वारा वह अपनी जीविका चलाता हुआ सबकी सेवा करता है और इसी के द्वारा वह मानव-जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष का अधिकारी होता है। हमारा प्रत्येक क्षुद्र-से-क्षुद्र कर्म भी धर्म से सम्बन्धित है; अतएव व्यापार-वाणिज्य भी धर्म से सम्बन्धित है। यह धर्म-सम्बन्ध आज क्रमशः भुलाया जा रहा है। इसी से व्यापार के पवित्र सेवा के क्षेत्र में क्षुद्र स्वार्थ का प्रवेश हो गया है और इसी से उसमें विभिन्न प्रकार के दोषों का अवाञ्छनीय उदय और संवर्द्धन हो रहा है एवं फलतः हमारा नैतिक पतन हो रहा हैं एवं हम आये हुए संकटों से मुक्त होने के लिए नित्य नये-नये संकटों को बुला रहे हैं।

'स्व' जितना सीमित होता है, उतना ही स्वार्थ भी सीमित तथा संकुचित होता है। यही कारण है कि विश्व-चराचर में आत्म-दर्शन करने वाला भारतवर्ष आज राज्यों तथा जमीं-दारियों के विलयन के बाद भी एक राष्ट्र न होकर खण्ड-खण्ड हुआ जा रहा है और भूमि की सीमा, भाषावाद, जातिवाद आदि को लेकर भारतवासी आज एक-दूसरे पर वैसे ही मूर्खता-पूर्ण आघात करके अपना ही विनाश-साधन कर रहे हैं, जैसे कोई मनुष्य अपने ही अंगों की रक्षा के लिए अपने ही अंगों को अपने ही अंगों के द्वारा मार-काट रहा हो। इसी से आज नये-नये वादों की सृष्टि हुई है और सभी वाद विवादग्रस्त होकर प्रमादवश अपने ही हाथों अपना संहार करने में संलग्न हैं। अपने वाद के या वादगत किसी एक दल के हित के मनो-रथ से देश का स्वार्थ या हित भुला दिया जाता है और व्यक्ति की हित कामना या स्वार्थ-साधना के लिए दलके हित का त्याग कर दिया जाता है। सर्वत्र इसी क्षुद्र-संकुचित भाव का विस्तार हो रहा है—व्यक्ति के स्वार्थ के लिए देश के स्वार्थ का अनायास बलिदान हो रहा है।

यह स्थिति सभी क्षेत्रों में है। वर्तमान अर्थतन्त्र भी मुख्यतया इसी लिए अस्त-व्यस्त तथा अनिश्चित हो गया है। वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में भी यही विष प्रवेश कर गया है। इसी से सत्य, ईमानदारी, परहित आदि सद्भावों, सद्विचारों का परित्याग करके मनुष्य अवाञ्छनीय व्यक्तिगत स्वार्थसाधन के लिए हेय प्रवृत्ति में लगा हुआ उसी में गौरव का अनुभव करता है। इसी से खाद्यपदार्थों में, रोगियों को रोगमुक्त करने के लिए दी जाने वाली दवाइयों में ऐसी चीजें मिलायी जाती हैं, जिनका स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी बातें सुनने में आयी हैं कि घी में पशुओं की चरबी मिलायी जाती हैं, चीनी में आटा मिलाया जाता है, आटे में लकड़ी का चूरा मिलाया जाता है, पिसी हल्दी में घोड़े की लीद मिलायी जाती है; नकली जीरा, नकली काली मिर्च, नकली पीपल, नकली केसर, नकली तेल आदि बनते हैं, जो स्वास्थ्यनाश के साथ ही अन्य अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न करते हैं। बढ़िया वस्तु बता कर घटिया देना, तौल में कम देना, धोखा देकर दाम ज्यादा लेना या कम देना आदि अनेक दोष प्रधानतया नीच स्वार्थ के कारण ही व्यापारी-समाज में आ गये हैं। ये दोष धर्महीनता तथा अर्थ-पैशाचिकता के ज्वलन्त प्रमाण हैं, जो चोरी-डकैती से भी बुरे हैं।

व्यापारियों में वह परम्परागत ईमानदारी आज प्रायः नहीं रही है, जो रहनी चाहिये थी; पर यह भी निर्विवाद है कि यह रोग केवल व्यापारी-समाज में ही नहीं आया है, प्रायः सभी क्षेत्र इससे आक्रान्त हैं। व्यापारी-समाज को खुले आम 'चोर' कहा जाता है और समाजवाद के नाम पर उसकी जड़ खोदी जा रही है। भाँति-भाँति से उसको संत्रस्त किया जाता है। 'कर' तो इतने अधिक बढ़ गये हैं कि वे 'कर' न रहकर मानों धन की बलात् डकैती-जैसे हो गये हैं। बचत के पैसे रह ही नहीं पाते। यही कारण है कि निजी व्यापारका विस्तार होने में बड़ी रुकावट आ गयी है। पिछले १५ वर्षों में कई सौ गुना करभार प्रजापर बढ़ा है। जितने कर बढ़े हैं, उतनी ही 'कर' की चोरी भी स्वाभाविक ही बढ़ी है। आदत बिगड़ने और पैसों का मोह बढ़ जाने के कारण पूरी तो चोरी बन्द नहीं होगी, पर कर घटा दिये जायेंगे तो बहुत अंश में चोरी भी घट जायेगी। शायद घटी दर में भी 'कर' के उतने ही पैसे आ जायेंगे, जितने बढ़ी दर में आते हैं। ऐसा होने पर सरकारी लोकप्रियता बढ़ेगी और व्यापारियों को व्यापार-विस्तार में सुविधा होने के साथ उनकी चोरी की बुरी आदत भी अंशतः छूटेगी। सरकार को इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

व्यापारियों की चोरी में अधिकारियों का भ्रष्टाचार भी एक प्रधान करण है, चूँकि अधिकारियों में भी व्यक्तिगत नीच स्वार्थ है, जो उन्हें भ्रष्टाचार में लगाये रखता है और वे स्वाभाविक ही व्यापारियों से मिल-जुलकर चोरी करते-कराते हैं। व्यापारियों का स्थान आज कल सहकारी-मण्डलों को दिया जा रहा है और उन्हीं के द्वारा खरीद-बिक्री का काम करवाया जाता है पर उनके भी कार्यकर्त्ता उसी स्वार्थ से ग्रस्त हैं। अतएव वे भी चोरी करते हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले स्वार्थ परायण अधिकारी, शासक या नेतृवृन्द भी, जिनका सहकारी-मण्डलवालों से स्वार्थ सम्बन्ध है, चोरी करने-कराने में सीधे-टेढ़े सहायक होते हैं। यों सहकारी मण्डल वालों के रूप में प्रायः काला बाजार करने वाला एक नया भीषण वर्ग बन गया है। ऐसे कई सहकारी-मण्डल पकड़े भी गये हैं। झूठे राशनकार्ड जगह-जगह पकड़े जाते हैं (पर सब थोड़े ही पकड़े जाते हैं)। बात भी यह है कि जिस चीज की कण्ट्रोल में दो रुपया किलो

कीमत हो, उसके जब काले बाजार में ६ या ८ रुपये किलो दाम आते हों, तब झूठा राशन-कार्ड बनवाने में आज के अर्थपरायण स्वार्थी लोगों का सचेष्ट होना क्या आश्चर्य की बात है ? फिर कण्ट्रोल में जहाँ २-४ किलो से अधिक वस्तु नहीं मिलती वहाँ काले बाजार में ऊँची कीमत देने पर बोरे-के-बोरे मिल जाते हैं, तब उसका यह अर्थ लगाना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता कि सरकारी तन्त्र ही आवश्यकता वाले लोगों को मानो काले बाजार से माल खरीदने का मूक परामर्श देकर काले बाजारों को प्रोत्साहन देते है। इसमें भी सरकारी तन्त्र के अधिकारियों का व्यक्तिगत स्वार्थ ही प्रायः कारण होता है।

जबसे सरकार खाद्यपदार्थों का व्यापार करने लगी है, तब से कई बार ऐसे समाचार मिले हैं कि अमुककी भूलसे या अमुक अनिवार्य कारण से इतने हजार बोरे चावल या गेहूँ सड़ गये और वे मनुष्यों के खाने के योग्य नहीं रह गये। फिर वह सड़ा माल मिट्टी के मोल बेच दिया जाता है और वही काले बाजारों में पहुंच कर अच्छे माल के साथ मिलाकर बेचा जाता है। इसमें बहुतों की हिस्सेदारी तो रहती ही है।

संकुचित स्वार्थ के साथ ही कुछ ऐसे और कारण भी है, जिनसे व्यापारियों की कठिनाइयाँ बढ़ने के साथ ही व्यापार के क्षेत्र में कई अवाञ्छनीय दोष आ गये हैं। उनमें प्रधान कारण है—ऐसे लोगों के हाथों में शासनाधिकारका रहना, जो कदाचित् अधिकांश ईमानदार होने पर भी व्यापार से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, जिनको जो काम आता नहीं, वे उस कामको ठीक नहीं कर सकते, चाहे वे अपने दूसरे काम में बड़े ही निपुण हों। व्यापारी पद्धति तथा व्यापारी मनोवृत्तियों से तथा व्यापारी हानि-लाभ से पूर्ण परिचित न होने के कारण वे ऐसे कार्य कर बैठते हैं, जिनसे विभिन्न प्रकार की बहुत-सी कठिनाइयाँ और अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। जैसे—व्यापारियों पर प्रतिबन्ध, वस्तुओं के मूल्य पर प्रतिबन्ध, यातायातपर प्रतिबन्ध, उत्पादन पर प्रतिबन्ध, परमिट से माल मिलना, आये दिन नये-नये करों की वृद्धि, अफसरी स्वभाव के अधिकारियों द्वारा उद्योगधन्धों का संचालन आदि। व्यापारी जब खुला निजी व्यापार करते हैं, मूल्य तथा यातायत पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, तब वे जिस प्रदेश में माल अधिक होता है और सस्ता होता हे, वहाँ से खरीद कर उस प्रदेश में पहुँचा कर बेचते हैं, जहाँ मालकी कमी है और बहुत तेजी हैं। व्यापार ज्यादा हो, इसलिये वे थोड़े नफे पर काम करते हैं, और चूँकि स्वयं घाटे-नफे के उत्तरदायो होते हैं, अतएव माल सड़ने नहीं देते, उजड़ने नहीं देते, रेल पर पड़ा नहीं रहने देते, क्योंकि उनको इससे कष्ट होता है। परिणाम यह होता है कि अधिकता तथा न्यूनतावाले दोनों ही स्थानों में वस्तुओं की कीमत प्रायः समान-सी हो जाती है, सबको सब चीजें मिल जाती हैं। काला बाजार न होने से व्यर्थ का लालच नहीं बढ़ता और वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति तेजी और कमी में ही हुआ करती है। उत्पादन पर प्रतिबन्ध न होने पर वह माल सहज हो जाता है। पक्षान्तर में कण्ट्रोल होते ही वस्तु भूमिगत हो जाती हैं और सहज ही कीमत बढ़ जाती है। यह सब अनुभवहीन अधिकारका ही दुष्परिणाम है।

इसी के साथ-साथ सरकार की श्रमिकों तथा कर्मचारियों के साथ बरती जानेवाली नीति भी दोषपूर्ण है। महँगी के युग में उन्हें वेतन अच्छा अवश्य मिलना चाहिये, इसमें जरा भी दो मत नहीं हो सकते। पर उनमें काम न करके पैसे लेने की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है, यह

यह स्थिति सभी क्षेत्रों में है। वर्तमान अर्थतन्त्र भी मुख्यतया इसी लिए अस्त-व्यस्त तथा अनिश्चित हो गया है। वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में भी यही विष प्रवेश कर गया है। इसी से सत्य, ईमानदारी, परहित आदि सद्भावों, सद्विचारों का परित्याग करके मनुष्य अवाञ्छनीय व्यक्तिगत स्वार्थसाधन के लिए हेय प्रवृत्ति में लगा हुआ उसी में गौरव का अनुभव करता है। इसी से खाद्यपदार्थो में, रोगियों को रोगमुक्त करने के लिए दी जाने वाली दवाइयों में ऐसी चीजें मिलायी जाती हैं, जिनका स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी बातें सुनने में आयी हैं कि घी में पशुओं की चरबो मिलायी जाती हैं, चीनी में आटा मिलाया जाता है, आटे में लकड़ी का चूरा मिलाया जाता है, पिसी हल्दी में घोड़े की लीद मिलायी जाती है; नकली जीरा, नकली काली मिर्च, नकली पीपल, नकली केसर, नकली तेल आदि बनते हैं, जो स्वास्थ्यनाश के साथ ही अन्य अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न करते हैं। बढ़िया वस्तु बता कर घटिया देना, तौल में कम देना, धोखा देकर दाम ज्यादा लेना या कम देना आदि अनेक दोष प्रधानतया नीच स्वार्थ के कारण ही व्यापारी-समाज में आ गये हैं। ये दोष धर्महीनता तथा अर्थ-पैशाचिकता के ज्वलन्त प्रमाण हैं, जो चोरी-ड़कैती से भी बुरे हैं।

व्यापारियों में वह परम्परागत ईमानदारी आज प्रायः नहीं रही है, जो रहनी चाहिये थी; पर यह भी निर्विवाद है कि यह रोग केवल व्यापारी-समाज में ही नहीं आया है, प्रायः सभी क्षेत्र इससे आक्रान्त हैं। व्यापारी-समाज को खुले आम 'चोर' कहा जाता है और समाजवाद के नाम पर उसकी जड़ खोदी जा रही है। भाँति-भाँति से उसको संत्रस्त किया जाता है। 'कर' तो इतने अधिक बढ़ गये हैं कि वे 'कर' न रहकर मानों धन की बलात् डकैती-जैसे हो गये हैं। बचत के पैसे रह ही नहीं पाते। यही कारण है कि निजी व्यापारका विस्तार होने में बड़ी रुकावट आ गयी है। पिछले १५ वर्षों में कई सौ गुना करभार प्रजापर बढ़ा है। जितने कर बढ़े है, उतनी ही 'कर' की चोरी भी स्वाभाविक ही बढ़ी है। आदत बिगड़ने और पैसों का मोह बढ़ जाने के कारण पूरी तो चोरी बन्द नहीं होगी, पर कर घटा दिये जायेंगे तो बहुत अंश में चोरी भी घट जायेगी। शायद घटी दर में भी 'कर' के उतने ही पैसे आ जायेगें, जितने बढ़ी दर में आते हैं। ऐसा होने पर सरकारी लोकप्रियता बढ़ेगी और व्यापारियों को व्यापार-विस्तार में सुविधा होने के साथ उनकी चोरी की बुरी आदत भी अंशतः छूटेगी। सरकार को इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

व्यापारियों की चोरी में अधिकारियों का भ्रष्टाचार भी एक प्रधान करण है, चूँकि अधिकारियों में भी व्यक्तिगत नीच स्वार्थ है, जो उन्हें भ्रष्टाचार में लगाये रखता हैं और वे स्वाभाविक ही व्यापारियों से मिल-जुलकर चोरी करते-कराते हैं। व्यापारियों का स्थान आज कल सहकारी-मण्डलों को दिया जा रहा है और उन्हीं के द्वारा खरीद-बिक्री का काम करवाया जाता है पर उनके भी कार्यकर्त्ता उसी स्वार्थ से ग्रस्त हैं। अतएव वे भी चोरी करते हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले स्वार्थ परायण अधिकारी, शासक या नेतृवृन्द भी, जिनका सहकारी-मण्डलवालों से स्वार्थ सम्बन्ध है, चोरी करने-कराने में सीधे-टेढ़े सहायक होते हैं। यों सहकारी मण्डल वालों के रूप में प्रायः काला वाजार करने वाला एक नया भीषण वर्ग बन गया है। ऐसे कई सहकारी-मण्डल पकड़े भी गये हैं। झूठे राशनकार्ड जगह-जगह पकड़े जाते हैं (पर सब थोड़े ही पकड़े जाते हैं)। बात भी यह है कि जिस चीज की कण्ट्रोल में दो रुपया किलो

कीमत हो, उसके जब काले बाजार में ६ या ८ रुपये किलो दाम आते हों, तब झूठा राशन-कार्ड बनवाने में आज के अर्थपरायण स्वार्थी लोगों का सचेष्ट होना क्या आश्चर्य की बात है ? फिर कण्ट्रोल में जहाँ २-४ किलो से अधिक वस्तु नहीं मिलती वहाँ काले बाजार में ऊँची कीमत देने पर बोरे-के-बोरे मिल जाते हैं, तब उसका यह अर्थ लगाना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता कि सरकारी तन्त्र ही आवश्यकता वाले लोगों को मानो काले बाजार से माल खरीदने का मूक परामर्श देकर काले बाजारों को प्रोत्साहन देते है। इसमें भी सरकारी तन्त्र के अधिकारियों का व्यक्तिगत स्वार्थ ही प्रायः कारण होता है।

जबसे सरकार खाद्यपदार्थों का व्यापार करने लगी है, तब से कई बार ऐसे समाचार मिले हैं कि अमुककी भूलसे या अमुक अनिवार्य कारण से इतने हजार बोरे चावल या गेहूँ सड़ गये और वे मनुष्यों के खाने के योग्य नहीं रह गये। फिर वह सड़ा माल मिट्टी के मोल बेच दिया जाता है और वही काले बाजारों में पहुंच कर अच्छे माल के साथ मिलाकर बेचा जाता है। इसमें बहुतों की हिस्सेदारी तो रहती ही है।

संकुचित स्वार्थ के साथ ही कुछ ऐसे और कारण भी है, जिनसे व्यापारियों की कठि-नाइयाँ बढ़ने के साथ ही व्यापार के क्षेत्र में कई अवाञ्छनीय दोष आ गये हैं। उनमें प्रधान कारण है—ऐसे लोगों के हाथों में शासनाधिकारका रहना, जो कदाचित् अधिकांश ईमानदार होने पर भी व्यापार से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, जिनको जो काम आता नहीं, वे उस कामको ठीक नहीं कर सकते, चाहे वे अपने दूसरे काम में बड़े ही निपुण हों। व्यापारी पद्धति तथा व्यापारी मनोवृत्तियों से तथा व्यापारी हानि-लाभ से पूर्ण परिचित न होने के कारण वे ऐसे कार्य कर बैठते हैं, जिनसे विभिन्न प्रकार की बहुत-सी कठिनाइयाँ और अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। जैसे—व्यापारियों पर प्रतिबन्ध, वस्तुओं के मूल्य पर प्रतिबन्ध, याता-यातपर प्रतिबन्ध, उत्पादन पर प्रतिबन्ध, परमिट से माल मिलना, आये दिन नये-नये करों की वृद्धि, अफसरी स्वभाव के अधिकारियों द्वारा उद्योगधन्धों का संचालन आदि। व्यापारी जब खुला निजी व्यापार करते हैं, मूल्य तथा यातायत पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, तब वे जिस प्रदेश में माल अधिक होता है और सस्ता होता हे, वहाँ से खरीद कर उस प्रदेश में पहुँचा कर बेचते हैं, जहाँ मालकी कमी है और बहुत तेजी हैं। व्यापार ज्यादा हो, इसलिये वे थोड़े नफे पर काम करते हैं, और चूँकि स्वयं घाटे-नफे के उत्तरदायी होते हैं, अतएव माल सड़ने नहीं देते, उजड़ने नहीं देते, रेल पर पड़ा नहीं रहने देते, क्योंकि उनको इससे कष्ट होता है। परिणाम यह होता है कि अधिकता तथा न्यूनतावाले दोनों ही स्थानों में वस्तुओं की कीमत प्रायः समान-सी हो जाती है, सबको सब चीजें मिल जाती हैं। काला बाजार न होने से व्यर्थ का लालच नहीं बढ़ता और वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति तेजी और कमी में ही हुआ करती है। उत्पादन पर प्रतिबन्ध न होने पर वह माल सहज हो जाता है। पक्षान्तर में कण्ट्रोल होते ही वस्तु भूमि-गत हो जाती हैं और सहज ही कीमत बढ़ जाती है। यह सब अनुभवहीन अधिकारका ही दुष्परिणाम है।

इसी के साथ-साथ सरकार की श्रमिकों तथा कर्मचारियों के साथ बरती जानेवाली नीति भी दोषपूर्ण है। महँगी के युग में उन्हें वेतन अच्छा अवश्य मिलना चाहिये, इसमें जरा भी दो मत नहीं हो सकते। पर उनमें काम न करके पैसे लेने की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है, यह

यह स्थिति सभी क्षेत्रों में है। वर्तमान अर्थतन्त्र भी मुख्यतया इसी लिए अस्त-व्यस्त तथा अनिश्चित हो गया है। वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में भी यही विष प्रवेश कर गया है। इसी से सत्य, ईमानदारी, परहित आदि सद्भावों, सद्विचारों का परित्याग करके मनुष्य अवाञ्छनीय व्यक्तिगत स्वार्थसाधन के लिए हेय प्रवृत्ति में लगा हुआ उसी में गौरव का अनुभव करता है। इसी से खाद्यपदार्थों में, रोगियों को रोगमुक्त करने के लिए दी जाने वाली दवाइयों में ऐसी चीज़ें मिलायी जाती हैं, जिनका स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी बातें सुनने में आयी हैं कि घी में पशुओं की चरबी मिलायी जाती हैं, चीनी में आटा मिलाया जाता है, आटे में लकड़ी का चूरा मिलाया जाता है, पिसी हल्दी में घोड़े की लीद मिलायी जाती है; नकली जीरा, नकली काली मिर्च, नकली पीपल, नकली केसर, नकली तेल आदि बनते हैं, जो स्वास्थ्यनाश के साथ ही अन्य अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न करते हैं। बढ़िया वस्तु बता कर घटिया देना, तौल में कम देना, धोखा देकर दाम ज्यादा लेना या कम देना आदि अनेक दोष प्रधानतया नीच स्वार्थ के कारण ही व्यापारी-समाज में आ गये हैं। ये दोष धर्महीनता तथा अर्थ-पैशाचिकता के ज्वलन्त प्रमाण हैं, जो चोरी-ड़कैती से भी बुरे हैं।

व्यापारियों में वह परम्परागत ईमानदारी आज प्रायः नहीं रही है, जो रहनी चाहिये थी; पर यह भी निर्विवाद है कि यह रोग केवल व्यापारी-समाज में ही नहीं आया है, प्रायः सभी क्षेत्र इससे आक्रान्त हैं। व्यापारी-समाज को खुलेआम 'चोर' कहा जाता है और समाजवाद के नाम पर उसकी जड़ खोदी जा रही है। भाँति-भाँति से उसको संत्रस्त किया जाता है। 'कर' तो इतने अधिक बढ़ गये हैं कि वे 'कर' न रहकर मानों धन की बलात् डकैती-जैसे हो गये हैं। बचत के पैसे रह ही नहीं पाते। यही कारण है कि निजी व्यापारका विस्तार होने में बड़ी रुकावट आ गयी है। पिछले १५ वर्षों में कई सौ गुना करभार प्रजापर बढ़ा है। जितने कर बढ़े है, उतनी ही 'कर' की चोरी भी स्वाभाविक ही बढ़ी है। आदत बिगड़ने और पैसों का मोह बढ़ जाने के कारण पूरी तो चोरी बन्द नहीं होगी, पर कर घटा दिये जायेंगे तो बहुत अंश में चोरी भी घट जायेगी। शायद घटी दर में भी 'कर' के उतने ही पैसे आ जायेगें, जितने बढ़ी दर में आते हैं। ऐसा होने पर सरकारी लोकप्रियता बढ़ेगी और व्यापारियों को व्यापार-विस्तार में सुविधा होने के साथ उनकी चोरी की बुरी आदत भी अंशतः छूटेगी। सरकार को इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

व्यापारियों की चोरी में अधिकारियों का भ्रष्टाचार भी एक प्रधान करण है, चूँकि अधिकारियों में भी व्यक्तिगत नीच स्वार्थ है, जो उन्हें भ्रष्टाचार में लगाये रखता है और वे स्वाभाविक ही व्यापारियों से मिल-जुलकर चोरी करते-कराते हैं। व्यापारियों का स्थान आज कल सहकारी-मण्डलों को दिया जा रहा है और उन्हीं के द्वारा खरीद-बिक्री का काम करवाया जाता है पर उनके भी कार्यकर्त्ता उसी स्वार्थ से ग्रस्त हैं। अतएव वे भी चोरी करते हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले स्वार्थ परायण अधिकारी, शासक या नेतृवृन्द भी, जिनका सहकारी-मण्डलवालों से स्वार्थ सम्बन्ध है, चोरी करने-कराने में सीधे-टेढ़े सहायक होते हैं। यों सहकारी मण्डल वालों के रूप में प्रायः काला बाजार करने वाला एक नया भीषण वर्ग बन गया है। ऐसे कई सहकारी-मण्डल पकड़े भी गये हैं। झूठे राशनकार्ड जगह-जगह पकड़े जाते हैं (पर सब थोड़े ही पकड़े जाते हैं)। बात भी यह है कि जिस चीज की कण्ट्रोल में दो रुपया किलो

कीमत हो, उसके जब काले बाजार में ६ या ८ रुपये किलो दाम आते हों, तब झूठा राशन-कार्ड बनवाने में आज के अर्थपरायण स्वार्थी लोगों का सचेष्ट होना क्या आश्चर्य की बात है ? फिर कण्ट्रोल में जहाँ २-४ किलो से अधिक वस्तु नहीं मिलती वहाँ काले बाजार में ऊँची कीमत देने पर बोरे-के-बोरे मिल जाते हैं, तब उसका यह अर्थ लगाना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता कि सरकारी तन्त्र ही आवश्यकता वाले लोगों को मानो काले बाजार से माल खरीदने का मूक परामर्श देकर काले बाजारों को प्रोत्साहन देते है। इसमें भी सरकारी तन्त्र के अधिकारियों का व्यक्तिगत स्वार्थ ही प्रायः कारण होता है।

जबसे सरकार खाद्यपदार्थों का व्यापार करने लगी है, तब से कई बार ऐसे समाचार मिले हैं कि अमुककी भूलसे या अमुक अनिवार्य कारण से इतने हजार बोरे चावल या गेहूँ सड़ गये और वे मनुष्यों के खाने के योग्य नहीं रह गये। फिर वह सड़ा माल मिट्टी के मोल बेच दिया जाता है और वही काले बाजारों में पहुंच कर अच्छे माल के साथ मिलाकर बेचा जाता है। इसमें बहुतों की हिस्सेदारी तो रहती ही है।

संकुचित स्वार्थ के साथ ही कुछ ऐसे और कारण भी है, जिनसे व्यापारियों की कठि-नाइयाँ बढ़ने के साथ ही व्यापार के क्षेत्र में कई अवाञ्छनीय दोष आ गये हैं। उनमें प्रधान कारण है—ऐसे लोगों के हाथों में शासनाधिकारका रहना, जो कदाचित् अधिकांश ईमानदार होने पर भी व्यापार से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, जिनको जो काम आता नहीं, वे उस कामको ठीक नहीं कर सकते, चाहे वे अपने दूसरे काम में बड़े ही निपुण हों। व्यापारी पद्धति तथा व्यापारी मनोवृत्तियों से तथा व्यापारी हानि-लाभ से पूर्ण परिचित न होने के कारण वे ऐसे कार्य कर बैठते हैं, जिनसे विभिन्न प्रकार की बहुत-सी कठिनाइयाँ और अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। जैसे—व्यापारियों पर प्रतिबन्ध, वस्तुओं के मूल्य पर प्रतिबन्ध, याता-यातपर प्रतिबन्ध, उत्पादन पर प्रतिबन्ध, परमिट से माल मिलना, आये दिन नये-नये करों की वृद्धि, अफसरी स्वभाव के अधिकारियों द्वारा उद्योगधन्धों का संचालन आदि। व्यापारी जब खुला निजी व्यापार करते हैं, मूल्य तथा यातायत पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, तब वे जिस प्रदेश में माल अधिक होता है और सस्ता होता हे, वहाँ से खरीद कर उस प्रदेश में पहुँचा कर बेचते हैं, जहाँ मालकी कमी है और बहुत तेजी हैं। व्यापार ज्यादा हो, इसलिये वे थोड़े नफे पर काम करते हैं, और चूँकि स्वयं घाटे-नफे के उत्तरदायो होते हैं, अतएव माल सड़ने नहीं देते, उजड़ने नहीं देते, रेल पर पड़ा नहीं रहने देते, क्योंकि उनको इससे कष्ट होता है। परिणाम यह होता है कि अधिकता तथा न्यूनतावाले दोनों ही स्थानों में वस्तुओं की कीमत प्रायः समान-सी हो जाती है, सबको सब चीजें मिल जाती हैं। काला बाजार न होने से व्यर्थ का लालच नहीं बढ़ता और वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति तेजी और कमी में ही हुआ करती है। उत्पादन पर प्रतिबन्ध न होने पर वह माल सहज हो जाता है। पक्षान्तर में कण्ट्रोल होते ही वस्तु भूमि-गत हो जाती हैं और सहज ही कीमत बढ़ जाती है। यह सब अनुभवहीन अधिकारका ही दुष्परिणाम है।

इसी के साथ-साथ सरकार की श्रमिकों तथा कर्मचारियों के साथ बरती जानेवाली नीति भी दोषपूर्ण है। महँगी के युग में उन्हें वेतन अच्छा अवश्य मिलना चाहिये, इसमें जरा भी दो मत नहीं हो सकते। पर उनमें काम न करके पैसे लेने की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है, यह

प्रत्यक्ष राष्ट्रकी हानि है। इससे उत्पादन घटता है, उत्पादित घटता है, उत्पादित वस्तु का मूल्य बढ़ता है, पूँजी लगाने वालों को लाभ कम मिलता है और श्रमिकों में अकर्मण्यता तथा आलस्य-प्रमाद की आदत पड़ जाती है, जो आगे चलकर उनके लिये तथा प्रकारान्तर से देश के लिए बड़ी घातक होती हैं। सरकारको इन विषयों पर गहराई से विचार करना चाहिये। मेरी समझ से मूल्यों पर तथा यातायात पर कम-से-कम प्रतिबन्ध लगाये जायँ, उत्पादन पर प्रतिवन्ध न लगे, निजी उद्योगों पर प्रतिबन्ध हटा दिये जायँ, व्यापारियों को बेरोकटोक प्रतियोगिता करने दिया जाय और माल चाहे जहाँ, भेजा-लाया जा सके तो बहुत कुछ सन्तुलन ठीक हो सकता है।

इधर व्यापार-संगठनों के राष्ट्रीयकरण या सरकारीकरण की बातें बहुत उठ रही हैं। प्रतिबन्ध तो जब-तब लगाये ही जाते हैं; पर ध्यान देकर देखा जाय तो अबतक के अनुभव से यही सिद्ध होता है कि उन्धोगधन्धों के क्षेत्र में सरकार प्रायः असफल हो रही है। रेलवे में जो सदा ही नफा करती आयी है, घाटे के दर्शन होने लगे हैं। यह खेदकी बात है। यह कार्य-कुशलताका लक्षण नहीं है। सरकारी उद्योगधन्धों में घाटे के कारणों में व्यक्तिगत नीच स्वार्थ, बढी हुई चोरी तो कारण है ही, संचालन की त्रुटि भी एक प्रधान कारण है। वस्तुतः सरकारी उद्योगधन्धों की स्थिति आज बड़ी शोचनीय है। कोई भी विचारशील निरपेक्ष पुरुष उस स्थिति से संतुष्ट नहीं हो सकता। सरकारी उद्योगधन्धों में जितनी पूंजी लगी है, उसके अनुपात से लाभ बहुत ही कम मिला है, सभी प्रकारके खर्च की अधिकता है, उत्पादन की कोई खास चिन्ता नहीं। अफसराना ढंग के अधिकारियों का नुकसान में अंग नहीं कटता, इसीलिये वे उसमें लापरवाह रहते हैं। चीजें उजड़ती-बिगड़ती हैं, उत्पादन नहीं होता। पर वे इससे दुःखी नहीं होते; अवश्य ही अपने कागज-कलमको वे ठीक रखते हैं। यह स्थिति है। सरकारी कारखाने तभी सफल समझे जायँगे, जब उनमें लगी हुई पूँजी देश को बदले में पूरा लाभ देगी और तभी उनकी प्रशंसा भी होगी।

अतएव सरकार को मेरी समझ से नये-नये उद्योगों का राष्ट्रीयकरण न करके अथवा नये सरकारी उद्योगधन्धे न खोलकर पुराने चलाये हुये कामों को सम्भालना तथा उनकी त्रुटियों को दूर करके उन्हें सफल बनाना चाहिये। और सरकार को उन्हीं महत्त्वपूर्ण कार्यों को करना चाहिये, जिन्हें सरकार ही भलीभांति कर सकती है, दूसरे नहीं। शेष उद्योग-धन्धों के सारे कार्यों को निजी तौर पर करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये। जैसे पड़ोसी छोटे-से देश जापान की सरकार देश के अर्थतन्त्र के विकास के लिये मार्ग-दर्शन करती है, सहकार करती है, अर्थ-सहयोग देती है, पर निजी कार्यों में दखल नहीं देती। जापान में उद्योगधन्धों का सरकारी क्षेत्र भारत की अपेक्षा बहुत ही सीमित है। इसी प्रकार यहां भी करना चाहिये।

ईमानदारी घटने का एक प्रधान कारण 'जीवनस्तर ऊँचा करने का' आन्दोलन भी है। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों में देखादेखी अनावश्यक अभाव बढ़ गया, आदतें बिगड़ गयीं, जीवन खर्चीला हो गया, स्वयं श्रम करने और काम संभालने की वृत्ति घट गयी, आमोद-प्रमोद, छायाचित्र आदि के व्यसन बढ़ गये। इससे कुशिक्षा तथा असदाचार को प्रोत्साहन

मिला। शिक्षालयों की स्थिति बिगड़ी। अप्रौढ़ धर्महीन शिक्षा मिली। फलतः चरित्रहीन, संस्कारहीन जीवन का निर्माण होने लगा। उसीका दुष्परिणाम है—वर्तमान बढ़ती हुई अराजकता, किसी का भी किसी भी व्यवस्था को न मानना और इसमें गौरव का अनुभव करना, लूटपाट करना, राष्ट्रीय सम्पत्ति का नाश करना, तोड़-फोड़ करना, आग लगाना और दंगाई हिंसात्मक प्रवृत्तियों के लिये उत्साहित रहना। फलस्वरूप—बाजार में अशान्ति, घर में अशान्ति, शिक्षालयों में अशान्ति, सरकारी कार्यालयों में अशान्ति, कारखानों में अशान्ति—ऐसी सार्वत्रिक अशान्ति में व्यापार कैसे पनपे ? वहाँ तो शान्ति चाहिये। फिर, आये दिन व्यापारियों के प्रति सरकार के नये-नये प्रतिबन्ध तथा कानूनों का आतङ्क, बैंकों की सहूलियत छिन जाने की आशङ्का, कम्यूनिस्टों का बढ़ता हुआ भय तथा पड़ोसी देशों के द्वारा आक्रमण की तैयारी और व्यापारियों की अपनी झूठी शान के लिये बढ़ाये हुए अभावों की पूर्ति के हेतु नीच स्वार्थ-साधना की वृत्ति, चोरी-असत्य की बढ़ती हुई आदतें—वर्तमान व्यापारी जगत् की यह दुःस्थिति वस्तुतः बड़ी ही भयानक है।

इधर सरकार की बड़ी विचित्र 'विकास-योजना' चल रही है। उससे कुछ सुविधाएँ अवश्य हुई हैं, पर अब तक विकास के नाम पर जो कुछ हुआ है, उसे 'विनाश' न भी कहें तो यह तो कहा ही जा सकता है कि जो नैतिक विकास, समाज के लिये नित्य वाञ्छनीय है, वह तो नहीं हुआ। बल्कि इससे देश में नैतिक और भौतिक दोनों ही प्रकार की दरिद्रता और निराशा की वृद्धि अधिकांश में हुई है। देश में आज चारों ओर त्राहि-त्राहि मची है। करोड़ों नर-नारी महंगी की भयानक चक्की में बुरी तरह पिसे जा रहे हैं। लोगों के नैतिक चरित्र का बुरी तरह पतन हुआ है और अशान्ति बढ़ी है। कुछ समय पूर्व श्रीजयप्रकाशनारायणजी ने कहा था—

'विकास-योजना तो निष्फल गयी ही और लोगों में सत्ता तथा धन प्राप्त करने की होड़ चली और अनुचित लाभ उठाने के लिये राजकीय पक्ष के ग्रामीण क्षेत्रों ने पहुँचकर गांवों में झगड़ने की जड़ रोप दी।'

इन विकास योजनाओं के लिये हमारी सरकार ने ऋण लेना स्वीकार किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत के पास अपनी पूँजी थी। अब बीस वर्षों में जो ऋण बढ़ा है, उसके आंकड़े सभी को चौंका देने वाले हैं।

सन् १९६७-६८ के अन्त तक भारत पर ११,७२६ करोड़ ३१ लाख यानी १,१७,२६,३१,००,००० एक खरब सत्रह अरब छब्बीस करोड़ इकतीस लाख रुपये कर्ज के देने होंगे। सम्मान्य श्रीमोरारजी भाई के कथनानुसार सन् १९६७ के मार्च की ३१ तारीख को ४७,९७,७७,००,००० सैंतालीस अरब, सत्तानबे करोड़ सतहत्तर लाख रुपये केवल विदेशों का ऋण देना था। इसमें से इस वर्ष मूल रकम की किश्त के १६७.४९ करोड़ तथा व्याज पेटे १४१.४७ करोड़ रुपये चुकाने पड़ेंगे। श्रीमोरारजी भाई की गणना के अनुसार आगामी सन् २०१७ के मार्च की ३१ तारीख तक पचास वर्षों में अन्तिम किश्त चुकायी जा सकेगी।

यह सभी जानते हैं कि व्यक्ति हो चाहे राष्ट्र, बहुत अधिक ऋण बढ़ जाने से आर्थिक स्थिति बड़ी कमजोर हो जाती है, साख घटती है, सिर नीचा होता है और उसका बुरा प्रभाव

सभी क्षेत्रों पर पड़ता है। फिर एक बुरी आदत पड़ जाती है। जब तक ऋण मिलता है, तब तक ऋण लेकर ही सब काम बड़ी शान से करने का मन रहता है। फिर वह चाहे हमारी सरकार की भांति नया उद्योगधन्धा हो या भूखे पेट में दाने डालने के लिये अनाज का प्रयोजन हो; शासन सुदृढ़ बनाना हो या युद्धसामग्री का निर्माण या संग्रह करना हो; हवाई विमानों, समुद्री जहाजों या रेलों का सुधार-निर्माण हो या सड़कें-नहरें आदि निकालना हो—एक-दूसरे प्रदेशों में, विभागों में शासन तथा व्यक्तियों में इसके लिये प्रतिद्वन्द्विता और आग्रह-दुराग्रह चलते हैं। भगवत्कृपा से उत्पादन बढ़ जाय, यथार्थरूप में विकास हो, तब तो किसी तरह काम चल जाता है; पर कहीं दुर्भाग्यवश ऐसा न हो तो फिर बढ़ा हुआ कर्ज राष्ट्र के सम्मान तथा गौरव को नष्ट करने में कारण बनता है। भगवान् ही जाने देश का क्या होनेवाला है ?

इसमें जो कुछ भी कहा गया है, वह किसी दूसरे की आलोचना नहीं है। अपने द्वारा अपनी ही स्थिति का दिग्दर्शन मात्र है, क्योंकि हम ही व्यापारी हैं, हम ही सरकार हैं, हम ही मालिक हैं, हम ही मजदूर हैं। सब एक ही शरीर के विभिन्न अङ्ग हैं।

भगवान् हम सबको सद्बुद्धि दें। सरकारी अधिकारी, व्यापारी सभी व्यक्तिगत संकुचित स्वार्थ को छोड़कर देश तथा राष्ट्र का हित सोचें तथा धर्मसम्मत सर्वहितकारक अर्थोपार्जन एवं अर्थतन्त्र का संचालन करें तो सभी का कल्याण हो सकता है। जब से समझें, तभी से मङ्गल।



अर्थशास्त्र और नैतिक मूल्य

जे० एस० माथुर

आज के युग में, जब कि प्रत्येक व्यक्ति भौतिक सुख एवं कल्याण के ही संदर्भ में सोचता है, विकास एवं प्रगति के आर्थिकेतर पक्षों पर विचार करना विरोधाभास प्रतीत होगा। परन्तु आज विश्व ऐसी स्थिति में पहुँच गया है कि मानवजाति के समक्ष विशुद्ध आर्थिक स्वार्थों एवं प्रेरणाओं के कारण उपस्थित गंभीर संकटों पर विचार करना अनिवार्य हो गया है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि यदि समाज के लिये अपरिहार्य आर्थिकेतर मूल्यों की उपेक्षा की गई तो वर्तमान आर्थिक ढाँचा भी अधिक समय तक कायम नहीं रह सकेगा। इन्हीं संकटों के प्रति हमें आगाह करते हुये बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा था—"मैं नही जानता कि हमारी विपत्ति में कौन सी विभीषिकाएँ होंगी, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि कोई आमूल परिवर्तनकारी कदम नहीं उठाया गया तो विज्ञानोन्मुख मानव जाति का विनाश निश्चित है। आज की दुनिया में विनाश का एक सक्रिय एवं प्रभावी संकल्प कार्य कर रहा है जो आज तक हर विपत्ति में विवेक पर विजयी रहा है। यदि हमें जीवित रहना है तो इस स्थिति को रोकना आवश्यक है।"[1] अल्बर्ट स्वेत्ज़र का कथन है, "अब यह प्रत्येक व्यक्ति को सुस्पष्ट हो गया है कि सभ्यता का आत्मघात प्रगति पर है। इसमें जो कुछ अवशिष्ट रह गया है, वह भी अधिक सुरक्षित नहीं है। यह अभी भी अवशिष्ट है, केवल इसलिये कि यह उन विध्वंसकारी शक्तियों के दबाव से बच गया जिनसे अन्य और भाग अभिभूत हो गए, परन्तु उसी की भाँति यह भी रेत पर टिका है और कोई अगला शैलपात, बहुत कुछ संभव है, इसे भी बहा ले जाय।[2]

मानवका पर यह संकट इसलिये आ पड़ा है कि वर्तमान आर्थिक ढाँचा ही मानवीय मूल प्रवृत्तियों को भ्रान्त धारणा को अनुचित महत्त्व देता है और मिथ्या मूल्यों का आग्रह करता है। आज के आर्थिक जीवन की मौलिक मान्यता ही है, आकांक्षाओं में अनियंत्रित वृद्धि और परिणामस्वरूप इन अतोषणीय आकांक्षाओं की संतुष्टि के लिये अधिकाधिक प्रयत्न। अर्थशास्त्री आकांक्षाओं की अतोषणीयता को प्रगति का एक माध्यम मानते हैं। वास्तव में व्यक्ति का मूल्यांकन उसके गुणों से नहीं अपितु उसकी भौतिक सम्पन्नता एवं प्रभाव से किया जाता है। "विगत दो शताब्दियों में यंत्रों के प्रसार के साथ-साथ आवश्यकता-वृद्धि का मत भी फैला। उद्योगों का लक्ष्य केवल उत्पादन-वृद्धि एवं उत्पादन की वस्तुओं में विविधता लाना ही नहीं रहा, बल्कि उनका प्रयोग वस्तुओं की माँग बढ़ाने के लिये भी किया गया। हम आवश्यकतामूलक अर्थ-व्यवस्था से अभिग्रहणमूलक अर्थ-व्यवस्था में आ गए।"[3] अभिग्रह-

---

१. हैज मैन ए फ्यूचर, पृ० ३६-३७

२. डिके एण्ड रेस्टीरेशन, ऑव सिविलाइज़ेशन, पृ० १६

३. ल्युइस ममफोर्ड-कोटेड बाई हेरिस ब्राउन-दि चैलेन्ज आफ मैन्स फ्यूचर, पृ० १८७

णमूलक अर्थ-व्यवस्था ही आज सर्वमान्य प्रतीत होती है। राजा मोदास को भी कुछ ऐसीं ही आकांक्षा थी परन्तु उसे उसका क्या फल भोगना पड़ा, यह हम सब को भली-भाँति मालूम है! आज के समाज का भी वही हाल है। आधुनिक मानव की कल्पना का स्वर्ग सम्भवतः एक ऐसा विभागीय भण्डार होगा जिसमें नित्य नई वस्तुएँ आती रहें और जिसमें हर मनचाही वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रचुर धनराशि हो। हमारी उत्पादन-प्रणाली प्रतिदिन नई आवश्यकताओं को जन्म देती रहती है और उनकी संतुष्टि के नये नये साधन भी प्रस्तुत करती जाती है। उत्पादन एवं उपभोग स्वयं में ही साध्य बन गए हैं।

"अधिक उत्पादन ही क्यों?" और "तरह-तरह की वस्तुओं की जरूरत ही किस लिए?"—इन प्रश्नों पर कोई विचार ही नहीं करता।

एक ऐसे समाज में, जिसमें सामाजिक स्तर और प्रतिष्ठा वस्तुओं के स्वामित्व और उपयोग के लिये प्रतियोगिता चलती रहे स्वभावतः किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति की तृष्णा शायद ही शान्त की जा सकती है। स्पष्टतः सम्पत्ति की सार्वजनीन तृष्णा की शांति का प्रश्न ही नहीं उठता। सम्पत्ति का कितना भी समान, व्यापक एवं उचित वितरण क्यों न किया जाय, सामुदायिक सम्पत्ति की कितनी ही वृद्धि क्यों न हो जाय, पर यह तृष्णा जिसके मूल में दूसरों के सम्पत्ति के स्वामित्व में अतिक्रमण कर जाने की भावना विद्यमान है, शान्त नहीं हो सकती। किसी निर्णायक उपलब्धि का कोई प्रयास ही सम्भव नहीं है क्योंकि यह संघर्ष वास्तव में प्रतिष्ठा की एक होड़ है जो ईर्ष्या पर आधारित है।"[1]

भौतिक सम्पन्नता के विभिन्न पागल-प्रयासों के कारण उत्पादन प्रणाली ऐसी हो गई है जिसमें मशीनी संस्कृति का प्रभुत्व है। उत्पादन उत्तरोत्तर जटिल, यांत्रिक और केन्द्रित होता जा रहा है। परिणामस्वरूप प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग हो रहा है। शक्ति के अपूरणीय स्रोतों का द्रुतगति से शोषण किया जा रहा है तथा उनके स्थान पर नवीनतर स्रोतों की खोज की जा रही है। शक्ति के साधन के रूप में कोयले का स्थान पहले भाप और उसके बाद विद्युत् ने ले लिया। आज जैसे-जैसे शक्ति के पुराने स्रोतों का क्षरण होता जा रहा है, नए-नए स्रोत खोजे जा रहे हैं।

"छोटी से छोटी यांत्रिक क्रिया भी जितनी शक्ति उत्पन्न नहीं करती उत्पन्न नहीं उससे अधिक शक्ति खर्च करती है, फिर इन सब क्रियाओं में खर्च होने वाली शक्ति सम्मिलित रूप से कैसे बहुलता प्रदान कर सकती है। तकनीकी विकास से सम्पन्नता असम्भव है। वस्तुतः होता यह है कि उपयोग शनैः शनैः हमेशा बढ़ता ही जाता है। यह एक नृशंस बर्बादी है जिसका कोई दूसरा उदाहरण नहीं है। साधनों की अधिकाधिक बर्बादी वर्तमान तकनीक की विशेषता है। इस बरबादी से ही इसका अस्तित्व और प्रसार सम्भव है।"[2] यही कारण है कि तकनीक से अंत में प्राकृतिक साधनों की समाप्ति एवं मानव जाति की निर्धनता ही हाथ लगती है। "यह निर्धनता तकनीकी प्रयत्नों से दूर नहीं की जा सकती। यह तो स्वयं

---

१. वेबलेन—दि थियोरी आफ़ लेज़र क्लास, पृ० ३२।

२. दि फ़ेल्योर ऑफ़ टेक्नॉलाजी, पृ० २०।

तकनीक में ही अंतर्निहित है । यह तकनीक औद्योगिक युग के साथ ही आगे बढ़ी है और अन्त तक बढ़ती ही रहेगी ।"[1]

साधनों की समाप्ति के फलस्वरूप संगठन का उत्तरोत्तर वैज्ञानिक पुनर्गठन भी हुआ है। और व्यक्ति का नियंत्रण इसी उद्देश्य से खास तौर पर प्रशिक्षित विशेषज्ञों के हाथ में आ गया है । "और जैसे-जैसे निर्धनता बढ़ती है, संगठन का व्यक्ति पर दबाव बढ़ता जाता है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक हो जाता है कि उसे अन्तिम बूँद तक निचोड़ लिया जाय । यह निर्दयता मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में लक्षित होती है । ऐसी दशा अवरुद्ध नगरों, देशों और पोतों में, जिनकी रसद कम हो रही हो, दिखाई पड़ती है ।"[2] औद्योगिक संगठनों में ऐसे कर्मचारियों की संख्या लगातार तेजी से बढ़ रही है जो पूर्णतया अनुत्पादक हैं । "यदि आज अन्वेषकों का आवाहन किया जा रहा है और उन्हें अपनी प्रतिभा का प्रमाण देने, आगे बढ़ने और अधिक तेजी से उत्पादन बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है तो इसका उद्देश्य यही है कि भूमि के शोषण के साधनों के वैज्ञानिकीकरण द्वारा भूमि का अधिकाधिक शोषण किया जाय ।"[3]

बढ़ते हुए संगठन तथा उसकी पूर्णता के कारण शोषण के नए माध्यम स्थापित हो गए हैं । यहाँ तक कि समाजवादी देशों में भी विशेषज्ञ दूसरों पर नियंत्रण का अधिकार प्राप्त कर लेता है और उसका यह अधिकार बढ़ता ही रहता है । वैज्ञानिक प्रगति से उत्पन्न संगठन की कठोरता का यह अवश्यम्भावी परिणाम होता है । यह अनुत्तरदायी और परोक्ष सत्ता शक्ति बनने में प्रवृत्त होता है । "अधिकारियों की यह निरंकुशता बढ़ते हुए संगठन का सर्वाधिक दुष्परिणाम है । और यदि वैज्ञानिक समाज कुछ दफ्तरशाही की उद्धत नौकरशाही को बर्दाश्त करने के लिये कतई नहीं तैयार हैं तो इससे बचाव का उपाय अत्यन्त आवश्यक है ।"[4]

ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति अपने को खोया हुआ और अकेला महसूस करता है । लोक-प्रत्यायन किंवा सम्मोहन के साधनों के माध्यम से हम अधिकांश जनता को यह समझाने में संयुक्त हो गए हैं कि उनके कल्याण का सर्वोत्तम निर्णय सत्तारूढ़ व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है । दो-तीन पीढ़ियों से असंख्य व्यक्ति श्रमिकों के रूप में जी रहे हैं, मानव के रूप में नहीं । तकनीकी प्रगति के साथ साथ असहायता और असुरक्षा की भावना भी बढ़ती जा रही है । अनवरत एवं द्रुत परिवर्तन ने इस भावना में वृद्धि की है, इस को तीव्र-तर किया है । "प्रविधिज्ञों के प्रयत्नों से मानव जीवन का प्रयोजन जितना सीमित हुआ है, आध्यात्मिक शून्यता या रिक्तता की भावना उतनी ही बढ़ी है । और इस प्रकार शून्यता-जन्म संत्रास प्रविधिज्ञ दुनिया की सृष्टि का अंग है । यह संत्रास मानव चेतना में विविध रूपों में

---

१. दि फेल्योर ऑफ टेक्नॉलाजी, पृ० १३ ।
२. वही पृ० १७ ।
३. वही पृ० ८३ ।
४. रसेल दि इम्पैक्ट ऑफ साइंस आन सोसाईटी, पृ० ७२ ।

णमूलक अर्थ-व्यवस्था ही आज सर्वमान्य प्रतीत होती है। राजा मोदास को भी कुछ ऐसी ही आकांक्षा थी परन्तु उसे उसका क्या फल भोगना पड़ा, यह हम सब को भली-भाँति मालूम है! आज के समाज का भी वही हाल है। आधुनिक मानव की कल्पना का स्वर्ग सम्भवतः एक ऐसा विभागीय भण्डार होगा जिसमें नित्य नई वस्तुएँ आती रहें और जिसमें हर मनचाही वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रचुर धनराशि हो। हमारी उत्पादन-प्रणाली प्रतिदिन नई आवश्यकताओं को जन्म देती रहती है और उनकी संतुष्टि के नये नये साधन भी प्रस्तुत करती जाती है। उत्पादन एवं उपभोग स्वयं में ही साध्य बन गए हैं।

"अधिक उत्पादन ही क्यों?" और "तरह-तरह की वस्तुओं की जरूरत ही किस लिए?"—इन प्रश्नों पर कोई विचार ही नहीं करता।

एक ऐसे समाज में, जिसमें सामाजिक स्तर और प्रतिष्ठा वस्तुओं के स्वामित्व और उपयोग के लिये प्रतियोगिता चलती रहे स्वभावतः किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति को तृष्णा शायद ही शान्त की जा सकती है। स्पष्टतः सम्पत्ति की सार्वजनीन तृष्णा की शांति का प्रश्न ही नहीं उठता। सम्पत्ति का कितना भी समान, व्यापक एवं उचित वितरण क्यों न किया जाय, सामुदायिक सम्पत्ति की कितनी ही वृद्धि क्यों न हो जाय, पर यह तृष्णा जिसके मूल में दूसरों के सम्पत्ति के स्वामित्व में अतिक्रमण कर जाने की भावना विद्यमान है, शान्त नहीं हो सकती। किसी निर्णायक उपलब्धि का कोई प्रयास ही सम्भव नहीं है क्योंकि यह संघर्ष वास्तव में प्रतिष्ठा की एक होड़ है जो ईर्ष्या पर आधारित है।"[१]

भौतिक सम्पन्नता के विभिन्न पागल-प्रयासों के कारण उत्पादन प्रणाली ऐसी हो गई है जिसमें मशीनी संस्कृति का प्रभुत्व है। उत्पादन उत्तरोत्तर जटिल, यांत्रिक और केन्द्रित होता जा रहा है। परिणामस्वरूप प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग हो रहा है। शक्ति के अपूरणीय स्रोतों का द्रुतगति से शोषण किया जा रहा है तथा उनके स्थान पर नवीनतर स्रोतों की खोज की जा रही है। शक्ति के साधन के रूप में कोयले का स्थान पहले भाप और उसके बाद विद्युत् ने ले लिया। आज जैसे-जैसे शक्ति के पुराने स्रोतों का क्षरण होता जा रहा है, नए-नए स्रोत खोजे जा रहे हैं।

"छोटी से छोटी यांत्रिक क्रिया भी जितनी शक्ति उत्पन्न नहीं करती उत्पन्न नहीं उससे अधिक शक्ति खर्च करती है, फिर इन सब क्रियाओं में खर्च होने वाली शक्ति सम्मिलित रूप से कैसे बहुलता प्रदान कर सकती है। तकनीकी विकास से सम्पन्नता असम्भव है। वस्तुतः होता यह है कि उपयोग शनैः शनैः हमेशा बढ़ता ही जाता है। यह एक नृशंस बर्बादी है जिसका कोई दूसरा उदाहरण नहीं है। साधनों की अधिकाधिक बर्बादी वर्तमान तकनीक की विशेषता है। इस बरबादी से ही इसका अस्तित्व और प्रसार सम्भव है।"[२] यही कारण है कि तकनीक से अंत में प्राकृतिक साधनों की समाप्ति एवं मानव जाति की निर्धनता ही हाथ लगती है। "यह निर्धनता तकनीकी प्रयत्नों से दूर नहीं की जा सकती। यह तो स्वयं

---

१. वेबलेन—दि थियोरी आफ़ लेज़र क्लास, पृ० ३२।

२. दि फेल्योर ऑफ़ टेक्नॉलाजी, पृ० २०।

तकनीक में ही अंतर्निहित है। यह तकनीक औद्योगिक युग के साथ ही आगे बढ़ी है और अन्त तक बढ़ती ही रहेगी।"[1]

साधनों की समाप्ति के फलस्वरूप संगठन का उत्तरोत्तर वैज्ञानिक पुनर्गठन भी हुआ है। और व्यक्ति का नियंत्रण इसी उद्देश्य से खास तौर पर प्रशिक्षित विशेषज्ञों के हाथ में आ गया है। "और जैसे-जैसे निर्धनता बढ़ती है, संगठन का व्यक्ति पर दबाव बढ़ता जाता है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक हो जाता है कि उसे अन्तिम बूँद तक निचोड़ लिया जाय। यह निर्दयता मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में लक्षित होती है। ऐसी दशा अवरुद्ध नगरों, देशों और पोतों में, जिनकी रसद कम हो रही हो, दिखाई पड़ती है।"[2] औद्योगिक संगठनों में ऐसे कर्मचारियों की संख्या लगातार तेजी से बढ़ रही है जो पूर्णतया अनुत्पादक हैं। "यदि आज अन्वेषकों का आवाहन किया जा रहा है और उन्हें अपनी प्रतिभा का प्रमाण देने, आगे बढ़ने और अधिक तेजी से उत्पादन बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है तो इसका उद्देश्य यही है कि भूमि के शोषण के साधनों के वैज्ञानिकीकरण द्वारा भूमि का अधिकाधिक शोषण किया जाय।"[3]

बढ़ते हुए संगठन तथा उसकी पूर्णता के कारण शोषण के नए माध्यम स्थापित हो गए हैं। यहाँ तक कि समाजवादी देशों में भी विशेषज्ञ दूसरों पर नियंत्रण का अधिकार प्राप्त कर लेता है और उसका यह अधिकार बढ़ता ही रहता है। वैज्ञानिक प्रगति से उत्पन्न संगठन की कठोरता का यह अवश्यम्भावी परिणाम होता है। यह अनुत्तरदायी और परोक्ष सत्ता शक्ति बनने में प्रवृत्त होता है। "अधिकारियों की यह निरंकुशता बढ़ते हुए संगठन का सर्वाधिक दुष्परिणाम है। और यदि वैज्ञानिक समाज कुछ दफ्तरशाही की उद्धत नौकरशाही को बर्दाश्त करने के लिये कतई नहीं तैयार हैं तो इससे बचाव का उपाय अत्यन्त आवश्यक है।"[4]

ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति अपने को खोया हुआ और अकेला महसूस करता है। लोक-प्रत्यायन किंवा सम्मोहन के साधनों के माध्यम से हम अधिकांश जनता को यह समझाने में संयुक्त हो गए हैं कि उनके कल्याण का सर्वोत्तम निर्णय सत्तारूढ़ व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है। दो-तीन पीढ़ियों से असंख्य व्यक्ति श्रमिकों के रूप में जी रहे हैं, मानव के रूप में नहीं। तकनीकी प्रगति के साथ साथ असहायता और असुरक्षा की भावना भी बढ़ती जा रही है। अनवरत एवं द्रुत परिवर्तन ने इस भावना में वृद्धि की है, इस को तीव्र-तर किया है। "प्रविधिज्ञों के प्रयत्नों से मानव जीवन का प्रयोजन जितना सीमित हुआ है, आध्यात्मिक शून्यता या रिक्तता की भावना उतनी ही बढ़ी है। और इस प्रकार शून्यता-जन्म संत्रास प्रविधिज्ञ दुनिया की सृष्टि का अंग है। यह संत्रास मानव चेतना में विविध रूपों में

---

१. दि फेल्योर ऑफ टेक्नॉलाजी, पृ० १३।
२. वही पृ० १७।
३. वही पृ० ८३।
४. रसेल दि इम्पैक्ट ऑफ साइंस आन सोसाईटी, पृ० ७२।

समाविष्ट हो जाता है—ऊब, विषाद, असारता, उद्देश्य-विहीनता घबराहट और बेचैनी की अनुभूतियों के रूप में।"[1]

इस दृष्टिकोण ने प्रत्येक व्यक्ति को अत्यन्त स्वार्थी एवं आत्मकेन्द्रित बना दिया है। उसे दूसरों की समस्याओं की कोई फिक्र ही नहीं। और वह कभी एक क्षण के लिये भी विचार नहीं करता कि उसके कार्यों का समाज के अन्य सदस्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है। एक सामान्य अमरीकी नागरिक की प्रवृत्तियों का वर्णन करते हुये एक विख्यात समाजशास्त्री ने कहा—"आज का सामान्य अमरीकी नागरिक प्रायः निजी समस्याओं से ही सम्बन्ध रखता है। सम्बन्ध रखने से मेरा तात्पर्य है कि नागरिक उस समस्या के विषय में केवल चर्चा करने तक ही सीमित न रहे अपितु कभी-कभी उसकी नींद भी हराम हो जाय। स्वास्थ्य, सम्पत्ति एवं परिवार से सम्बन्धित समस्याओं से तो उसकी नींद हराम हो जाती है, पर सामाजिक समस्याओं से उसकी नींद नहीं हराम होती, क्योंकि वह सामाजिक महत्त्व के अनुभवों एवं दूसरों से सम्पर्क को अपने जीवन का अंग नहीं समझता। वह तो अपने ही स्वार्थ से मतलब रखने वाला समाजनिरपेक्ष व्यक्ति है।" "देश के भीतर और बाहर-सर्वत्र, समाज ऐसे वर्गों में बँटता जा रहा है जिनमें एक दूसरे के प्रति विद्वेष निरन्तर बढ़ता जा रहा है। सहयोग का ध्यान अविवेकजन्य घृणा लेती जा रही है इतिहास की अनेक शक्तिशाली सभ्यताओं के पतन की यह पूर्व पीठिका रही है। ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है कि हमारी नियति इससे भिन्न होगी, जब तक कि हम समस्या को स्पष्ट रूप से नहीं कहते और आज के सामाजिक, वैयक्तिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में पाये जाने वाले विशिष्ट वर्ग (इलाईट) से उत्कृष्ट वर्ग विकसित करने का प्रयत्न नहीं करते। सामाजिक जीवन प्राणीजीवन से कम से कम एक माने में समानता रखता है, वह यह कि जब सामान्य विकास अवरुद्ध हो जाता है तब वैकारिक प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। यह सौहार्द या सहिष्णुता से अविश्वास तक का छोटा कदम ही है जहाँ से सामान्य सामाजिक सम्बन्ध शिथिल होते हैं।"[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मकेन्द्रितता, तथा समाज (जिसके हम अभिन्न अंग हैं) की चिन्ता के अभाव से समाज जीवित नहीं रह सकता। इससे गम्भीर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाने की आशंका है। अस्तु। किसी बाह्य एजेंसी की आवश्यकता है जो उन मान्यताओं पर नियंत्रण रक्खे जो आज असंख्य लोगों को प्रेरणा प्रदान कर रहीं हैं। समूह में हम 'कल्याण' 'समता' 'समदृष्टि' 'निष्पक्षता' आदि के आधार पर सोचते हैं। परन्तु ऐसे आन्दोलनों को स्वतः बहुत थोड़ी या नगण्य गति मिल पाती है क्योंकि वैयक्तिक मूल्यों एवं विशिष्टताओं तथा सामुदायिक या वर्गीय प्रतिमानों एवं मानदंडों में स्वाभाविक अंतर्विरोध है। चूँकि व्यक्ति दूसरों के हितों का ध्यान रखने का अभ्यस्त नहीं है इसलिये सरकार या राज्य के रूप में किसी बाह्य सर्वशक्तिमान् सत्ता को सामुदायिक कल्याण की व्यवस्था करनी पड़ती है। गैसेट दसे 'यूरोपीय सभ्यता के लिये गम्भीरतम खतरा 'मानते हुये कहते हैं—"इसका उद्गम स्वयं संस्कृति में ही है, किंच यह उसकी महिमा का एक अंग है।"[3] इसी क्रम में वे कहते हैं,

---

१. वही, फ्युचर ऑफ टेक्नॉलाजी, पृ० १३१।

२. इरिक फ्राम्म—फ्रीडम इन वर्क सिचुएशन, पृ० ६–७।

३. मेयो, स्पेशल प्राब्लम्स आफ एन इण्डस्ट्रियल सिविलाइजेशन, पृ० ११९।

"हमारे युग में राज्य एक जटिल यंत्र बन गया है। जो आश्चर्यजनक ढंग से कार्य करता है और जिसकी कुशलता भी साधनों के गुण एवं सूक्ष्मता के कारण आश्चर्यजनक है। एक बार समाज में उसकी स्थापना हो जाने पर उसके बृहत् यंत्रों को चलित होने एवं इस प्रकार समाज के किसी भी अंग पर व्यापक प्रभाव डालने के लिए एक बटन दबाने को ही देरी रह जाती है।"[२] राज्य का हस्तक्षेप आज को सभ्यता के समक्ष उपस्थित गंभीरतम खतरों में से अन्यतम है। वास्तव में अब ऐसा समय आ गया है जब कि समाज का अस्तित्व राज्य के लिये होगा और मनुष्य का शासन-तंत्र के लिपे। गाँधीजी ने कहा था—"राज्य शक्ति की वृद्धि को मैं सर्वाधिक भय की दृष्टि से देखता हूँ क्योंकि बाह्य रूप से शोषण को कम करके भलाई करती हुई भी वह शक्ति वैयक्तिकता को जो कि प्रत्येक प्रगति के मूल में हैं, समाप्त करके मानवता का सबसे बड़ा अहित करती हैं।"[३] उनकी दृष्टि में राज्य संगठित एवं केन्द्रित हिंसा का प्रतीक है। इन प्रवृत्तियों ने, जो कि आज सभ्यता के लिये आतंक बनी हुई हैं, गम्भीरचेता विचारकों को वर्तमान समाज के भविष्य के प्रति संशयालु बना दिया है। हमें लार्ड रसेल को चेतावनी पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि "सम्भवतः हम मानवता के अंतिम चरण में रह रहे हैं और यदि ऐसा है, तो उसके बिनाश का दायित्व विज्ञान पर ही होगा।"[४]

इसलिए गाँधीजी ने इसे बात की हिमायत की कि हम अपनी आवश्यकताओं को अनन्त सीमा तक बढ़ाने की प्रवृत्ति का स्वेच्छया नियमन करें उन्होंने कहा—"हमारी सभ्यता-हमारी संस्कृति, हमारा स्वराज्य अपनी आवश्यकताओं के परिसीमन या आत्म-निग्रह पर निर्भर हो, न कि उनकी वृद्धि या आत्मरति पर।"[५] अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने बाइबिल का यह उदाहरण प्रस्तुत किया—"धनवान् के लिए प्रभु के साम्राज्य में प्रवेश पाना कितना दुष्कर होगा। एक ऊँट का सुई छेद से निकलता एक धनवान् के प्रभु के साम्राज्य में प्रवेश पाने की बनिस्बत कहीं आसान होगा।" मनुष्य का सुख संतोष में ही निहित है। जिसे संतोष नहीं है, वह चाहे जितना धन रक्खे पर अपनी इच्छाओं का दास ही रहेगा। यह कहना निरा पागलपन होगा कि विश्व के हर व्यक्ति को न्यूनतम परिश्रम से उच्चतम सम्भव जीवन स्तर प्राप्त हो। किसी भी समाज का समष्टिरूप से विलासपूर्ण जीवनयापन एक असम्भव कल्पना है और जब कि बिलासिता को कोई सीमा ही नहीं है।तो हम कहाँ जाकर रुकेंगे। इसलिए हमें अपनी आवश्यकताओं के नियमन के संदर्भ में सोचना चाहिए। "एक सीमा तक भौमिक सुविधा आवश्यक है लेकिन उसके वाद यह साधक न रह कर बाधा बन जाती है। अतएव असीमित संख्या में आकांक्षाओं को उत्पन्न और सन्तुष्ट करते जाने का आदर्श मात्र प्रवंचना एवं भ्रमजाल है। इसके पहिले कि उसको परिणति शारीरिक एवं बौद्धिक

१. गैसेट—दि रिवोल्ट ऑफ दि मासेस, पृ० ८५
२. ,, वही , पृ० ८७
३. मैथर्स—इका० थाट् पृ० ५२९
४. इम्पैक्ट—आफ साइंस आन सोसाइटी, पृ० १२७
५. इका० थाट्स पृ० ५२७

ऐयाशी में हो जाय मनुष्य की सभी शारीरिक और बौद्धिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का एक सीमा पर विराम हो जाना चाहिए। मनुष्य को अपनी समस्त भौतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों को इस ढंग से व्यवस्थित करना चाहिये कि वे मानवता को सेवा में, जिस पर उसको सभी शक्तियाँ केन्द्रित हों, बाधा न उपस्थित कर सकें।"[१]

नहीं, हमें एक कदम और आगे जाना चाहिए और सभी प्राणियों—केवल मनुष्यों ही नहीं—और निर्जीव वस्तुओं से भो तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए।

इसका तात्यर्य हो सकता हैं वर्तमान उत्पादन प्रणालो में आमूल परिबर्तन और इसके स्वरूप का और अपेक्षाकृत अधिक सरलीकरण। इसका तात्पर्य हो सकता है तकनीको और उससे सम्बन्धित सभी चीजों का काफी हद तक परित्याग। लार्ड रसेल के अनुसार "यंत्र की पूजा घृणित कार्य है। पूजा की एक वस्तु के रूप में यंत्र शैतान का आधुनिक स्वरूप है और इसकी पूजा आधुनिक असुर-पूजा।"[२] एक अन्य समाजशास्त्री का कथन है—"तकनीको के अद्यावधि निरंकुश विकास पर कठोर नियंत्रण का अर्थ है—इसका ऐसा कठोर परिसोमन जो मनोरंजन के कारखानों में हर घंटे निर्मित कृत्रिम संवेगों एवं आनन्दों से मतवाले ही नहीं अपितु शक्ति एवं बाह्य अन्तरिक्ष पर विजय का स्वप्न देखने वाले युग से लगभग जंगली संन्यास को अपेक्षा करता है।"[३] इसी कारण गान्धी जी चाहते थे कि भारत आर्थिक विकास को एक ऐसी प्रणाली अपनाए जो औद्योगीकरण को छोड़कर गाँवों और कुटीरों का विकास कर सके। उनका विश्वास था कि "विश्व के साथ सुलह से रहकर और अपने सहस्रों कुटीरों का अभ्युत्थान करके सरल परन्तु उदात्त जीवन व्यतीत करता हुआ स्वतंत्र भारत विकासशील बिश्व के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता है।"[४] उनके चरखे के संदेश को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये। "चरखे का संदेश अपनी परिधि से अधिक व्यापक है। इसका संदेश सादगी, सेवा एवं दूसरों को बिना कष्ट पहुँचाए जीने का संदेश है। व्यापक संदेश स्वाभावतः सबके लिए होता है।"[५] इसी तरह के ही मनोवेगों को व्यक्त करने हुए लार्ड रसेल ने कहा था—"बात अपने मूल रूप में इतनी सरल है कि प्रगल्भ दोष-दर्शियों की उपहासपूर्ण उपमाओं से स्वागत किए जाने के डर से मैं इसे कहने में संकोच कर रहा हूँ। कृपया क्षमा कीजिएगा, मेरा तात्पर्य प्रेम—ईसाई प्रेम या करुणा—से है। यदि आप में इसकी भावना है तो आपके पास अस्तित्व को एक प्रेरणा है, कार्य में पथ-प्रदर्शक है, साहस का हेतु है और और है बौद्धिक ईमानदारी का एक अनिवार्य निमित्त। यदि आप में इसकी भावना है तो आपके पास वह सब हैं जिसकी किसीको धर्मपथ पर आवश्यकता पड़ सकती है। यद्यपि आपको सुख न भी मिल सके परन्तु आपको इन लोगों की तरह निराशा का अनुभव नहीं करना पड़ेगा जिनका जीवन

---

१. इका० थाट्स, पृ० ५८३
२. दि इम्पैक्ट आफ साइंस आन सोसाइटी, पृ० १००
३. फ्यूचर आफ टेक्नॉलॉजी (बी० सी०)
४. इका० थाट्स, (१९६६)
५. इका० थाट्स (१९२७)

लक्ष्यविहीन और उद्देश्यशून्य है, क्योंकि आप मानवीय कष्ट की विशाल राशि को कम करने के लिये सदैव कुछ कर सकते हैं।''[1]

गांधीजी ने अपने आश्रम में नेताओं को इन मूल्यों को अपनाने का प्रशिक्षण दिया। उनके आश्रम के सदस्यों के अवश्य पालनीय व्रत थे—अपरिग्रह, ऐच्छिक निर्धनता और अहिंसा अर्थात् सभी प्राणियों अपिच प्रकृति के प्रति प्रेम एवं करुणा। यह प्रचलित एवं अंगीकृत मूल्यों के सर्वथा विपरीत है। ''वस्तुतः तार्किक सिद्धान्तों के प्रामाण्य और भाषा की सम्पूर्ण बीभत्स स्पष्टता से युक्त पूर्ण अमानवीय विचार हम लोगों में प्रचलित है। एक ऐसी सामाजिक मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी गयी है जो व्यक्ति में मानवता को निरुत्साहित करती है। असहानुभूति और अलगाव को—जिनका अपरिचितों के प्रति आजकल प्रत्येक प्रकार से स्पष्ट प्रदर्शन किया जाता है, अब सचमुच असभ्यता नहीं माना जाता बल्कि इन्हें कुशल एवं अनुभवी व्यक्ति का व्यवहार स्वीकार कर लिया गया है। हमारा समाज प्रत्येक मानव को मानवीय मूल्य एवं मर्यादा नहीं प्रदान कर पाया है। मानव जाति के अनेक वर्ग मनुष्य के रूप में मात्र उपादान बनकर रह गये हैं।''[२]

इन मूल्यों को धार्मिक या नैतिक विचार कह कर ठुकराया जा सकता है लेकिन गांधी जी हम लोगों से भिन्न दृष्टिकोण रखते थे। उन्होंने कहा—''मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में कोई सूक्ष्म भेद नहीं मानता। जो अर्थशास्त्र किसी व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाता है वह अनैतिक अतएव पापमय है।''[3] अल्वई स्वेर्जर भी इस मत से सहमत हैं कि नैतिक प्रगति वह है जो वास्तव में सभ्यता के लिए सारवान् हो। ''जब तक हम सभ्यता के उस सतही दृष्टिकोण से जिसने हमें दास बना रक्खा है, मुक्त नहीं हो जाते और स्वयं को पुनः नैतिकता के प्रति समर्पित नहीं कर देते तब तक एक स्थायी आधार पर सभ्यता को पुनःप्रतिष्ठित करने में सफल नहीं हो सकेंगे।''[४] गांधीजी के शब्दों को पुनः उद्धृत करते हुये—''अर्थशास्त्र को उपयोगी सिद्ध होने के लिए धर्म और अध्यात्म तक सीमित होने में सक्षम होना चाहिए।''[५]

एक विश्व-समुदाय की स्थापना सम्भव है जिसमें लोग सुख और सद्भाव से रह सकें। आज मानवता का भाग्य खतरे में है। हमें नए प्रशिक्षण की आवश्यकता है ताकि स्वार्थ, अज्ञान एवं घृणा को उदारता, ज्ञान और प्रेम के वशीभूत कर सकें। ''सभ्यता का नवोत्थान तभी सम्भव है जब कि यथेष्ट संख्या में लोग प्रचलित मनोवृत्ति से स्वतंत्र बल्कि विपरीत मनोवृत्ति अपनाएँ जो सामुदायिक मनोवृत्ति पर धीरे-धीरे हावी हो सके और अन्ततः उसके स्वरूप का निश्चय करे। एक नैतिक आन्दोलन ही बर्बरता को केंचुल छुड़ाने में समर्थ हो सकता है''[६]

---

१. इम्पैक्ट आफ साइंस आन सोसाइटी, पृ० १४९
२. डिके एण्ड रेस्टोरेशन, पृ० ३२
३. इका० थाट्स पृ० ५२९
४. डिके एण्ड रेस्टोरेशन, पृ० ६
५. इका० थाट्स पृ० ८६
६. डिके एण्ड रेस्टोरेशन, पृ० ६८

हमें ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो प्रवाह के विपरीत तैर सकें। कोई भी समाज एक विद्रोही चेतना के अभाव में प्रगतिशील नहीं हो सकता। आशा है, बड़ी संख्या में निष्ठावान् व्यक्ति आगे बढ़ेंगे और गुरुदेव टैगोर के इस गीत से प्रेरणा लेंगे—

यदि तीर डाक शुने केऊ न आसे तबे एकला चलो रे,
एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे।
यदि केऊ कथा न काय, ओरे, ओरे, ओ अभागा,
यदि सबाई थाके मुख फिराए, सबाई करे भय
तवे परान खुले,
ओ, तुई मुख फूटे तोर मनेर कथ एकला बोलो रे
यदि सबाई फिर जाय, ओरे ओरे औ अभागा,
यदि गहन पथे जावार काले केऊ फिरे न चाय
तवे पंथेर काँटा
ओ, तुई रक्त माखा चरन तले एकला दलो रे।
यदि आलो न धरे ओरे ओ अभागा
यदि झड़ बादले आँधार राते दुआर देय धरे
तबे वज्रानले,
आपन बुकेर पाँजर ज्वालिये निए एकला जलो रे।



कला और संस्कृति खण्ड

●

साधना के समर्थ उपाय के रूप में संगीत

प्रेमलता शर्मा

भारतीय संगीत-शास्त्र का यह वैशिष्ट्य है कि उसके ग्रन्थों में संगीत के लिए, विशेषतः गीत के लिए अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें आध्यात्मिक-जीवन में उसकी उपयोगिता का महत्त्व बताया गया है। इन उल्लेखों को स्थूलरूप से निम्नलिखित शीर्षकों में रक्खा जा सकता है :—

१. नाद-प्रशंसा

यथा— नादादभिव्यज्यते वर्णः, पदं वर्णात्पदाद् वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ॥
(सं० र० १–२–२)

नाद से वर्ण की, वर्ण से पद की और पद से वचन (वाक्य) की अभिव्यक्ति होती है। सब व्यवहार वाणी से ही चलता है, इसलिए जगत् नाद के अधीन है।

२. नादोपासना की प्रशंसा

यथा— नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः ॥
(सं० र० १–३–२)

नाद की उपासना से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन देवों की उपासना हो जाती है, क्योंकि ये नादात्मक हैं यानी इनका स्वरूप नाद है।

३. देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियों में गीत के प्रति प्रेम

यथा— गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः ॥
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणाऽऽसक्ता सरस्वती ॥
(सं० र० १–१–२६, २७)

सर्वज्ञ देव पार्वतीपति गीत से प्रसन्न होते हैं, अनन्त भी वंशी-ध्वनि के वश में हैं, ब्रह्मा सामगान में रत हैं और सरस्वती वीणा में आसक्त हैं।

४. चारों-पुरुषार्थों की गीत में साधकता

यथा— तस्य गीतस्य माहात्म्यं कः प्रशंसितुम् ईशते।
धर्मार्थ - काम - मोक्षाणामिदमेवैक - साधनम् ॥
(सं० र० ४–१–३०)

गीत का माहात्म्य कौन कह सकता है ? धर्मार्थ काम मोक्ष का यही एक साधन है।

साधना के समर्थ उपाय के रूप में संगीत

प्रेमलता शर्मा

भारतीय संगीत-शास्त्र का यह वैशिष्ट्य है कि उसके ग्रन्थों में संगीत के लिए, विशेषतः गीत के लिए अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें आध्यात्मिक-जीवन में उसकी उपयोगिता का महत्त्व बताया गया है। इन उल्लेखों को स्थूलरूप से निम्नलिखित शीर्षकों में रक्खा जा सकता है :—

१. नाद-प्रशंसा

यथा— नादादभिव्यज्यते वर्णः, पदं वर्णात्पदाद् वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥
(सं० र० १–२–२)

नाद से वर्ण की, वर्ण से पद की और पद से वचन (वाक्य) की अभिव्यक्ति होती है। सब व्यवहार वाणी से ही चलता है, इसलिए जगत् नाद के अधीन है।

२. नादोपासना की प्रशंसा

यथा— नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥
(सं० र० १–३–२)

नाद की उपासना से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन देवों की उपासना हो जाती है, क्योंकि ये नादात्मक हैं यानी इनका स्वरूप नाद है।

३. देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियों में गीत के प्रति प्रेम

यथा— गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः॥
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणाऽऽसक्ता सरस्वती॥
(सं० र० १–१–२६, २७)

सर्वज्ञ देव पार्वतीपति गीत से प्रसन्न होते हैं, अनन्त भी वंशी-ध्वनि के वश में हैं, ब्रह्मा सामगान में रत हैं और सरस्वती वीणा में आसक्त हैं।

४. चारों-पुरुषार्थों की गीत में साधकता

यथा— तस्य गीतस्य माहात्म्यं कः प्रशंसितुम् ईशते।
धर्मार्थ - काम - मोक्षाणामिदमेवैक - साधनम्॥
(सं० र० ४–१–३०)

गीत का माहात्म्य कौन कह सकता है? धर्मार्थ काम मोक्ष का यही एक साधन है।

संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों के अतिरिक्त स्मृति पुराण आदिको में एवं तत्सम्बन्धी साहित्य में संगीत के प्रशंसात्मक अनेकों वाक्य मिलते हैं। उदाहरण के लिए--

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चा-प्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥
गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम्।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥

(याज्ञ० स्मृति ३–४–११५, ११६)

जो वीणावादन के तत्त्व या सार को जानता है, जो श्रुतियों और जातियों (के प्रयोग) में कुशल है, जो ताल का ज्ञाता है, वह मोक्ष मार्ग को प्राप्त होता है। गीतज्ञ यदि गीत के द्वारा परम पद को प्राप्त नहीं होता तो वह रुद्र का अनुचर बन कर उनके संग में आनन्द पाता रहता है।

एक विख्यात पौराणिक उक्ति इस प्रकार है—

अर्चनादधिकं ध्यानं ध्यानात् कोटिगुणं जपः।
जापात् कोटिगुणं गानं गानात् परतरं नहि ॥

ध्यान पूजा से अधिक है, जप ध्यान से अधिक है, गान जप से अधिक है और गान से अधिक कुछ भी नहीं है।

ऊपर उद्धृत वाक्यों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकल सकते हैं :—

(१) संगीत न केवल उपासना और साधना का एक उपाय है, अपितु उत्कृष्ट उपाय है।

(२) देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ (देव-देवी) न केवल संगीत से प्रेम रखती हैं, अपितु उनकी सर्वोत्तम धारणा यही हो सकती है कि वे नादात्मक हैं।

(३) संगीत की साधना के विभिन्न स्तर हैं। उसके निम्न स्तरों में धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति होती है और उच्च स्तर में मोक्ष की।

हम संगीत के माहात्म्य के इन तीनों पहलुओं को कुछ विस्तार से समझने का यत्न करेंगे और इस परम्परा की दार्शनिक भित्ति का भी संधान पाना चाहेंगे। ये तीनों पहलू एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिये इन्हें पृथक्-पृथक् रूप से लेना संभव नहीं होगा, किन्तु उपसंहार में इन तीनों के साथ पूरी बात को संबद्ध करने का यत्न किया जायगा।

मौलिक सत्ता अथवा परम तत्त्व को ब्रह्म कहा जाता है और वह निरपेक्ष, तर्कातीत तत्त्व है। यह सत्ता हमारे उच्चतम अनुभव में 'अस्ति' (विशुद्ध निरुपाधिक सत्ता), 'भाति' (चित्) और 'प्रियं' (आनन्द) के रूप में प्रकट होती है।

'आनन्द' के प्रसंग में ब्रह्म को 'भूमन्' और कभी-कभी 'मधु' भी कहा जाता है। इस प्रकार वह आनन्दात्मक चैतन्य है :—

यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।

(छान्दोग्य० ७-२३-१)

यह आनन्द अथवा रस सत्तामात्र की व्यापक पृष्ठभूमि है। अनन्त आकाश अथवा असीम अर्णव की भाँति यह आनन्द विश्व में सभी सत्ताओं का आधार है। इन दो उपमाओं में आकाश विशेषत: सत् और चित् के वर्णन में उपयोगी है और अर्णव विशेषत: आनन्द का सूचक है। वास्तव में ये दो पहलू पृथक् नहीं किये जा सकते। आकाश नि:स्पन्द अधिष्ठान का द्योतक है और अर्णव मूलस्पन्द का। महामौन को मूलवाक् में अभिव्यक्त करता है महानन्द, जिसे ॐकार या प्राणब्रह्म भी कहा जाता है। इस प्रकार ॐकार के रूप में महानाद सृष्टि की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसका न केवल सत् और चित् से अपितु आनन्द से संबंध है अर्थात् यह तीनों की अभिव्यक्ति है। आनन्द का मूलस्पन्द से सीधा संबंध है और सत् + चित् उसका अधिष्ठान है; इसलिये आनन्द को ही समग्र सृष्टि का उद्‌गम-स्थान, पोषक और विलय-स्थान कहा जाता है।

आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन
जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्तीति।

(तैत्ति० ३-६)

भूमा की प्रथम आत्माभिव्यक्ति है महानाद और भूमा तो रस अथवा आनन्द से अभिन्न है। भूमा अथवा आनन्द उस मूलस्पन्द का समग्र स्वरूप है जिससे सृष्टि का आरम्भ होता है, जिस पर वह स्थित रहती है और जिसमें विलीन होती है।

रस अथवा आनन्द समग्र सृष्टि का 'हृत्' (सारभूत केन्द्रबिन्दु) है। संगीत द्वारा इस 'हृत्' तक पहुँचना सुगम हो सकता है क्योंकि (१) यह नादात्मक है, अत: मूलस्पन्द अथवा महानाद के अनुभव का यह सुखद और सुगम मार्ग हो सकता है। (२) स्थूल स्तर पर भी संगीत हर्ष की स्वाभाविक और सार्वभौम अभिव्यक्ति के रूप में सर्वमान्य है। हाँ, यह अवश्य है कि उपर्युक्त अनुभूति के लिये उचित भाव, मन और शरीर की शुद्धि तथा अनन्य लगन सर्वथा आवश्यक है।

सृष्टि के आरम्भ की बात यहाँ तक हुई। जहाँ तक सृष्टि के विस्तार का प्रश्न है, उसके लिये यह उल्लेखनीय है कि सृष्टि का क्रम ऋजु, सम और अखण्ड नहीं है अपितु वह आवर्तनात्मक है जो तरंग का, चक्र का अथवा सर्पिल कुण्डली का आकार धारण करता है। उदाहरण के लिये बीज से वृक्ष और वृक्ष से पुन: बीज यह एक चक्रिक क्रम है। तदनुसार महानाद बीजरूप 'बिन्दु' बनता है और वही 'कला' के रूप में उस बिन्दु की क्रमबद्ध अभिव्यक्ति भी बनता है। अभी जिन तीन आकारों का हमने उल्लेख किया वे सभी संगीत में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। यथा-ध्वनि तरंगों से तरंगवत् क्रम, ताल से चक्रिक क्रम और स्वर अष्टकों के संबंध में सर्पिल क्रम का सादृश्य पाया जाता है।

सृष्टि-विकास के उपर्युक्त क्रम के अनुसार महानाद अथवा परनाद अपने आपको सुषम छन्द (विविध होते हुए भी एकता के सूत्र से आबद्ध) के ढाँचे में अभिव्यक्त करता है। विविधता और एकता का यह समन्वय भारतीय संगीत के राग और ताल में बहुत उत्कृष्ट रूप में पाया जाता है।

रस अथवा आनन्द मूलतः स्वसमाहित अवस्था का द्योतक है जिसे 'स्वलसित' कहा जा सकता है। यही अपने आपको 'उल्लसित' अथवा 'विलसित' बनाता है। संगीत की भाषा में बात करें तो ॐकार या परनाद स्वरसप्तक के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है। (प्राचीन संगीतशास्त्र में मौलिक स्वरग्राम को षड्जग्राम कहा गया है और उसमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार का श्रुतिक्रम ४, ३, २ है। यही श्रुतिक्रम प, ध, नि में पुनरावर्तित होता है। ये दोनों त्रिक समान हैं और दोनों के बीच में जोड़ने वाली कड़ी के रूप में मध्यम पड़ा हुआ है। स्पष्ट है कि इस ग्राम में दूसरा त्रिक पहले का ही पुनरावर्तन है।) यह स्वलसित का स्तर है। उल्लास के लिये स्वर आधारभूत 'सुर' (ड्रोन) बनता है और विलास के लिये वह स्वरसन्निवेशात्मक 'धुन' का रूप लेता है। अभिव्यक्ति का यह क्रम जो एक अखण्ड नाद से आरम्भ होता है, संगीत के स्थूलतम स्तर पर भी इन्द्रियगोचर हो सकता है और योगजन्य अनुभव के सूक्ष्म स्तरों में भी अवगत हो सकता है। सृष्टि की अभिव्यक्ति का अनुलोम क्रम और लय का विलोम क्रम—ये दोनों संगीत के द्वारा जितनी सुगमता से अवगत हो सकते हैं उतने शायद किसी अन्य साधना से नहीं।

यदि उपर्युक्त अनुभूति को संगीत का लक्ष्य मान लिया जाय तो फिर किसी राग को गाते बजाते समय यही काफ़ी नहीं है कि स्वरों का यथोचित सन्निवेश किया जाय अपितु यह भी आवश्यक होगा कि स्वरों को नाद के अधिष्ठान अथवा भित्ति पर अभिव्यक्त किया जाय। 'नाद' में अभिव्यक्ति का क्रम और 'बीज' में विलय का क्रम अनुस्यूत है और संगीत में इन दोनों का स्थान है।

संगीत द्वारा अध्यात्म साधना का लक्ष्य है वितान अथवा विस्तार और विलय के क्रम का अनुभव करना। नादात्मक अभिव्यक्ति (स्वरोदय) और बिन्द्वात्मक लय (स्वरविलय) की मात्रा अथवा नाप होना बहुत आवश्यक है। 'अमेय' का 'मान' आवश्यक है और यही संगीत में ताल का आधार है।

सुषम छन्द के ढाँचे में अभिव्यक्ति की जो बात हमने ऊपर कही उस पर पुनः ध्यान दें तो यह कहा जा सकता है कि जिसे मोक्ष या मुक्ति या योग कहा जाता है उसका सत्त्व है सभी मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक, शारीरिक संघर्षों, दबावों या तनावों का अन्त। 'समत्वं योग उच्यते'। हम लोग विषम स्तर पर पड़े हुए हैं और इससे हमें सुषम स्तर पर जाना है। इसी बात को योग की भाषा में यों कहा जाता है कि इडा और पिंगला की गति वक्र है और सुषुम्ना की गति सरल, सीधी है। सुषुम्ना के पथ में प्रवेश ही योगी का साध्य होता है। संगीत मोक्ष का साधन बन सकता है यदि वह इस पथ को खोलने में सहायक हो और सुप्त शक्ति (कुण्डलिनी) के जागरण में प्रेरक हो। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए स्वर और छन्द की साधना जो कि संगीत का सत्त्व है, महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय संगीत में राग को साधना का फ़ार्मूला माना जा सकता है। निरुक्त पद्धति से 'राग' के घटक 'र', 'आ', 'ग'—इन तीनों की निम्नलिखित व्याख्या की जा सकती है।

'र' को अग्नि के बीजाक्षर 'रं' का प्रतिनिधि माना जा सकता है। मनुष्य के शरीर में अग्नि अथवा तेज का स्थान है मणिपूर चक्र जहाँ से नाद उठता है। नाद के उत्थान से

पहले मूलाधार में अग्नि का सुलगना आवश्यक है। मूलाधार से स्वाधिष्ठान चक्र तक उस सुलगी हुई अग्नि में प्रवाहिता आनी चाहिये क्योंकि स्वाधिष्ठान 'अप्' या जल का स्थान है। सच्चे संगीत की बात छोड़ दें तो हमारी साधारण वाक् का व्यापार कण्ठ में ही होता है और उसका नियमन इडा, पिंगला की विषम गति द्वारा ही होता है। इस गति का समान होना आवश्यक है (प्राणापानौ समौ कृत्वा)। इस समानता के बिना सुषुम्ना का पथ नहीं खुलेगा और शक्ति रूपा अग्नि गतिशील नहीं होगी, कुल कुण्डलिनी में गति नहीं आयेगी। सुषुम्ना की अग्नि की गति अभिव्यक्ति के क्रम में बिन्दु + नाद + कला है और विलय के क्रम में कला + नाद + बिन्दु है।

'र' और 'ग' के बीच में जो 'आ' पड़ा हुआ है वह इस बात का द्योतक है कि 'र' अचल नहीं है बल्कि वह परनाद, पर बिन्दु और सुषम कला के रूप में अभिव्यक्त होता है।

ग' गति का प्रतिनिधि है और जैसे 'कं ब्रह्म' = भूमा अथवा 'खं ब्रह्म' = आकाश, वैसे ही 'गं ब्रह्म' = प्राण ब्रह्म। 'राग' में 'ग' इस बात का द्योतक है कि मुख्यप्राण के रूप में प्राणब्रह्म को प्राण अपान के दासत्व से मुक्त होकर 'अर्धमात्रा'[१] अथवा कुलकुण्डलिनी को जगाना है ताकि रजस् तमस् के निम्न स्तरों से उन्नत शक्ति के स्तर प्रज्ञान और आनन्द तक पहुँचा जा सके।

राग की साधना यदि ठीक ढंग से की जाय तो इस ऊर्ध्व गति में सहायक हो सकती है। इस प्रकार राग अपने उच्चतम स्तर में रस अथवा आनन्द की अपनी अलसित (अव्यक्त) स्थिति से स्वलसित, उल्लसित और विलसित स्तरों तक की गति का द्योतक है। अतः राग आनन्द समाधि अथवा महाभाव का साधन हो सकता है, जो कि परमलक्ष्य है।

सृष्टि का हृत् (सारभूत केन्द्रबिन्दु) जो कि रस अथवा आनन्द है उसकी बात फिर से की जाय तो यह समझना होगा कि इस हृत् की अपनी हृल्लेखा (आन्तरिक आलेख्य) है। इस आलेख्य को काल के प्रसंग से अबाधित प्रवाह के रूप में समझा जा सकता है और देश के प्रसंग से निर्धारित स्थिति के रूप में। इनमें से प्रथम (काल-संबंधी) चल है और वह ऋत के रूप में कार्य करती है और दूसरी (देश संबंधी) अचल है जो सत्य के रूप में कार्य करती है। इस द्विविधता में हृत् अपने चल रूप में 'हृदय' बनता है और अचल रूप में 'हृद्देश' बनता है। भारतीय संगीत के प्रबन्धों में, जैसे कि ध्रुपद में, ध्रुव अथवा स्थायी को 'हृद्देश' का प्रतिनिधि कहा जा सकता है क्योंकि वह पुनरावर्तित होने के कारण एक प्रकार का अचलत्व धारण करता है और गीत के अन्य खण्ड, जैसे कि अंतरा, संचारी, आभोग, जो कि अधिक पुनरावर्तित नहीं होते, उन्हें 'हृदय' अर्थात् चलता का प्रतिनिधि माना जा सकता है। उसी प्रकार राग में किसी एक स्वर को (प्राचीन परिभाषा के अनुसार) वादी, अंश अथवा स्थायी बनाना होता है और शेष स्वर उसके संवादी अथवा अनुवादी होते हैं। इस प्रकार किसी राग के वादी अथवा स्थायी स्वर को उसका 'हृद्देश' कहा जा सकता है क्योंकि वह स्थिर है और उसे अपने आपको 'हृदय' में भी परिणत करना होता है अर्थात् जो स्वर

---

१. 'अर्धमात्रा' में 'अर्ध' का अर्थ आधा नहीं है। उसका अर्थ है ऋध्यमान = सदा वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, सदा विस्तृत होता हुआ।

स्थायी नहीं हैं, उसकी चलता से वादी स्वर को गति मिलती है और इस प्रकार स्वलसित रस का उल्लसित और विलसित में विकास होता है। इस प्रकार की प्रस्तुति के लिये नाद-ब्रह्म + बिन्दुब्रह्म का कलाओं में विस्तार अपेक्षित है जिसे सुषम कला वितान कह सकते हैं। कलाओं की अभिव्यक्ति के क्रम में स्वर का विवाह छन्द से हो जाता है, 'अमेय' का गठबन्धन 'मेय' से हो जाता है।

हिन्दू संगीत की कला और विज्ञान का आधार दर्शन में किस प्रकार मिल जाता है इस का संकेत ऊपर दिया गया है। इसी प्रसंग में कुछ अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं, यथा—

(१) कलनी शक्ति, जो कलाओं के रूप में अभिव्यक्ति का क्रम बनाती है, मूलतः षडंग योजना के अनुसार कार्य करती है। ये छः अंग 'रं' 'लं' 'वं' इत्यादि छः बीजाक्षरों में अनुस्यूत हैं। मूल राग भी छः ही हैं—राग-रागिणी-पद्धति में तो वैसा हैं ही, प्राचीन ग्राम-राग-पद्धति में भी शुद्ध राग छः ही हैं। मूल रागों की यह संख्या (६) मनुष्य-शरीर में छः चक्रों से भी संबद्ध है। राग-रागिणी-पद्धति के छः रागों के साथ छः बीजाक्षरों का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिये—'ॐ वं' को मेघ राग का बीज माना जा सकता है क्योंकि 'वं' जल का बीजाक्षर है; उसी प्रकार 'ॐ रं' दीपक राग का बीज हो सकता है क्योंकि 'रं' अग्निबीज है।

(२) 'गमक' का भारतीय संगीत में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गमक के द्वारा ही 'नाद' की 'मूर्च्छा' टूटती है और आलाप से स्वरों का 'नृत्य' आरम्भ होता है। 'गमक' = 'गमन' कराने वाला यानी ज्ञान कराने वाला। स्वर का वैचित्र्य-विलास गमक से ही होता है। यह शब्द शास्त्रीय दृष्टि से बहुत सार्थक है।

(३) भारतीय संगीत की प्राचीन पद्धति में मूर्च्छना शब्द का मौलिक महत्त्व है। 'मूर्च्छ' धातु के दो अर्थ हैं—मोह और उभार। दोनों अर्थों का सांगीतिक मूर्च्छना में स्थान है। मूर्च्छना के द्वारा ही नाद अपनी अलसित (मूर्च्छित) स्थिति में से जागता है अथवा अव्यक्त बीजरूप बिन्दु का सुषम कलाओं में विकास होता है। पारिभाविक शब्दों में कहें तो मूर्च्छना ही ग्राम के सातों स्वरों को संभावनाओं को व्यक्त करती है। विलोम क्रम में ग्राम पुनः अव्यक्त बन जाता है। इस प्रकार 'मूर्च्छ' का उभार अर्थ मूर्च्छना में लागू होता है। कमल की पंखुड़ियों का विकास और संकोच उदाहरण के रूप में यहाँ समझा जा सकता है। अभिव्यक्ति के क्रम में 'अखण्ड' और 'अमात्र' रस खण्डित और विलोम क्रम से खण्डित और मात्रिक रस पुनः अखण्ड और अमात्र हो जाता है।

'प्रियं' अथवा आनन्द ही तो अस्ति भाति का 'हृत्' है और सृष्टि एवं विलय में उसका एक मात्र काम है सुषमता लाना अथवा मधुच्छन्दः बनना। सुसमता ही तो संगीत का प्राण है। सृष्टि क्या है—निर्दोष ताल में 'नृत्य' है, आन्तरिक घनिष्ठता में 'वादन है, और आनन्दतिरेक में गान है। नृत्य और वादन में निर्दोष 'मात्रा' (नाप) की आवश्यकता है और गान में उन दोनों (नृत्य-वादन) का उत्कर्ष है अमेय आनन्द में। नृत्य और बादन का व्यापार सुषम कलाओं में चलता है और गीत में नाद बिन्दु का संयोग है, जहाँ से कि कलाओं

का उद्गम होता है। नृत्य-वादन में व्यासवृत्ति प्रधान है अर्थात् काल और देश के प्रसंग में पृथक्करण प्रमुख है और गान में समास अथवा समाहृति प्रधान है अर्थात् एकीकरण प्रमुख है। प्राणन = प्राणव्यापार का तालात्मक निःसरण नृत्य है. मनन की वाद्यों से घनिष्ठता वादन है अर्थात् मन में कल्पित स्वर सन्निवेश की वाद्य पर अवतारित रूप के साथ घनिष्ठता है, और गीत में गति, भावन और आह्लादन हैं, जो नृत्य और वादन की भी मौलिक प्रेरणा बनते हैं। वाक्-प्राण-मन के वैदिक त्रिक की भाषा में कहें तो नृत्य में प्राण प्रधान है, वादन में मन और गान में वाक्। नृत्य का सम्बन्ध हमारे शरीर से, वादन का मस्तिष्क (बुद्धि) से और गीत का हृदय से कहा जा सकता हैं। इसीलिए हिन्दू संगीत की परम्परा में गान में आलाप के द्वारा 'राग' का संवेदन-आवेदन सर्वोत्कृष्ट रूप से हो सकता है, क्योंकि उसमें एकीकरण की उच्चतम अवस्था की संभावना हैं।

उपसंहार से पूर्व यह कहना आवश्यक है कि ऐसे लघु लेख में केवल उदाहरण-रूप से कुछ संकेत देना ही सम्भव है जिससे हिन्दू सङ्गीत के वैदिक और तान्त्रिक (यौगिक) आधार का दिक्सूचन हो सके। इस विराट् विषय के साथ कुछ भी न्याय करना सम्भव नहीं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि हिन्दू संगीत का एक ओर शरीर-मूलक हठयोग से घनिष्ठ संबन्ध है और दूसरी ओर मनोमूलक राजयोग से। संगीत में वाक्, प्राण, मन का सभी स्तरों पर समत्व साधा जाता है। अतः संगीत बड़ी सुगमता से किसी भी साधना-पद्धति का सहगामी बन सकता है, जो शरीर को, मन को अथवा वाणी को आधार मानकर चलती हो।

इस लेख के उपक्रम में जो तीन निष्कर्ष रखे गये थे उन्हें यहाँ उपसंहार में दोहरा लेना उचित होगा।

(१) हिन्दू संगीत साधना का उत्कृष्ट उपाय है क्योंकि उसकी संकल्पनाएँ वैदिक दर्शन, योग और तंत्र पर आधारित हैं।

(२) देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियों की धारणा उन्हें नादात्मक समझने से सर्वोत्कृष्ट रीति से हो सकती है क्योंकि नाद मौलिक अभिव्यक्ति भी है और बीजरूप बिन्दु भी है। देव-देवियों की धारणा या तो मौलिक शक्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में होती है अथवा इस व्यक्त सृष्टि के बीज के रूप में।

(३) हिन्दू संगीत की संकल्पना ऐसी है कि उसमें निम्नतम से लेकर उच्चतम स्तरों की साधना के लिये अवकाश है और मुक्ति का संबंध स्वाभाविक रूप से उच्चतम स्तर के साथ है।



'काकु' का शास्त्रीय विचार

(श्रीमती) सुभद्रा चौधरी

काकु अथवा ध्वनि-विकार के द्वारा विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति होती है। प्रतिदिन के व्यवहार में ध्वनि का ऊँचा नीचा पन, मन्दता-तीव्रता, द्रुत अथवा विलम्बित गति ही उन भावों को प्रकट करती है। करुणा, शोक, व्याधि में ध्वनि नीची और गति धीमी रहती है। हर्ष या प्रसन्नता के वेग में स्वाभाविक रूप से आवाज ऊँची और गति द्रुत हो जाती है। डाँटने-फटकारने, लड़ाई-झगड़े में आवाज़ में 'चिल्लाहट' मौर गति द्रुततर हो जाती है। स्वर-परिवर्तन से 'हाँ' का 'नहीं' और 'नहीं' का 'हाँ' हो जाता है। काकु भेद के इन शब्दों के द्वारा निराशा, विस्मय, हर्ष, प्रश्न आदि आदि भावों का बोध भी हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि स्वर या ध्वनि-भेद ही अर्थ के नियामक होते हैं।

नाटच जीवन की ऐसी अनुकृति है जिसमें थोड़े समय और थोड़े शब्दों में बहुत से अर्थ और भाव भरने पड़ते हैं, इसलिये इसमें अभिनय की प्रमुखता रहती है। नाठच का वाचिकाभिनय के अन्तर्गत स्थान है। इसके लिये शब्दयोजना और पाठच दोनों ऐसे होने चाहिये जिससे व्यंग्यार्थ का भी बोध हो। नाट्य में पाठच दो प्रकार का हो सकता है—गद्य कथोपकथन और पद्य। यों तो 'गीत' भी वाचिकाभिनय में ही आता हैं लेकिन जैसे सामान्य बोल-चाल ओर सस्वर पाठ में अन्तर है उसी प्रकार 'पाठच' और 'गीत' या 'गान' में भी अन्तर है। कुछ आगे चल कर इनके अन्तर पर प्रकाश डाला जायगा। नाट्य में पाठच का अत्यन्त महत्त्व होने के कारण भरत ने उस पर बहुत बल दिया है। प्रस्तुत लेख भरत के काकु-संबंधी अध्याय और उस पर अभिनवगुप्त की टीका पर आधारित है।

नाट्यशास्त्र में काकुविचार पाठच के संदर्भ में हुआ है। इस अध्याय की संख्या बड़ौदा संस्करण में १७ और बनारस संस्करण में १९ है।

इस अध्याय में भाषा ओर कर्मविधान कहने के बाद भरत ने पाठ्य के षड्लंकारों का विषय-प्रवेश कराया है। यथा—

> एवं भाषाविधानं तु ज्ञात्वा कर्माण्यशेषतः।
> ततः पाठ्यं प्रयुञ्जीत षडलङ्कारसंयुतम्॥

षडलंकार पाठ्य के 'गुण' हैं जो इस प्रकार हैं—सप्तस्वर, त्रिस्थान, चतुर्वर्ण, द्विविधा काकु, षडलंकार और षडंग। इन से उपकृत हो कर या इनका विशेष संयोग पा कर काव्य पाठ्य बनता है। अब भरत के अनुसार इनके स्वरूप-निरूपण और विनियोग पर प्रकाश डाला जायगा।

स्वर—७ स्वर होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। ये रसों में उपयोगी हैं। इनका विशेष उपयोग तो नाट्य के अन्तर्गत ध्रुवाओं में होता है लेकिन

किसी एक स्वर को 'स्थायी' या आधार बना कर ही 'पाठ्य' संभव होने के कारण यहाँ भी स्वरों को छोड़ा नहीं जा सकता। वस्तुतः काकु में स्वर ही उपकारी होते हैं अर्थात् स्वर के संयोग से ही काकु स्पष्ट होती है। इसलिये काकुविधान में स्वर का यही उपयोग है कि वे पाठ के लिये नियत आधार प्रदान करते हैं।

किस स्वर का किस रस में किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये इसे भरत ने सूत्ररूप में इन दो कारिकाओं में कहा है :

हास्यश्रृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु च॥
गन्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे।
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके॥

'कार्यौ स्वरौ' की टीका में अभिनवगुप्त ने जात्यंशकविनियोग की जो चर्चा की है उसका अर्थ यही है कि इन स्वरों को आधार बनाकर पाठ्य प्रयोग करना चाहिये।

स्थान—भरत ने तीन स्थान कहे हैं—उर, शिर और कण्ठ। 'स्थान' से पहले 'स्वर' का विनियोग बता चुकने के कारण संगीत के मंद्र. मध्य, तार स्थानों का ग्रहण न कर लिया जाय इसलिये भरत ने 'शारीर्यामथ वीणायां' के द्वारा शरीर वीणा के—उर, शिर, कण्ठ—इन तीन ही स्थानों का ग्रहण कराया है। स्वर सबसे पहले शरीर से ही उत्पन्न होते हैं और वे भी उर, शिर, कण्ठ--इन तीन स्थानों से ही। दारवी वीणा का पाठ्य में उपयोग नहीं क्योंकि उसमें वर्णों की उत्पत्ति संभव नहीं है। साथ ही तंत्री में 'रक्ति' व 'अनुरणन' होने के कारण वीणा का प्रयोग होते ही पाठ न रहकर 'गान' हो जाता है इसीलिये भरत ने स्पष्ठ रूप से शरीर वीणा के ही स्थान कहे हैं।

अभिनवगुप्त ने 'स्थान' को स्वर का 'स्वरूपनिष्पत्तेराश्रयः' कहा है अर्थात् स्थानों के आश्रित होकर ही स्वर के स्वरूप की निष्पत्ति होती है। स्वरों के स्थानों के बारे में यह शंका हो सकती है कि क्या वर्णों की अपने मूर्द्धादि स्थानों से उत्पन्न होते हुए, उर कण्ठादि स्थानों से भी उत्पत्ति संभव है? अभिनवगुप्त ने इसे इस रूप में स्पष्ट किया है कि मूर्द्धादि वर्णों के उत्पत्ति स्थान हैं और उरकण्ठादि स्वरों के। मूर्द्धादि स्थानों के प्रयत्न से वर्णों की उत्पत्ति होती है लेकिन उन वर्णों का उच्चारण मन्द्र, मध्य, तार ध्वनियों में भी सम्भव है और ये ध्वनियाँ क्रमशः उर, कण्ठ और शिर से उत्पन्न होती हैं। इसलिये मूर्द्धादि में उत्पन्न वर्णों का स्वरों की दृष्टि से त्रिस्थानगत प्रयोग भी किया जा सकता है।

संगीत की दृष्टि से 'स्थान' और 'सप्तक' पर्याय माने जाते हैं लेकिन सप्तक में २२ श्रुतियाँ स्वतः ग्राह्य होती हैं। भरत ने 'सप्तक' के बजाय 'स्थान' शब्द का प्रयोग इसीलिये किया है कि सप्तक कहने से कहीं यह अर्थ न समझ लिया जाय कि निश्चित अन्तरालों से युक्त सप्तकों में पाठ किया जाय।

तीन स्थानों के प्रयोग के लिये भरत ने यह विधान किया है—दूरस्थ के प्रति भाषण

में शिर से अर्थात् ऊँची ध्वनि में, बहुत दूर न हो तो कण्ठ से यानी न बहुत ऊँची, न बहुत नीची बल्कि मध्यम ध्वनि और 'पार्श्वतः' यानी बिल्कुल पास हो तो उर से अर्थात् नीची ध्वनि में पाठ करना चाहिये। जब कोई विशेष भाव व्यक्त न करना हो, केवल सामान्य बात कहनी हो तो वाक्य उर से आरम्भ करके कंठ में समाप्त करना चाहिये। यही स्वाभाविक क्रम है। सामान्य रूप से नीची ध्वनि में बोलना शुरू करके उत्साह वृद्धि के साथ-साथ स्वर की तीव्रता में भी वृद्धि हो जाती है और समाप्त करते समय मध्यध्वनि में अन्त किया जाता है। इसलिये शान्त प्रसंग या 'आवेशशून्य' अवस्था में इसी प्रकार पाठ होता है।

वर्ण—'वर्ण' की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं 'विवृण्वते प्रकटयान्ति' अर्थात् पाठक्रिया का विस्तार करते हैं। भरत के अनुसार 'तपोधन' अर्थात् सूक्ष्मदर्शी लोग उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित इन चार वर्णों के योग से पाठ्य करते हैं।

वर्ण की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि स्वरों के 'रक्ति' तथा 'अनुरणन' धर्मों का त्याग करके उच्च, नीच, मध्यम और कम्पनयुक्त ध्वनि के स्पर्शमात्र से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित वर्णों का प्रयोग करना चाहिये। 'रक्ति' ही प्रधानरूप से 'गान' का लक्षण है इसलिये उसका त्याग 'पाठ्य' के लिये आवश्यक है। पाठ्य और गान का अन्तर 'अपूर्णस्वरता' (७ स्वरों की अपेक्षा कम स्वरों का प्रयोग) और 'पूर्णस्वरता' नहीं है। अभिनव ने उदाहरण दिये हैं कि षाडव और औडव रूप में भी गानक्रिया होती है। यहाँ तक कि कुछ भाषाराग चतुःस्वर और त्रिस्वर भी कहे हैं।

लोकगीतों, अभिनयगीतों आदि में भी ३-४ स्वरों का ही प्रयोग साधारणतः होता है तब क्या वे पाठ कहे जा सकते हैं ? वैदिक मंत्रों का उच्चारण कुछ स्वरों में ही होता है लेकिन रक्ति नहीं होती इसलिये वह 'मन्त्रपाठ' कहलाता है। लेकिन उन्हीं मंत्रों का 'रक्ति' से युक्त सप्तकरूप स्वरों में प्रयोग होते ही वही 'सामगान' कहलाता है। इसलिये रक्ति से रहित केवल उच्चनीच ध्वनिसहित प्रयोग ही पाठ्य कहा जाता है।

'वर्ण' के संबंध में यह स्पष्ट रूप से समझ लेना जरूरी है कि पाठ्य और गान में भेद स्थापित करने की दृष्टि से ही भरत ने पाठ्य योग में उदात्तदि ४ वर्ण कहे और गान के ४ वर्ण अलग से २९वें अध्याय में कहे हैं अन्यथा अलग-अलग वर्ण कहने की कोई जरूरत नहीं थी।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदात्तादि वर्णों के योग के कारण पाठ्य के अन्तर्गत सामान्य बोलचाल और स्वरविशेष को 'अंश' या आधार बना कर किया जाने वाला 'पाठ'—इस प्रकार 'गान' के अतिरिक्त मनुष्य के समूचे वाग्व्यवहार का ग्रहण हो जाता है।

वर्णों का रसों में विनियोग भरत ने इस प्रकार करने के लिये कहा है—हास्य-शृंगार में स्वरित-उदात्त, वीर-रौद्र-अद्भुत में उदात्त-कम्पित, करुण-वीभत्स-भयानक में अनुदात्त-स्वरित-कम्पित वर्णों से पाठ करना चाहिये। इस अंश की टीका में अभिनव ने किस स्वर को स्थायी बनाकर किस वर्ण का कौन-कोन सी जातियों में विनियोग करना चाहिये यह भी बताया है।

इस संदर्भ में जाति कहने का इतना ही अभिप्राय है कि उन जातियों के अंश स्वरों का प्रयोग होना चाहिये ।

काकु—'साकांक्ष' और 'निराकांक्ष' वाक्यों के आधार पर भरत ने द्विविधा काकु कही है—'साकांक्ष काकु' और 'निराकांक्ष काकु' । साकांक्ष वाक्य उसे कहा जो 'अनियुक्तार्थक' हैं और निराकांक्ष वाक्य वह है जो 'नियुक्तार्थक' है । सामान्य रूप से इसका अर्थ यह किया जा सकता है कि जिस वाक्य का अर्थ निश्चित न हो या जिसमें आकांक्षा बनी रहे यानी बात अधूरी रह जाय वह साकांक्ष वाक्य होता है और जहाँ आकांक्षा समाप्त हो जाती है यानी निश्चित अर्थ का बोध हो जाता है वह निराकांक्ष वाक्य है । साकांक्ष वाक्य में प्रयुक्त काकु साकांक्ष और निराकाक्ष वाक्य में प्रयुक्त काकु निराकांक्ष कहलाती है । अभिनवगुप्त ने 'काकु' की टीका में अनेक मत मतान्तरों का खंडन-मंडन करते हुए अपना पक्ष स्थापित किया है । यहाँ काकु सम्बन्धी विश्लेषण अभिनवगुप्त के अपने मत के आधार पर ही करने का प्रयत्न किया गया है ।

साकांक्ष काकु वह है जो शब्दों द्वारा वाच्य अर्थ के अतिरिक्त बहुत अधिक अर्थ का बोध कराती है । काकु मुख्य रूप से दो कार्य करती है—१. अर्थबोध और २. चित्तवृत्तिबोध । इनमें से पहली 'अर्थकाकु' और दूसरी 'रसकाकु' है । स्वर, स्थान, वर्ण, अलंकार, अंग—ये पाँचों गुण वास्तव में काकु को ही उपकृत करते हैं । काकु इन सबमें व्याप्त है इसलिये वही प्रमुख है । 'अलं करोति इति अलंकारः' इस व्युत्पत्ति से काकु का पर्याप्त विस्तार करने के कारण ही उच्चदीप्तादि को 'अलंकार' कहा जाता है । ये काकु के उपकारक, सम्पादक (निर्माता) और परिपूर्णता लाने वाले हैं । 'विच्छेद' आदि अंग भी रस, अर्थ, शोभा और कर्म द्वारा काकु का ही पोषण करते हैं । वाचिकाभिनय में भी काकु ही अर्थ का 'अभिनयन' करती है—'अभि मुख्येन नयतीति अभिनयः' अर्थात् मुख्य रूप से ले जाती है । शेष पाँचों गुण काकु के ही विस्तारहैं, इसीलिये भरत ने अध्याय के अन्त में 'उक्तं काकुविधानम्' के द्वारा काकु में ही शेष पाँच का भी समावेश कर दिया है ।

चित्तवृत्तिबोधिका रसकाकु वर्णहीन भी हो सकती है । 'संवित्' के 'स्पन्दन' या 'प्राणों' के 'उल्लास' से जो नादात्मिका वाणी उत्पन्न होती है उसमें सदा सार्थक वर्णों का प्रयोग नहीं होता, इसलिये उसके द्वारा चित्त के हर्षशोकादि भावों का ही बोध होगा । पशुपक्षियों की बिशिष्ट ध्वनियों से भी उनकी भय, शोकादि चित्तवृत्ति का बोध तो हो सकता है लेकिन नाद के बल से उसका अनुमान ही किया जाता है, वर्णों का प्रयोग न होने से सीधे वाच्य नहीं होता । इसलिये नादात्मक ध्वनि में 'व्यभिचार' नहीं हो सकता, एक प्रकार का नाद सदा एक ही भाव का बोध करा सकता है । 'झटिति' निकलने वाली यह ध्वनि मुखराग, पुलकादि सात्त्विक भावों के समान हैं जो स्वयं उद्भूत होते हैं और भावों का बोध करा के तुरन्त विलीन हो जाते हैं । लेकिन वर्णात्मक ध्वनि में काकु का प्रयोग होने पर वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ भी निकल सकता है जो वाच्यार्थ से विपरीत भी हो सकता है ।

रसकाकु को चित्तवृत्तिबोधिका और अर्थकाकु को अर्थबोधिका कहने से यह शंका हो सकती है कि नेपथ्य-पाठ या दूरस्थ के प्रति भाषण में उपर्युक्त दोनों व्यापारों को छोड़कर

में शिर से अर्थात् ऊँची ध्वनि में, बहुत दूर न हो तो कण्ठ से यानी न बहुत ऊँची, न बहुत नीची बल्कि मध्यम ध्वनि और 'पार्श्वतः' यानी बिल्कुल पास हो तो उर से अर्थात् नीची ध्वनि में पाठ करना चाहिये। जब कोई विशेष भाव व्यक्त न करना हो, केवल सामान्य बात कहनी हो तो वाक्य उर से आरम्भ करके कंठ में समाप्त करना चाहिये। यही स्वाभाविक क्रम है। सामान्य रूप से नीची ध्वनि में बोलना शुरू करके उत्साह वृद्धि के साथ-साथ स्वर की तीव्रता में भी वृद्धि हो जाती है और समाप्त करते समय मध्यध्वनि में अन्त किया जाता है। इसलिये शान्त प्रसंग या 'आवेशशून्य' अवस्था में इसी प्रकार पाठ होता है।

वर्ण — 'वर्ण' की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनवगुप्त कहते है 'विवृण्वते प्रकटयन्ति' अर्थात् पाठक्रिया का विस्तार करते हैं। भरत के अनुसार 'तपोधन' अर्थात् सूक्ष्मदर्शी लोग उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित इन चार वर्णों के योग से पाठ्य करते हैं।

वर्ण की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि स्वरों के 'रक्ति' तथा 'अनुरणन' धर्मों का त्याग करके उच्च, नीच, मध्यम और कम्पनयुक्त ध्वनि के स्पर्शमात्र से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित वर्णों का प्रयोग करना चाहिये। 'रक्ति' ही प्रधानरूप से 'गान' का लक्षण है इसलिये उसका त्याग 'पाठ्य' के लिये आवश्यक है। पाठ्य और गान का अन्तर 'अपूर्णस्वरता' (७ स्वरों की अपेक्षा कम स्वरों का प्रयोग) और 'पूर्णस्वरता' नहीं है। अभिनव ने उदाहरण दिये हैं कि षाडव और औडव रूप में भी गानक्रिया होती है। यहाँ तक कि कुछ भाषा-राग चतुःस्वर और त्रिस्वर भी कहे हैं।

लोकगीतों, अभिनयगीतों आदि में भी ३-४ स्वरों का ही प्रयोग साधारणतः होता है तब क्या वे पाठ कहे जा सकते हैं ? वैदिक मंत्रों का उच्चारण कुछ स्वरों में ही होता है लेकिन रक्ति नहीं होती इसलिये वह 'मन्त्रपाठ' कहलाता है। लेकिन उन्हीं मंत्रों का 'रक्ति' से युक्त सप्तकरूप स्वरों में प्रयोग होते ही वही 'सामगान' कहलाता है। इसलिये रक्ति से रहित केवल उच्चनीच ध्वनिसहित प्रयोग ही पाठ्य कहा जाता है।

'वर्ण' के संबंध में यह स्पष्ट रूप से समझ लेना जरूरी है कि पाठ्य और गान में भेद स्थापित करने की दृष्टि से ही भरत ने पाठ्य योग में उदात्तदि ४ बर्ण कहे और गान के ४ वर्ण अलग से २९वें अध्याय में कहे हैं अन्यथा अलग-अलग वर्ण कहने की कोई ज़रूरत नहीं थी।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदात्तादि वर्णों के योग के कारण पाठ्य के अन्तर्गत सामान्य बोलचाल और स्वरविशेष को 'अंश' या आधार बना कर किया जाने वाला 'पाठ'—इस प्रकार 'गान' के अतिरिक्त मनुष्य के समूचे वाग्व्यवहार का ग्रहण हो जाता है।

वर्णों का रसों में विनियोग भरत ने इस प्रकार करने के लिये कहा है—हास्य-शृंगार में स्वरित-उदात्त, वीर-रौद्र-अद्भुत में उदात्त-कम्पित, करुण-वीभत्स-भयानक में अनुदात्त-स्वरित-कम्पित वर्णों से पाठ करना चाहिये। इस अंश की टीका में अभिनव ने किस स्वर को स्थायी बनाकर किस वर्ण का कौन-कोन सी जातियों में विनियोग करना चाहिये यह भी बताया है।

इस संदर्भ में जाति कहने का इतना ही अभिप्राय है कि उन जातियों के अंश स्वरों का प्रयोग होना चाहिये ।

काकु—'साकांक्ष' और 'निराकांक्ष' वाक्यों के आधार पर भरत ने द्विविधा काकु कही है—'साकांक्ष काकु' और 'निराकांक्ष काकु' । साकांक्ष वाक्य उसे कहा जो 'अनियुक्तार्थक' हैं और निराकांक्ष वाक्य वह है जो 'नियुक्तार्थक' है । सामान्य रूप से इसका अर्थ यह किया जा सकता है कि जिस वाक्य का अर्थ निश्चित न हो या जिसमें आकांक्षा बनी रहे यानी बात अधूरी रह जाय वह साकांक्ष वाक्य होता है और जहाँ आकांक्षा समाप्त हो जाती है यानी निश्चित अर्थ का बोध हो जाता है वह निराकांक्ष वाक्य है । साकांक्ष वाक्य में प्रयुक्त काकु साकांक्ष और निराकाक्ष वाक्य में प्रयुक्त काकु निराकांक्ष कहलाती है । अभिनवगुप्त ने 'काकु' की टीका में अनेक मत मतान्तरों का खंडन-मंडन करते हुए अपना पक्ष स्थापित किया है । यहाँ काकु सम्बन्धी विश्लेषण अभिनवगुप्त के अपने मत के आधार पर ही करने का प्रयत्न किया गया है ।

साकांक्ष काकु वह है जो शब्दों द्वारा वाच्य अर्थ के अतिरिक्त बहुत अधिक अर्थ का बोध कराती है । काकु मुख्य रूप से दो कार्य करती है—१. अर्थबोध और २. चित्तवृत्तिबोध । इनमें से पहली 'अर्थकाकु' और दूसरी 'रसकाकु' है । स्वर, स्थान, वर्ण, अलंकार, अंग—ये पाँचों गुण वास्तव में काकु को ही उपकृत करते हैं । काकु इन सबमें व्याप्त है इसलिये वही प्रमुख है । 'अलं करोति इति अलंकारः' इस व्युत्पत्ति से काकु का पर्याप्त विस्तार करने के कारण ही उच्चदीप्तादि को 'अलंकार' कहा जाता है । ये काकु के उपकारक, सम्पादक (निर्माता) और परिपूर्णता लाने वाले हैं । 'विच्छेद' आदि अंग भी रस, अर्थ, शोभा और कर्म द्वारा काकु का ही पोषण करते हैं । वाचिकाभिनय में भी काकु ही अर्थ का 'अभिनयन' करती है—'अभि मुख्येन नयतीति अभिनयः' अर्थात् मुख्य रूप से ले जाती है । शेष पाँचों गुण काकु के ही विस्तारहैं, इसीलिये भरत ने अध्याय के अन्त में 'उक्तं काकुविधानम्' के द्वारा काकु में ही शेष पाँच का भी समावेश कर दिया है ।

चित्तवृत्तिबोधिका रसकाकु वर्णहीन भी हो सकती है । 'संवित्' के 'स्पन्दन' या 'प्राणों' के 'उल्लास' से जो नादात्मिका वाणी उत्पन्न होती है उसमें सदा सार्थक वर्णों का प्रयोग नहीं होता, इसलिये उसके द्वारा चित्त के हर्षशोकादि भावों का ही बोध होगा । पशुपक्षियों की बिशिष्ट ध्वनियों से भी उनकी भय, शोकादि चित्तवृत्ति का बोध तो हो सकता है लेकिन नाद के बल से उसका अनुमान ही किया जाता है, वर्णों का प्रयोग न होने से सीधे वाच्य नहीं होता । इसलिये नादात्मक ध्वनि में 'व्यभिचार' नहीं हो सकता, एक प्रकार का नाद सदा एक ही भाव का बोध करा सकता है । 'झटिति' निकलने वाली यह ध्वनि मुखराग, पुलकादि सात्त्विक भावों के समान हैं जो स्वयं उद्भूत होते हैं और भावों का बोध करा के तुरन्त विलीन हो जाते हैं । लेकिन वर्णात्मक ध्वनि में काकु का प्रयोग होने पर वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ भी निकल सकता है जो वाच्यार्थ से विपरीत भी हो सकता है ।

रसकाकु को चित्तवृत्तिबोधिका और अर्थकाकु को अर्थबोधिका कहने से यह शंका हो सकती है कि नेपथ्य-पाठ या दूरस्थ के प्रति भाषण में उपर्युक्त दोनों व्यापारों को छोड़कर

में शिर से अर्थात् ऊँची ध्वनि में, बहुत दूर न हो तो कण्ठ से यानी न बहुत ऊँची, न बहुत नीची बल्कि मध्यम ध्वनि और 'पार्श्वर्त:' यानी बिल्कुल पास हो तो उर से अर्थात् नीची ध्वनि में पाठ करना चाहिये। जब कोई विशेष भाव व्यक्त न करना हो, केवल सामान्य बात कहनी हो तो वाक्य उर से आरम्भ करके कंठ में समाप्त करना चाहिये। यही स्वाभाविक क्रम है। सामान्य रूप से नीची ध्वनि में बोलना शुरू करके उत्साह वृद्धि के साथ-साथ स्वर की तीव्रता में भी वृद्धि हो जाती है और समाप्त करते समय मध्यध्वनि में अन्त किया जाता है। इसलिये शान्त प्रसंग या 'आवेशशून्य' अवस्था में इसी प्रकार पाठ होता है।

वर्ण — 'वर्ण' की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनवगुप्त कहते है 'विवृण्वते प्रकटयन्ति' अर्थात् पाठक्रिया का विस्तार करते हैं। भरत के अनुसार 'तपोधन' अर्थात् सूक्ष्मदर्शी लोग उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित इन चार वर्णों के योग से पाठ्य करते हैं।

वर्ण की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि स्वरों के 'रक्ति' तथा 'अनुरणन' धर्मों का त्याग करके उच्च, नीच, मध्यम और कम्पनयुक्त ध्वनि के स्पर्शमात्र से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित वर्णों का प्रयोग करना चाहिये। 'रक्ति' ही प्रधानरूप से 'गान' का लक्षण है इसलिये उसका त्याग 'पाठ्य' के लिये आवश्यक है। पाठ्य और गान का अन्तर 'अपूर्णस्वरता' (७ स्वरों की अपेक्षा कम स्वरों का प्रयोग) और 'पूर्णस्वरता' नहीं है। अभिनव ने उदाहरण दिये हैं कि षाडव और औडव रूप में भी गानक्रिया होती है। यहाँ तक कि कुछ भाषाराग चतु:स्वर और त्रिस्वर भी कहे हैं।

लोकगीतों, अभिनयगीतों आदि में भी ३-४ स्वरों का ही प्रयोग साधारणत: होता है तब क्या वे पाठ कहे जा सकते हैं ? वैदिक मंत्रों का उच्चारण कुछ स्वरों में ही होता है लेकिन रक्ति नहीं होती इसलिये वह 'मन्त्रपाठ' कहलाता है। लेकिन उन्हीं मंत्रों का 'रक्ति' से युक्त सप्तकरूप स्वरों में प्रयोग होते ही वही 'सामगान' कहलाता है। इसलिये रक्ति से रहित केवल उच्चनीच ध्वनिसहित प्रयोग ही पाठ्य कहा जाता है।

'वर्ण' के संबंध में यह स्पष्ट रूप से समझ लेना जरूरी है कि पाठ्य और गान में भेद स्थापित करने की दृष्टि से ही भरत ने पाठ्य योग में उदात्तदि ४ वर्ण कहे और गान के ४ वर्ण अलग से २९वें अध्याय में कहे हैं अन्यथा अलग-अलग वर्ण कहने की कोई ज़रूरत नहीं थी।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदात्तादि वर्णों के योग के कारण पाठ्य के अन्तर्गत सामान्य बोलचाल और स्वरविशेष को 'अंश' या आधार बना कर किया जाने वाला 'पाठ'—इस प्रकार 'गान' के अतिरिक्त मनुष्य के समूचे वाग्व्यवहार का ग्रहण हो जाता है।

वर्णों का रसों में विनियोग भरत ने इस प्रकार करने के लिये कहा है—हास्य-शृंगार में स्वरित-उदात्त, वीर-रौद्र-अद्भुत में उदात्त-कम्पित, करुण-वीभत्स-भयानक में अनुदात्त-स्वरित-कम्पित वर्णों से पाठ करना चाहिये। इस अंश की टीका में अभिनव ने किस स्वर को स्थायी बनाकर किस वर्ण का कौन-कोन सी जातियों में विनियोग करना चाहिये यह भी बताया है।

इस संदर्भ में जाति कहने का इतना ही अभिप्राय है कि उन जातियों के अंश स्वरों का प्रयोग होना चाहिये ।

काकु—'साकांक्ष' और 'निराकांक्ष' वाक्यों के आधार पर भरत ने द्विविधा काकु कही है—'साकांक्ष काकु' और 'निराकांक्ष काकु' । साकांक्ष वाक्य उसे कहा जो 'अनियुक्तार्थक' हैं और निराकांक्ष वाक्य वह है जो 'नियुक्तार्थक' है । सामान्य रूप से इसका अर्थ यह किया जा सकता है कि जिस वाक्य का अर्थ निश्चित न हो या जिसमें आकांक्षा बनी रहे यानी बात अधूरी रह जाय वह साकांक्ष वाक्य होता है और जहाँ आकांक्षा समाप्त हो जाती है यानी निश्चित अर्थ का बोध हो जाता है वह निराकांक्ष वाक्य है । साकांक्ष वाक्य में प्रयुक्त काकु साकांक्ष और निराकाक्ष वाक्य में प्रयुक्त काकु निराकांक्ष कहलाती है । अभिनवगुप्त ने 'काकु' की टीका में अनेक मत मतान्तरों का खंडन-मंडन करते हुए अपना पक्ष स्थापित किया है । यहाँ काकु सम्बन्धी विश्लेषण अभिनवगुप्त के अपने मत के आधार पर ही करने का प्रयत्न किया गया है ।

साकांक्ष काकु वह है जो शब्दों द्वारा वाच्य अर्थ के अतिरिक्त बहुत अधिक अर्थ का बोध कराती है । काकु मुख्य रूप से दो कार्य करती है—१. अर्थबोध और २. चित्तवृत्तिबोध । इनमें से पहली 'अर्थकाकु' और दूसरी 'रसकाकु' है । स्वर, स्थान, वर्ण, अलंकार, अंग—ये पाँचों गुण वास्तव में काकु को ही उपकृत करते हैं । काकु इन सबमें व्याप्त है इसलिये वही प्रमुख है । 'अलं करोति इति अलंकारः' इस व्युत्पत्ति से काकु का पर्याप्त विस्तार करने के कारण ही उच्चदीप्तादि को 'अलंकार' कहा जाता है । ये काकु के उपकारक, सम्पादक (निर्माता) और परिपूर्णता लाने वाले हैं । 'विच्छेद' आदि अंग भी रस, अर्थ, शोभा और कर्म द्वारा काकु का ही पोषण करते हैं । वाचिकाभिनय में भी काकु ही अर्थ का 'अभिनयन' करती है—'अभि मुख्येन नयतीति अभिनयः' अर्थात् मुख्य रूप से ले जाती है । शेष पाँचों गुण काकु के ही विस्तारहैं, इसीलिये भरत ने अध्याय के अन्त में 'उक्तं काकुविधानम्' के द्वारा काकु में ही शेष पाँच का भी समावेश कर दिया है ।

चित्तवृत्तिबोधिका रसकाकु वर्णहीन भी हो सकती है । 'संवित्' के 'स्पन्दन' या 'प्राणों' के 'उल्लास' से जो नादात्मिका वाणी उत्पन्न होती है उसमें सदा सार्थक वर्णों का प्रयोग नहीं होता, इसलिये उसके द्वारा चित्त के हर्षशोकादि भावों का ही बोध होगा । पशुपक्षियों की बिशिष्ट ध्वनियों से भी उनकी भय, शोकादि चित्तवृत्ति का बोध तो हो सकता है लेकिन नाद के बल से उसका अनुमान ही किया जाता है, वर्णों का प्रयोग न होने से सीधे वाच्य नहीं होता । इसलिये नादात्मक ध्वनि में 'व्यभिचार' नहीं हो सकता, एक प्रकार का नाद सदा एक ही भाव का बोध करा सकता है । 'झटिति' निकलने वाली यह ध्वनि मुखराग, पुलकादि सात्त्विक भावों के समान हैं जो स्वयं उद्भूत होते हैं और भावों का बोध करा के तुरन्त विलीन हो जाते हैं । लेकिन वर्णात्मक ध्वनि में काकु का प्रयोग होने पर वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ भी निकल सकता है जो वाच्यार्थ से विपरीत भी हो सकता है ।

रसकाकु को चित्तवृत्तिबोधिका और अर्थकाकु को अर्थबोधिका कहने से यह शंका हो सकती है कि नेपथ्य-पाठ या दूरस्थ के प्रति भाषण में उपर्युक्त दोनों व्यापारों को छोड़कर

दूरश्रव्यता ही प्रयोजन होता है, तब वहाँ कौन सी काकु मानी जाय ? इस शंका का समाधान अभिनवगुप्त के अनुसार यह है कि सामान्य व्यवहार में तो केवल दूरश्रव्यता प्रयोजन हो सकता हैं लेकिन नाट्य में किसी परिस्थिति को सार्थक बनाना या व्यक्तिविशेष की चित्तवृत्ति पर प्रकाश डालना ही नेपथ्यपाठ या पुस्तकपाठ के अभिनय का प्रयोजन होने के कारण वहाँ भी अर्थबोध या चित्तवृत्ति बोध तो होता ही है। इसलिये श्रव्यता रूपी प्रयोजन के आधार पर तीसरी काकु मानने की जरूरत नहीं है। लेकिन किसी विशेष परिस्थिति में 'स्वरकाकु' मान सकते हैं। जैसे—कुछ दूरी पर कुछ व्यक्ति झगड़ रहे हों तो शब्द स्पष्ट सुनाई न देने पर भी आवाज़ से ही समझ में आ जाता है कि झगड़ा हो रहा है।

भरत ने सिर्फ़ 'साकांक्ष' और 'निराकांक्ष' काकु ही कहीं हैं, अर्थकाकु, रसकाकु या स्वरकाकु नहीं, फिर भी पाठ्य के जिस उच्चारणभेदरूप धर्म को उसने काकु कहा है उसका कारण स्वरभेद है, इसलिए उसे 'स्वरकाकु' संज्ञा दी जा सकती है। स्वरों के विनियोग द्वारा पाठ्य और उर, शिर तथा कंठ से उत्पन्न स्वरों में सामान्य बोलचाल—भरत के बचनों से 'स्वरकाकु' के ये दो रूप समझ में आते हैं।

भरत के अनुसार प्रश्नसूचक वाक्य को नीची ध्वनि में शुरू करके उसका अन्त सबसे ऊँची ध्वनि में करना चाहिए। उसी वाक्य का ध्वनिकम उल्टा करने से सामान्य वाक्य हो जाता है। यहीं साकांक्ष और निराकांक्ष काकु है। जैसे—'काम हो गया? काम हो गया'। इन दो वाक्यों में से पहले में 'गया' के अन्त में स्वर सबसे ऊँचा रहेगा। दूसरा वाक्य स्वीकृति-सूचक है क्योंकि 'गया' में 'काम' की अपेक्षा ध्वनि क्रमशः नीची होती जायगी।

काकु शब्द की व्युत्पत्ति 'कक लौल्ये' धातु से है जिसका अर्थ है चंचलता। लेकिन संदर्भ के अनुसार लौल्य का अर्थ है स्वरवैचित्र्य। जिस वाच्यभूमि में यह वैचित्र्य ईषत् रूप से दिखे वह 'काकु' कहलाती है। 'कक' का अर्थ जिह्वा भी होता है। जिह्वा अर्थात् वाणी व्यापार से काकु कहा जा सकता है।

अलंकार— 'अलं पर्याप्तं काकोः स्वरूपं येन सम्पाद्यते सोऽलङ्कारः'—अभिनवगुप्त ने 'अलंकार' की यह व्युत्पत्ति दी है। इसका अर्थ यह है कि काकु का स्वरूप जिसके द्वारा पर्याप्त रूप से सम्पन्न हो वह अलंकार है। ध्वनि के तीनों स्थान यानी मन्द्र, मध्य और तार में से हरेक में ध्वनि के फिर से नीच, मध्य, उच्च यानी अनुदात्त, स्वरित और उदात्त भेद हो सकते हैं। इन गुणों के कारण ही काकु स्फुट होती है। भरत ने छ अलंकार बताए हैं—उच्च, दीप्त मन्द्र; नीच, द्रुत तथा विलम्बित। इनमें दो दो के तीन जोड़े हैं—उच्च-दीप्त, मन्द्र-नीच, द्रुत-विलंबित। शुरू के दो जोड़े मुख्य रूप से स्थानों से और तीसरा जोड़ा लय से संबंध रखता है।

'उच्च' शिर के अधोभाग में रहता है। दूरस्थ के प्रति भाषण में, बिस्मय, उत्तरोत्तर संजल्प (एक दूसरे से बढ़ बढ़ कर बातें), परोक्ष व्यक्ति को बुलाने और त्रास देने में इसका प्रयोग होता है। तीन विभिन्न प्रकार के कार्य करने के कारण अभिनवगुप्त ने इसके ३ भेद किये—दूरस्थ के प्रति भाषण प्रयोजन होने से 'स्वरकाकु', विस्मयादि अपने हृद्‌गत भावों को

प्रकट करने में प्रयुक्त होने वाली 'रसकाकु' और त्रासादि देने में यानी अन्य व्यक्ति में भाव उत्पन्न करने में कारणस्वरूप 'विभावकाकु'।

'दीप्त' शिर के ऊर्ध्वभाग में स्थित होता है। इसका प्रयोग आक्षेप, कलह, विवाद, अमर्ष, घृष्टता, क्रोध, शौर्य, दर्प, ललकार, भर्त्सना, क्रन्दन में होता है। स्वरकाकु ही शिर के तारतर भेद से 'श्रुतिकाकु' कहलाती है। 'तार' शब्द का अर्थ ही प्रकर्ष है। द्वीप्त में उच्च की अपेक्षा स्वर का प्रकर्ष होता ही है।

'मन्द्र' हृदय के ऊर्ध्वभाग में और 'नीच' हृदय के अधोभाग में रहते हैं। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, दैन्य, व्याधि, शस्त्रक्षत, मूर्छा, मद, गुप्तकथन में 'मन्द्र' और स्वाभाविक भाषण, व्याधि, शम, श्रम से उत्पन्न थकान, त्रस्त होने, गिरने, मूर्छा में 'नीच' प्रकट होता है। इनमें भी 'स्वचित्तवृत्ति अर्पण' होने पर अर्थात् अपने भावों का बोध कराने में रसकाकु और 'परस्य रूपोत्पादन' में यानी दूसरे व्यक्ति में भाव उत्पन्न कराने में अभिनवगुप्त ने 'विभावकाकु' कही है। प्रयोजन-भेद से अलंकारों का मिश्रण भी हो सकता है।

'द्रुत' और 'विलंबित' मुख्य रूप से लय से संबंधित अलंकार हैं, यह पहले कहा जा चुका है। भरत ने कहा है कि ये कण्ठ के ऊर्ध्वभाग से सम्पन्न होंगे जिसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। त्वरितगति से युक्त 'द्रुत' और धीमी गति से युक्त 'विलंवित' अलंकार होता है। विलास, बुदबुदाना, भय, शीत, ज्वर, त्रासित, वेदनादि में 'द्रुत' का और श्रृंगार करुण, वितर्कित विचार अमर्ष, असूया, अव्यक्तार्थ, प्रमाद, लज्जा, चिन्ता, तर्जन, दोषवर्णन, दीर्घरोग में 'विल-बित' काकु होती है।

विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति में अनेक अलंकारों का एक साथ प्रयोग होता है। दूर स्थित व्यक्ति से बात करने, ललकारने, डराने-धमकाने आदि में ध्वनि स्वाभाविकतः तार से तारतर होती जाती है और गति भी द्रुत हो जाती है। इसलिये इन प्रसंगों में उच्च, दीप्त, द्रुत अलंकारों से युक्त काकु का प्रयोग करना चाहिए। व्याधि, शोक, भयभीत, शस्त्र से क्षत होने, गूढ़ बात कहने, चिन्ता आदि में स्वर नीचा हो जाता है, इसलिए मन्द्र, नीच अलंकार-प्रयोग का विधान है। इन प्रसंगों में गति भी धीमी हो जाती है। इसी प्रकार अन्य परिस्थितियों में भी एक से ज़्यादा अलंकारों का एक साथ प्रयोग होता है।

लघु अक्षरों से युक्त पाठ्य में उच्चदीप्त और गुरु अक्षर युक्त पाठ्य जो सौम्य अर्थ और सुखकर भावों से पूर्ण हो उसमें मन्द्र-विलंबित प्रयोग होता है। जिनमें तीक्ष्ण, रूक्ष अक्षरों का ज़्यादा संयोग हो उनमें भी दीप्त का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार भरत ने अक्षरों की योजना के साथ भी अलंकार-विनियोग बताया है।

हास्य, श्रृंगार, करुण में विलंबिता; वीर, रौद्र, अद्भुत में दीप्ता और वीभत्स, भया-नक में द्रुता, नीचा काकु का प्रयोग करना चाहिये। इस रूप में नाना भावों और रसों के उप-युक्त काकु-प्रयोग का भी भरत ने विधान किया है।

अंग—अंग ६ हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन, प्रशमन। उच्चारण के बीच में विराम के कारण होने वाला अंग 'विच्छेद' है। तरंगित होते हुए मधुर स्वर से युक्त नाद से रंगस्थल को भरते हुए पाठ होने पर 'अर्पण' होता है। वाक्य समाप्ति पर होने वाला

न्यास 'विसर्ग' है। पदों के बीच में जहाँ विच्छेद न हो यानी उच्छ्वास न हो वहाँ 'अनुबन्ध' होता है। तीनों स्थानों में शोभित होने वाला स्वर का क्रमशः चढ़ते जाना 'दीपन' और तार में पहुँचे हुए स्वरों का वैस्वर्य के बिना क्रमशः नीचे उतरना 'प्रशमन' होता है।

अभिनव गुप्त ने विच्छेद-अनुबन्ध, अर्पण-विसर्ग और दीपन-प्रशमन यों तीन द्विक बनाये हैं। द्विकों के अंग विपरीतार्थक हैं। विच्छेद-अनुबन्ध में ध्वनि का 'त्रुटितत्व-अत्रुटितत्व' या 'अभाव-भाव' होता है। विच्छेद में ध्वनि न रहने से त्रुटितत्व या अभाव होता है। भरत के अनुसार 'विसर्ग' का अर्थ वाक्य के अन्त में होने वाला विराम है, लेकिन अभिनवगुप्त ने विसर्ग को अर्पण का विपरीतार्थक बताया है। 'अर्पण' में नाद की पुष्टता यानी भरापन रहता है, इसलिये विसर्ग में अपुष्टता यानी भराव का अभाव होना चाहिये। विसर्ग के भरतोक्त लक्षण 'वाक्यन्यासः' का अर्थ अभिनवगुप्त ने वाक्योच्चारण के समय नाद का त्याग अथवा क्षीणता किया है। लेकिन किसी विशेष चित्तवृत्ति में तो यह हो सकता है, सदा नहीं। अभिनवगुप्त ने इनका सम्बन्ध नाद के पीवरत्व-अपीवरत्व से भी जोड़ा है, इसलिये सामान्य अर्थ यह निकाला जा सकता है कि अर्पण में नाद पुष्ट या भरा हुआ और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तीव्रता से युक्त तथा विसर्ग में इसके विपरीत अपुष्ट, विना भरा और क्रमशः क्षीण होता हुआ रहता है। क्रमशः दीप्त होता हुआ यानी तारस्थान की ओर चढ़ता हुआ 'दीपन' और क्रमशः शमित होता हुआ यानी तार से मन्द्र की ओर उतरता हुआ 'प्रशमन' होता है।

इस प्रकार दीपन-प्रशमन में नाद की 'तारता' (पिच), अर्पण-विसर्ग में 'तीव्रता' (इन्टैन्सिटी) और विच्छेद-अनुबन्ध में 'काल' (ड्यूरेशन)—नाद के तीन गुणों का समावेश किया जा सकता है। नाद की चौथी विशेषता 'विशेष गुण' (टिम्बर) का यहाँ अभाव है क्योंकि नाट्य प्रयोग के लिये विशिष्ट प्रकार की कंठ ध्वनि वाले नर का चुनाव तो किया ही जाता है, इसलिये चुन लिये जाने पर 'कंठगुण' का नहीं बल्कि कंठ में भावानुकूल परिवर्तन का ही महत्त्व हो सकता है। इसी को काकु कहा गया है। 'विशेष गुण' का सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियों या वाद्यों के उस गुण से है जिसके कारण एक व्यक्ति की ध्वनि अन्य व्यक्ति से अथवा एक वाद्य की दूसरे वाद्य से अलग पहचानी जाती है।

पाठ्य में हास्य-शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये अर्पण, विच्छेद, दीपन, प्रशमन का; करुण के लिये दीपन, प्रशमन का; वीर, रौद्र, अद्भुत के लिये विच्छेद, अनुबन्ध, दीपन, प्रशमन का; बीभत्स, भयानक के लिये विसर्ग, विच्छेद का प्रयोग करना चाहिये। अंगों का त्रिस्थानगत प्रयोग इस प्रकार है—दूरस्थ के प्रति भाषण में शिर से उत्पन्न तार स्थान से, कुछ पास स्थित के प्रति कण्ठ से उत्पन्न मध्य स्थान से और बिल्कुल पास वाले के प्रति हृदय से उत्थित मन्द्रस्थान से पाठ्य प्रयोग करना चाहिये। मन्द्रतम और तारतम स्थानों का प्रयोग नहीं होता।

रसों में विभिन्न लयों का विनियोग यों है—हास्यशृंगार में मध्य लय, करुण में विलम्बित और वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स, भयानक में द्रुत। विच्छेद में विराम के काल का निर्णय लय के आधार पर ही होता है, इसीलिये लय-विधान भी किया गया है।

भरत ने अंग में विराम का आधार अर्थसमाप्ति बताया गया है, छन्द नहीं क्योंकि

अर्थसमाप्ति का बोध कराने के लिये एक, दो, तीन या चार अक्षरों के बाद भी विराम हो सकता है लेकिन छन्द में विराम निश्चित स्थान पर ही होता है। विराम भेद से एक ही वाक्य का अर्थ बदल जाता है। जैसे—नहीं जाओ। इसमें नहीं के बाद विराम करने से 'जाओ' अर्थ निकलेगा और विराम के बिना एक साथ उच्चारण से 'मत जाओ'। विराम का ग़लत स्थान पर प्रयोग होने से अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। इसलिये भरत ने विराम में विशेष प्रयत्न करने के लिये कहा है।

आंगिक-वाचिक अभिनय में भी विराम का अत्यन्त महत्त्व है। बात शुरू होने पर दृष्टि उठती और समाप्ति के साथ नीचे गिरती है। बात के आरम्भ और समाप्ति के साथ हाथ भी उठते व गिरते हैं। वीर रौद्र रस में हाथ मारने के लिये आकुल होते हैं और बीभत्स में घृणा के कारण सिकुड़ जाते हैं। क़रुण में स्तब्ध होने पर और भयभीत होने पर हाथ निचेष्ट होकर खुल जाते हैं। इस प्रकार भरत के अनुसार अर्थ-निश्चय हाथों के अभिनय, अलंकार और विराम से होता है।

विराम का प्रयोग अर्थ-समाप्ति, पद-समाप्ति या 'प्राण' के अनुरोध से होता है। 'प्राण' का अर्थ सामान्यतः 'साँस टूटना' लिया जा सकता है। अभिनवगुप्त ने इसके लिये कहा है—'प्राणा रसभावाद्याः, तदौचित्येन छेदः' अर्थात् रसभाव नाट्य प्रयोग के प्राणरूप हैं। रस-भाव के औचित्य के अनुसार होने वाले 'छेद' या विराम को 'प्राणवश' कहा जा सकता है।

अर्थबोध में अक्षरों के कर्षण का विशेष महत्त्व है। 'कर्षण' का अर्थ है दीर्घ उच्चार। इसका सम्बन्ध लय से है। अक्षरों का कर्षण होने पर लय स्वाभाविक रूप से विलंबित हो जाती है। पाठ्य में अक्षरों को अधिक से अधिक ६ कलाओं तक खींचा जा सकता है ('कला' संगीतशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है जिसका मुख्य अर्थ १० लघु अक्षरों के उच्चारण का काल है।) विराम का प्रयोग इस ढंग से होना चाहिये कि छन्द टूटे नहीं, छन्दों में मिश्रण का भ्रम न हो और अर्थ-भंग न हो।

भरत की काकु का ध्वनि के 'गुण' से संबंध नहीं है। काकु और ध्वनि के 'गुण' का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न सबसे पहले शार्ङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' में किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रकीर्णकाध्याय में 'छाया' नामक स्थाय के पर्याय के रूप में 'काकु' का प्रयोग हुआ है। काकु के ६ भेद कहे गये हैं—स्वरकाकु, रागकाकु, अन्य-रागकाकु, देशकाकु, क्षेत्रकाकु और यन्त्रकाकु। इनका संबन्ध संगीत से है। इसलिये यहाँ नामोल्लेख ही पर्याप्त है।[1]

'काव्य प्रकाश' के तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना के निरूपण से भी काकु के महत्त्व पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कारिका द्रष्टव्य है।

वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

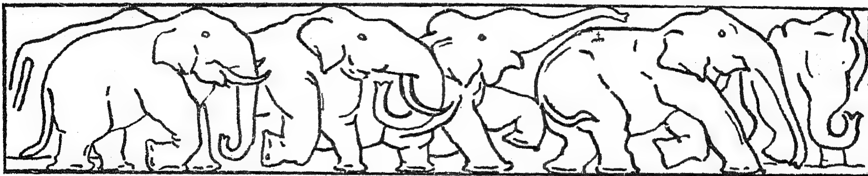
---

१. विशेष विवरण के लिये संगीत रत्नाकर, २, श्लोक १२०—१२६ देखें। बिशेष विवेच-नात्मक टिप्पणियों के लिये लेखिका का शीघ्र प्रकाशित होने वाला 'संगीत रत्नाकर' पर हिन्दी टीकाग्रंथ द्रष्टव्य है।

अर्थात् वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्यादि के वैशिष्टय से विदग्ध लोगों को वाच्यार्थ से भिन्न अन्यार्थं की प्रतीति कराने वाला जो अर्थ-व्यापार होता है वह आर्थी व्यञ्जना ही है। काकु का लक्षण मम्मट ने 'ध्वनेर्विकारः' दिया है। काकु (स्वर भेद) वाच्यार्थ से भिन्न लेकिन वाच्यार्थ के द्वारा ही व्यञ्जित होने वाले अर्थ का बोध कराती है। अभिनव गुप्त ने अर्थबोधिका अर्थकाकु और भावबोधिका रसकाकु—में जो दो भेद काकु के किये उन दोनों का समावेश काव्य प्रकाश की काकु में हो जाता है क्योंकि शब्दों के द्वारा अर्थबोध और उन शब्दों में रहने वाले स्वर भेद से चित्तवृत्तिबोध—-ये दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

भरत के काकु विधान के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि काकु के द्वारा बोधित होने वाली वस्तु व्यंग्य ही होती है वाच्य नहीं। वाच्यार्थ काकु का क्षेत्र नहीं है। शब्दों के द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न अनुभूत होने वाला अर्थ और स्वरों के आधार पर होने वाला भाव-बोध—दोनों व्यंजित होते हैं। किसी रस या भाव का नाम लेने से उसकी अनुभूति नहीं होती बल्कि उसके अनुकूल वातावरण का निर्माण करने पर ही होती है क्योंकि रस या भाव स्वरों के वाच्य नहीं होते बल्कि स्वरों के व्यंग्य होते है। वहाँ अभिधा, लक्षणा और आर्थी व्यंजना पीछे छूट जाती हैं। जब शब्द की सब शक्तियाँ अभीष्ट भाव का बोध कराने में असमर्थ हो जाती हैं तब काकु अपना कार्य करती है। चढ़ना-उतरना, तीव्र-मन्द होना और विस्तार-संकोच-यही स्वर के धर्म हैं, यही काकु है, यही संगीत के भावपक्ष का आधार और प्राण है।

काकु संबंधी इस सारी चर्चा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरत की काकु का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है जिसमें 'गान' तथा ध्वनि के 'विशेष गुण' को छोड़-कर सामान्य बोल-चाल और पाठ्य से संबद्ध ध्वनि के सब धर्म समाविष्ट है। काव्य-प्रकाश-कार की काकु आर्थी व्यंजना के अनेक कारणों में से एक है जिसमें अभिनवगुप्त की अर्थकाकु और रसकाकु का समावेश है। भरत की काकु नाट्य से, मम्मट की काकु काव्य से और शार्ङ्गदेव की काकु मुख्य रूप से गीतवाद्य से संबंधित हैं। वास्तव में ये सभी विभिन्न क्षेत्रों में ध्वनि के उस धर्म को द्योतक हैं जिसके कारण अर्थबोध और भावबोध होता है जो ईश्वर-प्रदत्त वाणी के मनुष्य-कृत विकास को सूचक है।



"प्राचीन भारतीय पुर एवं संस्कृति"

उदय नारायण राय

आज के युग में हमें ग्राम की तुलना में नगरों में अधिक तड़क-भड़क देखने को मिलती है। जब गाँव का रहने वाला पहली बार नगर में आता है, तो वहाँ की ऊँची अट्टालिकाओं, लम्बे-चौड़े राजमार्गों पर तेज रफ्तार से भागती हुई तरह-तरह की सवारियों, नाट्यशाला, सिनेमा-घर, मनमोहक वस्तुओं से सुशोभित दूकानों तथा रात की रोशनी आदि को देख कर वह अपने को एक नई दुनियाँ में पाने लगता है। पुर के लोगों की रहन-सहन, बात-चीत का ढंग, दैनिक चर्या तथा आर्थिक और बौद्धिक जीवन आदि ग्रामवासियों की अपेक्षा पृथक् हुआ करता है। इन सब बातों को देखते हुए हमारे मन में इस कुतूहल का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि क्या प्राचीन काल में भी ग्राम-जीवन और नगर-जीवन में इस तरह का कोई भेद होता था या नहीं ? हमारा प्राचीन साहित्य विश्वास दिलाता है कि यह अन्तर हमारे देश में कोई आज ही नहीं, पहले भी माना जाता था। इस संबन्ध में कालिदास के 'शाकुन्तलम्' नामक नाटक में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में दिखाया गया है कि राजा दुष्यन्त की प्रेयसी हंसपदिका उनसे रुष्ट है। वे विदूषक को आदेश देते हैं कि तुम जाकर उसे जरा 'नागरिक-वृत्ति' से समझा दो।[१] इस समस्त पद से तात्पर्य शहर में रहने वाले लोगों के वार्तालाप की निपुणता एवं व्यवहार-चातुर्य से है।

इसी ग्रन्थ में कण्व ऋषि के आश्रम का वर्णन आता है, जिसमें शार्ङ्गरव और शारद्वत नामक उनके दो प्रिय शिष्य रहते थे। आचार्य की आज्ञा के अनुसार वे शकुन्तला को ले कर राजा दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर में उसे सौंपने को पहुँचे। उसका दुष्यन्त के साथ गान्धर्व-विवाह कण्व के आश्रम में पहले ही हो चुका था। शार्ङ्गरव वहाँ पहुँचते ही घबड़ा कर शारद्वत से अपने मनोभाव प्रकट करने लगा "मित्र ! यह बात तो सही है कि राजा दुष्यन्त बड़े ही आचार-विचार वाले हैं और उनके राज्य का कोई भी व्यक्ति अपने धर्म और मर्यादा को नहीं छोड़ता, पर सूनी जगह पर रहने के कारण यहाँ का जनरव मुझे काटने दौड़ रहा है। मेरी तो दशा वैसी ही हो गई है, जिस तरह तेज आग की भयंकर लपटों से खाक होते हुये घर को देखने पर होती है।"[२] शारद्वत भी उसका समर्थन करता हुआ कहता है— "मेरी भी दशा तुम्हारी ही तरह हो गई है। पुर में आने पर मनुष्य कुछ इसी तरह भौचक्का

---

१. "सखे ! गच्छ, नागरिकवृत्त्या सान्त्वयैनाम्"

शाकुन्तलम्, अंक ५

२. "तथापीदं शश्वत्परिचित-विविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥
अभिज्ञान-शकुन्तलम्, अंक ५,११

हो जाता है। मैं भी सांसारिक सुख और वासनाओं में चिपटे हुये नागरिकों को उसी तरह देखता हूँ, जिस तरह स्नान किया हुआ व्यक्ति तेल से सने गन्दे आदमी को, जागता सोते को, स्वतंत्र पराधीन को या पवित्र नर पापी को देखता है।"[१] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि नगर-जीवन और ग्राम-जीवन तथा इसी तरह नगर-जीवन और अरण्य-जीवन में भेद था।

कालिदास-प्रणीत मालविकाग्निमित्रम् में ग्राम-नगर-भेद के विषय में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इसके पहले अंक में गणदास और हरदत्त नाम के दो आचार्यों का वर्णन मिलता है जो कि संगीत के मर्मज्ञ थे। पर, दोनों एक दूसरे से जलते और नीचा दिखाने की ताक में रहते थे। एक दिन वे एक दूसरे को हराने की ठान कर राज-दरबार में पहुँचे और महाराज से निवेदन किये कि श्रीमन्, ! हम लोगों के कला-ज्ञान की परीक्षा अपने सामने ले कर सदा के लिये निपटारा कर दें कि हम में कौन विषय का अधिक मर्मज्ञ है? उस समय दरबार में संयोग-वश महारानो और उनके साथ परिव्राजिका कौशिकी भी उपस्थित थीं। महाराज देवी कौशिकी से बड़े ही शिष्टाचार के साथ कहते हैं कि इन दोनों कलाकारों की ज्ञान-परीक्षा अगर आप ही कर देतीं तो अच्छा रहता। इस पर परिव्राजिका अचम्भित हो, कहती हैं—"महाराज! आप भी क्या मजाक करते हैं। नगर के रहते रत्न की परख कहीं गाँव में होता है"?[२] राजशेखर-प्रणीत कर्पूरमञ्जरी में विदूषक (कुरङ्गक नामक) कहता है कि कस्तूरिका का विक्रम कहीं ग्राम में सम्भव हो सकता है? (कत्थूरिआकुग्गामें-विवि-कणि-आदि)। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि नगर में गुण की परख रखने वाले व्यक्तियों एवं कला-कारों का बाहुल्य था। इस कथन की तुलना हम बिहारीलाल के निम्नलिखित दोहों से कर सकते हैं—

वे न इहाँ नागर बड़े जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गँवई गाँव गुलाब॥
कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहे गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब की गँवई गाहक कौन॥

अजी! गाँव में गुलाब का फूलना न फूलना एक सा ही है। भला, वहाँ वे कदरदाँ जौहरी (नागर) कहाँ हैं, जो उसकी कीमत को समझें। अरे इत्रफरोश! तेरी अक्ल कहीं मारी गई है, क्या रे? तू इस बात को समझता क्यों नहीं कि तेरे गुलाब के गाहक भला कहीं गाँव (गँवई) में मिल सकेंगे? मालविकाग्निमित्रम् एवं कर्पूरमञ्जरी के प्रमाणों से स्पष्ट है कि जो विद्वान् यह कहते हैं कि प्राचीन भारत में नगर नहीं थे, वे भ्रम में हैं। ग्राम और नगर में जो अन्तर आज माना जाता है वह पहले भी माना जाता था।

भास-कृत स्वप्नवासवदत्तम् में वर्णन मिलता है कि जब राजा का दल-बल सूने जंगल में ऋषि के आश्रम में प्रवेश करता है तो वहाँ खलबली मच जाती है। राजा का एक मुँहलगा

---

१. अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतजनमिव सुखसंगिनमवैमि॥" वही, अंक ५,१२

२. अलमुपालम्भेन! पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा'
मालविकाग्निमित्रम्, अंक १

कर्मचारी, जो सुलझा हुआ भी था, दूसरे कर्मचारियों को फटकार लगाता हुआ कहता है—"हे ! आप इस बात को समझते क्यों नहीं कि यह तपोवन है ? यहाँ किसी प्रकार की भगदड़ मचाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इससे राजा की बदनामी होगी। आश्रम में रहने वालों के साथ मीठे वचन बोलना चाहिए और अच्छा व्यवहार दिखाना चाहिये। वे नगर के अपमान से बचने के लिये ही तो आ कर वन में रहते हैं।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नगर लौकिक साधनाओं के लिये था और जंगल धर्म-साधना के लिये।[1] पारमार्थिक बौधायन ने कहा है कि पुर में रहने वाले मनुष्य का नेत्र, वदन एवं शरीर कुण्ठित हो जाता है तथा फलस्वरूप सिद्धि-प्राप्ति के लिये वह आयोग्य हो जाता है।[2] हर्ष-कृत रत्नावली नाटिका में विक्रमबाहु का अमात्य वत्सभूमि उदयन की राजधानी कौशाम्बी मेरा जदरबार की चहल-पहल को देख कर स्तब्ध हो कहने लगता है :—अजी ! कहीं हथसारों में बँधे कुञ्जर मेरी दृष्टि को लुभा रहे हैं तो कहीं मन्दुरा में बँधे हुये तुरंग ! कभी संगीत-ध्वनि से मैं आकृष्ट हो रहा हूँ तो कहीं दरबार में लगी गोष्ठियों के द्वारा। राजमहल के बाहरी दृश्य को ही देख कर सिंहलेन्द्र का ऐश्वर्य मुझे विस्मृत हो जाता है। प्रवेश-द्वार पर ही खड़े मेरे कुतूहल को लख कर द्वारपाल मुझे गँवार के रूप में ग्रहण कर रहा है[3]—

'आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण तुरगान्निर्वर्णयन्वल्लभा-
न्संगीतध्वनिनाहृतः क्षितिभृतः गोष्ठीषु तिष्ठत्क्षणम्।
सद्यो विस्मृतसिंहलेन्द्रविभवः कक्ष्याप्रदेशेऽप्यहो
द्वाःस्थेनैव कुतूहलेन महता ग्राम्यो यथाऽहं कृतः॥

हुयेनसांग लिखता है कि कान्यकुब्ज तथा अन्य नगरों में रहने वाले भारतीय नागरिकों की चाल-ढाल अनुकरणीय थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित 'नागरक' शहर की सभ्यता में पले हुए कला-प्रेमी शौकीन भारतीय नागरिक का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने 'नागरक' की जिस दिनचर्या का उल्लेख किया है, उसमें प्राचीन पुर-समाज के सांस्कृतिक जीवन का हमें एक सुन्दर प्रतिबिम्ब मिलता है।

प्राचीन समय में नागरिकों की वेशभूषा किस तरह की होती थी यह तो स्वयं एक बड़ा विषय हो जाता है जिस पर स्वतंत्र ग्रन्थ का निर्माण किया जा सकता है। यहाँ संक्षेप में इतना कह देना आवश्यक है कि चीनी यात्रियों का यह कथन कि भारतवर्ष में दर्जीगीरी होती ही नहीं थी, पूर्णतया निराधार है। उनका यह वक्तव्य नगर में रहने वालों की वेश-भूषा से नहीं, अपितु बौद्ध श्रमणों के पहनावे से सम्बन्धित है। चीनी यात्री यहाँ अधिकतर

---

१. 'परिहरतु भवान् नृपापवादं न परुषमाश्रमवासिषुप्रयोज्यम्।
नगरपरिभवान्विमोक्तुमेते वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति॥"
स्वप्नवासवदत्तम् अंक १

२. 'पुररेणुकुण्ठितशरीरस्तत्परिपूर्णनेत्रवदनश्च। नगरे वसन्
सिद्धिमवाप्स्यतीति न तदस्ति।' बोधायन धर्मसूत्र, २,३,५३।

३. देखिये, मेरा ग्रन्थ 'स्टडीज़ इन एशेंट इंडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर' प्रस्तावना।

मठों में रहते थे जहाँ पर भिक्षु लोग बिना सिले हुए वस्त्रों को प्रयोग में लाते थे। जहाँ तक पुरवासियों का प्रश्न है, वे बारीकी के साथ सिले हुए कपड़े पहनते थे। वस्तुस्थिति तो यह है कि सैन्धव सभ्यता-काल से ही हमारे देश में सुई-तागे व्यवहार में लाये जाते थे तथा कपड़ों की कतरन एवं सिलाई एक पुरानी भारतीय परम्परा थी। अधोवस्त्र के रूप में अधिकतर धोती काम में लाई जाती थी, जो सूती और रेशमी दोनों ही हुआ करती थी। लोग कभी-कभी पायजामा भी पहनते थे जिसको 'स्वस्थान'[१] कहा जाता था। लगता है कि भोजपुरी भाषा का 'सुत्थन' शब्द इसी 'स्वस्थान' शब्द का अपभ्रंश है। उत्तरीय वस्त्र के रूप में मिर्जई या कुर्त्ता का प्रयोग होता था। विशेष अवसरों पर लम्बा कोट या घुटनों तक लटकती हुई अचकन पहनी जाती थी। सिर के ऊपर लोग टोपी या पगड़ी धारण करते थे। पुर-ललनाएँ लहँगा, साड़ी, चोली तथा किनारेदार चादर प्रयोग में लाती थीं।[२]

सिर के बालों को सजाना उस समय के शृङ्गार का एक अभिन्न अंग था। अजन्ता और बाघ की चित्रकारियाँ पुर-सुन्दरियों द्वारा बाल सँवारने के ढंग पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। स्त्रियाँ अपने बालों को काढ़ कर एक सुन्दर चोटी गाँछती थीं जिसे 'वेणी' कहा जाता था। कभी-कभी वे बालों को समेट कर ललाट पर एक जूड़ा बाँधती थीं जिसे हमारे प्राचीन साहित्य में 'ललाटजूटक'[३] कहा गया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित में लिखा है कि थानेश्वर की वधुएँ अपने केशपाश पर जाली लगाती थीं ! यह आज की महिलाओं के 'हेयर-नेट' का स्मरण दिलाता है। अधिक सौन्दर्य लाने के लिये वे अपने बालों में यथास्थान सुन्दर फूल भी खोंस लेती थीं। राजशेखर के अनुसार कान्यकुब्ज की ललनाओं की केशरचना पूरे देश में आदर्श मानी जाती थी।[४] उनके समय में भारतवर्ष का यह प्रधान नगर था, अतएव वहाँ के नागरिकों की वेशभूषा का अनुकरण यदि अन्य स्थानों पर किया जाता हो, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारे देश में आज दिन फैशन की रोशनी बम्बई और दिल्ली जैसे महानगरों से आती है।

वात्स्यायन लिखते हैं कि नागरक अपने बालों को भलीभाँति सँवार डाले : अपने मुखबास को शुद्ध करने के लिये उसे ताम्बूल-सेवन तो अवश्य ही करना चाहिए (गृहीतमुखवासताम्बूलः कार्यान्यनुतिष्ठेत्)। उसे सफेद और चिकने वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए

---

१. लेखक का ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' (प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी), पृष्ठ ३३१।

२. वही, पृष्ठ ३३१।

३. वही पृष्ठ ३३३।

४. 'यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां वा सूक्तिमुद्राक्रमे।
भंगिर्या कवरीचयेषु रचनां यद्भूषणालीषु च॥
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललना लोकेरिहान्यच्च य-
च्चक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः॥'
बालरामायण, १०, ९०

ताकि उसके व्यक्तित्व का उभाड़ अच्छा से अच्छा सम्भव हो सके। स्नान करते समय वह 'स्नानचूर्ण' का प्रयोग करे।[१] लगता है कि इस शब्द से वात्स्यायन का तात्पर्य किसी तरह के उबटन से है जिसे पुरवासी नहाने के पहले प्रयोग में लाते थे। उनके अनुसार तीसरे या चौथे दिन नागरक को अपनी दाढ़ी अवश्य ही बनवा लेनी चाहिये। उस समय आज जैसा 'सेफ्टी-रेजर' या अपने हाथ से दाढ़ी बनाने का कोई साधन न था। इस काम के लिये नाई का सहारा लेना आवश्यक था, जिसका प्रतिदिन मिलना असंभव था। नहीं तो, यदि वात्स्यायन आज के युग में होते, तो वे लिखते कि प्रतिदिन दाढ़ी बनाना नितान्त आवश्यक है।

पुरवासी उस समय भी सुगन्धित तेल और इत्र आदि का व्यवहार करते थे। भारतीय नगरों में उनका उत्पादन अधिकता में होता था तौर विदेशों में उनकी तगड़ी माँग थी। रोम का प्लिनी नामक नागरिक अपने देश-वासियों को धिक्कारते हुए लिखता है कि वे राष्ट्र की अतुल धनराशि भोगविलास की वस्तुओं के पीछे भारतवर्ष भेज देते थे। आधुनिक केवड़ा-जल की भाँति फूलों के निचोड़ से सुरभित जल तैयार किया जाता था, जिसे लोग छोटी पिचकारियों की सहायता से अपने वस्त्र पर भली-भाँति छिड़क लेते थे। चन्दन को घिस कर अनुलेप तैयार किया जाता था, जो बड़ा ही लोकप्रिय था। इसीलिए प्राचीन साहित्य में 'चन्दनानुलेप'[२] का प्रचुर उल्लेख मिलता है। गर्मी के दिनों में पुर-सुन्दरियाँ इससे अपने अवयवों को चर्चित करती थीं (काचित्, पिपेषान्तर्विलेपनम्)। सुवास के लिए आज लोग अगरबत्ती को ध्यवहार में लाते हैं। उस समय अमीर लोग अपने बैठक-खाने, शयनगृह तथा पूजाघरों में चन्दनबत्ती या धूपबत्ती जलाते थे। स्त्रियाँ चन्दनबत्ती (कालागरु) के धुएँ से अपने केशपाश को सुवासित कर अपने प्रियतम से मिलने जाती थीं (शिरांसि कालागरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय)।

उस समय भी अंगराग कास्मेटिक का प्रयोग होता था। ये दो तरह के होते थे। एक तो केसरिगा रंग का होता था, जो काश्मीर से मिलने वाले कुंकुम के केसर से तैयार किया जाता था। इसे प्राचीन साहित्य में 'कुंकुराग'[३] कहा गया है। यह बड़ा ही खुशबुदार होता था और पयोधर एवं नितम्ब भाग पर लगाया जाता था (पयोधरः कुंकुमरागपिञ्जरैः)। दूसरा गाढ़े लाल रंग का होता था, जो लाक्षारस से तैयार किया जाता था। इसे अधरों के ऊपर चढ़ाया जाता था (लाक्षारसरागलोहितैः)। इस क्रिया को 'अधर-रंजन[४] कहा जाता था। यह आधुनिक युग के लिपस्टिक का स्मरण दिलाता है। कुमारसंभव में कहा गया है कि पार्वती के ओठ लाक्षारस के अंगराग की तरह लाल रंग के लगते थे।[५] इसे चरणों पर भी चढ़ाया जाता था, जो कि महावर का स्मरण दिलाता है। लाक्षारस का अंगराग 'अलक्तराग'

---

१. देखिए मेरा ग्रंथ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीबब', पृष्ठ ३३४।

२. देखिए मेरा ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन', पृ० ३३५

३. ऋतुसंहार पृ० ६, ५

४. नाट्शास्त्र २३, ३०

५. ऋतुसंहार, १, ५

भी कहलाता था (अलक्तपाटलेन)। इसी अलक्तक शब्द से आल्ता शब्द निकला। आधुनिक काल में स्त्रियाँ आल्ते से महावर रचती हैं।

उस समय के रईसों की सवारियों में घोड़ा-गाड़ी उल्लेखनीय है। यह आकार में आधुनिक पालछो-गाड़ी या बग्घी के तुल्य थी, जिसमें कभी कभी दो घोड़े जुते रहते हैं। उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के प्रारंभिक भाग में धनीमानी सेठ-साहूकारों तथा जमीदार-घरानों में इस तरह की घोड़ागाड़ियाँ प्रयोग में लाई जाती थीं। पटना में इस तरह की घोड़ा-गाड़ियाँ अब भी चलती हैं। धनिक नागरिक पालकी पर भी निकलते थे। अमरावती की कला में कई तरह की हवादार पालकियों का अंकन किया गया है। नागरिक मनोविनोद के लिए उद्यान-यात्रा (पिक्निक) किया करते थे। उस समय नगरों में उद्यान लगाने की प्रथा लोकप्रिय थी। मन्दसौर के लेख से ज्ञात होता है कि मालवा के दशपुर नामक नगर की वाटिकाएँ वहाँ की गजगामिनी पुर-वधुओं की चाल से सुशोभित होती रहती थीं।[1] मृच्छकटिक में 'पुष्पकरण्डक' नामक पुरवाटिका का उल्लेख मिलता है, जो इलाहाबाद के आधुनिक कम्पनी बाग या खुसरोवाग की भाँति नगर-शोभा का प्राण रहा होगा।[2] इस नाटक में विदूषक इसकी प्रसंशा करता हुआ कहता है कि यह उद्यान अपनी शीतलता द्वारा आज नन्दनवन को भी मात कर रहा है (लघुकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम्)।

रघुवंश से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी के नागरिक मनोविनोद के लिए उद्यानयात्रा (पिक्निक) करते थे। इसका सबसे अच्छा वर्णन वात्स्यायन ने किया है। वे लिखते हैं कि नागरिक अच्छे वस्त्र और आभूषणों से सुशोभित (स्वलंकृताः) हो भली भाँति सजी हुई सवारियों में बैठ कर समीपवर्ती उद्यान में जायँ। वे अपने साथ खाने-पीने का सामान और गाने-बजाने की टोली को भी ले लें। वे अपना पूरा दिन वहीं पर मधुर वार्तालाप और सामूहिक मनोविनोद में व्यतीत करें और सन्ध्या के समय तक अच्छी तरह दिलबहलाव कर प्रसन्नचित हो घर वापस लौटें।[3] वात्स्यायन के वर्णन से लगता है कि उस समय उद्यान-यात्रा अत्यन्त लोकप्रिय थी। पुरवाटिका प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन का गुप्त स्थान भी हुआ करता था। बहुधा वहाँ से युवकों द्वारा अपनी प्रेयसी युवती को भगा ले जाने की घटनाएँ हो जाया करती थीं (कन्यामपहरेदिति विवाहयोगाः)।

अमीरों के घर खर्चीली दावतें हुआ करती थीं जिनमें मांस-मदिरा खूब चला करती थीं। इन्हें 'आपानक' कहा जाता था। ऐसे अवसरों पर तरह-तरह की मदिराएँ शराब के प्यालों में, जिन्हें 'चषक' कहा जाता था, भर कर पिलायी जाती थीं। लगता है कि राजकुल की महिलाएँ भी कभी-कभी मदिरापान करती थीं। मालविकाग्निमित्रम् नामक नाटक में अग्निमित्र की प्रधान महिषी इरावती मदिरा में उन्मत्त दिखाई गई है।[4] विवाह के लिए प्रयत्न

---

१. 'अजस्रगामिश्च तुरांगनभिः वनानि यस्मिन्समलंकृतानि' सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० १९१

२. देखिते, मेरा ग्रंथ, 'हमारे पुराने नगर' (प्रकाशक, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलहाबाद), पृ० ११३।

३. कामसूत्र, पृ० ५३, सूत्र ४०-४१।

४. मालविकाग्निमित्रम्, पृ० ४९।

(कोर्टशिप) भी एक प्राचीन परम्परा थी। इसे 'अनुरंजन' कहा जाता था (स्वयमेवानुरंजयेत्)। गुणसंपन्न युवक एवं युवतियों के ऐसे भी उदाहरण मिलते थे जिनका विवाह गरीबी या माँ-बाप के मर जाने के कारण रुक जाता था। अतएव विवाह के हेतु स्वयं प्रयत्न के लिए वे बाध्य हो जाया करते थे। प्रायः धनिक कुलों में भी यह प्रथा प्रचलित थी। वात्स्यायन लिखते हैं जिस युवती पर युवक अनुरक्त हो, उसे वह विविध उपायों द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा करे (तया सह पुष्पावचयं ग्रथनं दुहितृकाक्रीडायोजनम्) अच्छे वस्त्र एवं आभरणों से विभूषित होकर अपनी प्रेयसी के समक्ष जाय क्योंकि युवतियाँ प्रायः दार्शनीय व्यक्ति से ही अधिक प्रभावित होती हैं (युवतयो हि संसृष्टमभीक्षणदर्शनं च पुरुषं प्रथमं कामयन्ते)। उसके मन में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए वह उसे ऐसी वस्तुओं को भेंट में दे, जिसमें उसकी अभिरुचि हो या सुन्दर कथा-कहानियाँ और मधुर गीत आदि द्वारा उसे रीझ लेने की चेष्टा करे। (वर्धमानानुरागो वाख्यानके मनः कुर्वतो मन्वर्थाभिः कथाभिश्चित्तहारिणीभिश्च रंजयेत्)। इसी तरह यदि प्राप्त-यौवना, किसी गुणसंपन्न एवं दर्शनीय युवक को अपनी चेष्टाओं द्वारा पति चुनने में सफल होती थी, तो वह विवाह सामाजिक दृष्टि से ठीक समझा जाता था। राजकुलों में पतिवरण के इसी सिद्धान्त को लेकर स्वयंवर की प्रथा निकली होगी।

नगर-समाज कला और संगीत का प्रेमी सदा से ही रहा है। उस समय के नगरों में ऐसी संस्थाएँ वर्तमान थीं, जहाँ पर ललित-कला के विविध विषयों—गाना, बजाना तथा चित्रकारी आदि—की शिक्षा दी जाती थी। मालविकाग्निमित्रम् में एक कलाभवन का उल्लेख मिलता है जिसमें गणदास नामक आचार्य संगीत की शिक्षा देता था। वात्स्यायन ने लिखा है कि प्रत्येक नागरिक के लिए उच्च कला का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में राजकन्या गोपा के साथ कुमार सिद्धार्थ के विवाह का जब प्रश्न छिड़ता है उस समय उसके पिता इसके लिये अपनी अन्यमनस्कता प्रकट करते हुए आग्रह करते हैं कि हमारी कुलपरंपरा के अनुसार अभी तक कन्याओं का विवाह कला में निपुण व्यक्ति के ही साथ होता आया है। कुमार सिद्धार्थ तो कलाज्ञान से सर्वथा रहित हैं। मैं अपनी कलानिपुणा पुत्री का उनके साथ विवाह, क्यों कर दूँ ?[१] जो बाजे नागरिकों में विशेष रूप से लोकप्रिय थे उनमें वीणा, बाँसुरी और मृदंग उल्लेखनीय हैं। भास ने 'चारुदत्त' नामक नाटक में वीणा को समुद्र से निकला हुआ रत्न कहा है।[२] बाँसुरी (वेणु) की प्रशंसा करते हुए वात्स्मायन लिखते हैं कि वह वाद्य प्रियतमा के मन को मुग्ध करने का एक प्रिय उपाय है।[३] मृच्छकटिक के अनुसार वसन्तसेना की संगीतशाला में भौंरे की मधुर गुन्जार के समान बाँसुरी अत्यन्त मधुरता के साथ बजाई जा रही थी : उसमें युवतियाँ जब अपने कोमल करों से मृदंग

---

१. 'अस्माकं चायं कुलधर्मः शिल्पज्ञस्य कन्या दातव्या नाशिल्पज्ञस्येति,
कुमारश्च न शिल्पज्ञस्तत्कथमशिल्पज्ञायाहं दुहितां दास्यामि'
ललितविस्तर १२, १४३

२. 'वीणा नाम समुद्रोत्थितं रत्नम्' चारुदत्त, अंक ३।

३. 'वंशं वादयतो या शब्दं शृणोति सा वश्या भवति' कामसूत्र, पृष्ठ ३७९, सूत्र ४३।

बजाती थीं, उस समय बादलों के गर्जन की तरह गम्भीर शब्द निकलता था।[1]

रईसों के घरों में पशुशाला और पक्षिशाला बनी होती थीं। लोग अपने मनोविनोद के लिये भेंड़ा, बन्दर और मृग पालते थे (क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणम्)। उद्यान-यात्रा (पिक्निक) के प्रसंग में वात्स्यायन ने लिखा है कि नागरिक पुर-वाटिका में भेंड़ों की लड़ाई (मेष-युद्ध), तीतर-बटेर की जुझान (लावक-युद्ध) और मुर्गा-लड़ान (कुक्कुट-युद्ध) आदि द्वारा अपना दिलबहलाव करें।[2] कामसूत्र में मुर्गा-लड़ान (कुक्कुट-युद्ध) की गणना चौंसठ कलाओं में की गई है। मृच्छकटिक में उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना की पशुशाला का मनोरम वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार वहाँ हाथी भात, तेल और घी से मिश्रित पिण्ड का भक्षण बड़ी ही मस्ती के साथ कर रहा था और उसके पास दुष्ट बन्दर, चोर की तरह मजबूती से जकड़ दिया गया था (पाटच्चर इव दृढ़बद्धो शाखामृगः) कहीं घोड़ों के बाल सँवारे जा रहे थे, तो कहीं भेंड़ों की गर्दन मली जा रही थी (मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य)। उसमें तेल से मली हुई सींग वाले बैल (बलीवर्द) जो बैलगाड़ी (प्रवहण) में जोते जाते थे, खड़े थे। समीप ही अपमानित कुलीन व्यक्ति की तरह भैंस लम्बी साँसें ले रही थी।[3]

उसके घर में पक्षिशाला, पशुशाला से अलग बनी थी। उसका दृश्य तो और भी अनुपम था। उसमें मोर पंख को फड़फडा कर उत्साहपूर्वक नाच रहा था। वह अपनी सुन्दर चालों द्वारा मानों रमणियों को आदर्श गति की शिक्षा दे रहा था।[4] खूटियों में लटकाए गए पिंजरों में बटेर, तीतर और कबूतर आदि पक्षी पाले गए थे। अन्य पिंजरों में कहीं तोता दही-भात से भरे पेट वाले ब्राह्मण की भाँति वेद-पाठ कर रहा था, कहीं कबूतरों के जोड़े आलिंगन में रत हो कर सुख का आनंद ले रहे थे (अन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमभनुभवन्ति पाराबतमिथुनानि)। कहीं तरह-तरह के फलों के रस का आस्वादन करमे से प्रसन्न सुरीली कंठ वाली कोयल कूजन कर रही थी और कहीं जरूरत से ज्यादे सम्मान पाने के कारण गर्वित मैना टर-टरा रही थी।[5]

जहाँ तक उत्सवों का प्रश्न है, इस बात का निर्देश पहले ही किया जा चुका है कि भारतीय नागरिक बड़े समारोह के साथ इन्हें मनाते थे। यह हमारे प्राचीन साहित्य और विदेशी यात्रियों के वर्णन से स्पष्ट है। भारतीम उत्सवों का परिचय इतनी थोड़ी जगह में देना संभव नहीं हो सकता। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि भारतीय उत्सवों की पृष्ठभूमि बहुत कुछ सीमा तक सामाजिक और धार्मिक दोनों ही थी। यहाँ उदाहरण के लिए 'मदनोत्सव' का वर्णन किया जाता है, जिसका संस्कृत-नाटकों में बहुधा उल्लेख मिलता है। सम्राट् हर्ष की 'रत्नावली' नामक नाटिका में इसका सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार एक बार वसन्त ऋतु के आगमन के अवसर पर कौशाम्बी के नागरिकों ने मदनोत्सव का आयोजन बहुत

---

१. 'युवतिकरताडिता जलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदंगाः। मृच्छकटिक, अङ्क ४।

२. 'तत्रैवानुभूय कुक्कुटलावकमेषद्यूतयुद्धैः' कामसूत्र, पृष्ठ ५३।

३. देखिए, मेरा ग्रंथ 'हमारे पुराने नगर', पृष्ठ ११५।

४. "पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनाम्" मृच्छकटिक, अंक ४।

५. "अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका" वही, अंक ४।

ठाट-बाट से किया था। इसे देखने के लिये महाराज उदयन अपने प्रासाद के कोठे पर आए। इस अवसर पर नगरवासियों का प्रमोद चरम सीमा पर पहुँच चुका था। विदूषक कहता है—महाराज ! आप जरा इस मदन-महोत्सव की शोभा को तो देखें। मतवाली कामिनियाँ अपने हाथों में पिचकारी लेकर मस्ती में झूमते पुरुषों पर रंग डाल रही हैं। पुरुषगण कुतूहलवश नृत्य कर रहे हैं और उनकी तालियों के शब्दों से गलियाँ मुखरित हो रही हैं। उड़ाए गए गुलाल से दस दिशाओं का मुख पीतवर्ण हो रहा है।[1]

उदयन नगर-वासियों के उत्साह एवं असीम प्रसन्नता को देख कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। उन्हें ऐसा लगा, मानों इस अवसर पर उनका राजधानी कौशाम्बी कुबेर-नगरी के भी ऐश्वर्य को मात कर रही थी। इस समय तक लोगों की पिचकारियों से निकला हुआ पानी चारों ओर फैल रहा था। उस पर उद्धत स्त्रियाँ जब चलती थीं, तो उनके कपालों से इस पर अबीर गिरता था जिससे वहाँ की फर्श लाल वर्ण का हो जाती थी। जब मनचले नागरिक अपनी पिचकारियों के जल से वेश्याओं पर प्रहार करते थे, उस समय उनका हाव-भाव और विकास देखते ही बनता था। जब लोग गुलाल तेजी से उड़ाने लगे, उस समय चतुर्दिक अन्धकार सा फैलने लगा। बीच-बीच में भूषण के रूप में धारण की गई मणियों के आलोक में जब साँप के फण की आकृति वाली पिचकारियाँ दृष्टिगोचर होती थीं, तो पाताल-लोक का दृश्य स्मरण ही उठता था।[2]

यह उत्साह अभी चल ही रहा था कि मदनिका नामक दासी ने हाथ में आम्रमंजरी लिए हुए महाराज को सूचित किया :—महारानी का निवेदन है कि मकरन्दोद्यान मे जा कर अशोक-वृक्ष के नीचे कामदेव की पूजा करनी है, अतएव आर्यपुत्र वहाँ शीघ्र पधारें। इसके अनुसार विदूषक के साथ उदयन मकरन्दोद्यान में आए। इसकी छटा को देखते ही विस्मित हो बोल उठे—अहा ! मकरन्दोद्यान कितना सुन्दर है। वसन्त के यहाँ आ जाने से ये वृक्ष भी मतवाले से लग रहे हैं क्योंकि मूँगे की सदृश कान्ति वाले नव पल्लवों से इनकी लाली बढ़ गई है। भौरों का शब्द कितना सुमधुर एवं आह्लादकारी है। दक्षिण वायु इनकी शाखाओं को हिला रही है। ऐसा लगता है कि नशे की मस्ती में ये वृक्ष झूम रहे हैं।[3]

---

१. "प्रकीर्णपटवामपुञ्जपिञ्जरितदशदिशामुखस्य सश्रीकतां
मदनमहोत्सवस्य" रत्नावली, अंक १

२. "अस्मिन्प्रकीर्णपटवासकतान्धकारे
दृष्टो मनाग्मणिविभूषणरश्मिजालैः ।
पातालमुद्यतफणाकृतिश्रृङ्गकोऽयं
मामद्य संस्मरयतीह भुजंगलोकः ॥" रत्नावली अंक १, श्लोक १२

३. 'उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं बिभ्रतो
भृङ्गालीविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीलाभृतः ।
घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहैर्मुहु—
र्भ्रान्ति प्राप्य मधुप्रसंगमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः ॥
रत्नावली, अंक १, श्लोक १७

उधर महारानी भी परिचारिकाओं एवं दल-बल सहित उद्यान में आईं। सद्यःस्नान करने के कारण उनमें एक नई कान्ति आ गई थी। लाल रंग की साड़ी पहने काम-पूजा के लिए उद्यत, वे लगती थीं, मानों नव पल्लवों से युक्त वृक्ष की लता हों। महाराज के साथ उन्होंने आसन ग्रहण किया और पूजा-सामग्री के साथ अशोक-वृक्ष के नीचे कामदेव की अर्चना की। इस बीच सन्ध्या हो गई और वैतालिक द्वारा इसकी सूचना पाते ही महाराज देवी के साथ शयन-गृह में पधारे। रत्नावली नाटिका के इस वर्णन से लगता है कि इस उत्सव के दो पक्ष थे, वैयक्तिक तथा सामूहिक। जहाँ तक वैयक्तिक पक्ष था, महिलाएँ अपने पतियों सहित इस समय कामदेव की पूजा करती थीं। यही कारण है कि इसका नाम 'मदन-महोत्सव' पड़ गया। इस उत्सव का सामूहिक महत्त्व था—नागरिकों का स्नेहमिलन एवं पारस्परिक मनोविनोद। इस अवसर पर रंग, अबीर और गुलाल खूब चलता था। आज का होलिकोत्सव इसी का परिवर्तित रूप सा लगता है।

गोष्ठियाँ उस समय भी होती थीं, जिनमें नागरिक विचार-विनिमय करते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में गोष्ठी शब्द का उल्लेख हुआ है। इनमें चर्चा के विषय विविध थे। काव्य की कोई समस्या दे दी जाती थी और लोग उसकी तत्क्षण पूर्ति की चेष्टा करते थे। इसके अतिरिक्त कला-समस्याओं पर भी वहाँ विचार होता था। विभिन्न भाषाओं के ज्ञान का परिचय, स्वरचित कविताओं का पाठ तथा मनोरंजक कथा-कहानियों का सुनाना आदि इनमें खूब चला करता था। शिष्ट कोटि की हँसी और मजाक करने वाले लोग भी वहाँ आदर पाते थे (गोष्ठीषु पेशलतया परिहासशीलः)। वात्स्यायन लिखते हैं कि गोष्ठी में भरसक ऐसी भाषा बोली जाय जिसे साधारण साक्षर भी समझ लें। वह न तो आलंकारिक या क्लिष्ट हो और न तो गँवारू ही हो (नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया)। वहाँ जो लोग शुद्ध और सर्वसुलभ भाषा का प्रयोग करते थे, उनका बड़ा यश हो जाता था। गोष्ठी में आदर पाने के लिए कोई आवश्यक नहीं था कि पाण्डित्य उच्च कोटि का हो। वात्स्यायन के अनुसार कला-प्रेमी नागरिक शास्त्रीय ज्ञान के सीमित होने पर भी अपने मधुर वार्तालाप, आकर्षक चाल-ढाल तथा समयोचित प्रसंग को छेड़ने तथा उन पर प्रकाश डालने की रीति द्वारा मित्र-मंडली को मुग्ध कर देते थे।[1]

चौपड़ और शतरंज का खेल भी एक प्राचीन भारतीय परम्परा है। वात्स्यायन लिखते हैं कि नागरिकों को चाहिए कि वे शतरंज या चौपड़ के खेल के सामान सर्वदा अपने बैठक या शयनगृह में रखें। शतरंज की महीन चालों द्वारा वे अपनी कुशाग्रता का परिचय तो दे हीं, साथ ही साथ इष्ट मित्र एवं प्रियजनों की मंडली में इस खेल से वे अपना मनोविनोद भी करें। इस समय उनकी मेज पर स्वागत के लिए पान की डिबया भी पड़ी हो और सुविधा के लिए

---

१. "ब्रुवन्नप्यन्यशास्त्रणि चतुःषष्टिविवर्जितः
विद्वत्संसदि तात्यर्थं कथासु परिपूज्यते।
वर्जितोऽप्यन्यविज्ञानैरेतया यस्त्वलंकृतः
स गोष्ठ्यां नरनारीणां कथास्वग्रं विगाह्यते॥"

कामसूत्र, पृष्ठ १८२, सूत्र ४०-५१।

फर्श पर एक पीकदान भी होना चाहिए।[१] अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही हमारे देश में जुआ खेला जाता था। कौरवों एवं पांडवों के जूए का खेल तो प्रसिद्ध ही है। विशिष्ट पुर-भागों में जुआघर (द्यूतगृह) बने हुए थे, जिनकी सरकारी लिखा-पढ़ी की जाती थी। इनके संचालक हुआ करते थे, जिनको 'समिक' कहा जाता था। उसे द्यूतगृह स्थापित करने के लिए राज्य को कर देना पड़ता था। जूआघरों की देख-रेख के लिए राजकीय कर्मचारी भी हुआ करते थे। इसी तरह के पदाधिकारी को कौटिल्य ने 'द्यूताध्यक्ष' कहा है।

मृच्छकटिक द्वारा जुआड़ियों के खेल पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में एक जुआड़ी इसकी प्रशंसा करता हुआ कहता है कि अजी, इस खेल का जायका तो बिना ताज की बादशाहत की तरह है (द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्)। इसके चमत्कार को तो कुछ पूछो नहीं। जो चाहो इससे वही मिल जाय। सुन्दरी, महल, कुबेर की संपत्ति या दिल की कोई भी मुराद इससे पूरी हो सकती है।[३] इस ग्रन्थ में एक हारे जुआड़ी की दयनीय दशा का बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है। जुए में सब कुछ लुटा देने के कारण वह प्रतिज्ञा करता है कि अब वह आइन्दा इस तरह के खेल या दाँव-पेंच के चक्कर में कभी नहीं आएगा। पर, ज्योंही कौड़ियों की आवाज उसे सुनाई देती है उसका मन इसे खेलने के लिए ललच उठता है। वह अत्यन्त खेद प्रकट करते हुए कहता है कि जिस तरह युद्ध के लिए पुकार करता हुआ नगाड़े का शब्द या तुरही की आवाज हारे हुए राजा के मन को लड़ाई लड़ने के लिए ललचा देती है, उसी तरह 'कत्ता-शब्द' (कौड़ियों की आवाज) मेरे मन को लुभा दे रहा है।[४] मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि जुए का खेल उसी तरह बर्बादी की जड़ है जिस तरह सुमेरु पर्वत की चोटी से फिसल कर चूर-चूर हो जाना, तब भी पासे का शब्द मुझे आज अपनी ओर बरबस खींच रहा है।[५] मैं अपने मन को इससे हटाने में असमर्थ पा रहा हूँ। जैसे गदही कामुक गदहे को अपने पैरों के प्रहार से घायल कर देती है और तब भी वह उसका साथ नहीं छोड़ता, वैसे ही इस जुए रूपी गर्दभी की चोट बराबर खा कर भी मैं इसकी ओर ललच उठता हूँ। जिस प्रकार महाभारत की लड़ाई में अंगराज कर्ण की शक्ति से घटोत्कच बुरी तरह घायल हो गया था, उसी तरह इस जूए रूपी शक्ति के प्रहार से मैं पूर्ण रूप से धराशायी हो गया हूँ।[६]

---

२. 'देखिए, मेरा ग्रन्थ' हमारे पुराने नगर, पृष्ठ ११८।

१. देखिए, मेरा ग्रन्थ 'हमारे पुराने नगर', पृष्ठ ११८।

२. "द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारामित्रं द्यूतेनैव" मृच्छकटिक, अंक २।

३. "ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराजस्य।
जानामि न क्रीडिष्यामि कत्ताशब्दो मनो हरति॥ वही, अंक २

४. "जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसन्निभं द्यूतम्।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति॥ वही, अंक २

५. नवबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या।
अंगराजमुक्तयेव हा शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या॥" वही, अंक २

मृच्छकटिक के वर्णन से लगता है कि जुए की शर्तों का पालन बड़ी कड़ाई के साथ करना पड़ता था। यह आवश्यक था कि दाँव पर जो संपत्ति रखी जाय या कोई वादा किया जाय, उसे बिना किसी हिचक के अदा कर दिया जाय। जुए के खेल में उज्जयिनी का एक हारा हुआ जुआड़ी, हारी हुई रकम को देने में अपने को असमर्थ पाता है। फिर तो उसके ऊपर चारों ओर से बौछारें पड़ने लगती हैं। जीता हुआ जुआड़ी उससे कहता है कि इस समय तू कहीं भी भाग कर नहीं जा सकता। अगर तू स्वर्ग-लोक या पाताल-लोक में भी शरण लेना चाहे तब भी तेरी खैरियत नहीं है। पैसा तो मुझे देना ही पड़ेगा। यदि तेरे पास कुछ भी नहीं है, तो तू अपने शरीर को बेंच कर इसे पूरा कर, नहीं तो तुझे अपनी जिन्दगी से हाथ धोना पड़ेगा। इसी बीच वसन्तसेना आ जाती है। वह उसे धिक्कारती हुई कहती है—तू तो बड़ा ही गया बीता है रे, केवल थोड़े से ठिकरों के लिए पंचेन्द्रियों से बनी हुई ईश्वर की अनुपम रचना को मार डालना चाहता है। भला, तेरा कल्याण होने वाला है। अवश्य ही तेरा विनाश होगा।[1] बड़ी कठिनाई से वह उसे उन्मुक्त करा पाती है।

यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि प्राचीन नगर-जीवन का एक दूषित पक्ष भी था जिसमें वेश्याएँ, कुट्टनी एवं चोर आदि आते थे। इन्हीं के जीवन को लक्ष्य में रख कर पाणिनि ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना अष्टाध्यायी में पुरसमाज के 'कुत्सित वर्ग' का उल्लेख किया है। इसके विपरीत 'प्रावीण्य वर्ग' था जिसमें शिष्ट, सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत नागरिक आते थे (नगरात्कुत्स्नप्रावीण्ययोः)[2]। मृच्छकटिक तथा दशकुमारचरित आदि ग्रन्थों में दुष्ट वेश्याओं के काले कारनामों के उल्लेख मिलते हैं। मृच्छकटिक में कहा गया है—अजी इन मायाविनी वेश्याओं का तो कुछ पूछो नहीं। भला, उनका कोई भरोसा हो सकता है। ये झूठा प्रेम दिखा कर युवकों को फाँस लेती हैं और अन्त में उन्हें चौपट करके ही छोड़ती हैं। सन्ध्याकालीन लाली की भाँति वे क्षणिक राग वाली होती हैं। वे सागर की लहरों से भी चंचल होती हैं और पुरुष का सारा धन चूस कर उसे अलक्तक की भाँति निचोड़ डालती हैं। हृदय से तो वे अन्य किसी पुरुष से प्रेम करती हैं, पर लोभ के पीछे ऊपरी प्रेम और ही से दिखाती हैं (अन्यं शरीरेण च कामयन्ते)। उनका विश्वास करना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि उनका सारा व्यवहार छल-प्रपंच से भरा होता है। जैसे खेत में फेंका हुआ जौ धान नहीं हो सकता या गधे घोड़े का काम नहीं कर सकते अथवा कमलिनी पर्वत की चोटी पर नहीं उग सकती, वैसे ही वेश्या का आचरण पवित्र नहीं हो सकता (न देशजाताः शुचयस्तथांगनाः)। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह उसका परित्याग उसी तरह कर दे, जिस प्रकार श्मशान-भूमि पर पड़ा हुआ सुन्दर पुष्प अस्पृश्य समझ कर छोड़ दिया जाता है।[3]

इस नाटक में विदूषक एक हितैषी के रूप में चारुदत्त से कहता है—मैं ब्राह्मण हो

---

१. "दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पंचेन्द्रियसमायुक्तो नरः व्यापाद्यते त्वया॥"

२. देखिये, मेरा ग्रन्थ 'स्टडीज़ इन ऐन्शेंट इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर' प्रस्तावना।

३. "तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः॥" वही, अंक ४,१४!

कर आपके पैरों पर गिर कर कहता हूँ कि आप वेश्या का साथ छोड़ दें। गणिका तो जूते में पड़ी किंकिणी के समान है, जो एक बार घुसने के बाद बड़ी कठिनाई के साथ निकाली जाती है (गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियन्ते)। मित्र ! अधिक क्या कहूँ, जहाँ वेश्या रहती हैं वहाँ बुरे आदमी भी नहीं जाते, सज्जनों का तो कहना ही क्या ? उनके इन्द्रजाल से भगवान् ही बचायें। वे धन के लिए क्षण में हँसती हैं और क्षण में ही रोती भी हैं (एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतोः) बाहर से वे पुरुषों को विश्वास दिखाती हैं पर उनका दिल प्रवंचना से भरा होता है। उज्जयिनी का न्यायाधीश विस्मित हो कर चारुदत्त से पूछता है—आर्य ! क्या यह सच है कि आपकी मित्रता किसी गणिका से है। चारुदत्त इसको स्वीकार करने में शर्माता है।[1]

राजश्याल शकार उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना के रूप पर लट्टू है, पर वह उससे नफरत करती है। जब वह शकार के फंदे में नहीं आती, तब वह उसे धिक्कारता हुआ कहता है—अरे ! तुझे किस बात का घमंड है ? तू तो उस बावड़ी की तरह है जिसमें पढ़ा-लिखा पंडित, मूर्ख और अछूत सभी नहाते हैं। तेरी दशा तो उस लता की तरह है जिस पर मोर, कौवे सभी बैठते हैं। तू उस नौका की तरह है जिस पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ओर शूद्र सभी बैठते हैं। तेरा घर तो कामियों का वासस्थान है। मार्ग की लता के समान तू जनता-जनार्दन की संपत्ति है। तू तो रूप का सौदा करती है। जो पैसा दे दे, वही तुझे खरीद सकता है। तेरे लिए तो प्रिय अप्रिय समान ही हैं।[2] मृच्छकटिक के उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उस समय भी वेश्याओं का जीवन कितना गिरा हुआ था और किस तरह वे समाज में घृणित दृष्टि से देखी जाती थीं।

जो वेश्यायें वृद्ध हो जाती थीं, उनका रूप-व्यापार समाप्त हो जाता था। अतएव वे कुट्टनी का काम करना प्रारम्भ कर देती थीं। वे एक तरह से नई वेश्याओं के लिए मार्ग-दर्शक का काम करने लगती थीं और उसके लिए उनकी आमदनी में हिस्सा लेती थीं। दयनीय दशा में पड़ी युवतियों को गणिका-वृत्ति सिखा देना और उनके लिए युवकों को फाँस लेना उनका काम था। कुट्टनियों के हथकंडों और उनकी जीवन-वृत्ति के ऊपर हमारे दो प्राचीन ग्रन्थों से प्रकाश पड़ता है—एक तो 'कुट्टनीमतम्' और दूसरा 'दूतीकर्मप्रकाश'। कुट्टनीमतम् की रचना दामोदरगुप्त ने की थी, जो आठवीं शताब्दी के एक काश्मीरी कवि थे। इस ग्रन्थ में वाराणसी की विकराला नामक एक कुट्टनी का उल्लेख मिलता है जो मालती नामक एक लावण्यमयी युवती को सफल वेश्यावृत्ति के दाँव-पेंच सिखाने की चेष्टा करती है।

पेशेवर कुट्टनियों के अतिरिक्त कुछ और भी तरह की कुट्टनियाँ होती थीं। 'दूती-

---

१. "आर्य ! गणिका तव मित्रम्" वही, अंक ९।

२. वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः।
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नोमिता वर्हिणा॥
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा त एवेतरे।
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज॥

मृच्छकटिक, अंक १, ३१।

कर्मप्रकाश' नामक ग्रन्थ में इक्कीस तरह की कुट्टनियों का वर्णन हुआ है। इनमें धोबिन, दर्जिन, दाई, नाइन तथा मनिहारिन खास थीं। वे भी नायक और नायिका के बीच लगाने-बुझाने में एक छँटी होती थीं। उपर्युक्त रचना का लेखक उनके छल-प्रपञ्च पर प्रकाश डालता हुआ लिखता हैं कि इनके चरित को भगवान् ब्रह्मा भी नहीं समझ सकते, मनुष्य की तो बात ही छोड़ दो।[१] कुट्टनियों और उनकी पुछलगी गणिकाओं ने उज्जयिनी, वाराणसी और पाटलिपुत्र सरीखे प्राचीन भारतीय नगरों में शृंगार-हाट खोल रखा था, जहाँ रूप की सौदागीरी होती थी।[२] यदि इस परंपरा को देखना हो तो आज की काशी नगरी को देखिए। वहाँ यदि एक ओर बाबा विश्वनाथ या संकटमोचन की पवित्र गली है, तो दूसरी ओर छिनाल-पतुरिया और गुमाश्तों की भी गली खुली हुई है।

उस समय के चोर-बदमाश भी बड़े ही मँजे खिलाड़ी हुआ करते थे। उनके कार्य-कलापों की ठीक जानकारी के लिए मृच्छकटिक और दशकुमार-चरित को पढ़ना चाहिए। मृच्छकटिक में चोरी-विद्या (चौर विज्ञान) के एक विद्यार्थी का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि चालबाज उस्ताद अपने ही तरह धुप्पलबाज चेलों को पैंतरेबाजी सिखाते थे। वे लोग सेंध मारने की कला, घर के भीतर घुस कर बड़ी ही सफाई के साथ सामान गायब कर देना और जरूरत पड़ने पर चकमा देकर खिसक जाना आदि चोरी से सम्बन्धित तरह-तरह की बारीकियों को माँजते थे। इस ग्रन्थ में एक चोर दूसरे से कहता है कि अजी, चोरी करना कौन बुरी बात है ? यह काम तो बड़े-बड़े महापुरुषों ने भी किया है। अश्वत्थामा ने भी तो चोरी के ही साथ अपने शत्रुओं का वध किया था ?[३] दूसरी बात यह है कि यह जीविका का एक स्वतन्त्र पेशा है। इसमें कोई नौकरी थोड़े ही बजानी है।[४] जब वह सेंध मारने जाता है, तो देवताओं की पहले वन्दना करता है—हे खटपट महाराज ! जरा आप शान्त रहिएगा और हे रात्रियों में विचरण करने वाले गण ! आप लोगों को भी मैं नमस्कार करता हूँ। मेरे ऊपर कृपया कल्याण कीजिएगा ताकि मेरा बाल भी बाँका न हो सके।[५] जब राजमार्ग पर वह पहरेदार को देखता है, तो उसके प्राण सूख जाते हैं। पर वह बड़ी ही

---

१. 'तच्चरित्रमिति ज्ञातुं ब्रह्मणापि न शक्यते'

काव्यमाला, गुच्छक १३ (दूतीकर्म प्रकाश), श्लोक ५

२. 'कुट्टनीमतम्' के रचयिता दामोदरगुप्त के मन में सन्देह था कि उनकी रचना का, अपरिपक्व विचारों वाले लोगों के मस्तिष्क पर कहीं प्रतिकूल प्रभाव न पड़ जाय और वे गलत रास्ता न पकड़ लें। अतएव वे अपने पाठकों को अन्त में सावधान करते हुए कहते हैं कि इस ग्रन्थ के गूढ़ अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। जो व्यक्ति बिट, धूर्त, वेश्या एवं कुट्टनी के चंगुल में न पड़ेंगे, उनका जीवन हर तरह से सुखी रहेगा—

"काव्यमिदं यः श्रुणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ।
नो वंच्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभीरिति ॥" श्लोक १०१८

३. "मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना" मृच्छकटिक, अंक ३।

४. "स्वाधीना वचनीयतापि तु वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः" मृच्छकटिक, अंक ३।

५. "नमः खटपटाय नमो रात्रिगोचरेभ्यो देवेभ्यः चारुदत्त, अंक ३।

बारीकी के साथ उसकी आँख बचा कर चम्पत हो जाता है। फिर तो वह छलप्रतारणा पर अपनी विलक्षण दखल और दूसरों को चकमा देने वाली नाज पर डींग मारता हुआ फूले न समाता है।[1]

गणिका, कुट्टनी तथा धूर्त एवं प्रवंचकों के जीवन से सहसा इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि नगर गंदगी के घर थे, ठीक न होगा। इसका स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है कि भारतीय नागरिकों का चरित्र-संगठन उच्च कोटि का था। मृच्छकटिक के नायक चारुदत को ही लीजिए। यद्यपि उसका संबंध वेश्या के साथ हो गया था तथापि उसके अन्य गुण श्लाघनीय थे। इस ग्रन्थ के लेखक के शब्दों में वह सद्‌गुणों का केन्द्र, गरीबों का साथी और रोगियों के लिए औषधि के तुल्य था। पड़ोसी लोग तो उसे घर के ही सदस्य की तरह समझते थे।[2] जिस समय न्यायाधीश ने उसे फाँसी की गलत सजा दे दी और जब वह राजपुरुषों द्वारा शूली पर चढ़ाने के लिए ले जाया जाने लगा, उस समय पुरवासियों की आँखों से आँसू के परनाले बहने लगे। वे ईश्वर से बार बार प्रार्थना करने लगे कि सज्जनों का कुटुम्बी, सब प्रकार से निर्दोष चारुदत्त छूट जाय।[3] यह इस बात का प्रमाण है कि सदाशय नागरिक लोकप्रिय हुआ करता था। भाईचारे की यह भावना पुरवासियों की विशाल-हृदयता का परिचय देती है। यही कारण है कि विदेशी यात्रियों ने भारतीय नागरिकों के दिल और दिमाग की विशेषताओं की ऊँची प्रशंसा की है।



१. देखिए, मेरा ग्रन्थ "हमारे पुराने नगर", पृष्ठ १२४

२. मृच्छकटिक, अंक १।

३. "एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्धेनविनिःसृतास्याः।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा वाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति॥" मृच्छकटिक, अंक १०

प्रस्तुत लेख मेरे शोध-प्रबन्धों "प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन" और "हमारे पुराने नगर" (प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) तथा "स्टडीज इन एंण्शेंट इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर" (प्रकाशक : लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद) पर मुख्यतया आश्रित है। इस विषय पर अधिक सूचनाओं के लिये कृपया उपर्युक्त ग्रन्थों को देखें।

पूर्व मध्ययुगीन भारतीय कला में समाज की झाँकियाँ

ब्रजनाथ सिंह यादव

कुछ विद्वानों[1] के मतानुसार, गुप्तोत्तरकाल की मध्यकालीन कला, वास्तविक जन-जीवन से वियुक्त थी। निःसन्देह, यह कुछ हद तक सही है कि समाज-चेतना के रूप में कला, सामाजिक प्राणी का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब नहीं है, इसमें रूढ़ियाँ[2] और मुहावरे स्वभावतः विकसित होते हैं, तथापि प्रत्येक युग की कला न्यूनाधिक मात्रा में समाज की बिखरी-झाँकियाँ प्रस्तुत करती है। एवं एतदनुसार पूर्व-युगों के विपरीत, इस युग[3] की वास्तु और मूर्तिकला का मुख्य लक्षण, सामान्य सजावट में अलंकरणप्रीति, रत्नाभूषण का बाहुल्य और भव्य अलंकरण है, जो उस समय के अभिजात-तंत्र और उनके विलासमय[4] दरबारी संस्कृति से संबंधित था। पुनश्च, कला के क्षेत्र में स्फटिकीकरण और परम्परावादिता की प्रवृत्ति, समाज की सर्जनात्मक शक्ति के ह्रास[5] की सूचिका है।

परवर्ती गुप्तकालीन समाजोन्मुख राजनीतिक शक्तियाँ भी, जो उस युग की कुछ सामाजिक संस्थाओं का नियमन करती थीं, कला में प्रतिफलित हुई हैं। ४५० से ७५० ई० के बीच की, अहिच्छत्र से प्राप्त कुछ मृण्मय लघु मूर्त्तियाँ (टेराकोटा फिगराइन्स्) हूण जैसे विदेशी बर्बरों का प्रभाव[6] प्रकट करती है, जो निःसन्देह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक तत्त्व है। इसके अतिरिक्त, गुप्तोत्तरकालीन तोमरों, चाहमानों, कन्नौज के राठौरों, बदायूँ के शासकों

---

१. तुलनीय—मोतीचन्द्र—सम्मेलन पत्रिका—'लोक-संस्कृति-अंक', वि० सं० २०१०, पृ० ३२२।

२. पूर्व मध्ययुगीन कला में रूढ़ियों और मुहावरों के लिए देखिए—के०डे०बी० काँड्रिंग्टन : मेडिएवल इंडियन स्कल्प्चर, पृ० १७; आर० पी० चन्द—एम० ए० एस० आई०, अंक ४४, १९३०, पृ० २०।

३. तुलनीय—स्टेला क्रैमरिश—जर्नल ऑफ् दी इंडियन सोसाइटी ऑफ् ऑरियन्टल आर्ट्, खण्ड XV, १९४७, पृ० १७८ और आगे; के० खण्डालवाला : इंडियन स्कल्पचर एन्ड पेंटिंग, पृ० ३१; स्टेला क्रैमरिश: आर्ट् ऑफ् इंडिया थ्रू दी एजेज्, फलक सं० १३४; खजुराहो के मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर—ए० एस० आई० आर०, खण्ड ११।

४. तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल : कला और संस्कृति, पृ० २४१।

५. वही, पृ० २४२।

६. तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल : एन्-शॅन्ट् इण्डिया, सं० ४, १९४७, ४८, पृ० १५५।

इत्यादि के ताँबे और कलधौत के सिक्कों[१] पर बैठे हुए वृषभ और अश्वारोही में समान विधा का प्रकाश, एवं राजपूत कुलों का अभ्युत्थान, एक ही समय में घटित होता है, जो एक बृहत् समाजोन्मुख राजनीतिक आन्दोलन[२] का द्योतक है। यह भी संकेत[३] किया गया है कि कला में चित्रित राजपूत अस्त्र और वस्त्र, तातार-संस्कृति-मिश्रण से भारत में आगत शक जैसे विजातीय संबंध का साक्ष्य वहन करते हैं।

उस युग की समाजोन्मुख राजनीतिक संरचना का मुख्य लक्षण सामन्त-प्रणाली था। यह कुछ अंश तक कला में भी प्रतिबिम्बित हुआ है। 'अश्वरि-श्री-सामन्तराजः' आलेख युक्त चाहमानों की मुद्राओं[४] पर हम एक विशिष्ट कवचधारी सामन्त-शूर को घोड़े पर सवार देखते हैं। युद्धाश्व सहित सामन्त-शूर की प्रतिकृति वहन करते हुए उक्त शताब्दी की कुछ स्मारक-शिलाएँ, कश्मीर के वरमूला (वरामूला)[५] से पाई गई हैं, अविराम युद्ध-कर्म ही उस युग का सामान्य लक्षण था। खजुराहो[६] वर्ग के एक मन्दिर में हम योद्धाओं की शोभायात्रा और युद्ध के दृश्यों का साक्षात्कार करते हैं। उड़ीसा के १२-१३ वीं शताब्दी में निर्मित एक मन्दिर के तराश[७] में ढाल, तलवार सहित चार योद्धा चित्रित किए गए हैं। भिलसा से १२ वीं शताब्दी की एक योद्धा[८] की आकृति (अब रायपुर, मध्यप्रदेश के संग्रहालय में) उपलब्ध हुई है। मांउट आबू (राजस्थान) के देलवाड़ा मन्दिर (१२वीं शताब्दी) में सूरमाओं[९] की शोभा-यात्रा उरेही गई है। खजुराहो[१०] के आदिनाथ मन्दिर की कला में तत्कालीन युद्धास्त्रों का परिचय मिल सकता है। साहित्यिक स्रोतों से उद्घाटित रूढ़िगत शस्त्रों की संख्या छत्तीस थी। चित्तौड़ के उत्कीर्ण-चित्रों (रिलिफ स्कल्पचर) में भी युद्ध-दृश्य[११] प्रस्तुत किया गया है। यह उल्लेख योग्य है कि इन दृश्यों में सामान्यतः तलवार और भाले ही दिखलाई पड़ते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि धनुष और तीर का प्रयोग प्रायः अप्रचलित हो गया था। यह सैन्य-

---

१. द्रष्टव्य—कैटलॉग् ऑफ् काँएन्स इन दी इण्डियन म्युजियम, कलकत्ता, खण्ड I; सप्लीमेंट्री कैटलाँग भी।
२. तुलनीय—सी० जे० ब्राउन : काएन्स आँफ् इण्डिया, पृ० ५०।
३. तुलनीय—आर० एस० पंडित : दी रिभर आँफ किंग्स, पृ० ६२६।
४. काएन्स आँफ् मारवाड़।
५. रीभर किंग्स, फलक XVIII; वही, VIII. ७२८।
६. तुलनीय—बो० एल० धम्म : गाइड टु खजुराहो, पृ० १५, १६।
७. लेग् अस्टन द्वारा संपादित : दी आर्ट आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ६२।
८. स्तेला क्रैमरिश : दी आर्ट आफ इण्डिया थ्रू दी एजेज़, फलक १४४।
९. वही, फलक, १३८।
१०. गाइड टु खजुराहो, पृ० २१; यू० अग्रवाल : खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देअर सिगनिफिकेन्स, पृ० १९६ और आगे; शस्त्रास्त्र और कवच के लिए देखिए—आर० एस० पंडित : रीभर आफ किंग्स, फलक, XX।
११. स्मिथ : हिस्ट्री आफ आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ० २०३।

विज्ञान में ह्रास का लक्षण है, जो साहित्यिक साक्ष्य[१] द्वारा भी पुष्ट होता है। जैसा कि कुछ विद्वानों की धारणा है, इन कलाकृतियों से स्पष्ट है कि हाथियों का व्यवहार भी कम होने लगा था। मुद्रांकन-कला, उस समय की आर्थिक अवस्था एवं समाज-संरचना पर और भी प्रकाश डालती है। आरम्भिक मध्ययुग के प्रथम पर्व में सिक्कों का बेढंगा और खोटापन,[२] साथ ही उनका अभाव, साधारणतः व्यवसाय और वाणिज्य की अवनत अवस्था एवं कृषि-प्रधान समाज के प्राधान्य की घोषणा करता है—सामन्तवादीय मनोवृत्ति की वृद्धि, वर्ण-व्यवस्था की कठोरता तथा अन्य सभी जो इनके दायभाग में मिलें, इस अवस्था के मूल में थीं। जो भी हो, कुछ विद्वानों[३] के विचारानुसार, आगे चलकर गुजरात-शैली की चित्रकला के आविर्भाव के साथ, समृद्ध वणिक्-वर्ग के अभ्युदय का सम्बन्ध है, जो उस समय ब्रोच और काम्बे के बन्दरगाहों तक व्यापार करते थे। पाल-काल के अन्तर्गत वर्द्धित वणिक्-वर्ग के साथ बंगाल-बिहार में विकसित मध्ययुगीन मूर्तिकला का भी सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सेनों के शासन-काल में इस वर्ग की सामाजिक मर्यादा के ह्रास होने के कारण, उक्त कला-स्कूल का भी १२वीं शताब्दी के पश्चात् पतन[४] हो गया।

इस काल की कला आर्थिक जीवन के अन्य पहलुओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डालती है। वयन-शिल्प, काष्ठ-कला, रत्नाभूषण के काम,[५] क़सीदाकारी आदि दक्षता की जिस ऊँचाई पर पहुँची थी, उसका प्रतिफलन उस युग की मूर्त्ति तथा वास्तुकला में हुआ है, जिससे यह ध्वनित होता है कि शिल्पी वंशानुक्रम के आधार पर श्रेणियों[६] में संघटित थे। समाज के काठिन्य की वृद्धि के साथ, इन श्रेणियों ने जाति का रूप धारण किया; विशिष्ट कला में आनुवंशिक विशेषज्ञता से जहाँ उच्च शिल्प-दक्षता,[७] दुराधर्ष सामग्रियों पर प्रभुत्व और शैली[८] की एकरूपता हासिल हुई वहीं इसने कला में व्यष्टिपरक प्रवृत्तियों[९] को कुंठित कर दिया। हम देख चुके हैं कि साहि-

---

१. एलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़, एन् शेन्ट् हिस्ट्री सेक्सन, पृ० २३ और आगे।
२. तुलनीय—सी० जे० ब्राउन : काएन्स आफ इण्डिया, अध्याय V।
३. तुलनीय—सर लेग अस्टन द्वारा सं० : दी आर्ट आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ८७-८८; के० एम० मुंशी उद्धृत, वही, स्थान उल्लिखित; पर्सि ब्राउन : इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० १३८।
४. तुलनीय—आर० डी० बैनर्जी : ईस्टर्न स्कूल आफ मेडिएवल स्कल्पचर, दृ० ४१, वे ऐसा विचार पोषण करते हुए प्रतीत होते हैं कि इस कला-स्कूल के, जो ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक फूला-फला, पतन का कारण मुसलमान-विजय था (वही ४१)।
५. तुलनीय—ए० के० कुमारस्वामी : हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १३३ और आगे।
६. तुलनीय—बैंजामिन रोलैंड : दी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इंडिया, पृ० १६५।
७. तुलनीय—स्मिथ : दी हिस्ट्री आफ आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ० १८२।
८. तुलनीय—कार्ल खण्डलवाला, पूर्व उल्लिखित ग्रंथ, पृ० ४३।
९. वही, उद्धृत संदर्भ।

त्यिक स्रोत भी श्रेणी-संघों पर कुछ प्रकाश डालते हैं। इस युग की भव्य और अतिशय अलंकृत धार्मिक वास्तुकला भी व्यंजित करती है कि समाज की सम्पत्ति राजाओं, उनके सामन्तों और कुछ श्रेष्ठी-कुमारों, जो निर्माता थे, की मुट्ठियों में और मन्दिरों में भी बन्द थी।

उस युग के क्रीड़ा-कौतुक, आमोद-प्रमोद भी कला में प्रतिबिंबित हुए हैं। खजुराहो के लक्ष्मण-[1]मन्दिर में चित्रित दृश्यों से आखेट-प्रियता, मल्ल-युद्ध, हस्ति-युद्ध और नृत्य-कला प्रकट होती है। चित्तौड़[2] की मूर्त्तिकला (११ वीं शताब्दी) में द्वंद्व-युद्ध और संगीत-उत्सव के दृश्य देखने को मिलते हैं। कोणार्क के मन्दिर[3] (१२३८–१२६६ ई०) में दिव्य संगीतज्ञ को चित्रित किया गया है। इलाहाबाद (अब इलाहाबाद संग्रहालय में) के समीप सिरसा से प्राप्त एक फलक (१२वीं शताब्दी) में एक रमणी की कंदुक-क्रीड़ा[4] दिखाई गई है। अहिच्छत्र से उपलब्ध आकृतियों का एक समूह,[5] जो ८५० ई० से ११०० ई० के बीच के हैं, मल्ल-युद्ध[6], मुष्टि-युद्ध और भारी पत्थर[7], फेंकने की क्रीड़ा की लोकप्रियता प्रकट करता है।

कला में हमें शिक्षा-व्यवस्था की भी झलक मिलती है। खजुराहो-मन्दिर की कला में एक अध्यापक को शिष्यों के एक दल[8] के साथ चित्रित किया गया है। १२वीं शताब्दी के उड़ीसा के एक मन्दिर में भी शिक्षण-दृश्य[9]प्रदर्शित किया गया है। उसमें हम तीन शिष्यों सहित एक वैष्णव गुरु का साक्षात्कार करते हैं। पलथी मारकर दाहिने छोर पर आचार्य को बैठा हुआ देखते हैं। उसके बायें हाथ में पुस्तक है और दाहिना हाथ उठा हुआ—शिक्षण-कला की मुद्रा में है। एक शिष्य के श्मश्रु भी हैं। ऊपर संगतराशी हुई छप्पर का एक आधार हैं, जो स्पष्टतः मन्दिर के मण्डप का प्रतिनिधित्व करता है। ये दृश्य इस तथ्य का उद्‌घाटन करते हैं कि मन्दिर-विद्यापीठ के रूप में विख्यात थे। भुवनेश्वर के एक मन्दिर में पत्र-लेखन में व्यस्त एक नारी-आकृति अंकित की गई है, जिससे विदित होता है कि अभिजात-परिवार की नारियों में शिक्षा का प्रचलन था। इस युग की कला सामाजिक जीवन के कुछ अन्य पहलुओं को भी अभिव्यक्त करती है। अहिच्छत्र[10]से प्राप्त सत्ती-सत्त फलक (८५०–११०० ई०) द्वारा सती-प्रथा के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है। इन फलकों में, पुरुष और स्त्री को उत्सर्ग

---

१. ए० एस० आई० आर०, खण्ड II, पृ० ४२४, 'गाइड टु खजुराहो' भी, पृ० १५।
२. स्मिथः हिस्ट्री ऑफ आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ० २०३.
३. स्टेला क्रैमरिशः दी आर्ट् ऑफ इंडिया थ्रू दी ऐजेज़, पृ० १४५.
४. अेन्टिक्विटी सं० ए सी|२९५४.
५. तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल : अेनशेन्ट इंडिया' सं० ४, १९४७-४८, पृ० १७६.
६. देखिए—यू० अग्रवालः खजुराही स्कल्पचर्स एण्ड देअर सिगनिफिकेन्स् पृ० १४७ फुटनोट।
७. हेमचन्द्र ने भी इस क्रीड़ा का उल्लेख किया है (अभिदान-चिंतामणि, III. ३५३)।
८. गाइड टु खजुराहो, पृ० १५–१६।
९. दी आर्ट् आफ् इंडिया एंड पाकिस्तान, पृ० ६१–६२।
१०. तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल, पूर्व उल्लिखित संदर्भ पृ० १७६।

के निमित्त, सती-प्रस्तर के समीप एक साथ खड़ा दिखलाया गया है। ढाका-संग्रहालय[१] में सुरक्षित प्राक् मुगल कालीन कुछ मूर्तिकला कृतियों में बाल्य-बिवाह-प्रथा के प्रचलन का आभास मिलता है। ढाका-संग्रहालय की इन प्राक् यवनकालीन (१०००–१२०० ई०)[२] हिंदू-बौद्ध मूर्तिकलाओं के अध्ययन से यह बात उजागर होती है कि घड़ा[३] फूलदान[४], पलंग[५]-पंखा[६], छाता[७], रत्नपेटी, टोकरी[८] इत्यादि चीजें साधारणतः व्यवहार की जाती थीं। वाद्य-यत्रों में वीणा[९] लोकप्रिय थी। यह उल्लेखनीय है कि नित्यप्रति सामान्य पूजा-उपकरण के रूप में व्यवहृत धूपदान सहित बंगाल के बल्लाल सेन के शासन-काल के ग्यारहवें वर्ष में जारी किया गया एक ताम्र दान-पत्र नालन्दा में प्राप्त हुआ है।[१०] इस धूपदान का आकार, अंग्रेजी अक्षर 's' के अल्प परिवर्त्तित रूप से मिलता-जुलता है। धातु की बनी दो कटोरेनुमा चकतियों पर यह आधारित है। 's' के पतले भाग से उठती हुई थूनी एक सुघड़ लघु पात्र (प्याला)[११] को सँभाले हुए है। इसमें फुलवारी उरेही गई है। एक अन्य कम कलात्मक धूपदान[१२] (१००० ई०) राजस्थान से प्राप्त हुआ है। नालन्दा में दो लघु शंख-खोल[१३] पाए गए हैं, जो आधुनिक पानी-शंख (पाणि-शंख) से मिलते हैं। बंगाल के पुजारियों द्वारा आज भी[१४] व्यवहृत ताम्र-कुण्ड की तरह और एक पूजा करने का उपकरण ताँबे का पात्र है।

लोगों की वेष-भूषा और सज-धज के सम्बन्ध में भी हमें विस्तृत विवरण मिलता है। पूर्वी कलम की मध्ययुगीन मूर्तिकलाओं[१५] से प्रकट होता है कि औरतें कम चौड़ी धोती और

---

१. एन० के० भट्टासाली : आइकोनोग्राफी ऑफ् बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मिनिकल् स्कल्पचर्स इन दी ढाका म्युजिअँम, फलक, XXXVI.
२. रुपम, अप्रिल-जुलाई-अक्तूबर १९३०, पृ० १९
३. आइकोनोग्राफी ऑफ् बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मिनिकल् स्कल्प्चर्स इन दी ढाका म्युजिअँम-फलक VII—ए, XI—डी, VXXII—बी और VXXXII—ए.
४. वही, फलक XXI.
५. वही, फलक VIV—बी.
६. वही, फलक VIII—बी.
७. वही, फलक XVVII—बी, XVVII—ए, XVIX.
८. वही, फलक XXXVI.
९. वही, पूर्व उल्लिखित संदर्भ
१०. इस्टर्न स्कूल ऑफ् मेडीइवैल स्कल्प्चर्, पृ० १४३.
११. वही, VXXIII—ए.
१२. के० डे० बी० कॉड्रिंग्टन : मीडईवैंल इण्डियन स्कल्प्चर् फलक X.
१३. इस्टर्न स्कूल ऑफ् मीडईवैंल स्कल्प्चर्, फलक VXII—ई और VXIX—डी.
१४. वही, पृ० १४३.
१५. आइकोनोग्राफी ऑफ् बुस्द्धिट एण्ड ब्राह्मिनिकल् स्कल्प्चर्स इत्यादि, फलक—XXIX—XXXII—XXXIII.

साड़ियाँ[१] पहना करती थी, काछा का भी इस्तेमाल होता था। घाघरे[२] की तरह भी साड़ियोंके पहनने का रिवाज था। स्त्री-पुरुष दोनों ही वर्ग के लोग नाभि के नीचे कपड़े पहना करते थे।

उत्तरीय का भी व्यवहार स्त्री-पुरुष दोनों में होता था। स्त्रियाँ इसका प्रयोग बायें पयोधर को एकान्त रूप से और दाहिने पयोधर को आंशिक रूप से ढाँकने के लिए करती थीं। फल और रेखा-अभिकल्प सामान्य प्रतिमान थे। शंखाकार मुकुट, भुजबन्द, कंकण, मंजीर इत्यादि अलंकार नर नारी दोनों ही पहनते थे। केश-प्रसाधन[३] की विभिन्न शैलियों को भी हम गया से उपलब्ध अवलोकितेश्वर-प्रतिमा (११ वीं शताब्दी ई०) में उत्कृष्ट केश-विन्यास[४] का हम दर्शन करते है। भुवनेश्वर के मन्दिर में एक रमणी[५] को, बायें हाथ में दर्पण धारण कर, शृंगार में रत देखते हैं। वह चित्रित चोली, मणिका खचित मेखला और हार तथा अन्य रत्नाभूषण पहने है। अहिच्छत्र से प्राप्त सत्ती-सत्त फलक में वनिताओं का लहँगा[७] पहनना भी प्रकट होता है। खजुराहो[६] मन्दिर में अंकित नारी आकृतियाँ चोली, रत्नखचित करधनी और कण्ठहार पहने दिखती हैं। उत्तर बंग से प्राप्त अप्सरा[८] की आकृतियों (१२ वीं शताब्दी ई०) में, कमल-कोरक-दल के शीर्ष-भागों में मौक्तिक वन्दनवार, दीर्घ कवरी के दाहिने मोती की लड़ी सहित झूलती नजर आती है। कमल-फूलों सहित दीर्घ वर्तुलाकर मणिकाभूषित कर्णफूल, एक कण्ठाभरण तथा पयोधरों को स्पर्श करते हुए एक लम्बे हार को हम देखते हैं, जो शाल की सलवटों से आवृत है।

उस युग का धार्मिक जीवन कला में सबसे अधिक अभिव्यक्त हुआ है। विभिन्न धार्मिक मतों एवं सम्प्रदायों की लोकप्रियता और उनके प्रचलन-क्षेत्रों की जानकारी देने में मन्दिर एवं मूर्तिकला की विविध कृतियों के प्राप्ति-स्थान, हमें सहायता पहुँचाते हैं। अधिकांश हिन्दू वास्तु और मूर्तिकला, गुप्तोत्तर काल में बौद्ध धर्म के पतन और पौराणिक नव हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान[९] का साक्ष्य वहन करती हुई दिखाई पड़ती हैं। उत्तर भारत के प्रमुख राजपूत वंशों द्वारा मुद्राओं में वृषभ-चिन्ह का प्रयोग, शैवमत का व्यापक प्रचार-प्रसार, विशेष-कर शासक अभिजात-वर्ग में, प्रकट करता है। बंगाल के पालकालीन[१०] कुछ चित्रों (९ वीं से

---

१. सिरसा से उपलब्ध नारी आकृतियों (जो १२वीं शताब्दी ई० की है, नारियों में साड़ी पहनने की भी चलन थी, यह प्रदर्शित करती हैं। इलाहाबाद म्युजिअँम्, अेन्टिक्विटी सं० ए सी/२९५४)।
२. रूपम, अप्रिल-जुलाई-अक्तूबर, १९३०, पृ० २०.
३. बुद्धिस्ट एंड ब्राह्मिनिकल् स्कल्प्चर्स आदि फलक VXIII, XXVII; इलाहाबाद संग्रहालय में खजुराहो-फाटक भी देखिए।
४. दी आर्ट ऑफ् इंडिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ५९.।
५. वही, पृ० ५६।
६. अेन्-सेन्ट इंडिया, सं० ४।
७. इलाहाबाद संग्रहालय में खजुराहो-फाटक; दी आर्ट ऑफ् इंडिया एण्ड पाकिस्तान पृ० ५७
८. दी आर्ट् ऑफ् इंडिया थ्रू दी एजेज, पृ० १४३.।
९. तुलनीय—बैंजामिन रौलैंड, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६३.
१०. इंडियन आर्ट् थ्रू दी एजेज़, पृ० ७; दी मिनिस्ट्री ऑफ् इनफोरमेसन एण्ड ब्रोडकास्टिंग, गवर्नमेंट ऑफ् इंडिया।

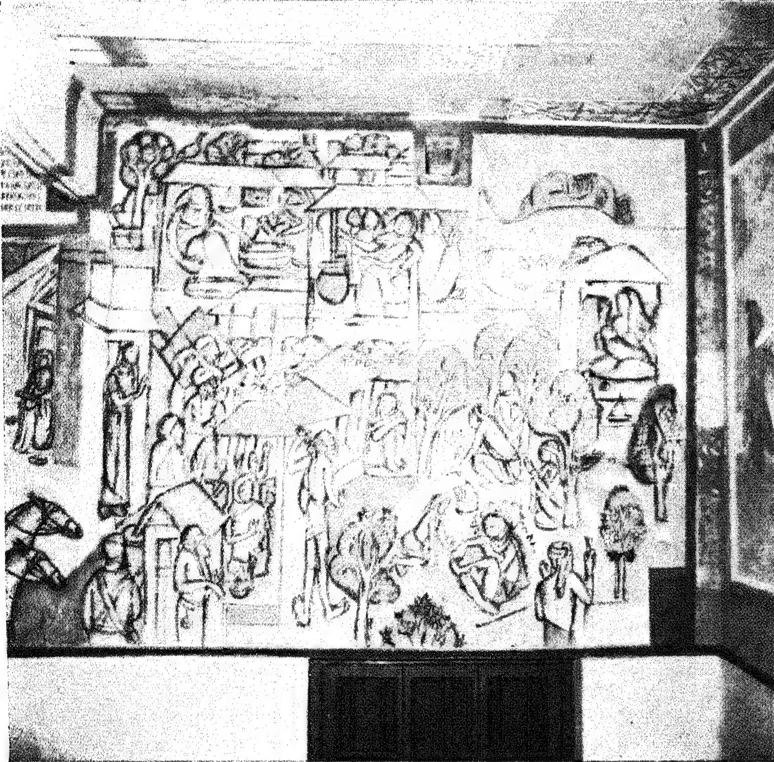
१२ वीं शताब्दी ई०) एवं उड़ीसा[१] की मध्ययुगीन कुछ प्रतिमाओं में गम्भीर भक्ति-भावना की छाप, प्रसिद्ध भक्ति-आन्दोलन के अभ्युदय की सूचना देती है। हर्षोत्तर-काल में तंत्रमत[२] का बढ़ता हुआ प्रचार भी, कला में प्रतिबिम्बित हुआ है। उस युग की मूर्ति और चित्रकला द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार तंत्रमत बौद्धमत पर हावी हो गया। बंगाल के पाल-स्कूल की ऐसी चित्रकलाकारी में उल्लेख योग्य[३], नालन्दा में, रामपाल (१०९५ ई०) के शासन-काल में लिखित एक पांडुलिपि के काठ के ढक्कन पर की गई नक्काशी, अब प्रिंस ऑफ् वेल्स म्युजियम, बम्बई में सुरक्षित पाँच ताड़-पत्रों[४] (१२ वीं शताब्दी ई०) पर प्रज्ञा-पारमिता के निदर्शन चित्र तथा आशुतोष म्युजियम आंफ् इंडियन आर्ट के अन्य दो पाण्डु-लिपियों[५] पर किए गए निदर्शन-चित्र, हैं।

१२ वीं शताब्दी के एक शैव साधु[६] की रोचक आकृति दक्षिण भारत से उपलब्ध हुई है। साधु को, यौगिक कुमारासन तथा व्याख्यान मुद्रा में बैठा हुआ, चित्रित किया गया है, जिसके दाहिने हाथ में रुद्राक्षमाला तथा बायें हाथ में, जो घुटने पर टिका है, एक पुस्तक और एक फूल है। वह रुद्राक्ष का यज्ञोपवीत तथा मनकों का भुज-बंध पहने हुए है तथा उसके बायें कंधे पर एक कमण्डल दिखलाई पड़ता है।

तांत्रिक प्रभावान्वित आरम्भिक मध्ययुगी खजुराहो मन्दिर की अश्लील नक्काशी, अंशतः कलात्मक परम्परा के ह्रास एवं अंशतः शासक वर्ग के निम्नगामी रुचि की परिचा-यिका है। मन्दिरों में प्रचुर नर्तकियों[७] का चित्रण, देवदासी-प्रथा की सूचना देता है। उस युग का समाज-संघर्ष भी कला में कुछ हद तक प्रतिबिम्बित हुआ है। मुख्यतः समाज के निम्नस्तर से संबंधित तांत्रिक बौद्ध मत की एक शाखा वज्रयान के पुराणों में, हिन्दू देव-देवी—महेश्वर और गौरी, विष्णु, और लक्ष्मी का त्रैलोक्य-विजय[८] और वज्र ज्वालानलाकर[९] द्वारा क्रमशः रौंदे जाने का, वर्णन किया गया है। नालन्दा और बौद्धगया से प्राप्त, त्रैलोक्य-विजय की दो प्रतिमाओं[१०] में उपर्युक्त धार्मिक बिंब-विधान प्रतिबिम्बित हुआ है। समाज-संघर्ष में उलझे बिना, धर्मदर्शन-संघर्ष ऐसा रूप ग्रहण नहीं कर सकता था। ●

---

१. तुलनीय—आर० पी० चन्दा; एम० ए० एस० आई०, अंक ४४, १९३०, पृ० २०।
२. तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल, पूर्व उद्धृत गंथ पृ० २४२; देखिए—मेजिक स्क्वेर्स इन ए टेम्पल ऑफ् खजुराहो, ए० एस० आई० आर०, खण्ड II, पृ० ४३४.।
३. दी आर्ट् ऑफ् इंडिया एंड पाकिस्तान, पृ० ८७.।
४. मोतीचन्द्र, दी जर्नल ऑफ् इंडियन म्युजिअँम्स, खंड, VIII, १९५२, पृ० ९४।
५. जर्नल आफ् इंडियन सोसाइटी आफ् आरिन्टल आर्ट्, खण्ड, XV. पृ० ८९ और आये।
६. वही, पृ० १४१.।
७. उदाहरणार्थ, इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित खजुराहो-फाटक; उपरि-, भी
८. साधन-माला, खण्ड II, सं० २६२; बी० भट्टाचार्य : इंडियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी (द्वि० सं०), पृ० १८४ और आगे।
९. साधन-माला, खण्ड, II, सं० २६३; बी० भट्टाचार्य: पूर्व उद्धृत ग्रंथ पृ० १८३, १८४.
१०. इंडियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी. फलक XXXIX (सी).।



लोक जीवन की झाँकी

शान्तिनिकेतन के हिन्दी भवन में भित्तिचित्र--मध्ययुगीन संतों का जीवन

—जया अप्पासामी

विनोद विहारी मुखर्जी, भित्ति-चित्र की विशिष्ट कला का अभ्यास करने वाले शान्ति-निकेतन-कलम के वरिष्ठ कलाकारों में एक हैं। भित्तियों पर चित्रण, जिसका अभी हाल तक भारत में सुदीर्घ एवं गौरवमय इतिहास बना रहा वस्तुतः निर्वासित हो गया। विनोद विहारी के कार्य, हमलोगों की प्राचीन परम्परा में, शान्तिनिकेतन के अनुसंधान के अंश-रूप में विवेचित किए जा सकते हैं, किन्तु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण, यह भारतीय भित्ति-चित्र में एक नये अध्याय का सूत्रपात करता है; क्योंकि यह मौलिक और आधुनिक है एवं उनके वैयक्तिक उद्योग का अविच्छेद्य अंग है।

नन्दलाल बोस के शिष्य के रूप में विनोद विहारी ने लगभग १९१९ में अपने कलाकार जीवन का आरम्भ शान्तिनिकेतन में किया। नन्दलाल स्वयं एक ज्वलन्त परम्परावादी थे और शान्तिनिकेतन-कला-स्कूल के माध्यम से उन्होंने देशज कलाओं को संजीवित करने एवं उनके यथोचित मूल्यांकन की अभिवृद्धि में योग दिया। उन्होंने आश्रम के विभिन्न भवनों के मण्डन को कला-भवन की कार्यसूची के रूप में समाविष्ट किया तथा प्रोत्साहन दिया। भित्ति-चित्रों में विनोद विहारी के सर्वप्रथम प्रयोग सन् १९२१ में आरम्भ हुए। तत्कालीन छात्रों ने कई एक दिल्हा-बन्दी के कार्य सम्पन्न किए, जो शिशु-विभाग की बाहरी दीवारों पर गहरे ताखों में जड़े हुए हैं। प्रथम पर्व का प्रतिनिधित्व करते हुए, उनमें से आज भी कुछ वहाँ मौजूद हैं, जिनमें परम्परा का प्रभूत प्रभाव लक्षणीय है। शान्तिनिकेतन में और भी कई दर्शनीय भित्ति-चित्र हैं, जो अनुमानतः १९२१ से १९४८ के बीच निष्पन्न हुए हैं। ये विविध शिल्प पद्धतियों में हैं। जयपुर शैली में लाइब्रेरी बरामदे की सजावट और श्रीनिकेतन की एक दीवाल पर हलकर्षण का भित्तिचित्र, दो अविस्मरणीय कृत्य हैं। भित्ति-चित्रों की प्राचीन प्रतिकृतियों में सबसे न्यारा प्रतिरूप बाघ का है, जो १९४१ ई० में पुराने संग्रहालय के स्टुडिओं की दीवाल पर उत्कीर्ण किया गया था। ऊपर जिन कार्यो का उल्लेख किया गया, वे सभी नन्दलाल बोस और उनके छात्रों द्वारा सम्पन्न हुए थे। इनका उद्धरण, सिर्फ यह दर्शाने के लिए दे रही हूं कि भित्ति-चित्रों के पुनरुद्धार की सामान्य अभिरुचि क्रियाशील थी।

विनोद विहारी भित्ति-चित्रों में बहुधा प्रयोग किया करते थे। उन्होंने नानाविध विधाएँ अपनायीं, जिनमें सफल, 'अेंग् टैम्परा' और 'फ्रेस्को बुउनो' हैं। उन्होंने तैल सहित भित्ति-चित्रण भी आजमाया। उनकी बाद की महत्त्वपूर्ण कृतियों में, कला-भवन छात्रावास (बरामदे की दीवार और छत) और चीन-भवन की पहली मंजिल की दीवारों के चित्र हैं।

हिन्दी-भवन के भित्ति-चित्र, उनके भित्रि-चित्रण कार्य के शिखर के रूप में, अलग खड़े दिखते हैं, एक तरह से ये उनकी कला के निष्कर्ष हैं ।

सामान्य चित्रण की अपेक्षा भित्ति-चित्रण को भिन्न रूप से स्वीकृति देनी चाहिए। प्रथम स्थान में, भित्ति-चित्र दीवाल के अंग है, इसका कार्य स्थापत्य को संवारना होता हैं और मण्डन के माध्यम से भवन को और भी अधिक अर्थपूर्ण बनाना। उसके धरातल के साथ जँचने लायक उपकरणों का चुनाव करते हुए और उस स्थान-विशेष में सार्थक कृति की सृष्टि के लिए कलाकार को संस्थिति में काम करना पड़ता है । जब तक वह अपनी तकनीक की पूरी दक्षता प्राप्त नहीं कर लेता है, प्रक्रिया ही उसे निमग्न और सीमाबद्ध करने के लिए तत्पर रहती है, सिर्फ तभी, जब उसने प्रक्रिया पर अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह स्वतंत्रता पूर्वक कार्य कर सकता है एवं किसी सौन्दर्य-परिणाम तक पहुँचने के लिए अपनी सीमाओं का उपयोग, यहाँ तक कि उनसे लाभ भी उठा सकता है । तब भित्ति-चित्र, कलाकृति बनने के लिए संश्लिष्ट सारूप्य बोध और क्रिया की दृष्टि से, शिल्प-कौशल की सीमाओं को पार कर जाता है; यह अपने आप में एक इकाई है किन्तु वृहत् अखंड का भी अंश है, यह अपने विषय-वस्तु को तो व्यक्त करता ही है, साथ ही चित्रकार के मानस को भी । इसकी शानदार और बहुमुखी अभिव्यक्ति जिस गृह को अलंकृत करती है, वह चिरस्थायी गौरव का विषय बन जाता है एवं तब हम लोगों को प्राचीन मन्दिरों तथा यूरोप के गिरजाघरों के भित्ति-चित्रों का स्मरण हो आता है कि इस प्रकार के कार्य सम्पन्न किए जा सकते हैं । किन्तु आधुनिक युग में ऐसा कर पाना और भी कठिन है, अंशतः इसलिए कि कोई एकरूप रुचि या शैली हमारे युग पर छायी हुई नहीं है । प्रत्येक कलाकार बेजोड़ होता है, यद्यपि वह सहयोगियों का चयन कर सकता है, संरचना एवं अभिव्यक्ति का भार उस पर ही अधिक रहता है । स्वयं वही परिणाम के लिये उत्तरदायी होता है ।

हिन्दी-भवन, शान्ति निकेतन के भित्ति-चित्र, केन्द्रीय ग्रन्थागार-कक्ष के तीन तरफ से चित्रित किए गए हैं । दीवालों के उत्तरार्द्ध पर भित्तिचित्र, दरवाजों और खिड़कियों के ऊपरी सिरों से छत तक, विस्तीर्ण हैं । गेरुए रंग में रंगी पतली किनारी के सिवा इसमें कोई चौखट (फ्रेम) नहीं हैं; इसकी प्रशस्त नयनरंजक चित्रयवनिका (टेपस्ट्रि) बीच की खाली जगह को किसी प्राचीन किमखाब की तरह भरती है । इसकी छतगीरी अनलंकृत है, सिवा तीन फीट चौड़ी एक धारी के, जो उसी नयनाभिराम रंगों द्वारा चित्रित बरबस ध्यान को न आकृष्ट करने वाले अपरूप अभिकल्पों (डिजाइन्स) में है । शान्ति निकेतन में हिन्दी-भवन एक संस्था है, जो शोध में निरत है । इसका सामान्य पर्यावरण शान्त है, वृक्षों के बीच स्थित यह भवन, उस प्राचीन आश्रम-परम्परा का निर्वाह करता हुआ दिखता है, जिसका उद्देश्य 'सादा जीवन, उच्च विचार' था ।

इस भित्ति-चित्र का विषय 'मध्यकालीन सन्तों का जीवन' है। विस्तारपूर्ण चर्चा करने के लिए यहाँ यह विषय हद से अधिक व्यापक है, यहाँ सिर्फ यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि कलाकार ने अपने विषय-वस्तु का कैसा प्रतिपादन किया है । भारत के सन्त दार्शनिक, गायक कवि और गुरु थे, जिनके भाव और संगीत ने हमारे आध्यात्मिक विचारों को मधुर बनाया है;



काशी-गंगाघाट पर कीर्तन—नानक के अनुयायी रबाब बज़ाते हुए ।



काशी गंगा में नौकारूढ़ भजन कीर्तन मण्डली ।

आह्लादपूर्ण समर्पण द्वारा जिनका जीवन एक निर्दिष्ट जीवन-पद्धति का दृष्टान्त था। उनमें से अधिकांश गृहविहीन—उस महापथ के तीर्थ यात्री थे, जिन्हें अन्वेषण में परमानन्द की प्राप्ति होती थी; विराग ही ईश्वर की उपलब्धि का साधन था और प्रेम ही उनका एक मात्र पुरस्कार था।

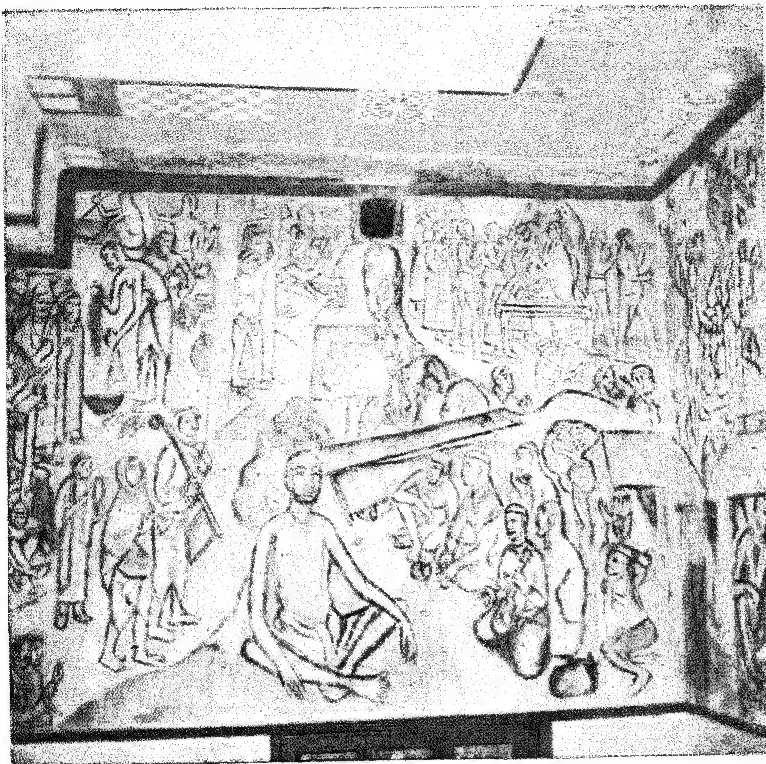
भित्ति-चित्र की संरचना अखण्ड एवं महाकाव्यात्मक है। यह जनाकीर्ण या रूपों से स्फीत कहा जा सकता है। फनदार आकार, छतों के ऋजुरेखीय गलियारे एवं स्थापत्य विशेषरूप से मनोहारी होते हैं। प्रत्येक आकार को किसी सशक्त, चिरस्थायी एवं स्पष्ट इकाई में सरलीकृत किया जाता है और ये बलिष्ठ बिम्ब सन्निकट, ग्रथित और परस्पर सम्बद्ध होते हैं; वे पूर्ण अखण्ड यथार्थ के अंश रूप में प्रतिभात होते हैं। भू-दृश्य, गृह, वृक्ष और आकृतियों के अवस्थान रूपात्मक आकारों के लघुतम हर में परिवर्त्तित किए जाते हैं तथा भारी कूची से इस प्रकार चिह्नित किए जाते हैं कि प्रत्येक आकृति का वर्णन करते हुए उसे जीवन-दान करते हैं। आकार एक दूसरे में विलीन होते चले जाते हैं, पल्लवगुच्छ स्थापत्य पर, आकृतियों, भू-दृश्य पर ढुलकते-फिसलते अविछिन्न रूप से दृष्टि को ज्वार-भाटे की गति से सामने की ओर ले जाती हैं। बिलाना और उभरना, नीरवता और मुखरता, समग्र चित्रात्मक कृति एक पल भर में जीवन की शोभायात्रा बन जाती है, ऐसी है इसकी संक्षिप्तता और सार्वभौमिकता। एक उदास ग्रेगरीय (पोप ग्रेगरी का) लय इसके दूरत्व को मापता हुआ प्रतीत होता है।

इस बृहत् संयोजन के रंग मटियाले और रागात्मकता रहित हैं। भगवा, मटियाला लाल और हाजा पत्थर (टेराभरट) रंग प्रधान हैं, पांडु फलक पर पारदर्शी रंग की झलक बिखेर दी गई है जब कि श्यामवर्ण का व्यवहार सूक्ष्म विवरण के प्रस्फुटन तथा रंगाभास की विविधता द्वारा आकृतियों के स्वरूप दान में हुआ है। रंगों का पुट हल्का सफेद से लेकर लाल है, किन्तु रंगों की गहराई कहीं भी नहीं है। गहराई और संकोचन खींचे गए हैं, रंगे नहीं गए हैं। आकृतियों की गति द्वारा दृष्टि कभी भीतर और कभी बाहर की ओर परिचालित होती है, श्वेत आकार या वस्त्ररूपों के स्थल भी न तो प्रकाशमान हैं और न आवश्यक रूप से अग्रपरिसर। रंग समग्र भाव से, कठिन वैराग्य, अनुशासन और उस विषय के पक्षपोषकों के अपरिग्रह से भी सामंजस्य रखता हुआ चलता है। यहाँ हम हर प्रकार के धार्मिकतत्त्वान्वेषकों का समावेश देखते हैं, जिन्होंने आत्म-सिद्धि के लिए संसार का परित्याग कर दिया है। उनमें से कुछ बाल-सुलभ भोलापन लिए हुए आश्चर्य-मिश्रित आनन्द में समाधिस्थ हैं, कुछ प्रशान्त और सन्तुलित, दूसरे उपदेश देते या सेवा-भाव लिए हुए, किन्तु सब में प्रत्याहार, आत्म-संतोष, जागरूकता और गहन चिन्तन की सत्यता का तत्त्व निहित है। यहाँ जिस जीवन का अंकन किया गया वह सिर्फ सन्तों का ही नहीं, उन लोगों का भी है, जो उनके इर्द-गिर्द है, एवं वह विशेष भू-चित्रण जो उनका ही परिवेश है। हम उन साधकों को उनके अभीष्ट तीर्थों और पहाड़ी-आश्रयों में देखते हैं, हम उन गाँवों को भी देखते हैं, जहाँ के लोग श्रद्धा-पोषण करते हैं एवं उनके सन्धान को समझते हैं। ग्रामीण भारत का एक पृष्ठाधार—वीरभूम की वह सूखी निराली 'रांगा माटी' (लाल मिट्टी) उनको संभाले हुए है। यह दास्तान सामान्य जीवन के अनेक रेखाचित्रों से उजागर की गयी है; नारियों के घरेलू कार्यों से, हाट की लेन-देन से, नदियों के घाटों से, नीरव दूर प्रान्तों से। साधक उनके शिष्यों सहित दिख-

लाई पड़ते हैं या ईश्वर का गुणगान करते हुए संगीतज्ञों के साथ या उपदेश देते हुए अथवा एकान्तवास करते हुए परिलक्षित होते हैं। वे महिमा में अकेले (अद्वितीय) हैं, किन्तु एकाकी नहीं। वे लीला से सम्बद्ध हैं, उस परम्परा के हैं, जिसने उन्हें उद्भासित किया है। नाम और स्थान को त्यागकर सारे जगत् को घर और आकाश को आश्रय के रूप में ग्रहण करने वाले ये रमते योगी उस विश्वास-धारा के अंश है, जिसने इस धरती को पुष्ट किया है।

विनोद विहारी मुखर्जी का अंकन यहाँ मंचीय तत्त्वों से आवेष्टित दिखलाई पड़ता हैं। उनकी वर्षों में सिद्धहस्तता-प्राप्त संक्षिप्त और सुगठित रैखिक भाषा कूची द्वारा उनके सुपरिचित जीवन के भावचित्र सरलतम रूप से और भावावेश रहित उभारती है। यह भाषा अपने उत्तर काल में सुलेखीय और अमूर्त्तप्राय हो गई है। उनकी चित्र कलाकारी और रेखाकृतियों में इनका प्रकारात्मक प्रकाश देखा जा सकता है। प्रथमतः उनकी संरचनाएँ रंगों की स्थूल रेखाओं की बनी होती हैं या स्थापत्य द्वारा प्रसार-क्षेत्र की। ये आकृति एवं आकारों द्वारा प्रभावहीन कर दी जाती हैं, सूक्ष्म काली-कूची की रेखाओं द्वारा चिह्नित की जाती हैं, जो कुंचित किन्तु तीव्र होती हैं, रंग-क्षेत्र बाह्य रेखाओं से मेल नहीं खाते हैं पर स्वच्छन्दता से उनकी सीमाएँ लांघ जाते हैं। भित्ति-चित्रों में यही तत्त्व वृहत् एवं चिरस्थायी रूप से रेखांकित है। आकृतियों या वृक्षों या गृहों की इकाइयाँ स्फटकीय प्रस्फुटन में एक साथ मिल जाती हैं। कभी-कभी आकृतियों में, जैसे सन्तों का, पूर्ण विवरण अंकित किया जाता है; वे आभ्यन्तरिक प्राणवायु से युक्त प्रतीत होते हैं, गौण आकृतियों में, मुख्य खड़ी आकृतियों की ऊर्ध्वता प्रायः दोहराई गई है। वर्ण सरलीकृत रेखण का अनुसरण करता है, यह समतल नहीं है किन्तु स्पष्ट क्रम-विन्यास द्वारा आकारों को स्वरूप देता हैं। आकृतियाँ विस्तार-रहित हैं तथापि विविधता और व्यक्ति-वैचित्र्य-रहित नहीं हैं। यहाँ अनेक प्रतिरूपों, जैसे—श्मश्रुबहुल से लेकर मुंड़े हुए सिरों का, स्थूलकाय से लेकर क्षीणकाय, नग्न से लेकर वस्त्राच्छादित शरीरों का निदर्शन मिलता है। आकृतियाँ भी आंशिक रूप में दिखलाई पड़ती हैं, स्थापत्य के उभाड़ों के बीच और आर-पार सिर्फ उत्तरार्द्ध प्रकट या ओझल होता हुआ लगता है। अंकन भरी नाव को पानी के पार कराता है, दूर में हम देखते हैं कि नाव घाट पर लग चुकी है। दूसरी दीवार पर एक औपचारिक शोभायात्रा देखते हैं, घोड़े और सैनिक एक दाढ़ी-धारी आरोही के साथ चले जा रहे हैं।

सेलिनी द्वारा वर्णित 'फ्रेस्को बुउनो' शिल्पविधि को, जिसे सामान्यतः आर्द्र-प्रक्रिया (वेट प्रोसेस) कहा जाता है, कलाकार ने अपनाया है। जैसा पहले उल्लेख किया गया था कि विनोद विहारी शान्ति निकेतन की दूसरी दीवारों पर इस पद्धति का प्रयोग कर चुके थे, इस परिचित रीति से हटकर उन्होने पलस्तर की और एक परत लगायी। एक के बाद दूसरी परत लगायी गयी, आधी चूने की आधी बालू की। चूना के असार अंश को जमाने के लिए भारतीय प्रयोग-पद्धति के अनुसार इसे दही के साथ मिला दिया जाता है। जब यह चौरस और निविड़ रूप से ठोस हो जाता है तब इसका सामान्य धरातल रेशमी पांडु रंग का होता है, यह खुरदरा होता है किन्तु इसका विन्यास टसर की तरह होता है। किरमिज या नील द्वारा अपने स्थायी विषय की सीमा निर्धारित कर चित्रकार तूलिका से भीगी दीवाल पर कार्य आरम्भ कर देता है। इसके स्थान और आकृतियों को प्रत्यक्ष रीति से न्यास करते हुए वह संरचना की



कबीर और अनुयायी; दाहिने कोने में ऊपर महाप्रभु वल्लभाचार्य

रूपसेखा प्रस्तुत करता है। यह प्रारम्भिक स्थापन कतिपय घण्टों में ही वाष्पित हो कर अदृश्य हो जाता है और इसके उपरान्त ही शीघ्रता से रंगों का कार्य आरम्भ होता है। लगाने के बाद रंग पारदर्शक हो जाते हैं, भले ही छूने में घने और चिकने लगते हों। केवल खनिज रंगों का व्यवह र होता है—जैसे, हरमुंजी, हाजापत्थर, भगवा और काला; नीले रंग का सर्वथा अभाव उल्लेख योग्य है। रेखाएँ और कूची की लकीरें सुधारी या सँवारी नहीं जा सकती हैं, हालाँकि गहरे रंगों को तीव्र और घना करने के लिए पुनः चित्रण की आवश्यकता पड़ती है, रंग सम्पुटक के अन्दर सूखते हैं और स्थायी हो जाते हैं। बाद में दीवाल की सतह, बहुत सख्त होने के पहले, बोतल की रगड़ के सहारे चमकायी जाती है। तकनीक, जैसा हम अवलोकन करते हैं, माध्यम के द्रुत सौर दक्ष निर्वाह पर निर्भर करती है, इसमें मृदु सूक्ष्माचार वर्जित है किन्तु स्पष्ट असंदिग्ध निरूपण की अपेक्षा रहती है। वस्तुतः कलाकार को अपने अन्तःकरण में संरचना करनी पड़ती है, उसके पास उसे आरोपित करने का ही समय रहता है। यह शिल्प-विधि, इसके वृहत् आयोजन, वितरित स्वरांकन और विस्तार लाघव सहित, सम्भवतः विनोद विहारी मुखर्जी की प्रतिभा के सर्वथा उपयुक्त और स्वाभाविक है।

समग्र भित्ति-चित्र एक अखण्ड दृश्य होता है, फिर भी इसका संबंध सिर्फ आँखों से नहीं होता, मन से भी होता है। मध्ययुगीन सन्तोंके भव्य समारोह को सजीव करते समय यह, कलाकार के विचारों. उसके उद्देश्यों और अभिरुचियों तथा उनकी सिद्धि को भी व्यक्त करता है। यहाँ जो चीजें अंकित की जाती हैं, उनकी भावनाओं के प्रति एक दृढ़ किन्तु मूलभूत विश्वास रहता है। इसका विरोधाभास ऐसा है कि जब तक विषय कला तथा संवेदनात्मक अनुभूति के जगत् के माध्यम से व्यक्त होता है, 'सौन्दर्य' की बहुत ही कम छूट होती है। साधक की तरह कलाकार की अभिप्रेत जीवन-विधि होती है। उसके संयोजन का रचनामूलक गठन बहुस्तरीय होता है तथा कृति की तरह ही सर्वग्राही, इसके माध्यम से ही शाश्वत सौन्दर्य की तलाश जारी रहती है। मध्ययुगीन सन्तों का ध्येय और इस कला का लक्ष्य, समांतर हैं। उसके सदृश, कलाकार जगत् में रह कर भी जगत् का नहीं है, यद्यपि मानवीय परिस्थिति के वशीभूत वह भूमा का रसानुभव करता है।

विनोद विहारी के भित्ति-चित्र, उसकी कला और दर्शन के, समवेत भाष्य माने जा सकते हैं। यह एक कला है, उस तीर्थयात्री की तरह, जो सत्य की खोज के लिए उद्विग्न है। अमूर्त्त मूलक सौन्दर्य के लिए वे वर्णन और भावावेश को अग्राह्य करते हैं, जिस संयम के फल-स्वरूप सौष्ठव और भावसाम्य की उपलब्धि हुई। जब हम विनोद विहारी के उद्योग का, उसके काल और परिवेश की पृष्ठभूमि में अध्ययन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी देन, बौद्धिक और रूपात्मक कला की ओर अधिक है। बंगाल स्कूल की रागात्मकता को, गुरु गम्भी-रता से पूर्ण विश्लेषणात्मक कला की निकटता दिलवायी। उन्होंने दैनंदिन जीवन के विषयों को गरिमा और क्लासिकल लक्षणों की अपरिहार्यता प्रदान की। उनकी अतीत की पद्यात्मकता के विपरीत उनकी गद्यात्मकता ने नया आयाम दिया और उनकी विश्लेषणात्मक पद्धति ने, भविष्य के अमूर्त्तीकरण का सरलता से नेतृत्व किया।

हिन्दी-भवन का भित्ति-चित्र न केवल सौन्दर्यबोध परक ऊर्जा-कौशल-क्रिया है, यह

अनेक शक्तियों का विराट् समन्वय है; क्योंकि यह भाव और रूप, विषय और अभिव्यक्ति, कला और परिवेश का—जो एक दूसरे में अन्तर्लीन और निर्भरशील हैं, एक साथ उपस्थापन है। इन सबके ऊपर कलाकार विराग की भावना के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित कर लेता है, जिसका यह स्वयं भाष्यकार है। हमारे युग के चित्रकार की भाषा में यह हम लोगों के समक्ष सन्तों का सन्देश प्रस्तुत करता है।





रामानंद और उनके अनुयायी

यौधेयों का ऐतिहासिक अध्ययन

सुरेन्द्रनाथ चोपड़ा

मौर्यों के पतन से लेकर गुप्तों के उत्थान तक का काल हरियाणा के इतिहास में एक अत्यन्त रोचक पर्व है। इस युग की प्रमुख विशेषता यौधेयों में अदम्य शक्ति का आविर्भाव है, जिन्होंने यमुना और सतलज के मध्यवर्ती एवं सीमावर्ती अंचलों के राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

अराजकता के कारण मौर्यों की सर्वोच्च सत्ता ई० पू० १८७ में ढह गई और उत्तरी भारत का अधिकांश भू-भाग विदेशी आक्रमणकारियों—हिन्दू-ग्रीक, पार्थव, शक एवं यूह्-चियों के अधीन हो गया। यद्यपि उन्होंने तीन शताब्दियों से अधिक काल तक क्रमानुसार शासन किया, फिर भी यहाँ की मिट्टी में वे जड़ नहीं जमा सके, लोग उन्हें विदेशी ही समझते रहे। महान् सम्राट् कनिष्क ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, किन्तु उसके उत्तराधिकारी उसे अधिक दिनों तक अक्षुण्ण न रख सके। जब उन्हें देश से निकाल बाहर करने के संकल्प से अनेक गणतंत्र जातियाँ एवं राजतन्त्र संघटित आन्दोलन में प्रवृत्त हुए तो राजनीतिक मंच से कुषाण सदा के लिए अन्तर्धान हो गए। कुषाणों को जड़ से उखाड़ फेंकने में यौधेयों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया और विजयोल्लास के उपलक्ष्य में "यौधेय गण की जय हो" अंकित कर मुद्राएँ चालू कीं। उन्होंने न केवल देश को दासता से मुक्त किया, बल्कि कुषाण-शक्ति के तिरोधान से उत्पन्न शून्यता को जनप्रिय तंत्र की स्थापना द्वारा पूर्ण कर राजनीतिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से स्थायित्व प्रदान किया।

हरियाणा से यौधेयों का सम्बन्ध इतना गहरा और पुराना है कि यह सूत्र महाभारत[१]-काल तक चला जाता है। यौधेयों का उल्लेख हरिवंश[२] पुराण में भी मिलता है और साथ ही अन्य नौ पुराणों में, यथा; वायु, विष्णु, मत्स्य, भागवत, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, ब्रह्म, अग्नि और गरुड़, इन सभी में इनके सम्बन्ध में एक ही प्रकार का विवरण उपलब्ध है। श्यामिलक[३] द्वारा प्रणीत संस्कृत नाटक 'पदतदितक', जिसकी रचना उत्तरकालीन गुप्त युग में हुई थी, में रोहतक के गवैयों द्वारा यौधेय देश के गीत गाने का वर्णन है।

---

१. युधिष्ठिर के पुत्र के रूप में यौधेय का उल्लेख हुआ है—महाभारत, I ९५. ७६ (गोरखपुर संस्करण), तुलनीय : वाकाटक गुप्त युग, पृ० ३९।

२. हरिवंश पुराण में तथापि यह वर्णन मिलता है कि यौधेय अनु-वंश के नृपति नृग की संतति थी। तुलनीय पार्जिटर : एन्शेन्ट् हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ० १०९। यौधेय राजपूतों के वंशधर थे—केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ४७६; और भी देखिए, जे० आर० ए० एस०, १८९७, पृ० ८८७।

३. पदतदितक, पृ० १६८ सं० मोतीचन्द्र और वासुदेवशरण अग्रवाल।

महाभारत में यौधेय और रोहितकों[१] (आधुनिक रोहतक निवासियों) को अभिन्न समझा गया है। महान् ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने, जो छठवीं शताब्दी में हुए थे, भारतीय भूगोल का वर्णन करते हुए यौधेयों के भारत के उत्तराखण्ड[२] में बसने की बात लिखी है। रोहतक नगर के समीप खोखरकोट नामक स्तूप से यौधेयों[३] के सिक्का-ढलाई के बहुत से साँचे पाए गए हैं। इनमें 'यौधेयानां बहुधान्यक' आलेख उत्कीर्ण है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रोहतक के इर्द-गिर्द का इलाका यौधेयों का राज्य बहुधान्यक था, जो उस समय न केवल शासन का अधिष्ठान था बल्कि टकशाल नगर भी था। अतएव यह कहना युक्तिसंगत होगा कि उस समय हरियाणा[४] का ही दूसरा नाम बहुधान्यक था। बहुधान्यक नाम का अर्थ ही ऐसे प्रदेश से है, जहाँ शस्य उत्पादन प्रचुर परिमाण में होता हो एवं इससे यह भी ध्वनित होता है कि यौधेयों की आर्थिक समृद्धि की रीढ़ कृषि-सम्पत्ति ही थी। यौधेय लोग महान् योद्धा थे। वे जिस निपुणता के साथ तलवार चलाते थे उसी तरह हल भी। महाभारत-काल से अपने पराक्रम और साहस के कार्यों के लिए वे विख्यात थे। उल्लेख मिलता है कि भारत के उस महासमर में वे कौरवों के समवर्गी थे, जिसमें उनके बड़े-बड़े सूरमा युद्धक्षेत्र[५] में खेत रहे। कई बार उनके योद्धाओं को अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर[६] से जूझने का अवसर मिला था। महावैयाकरण पाणिनि ने उनके साहसिक कार्यों की पुनरावृत्ति, ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में अपने विश्रुत ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में की है। पाणिनि ने उन्हें 'रणकुशल राजा'[७] और 'रणकुशल जाति'[८] के रूप में स्मरण किया है। यौधेयों की सर्वाधिक विलक्षण विशेषता सम्भवतः उनकी युद्धप्रियता थी। उन्होंने इस प्राणशक्ति को धार्मिक जीवन में भी पूर्णरूपेण संजीवित किया, यहाँ तक कि वे पौरुष और पराक्रम के प्रतीक देवता कार्त्तिकेय, जिनकी ख्याति युद्ध-देवता के रूप में है, के महाभक्त थे। कार्तिकेय के प्रिय प्रदेश के रूप में रोहितक का वर्णन महाभारत में हुआ है। अपने राज्य को महान् युद्ध-देवता के नाम समर्पण करते हुए, बर्छाधारी युद्ध सज्जा से सज्जित कार्तिकेय या कुमार के प्रतीक उनकी मुद्राओं[९] में उत्कृष्ट रूप से उत्कीर्ण हैं।

गणतंत्रवादी शासन उनकी सभ्यता की मुख्य विशेषता थी। इस क्षेत्र में गणराज्य के

---

१. महाभारत, II. ४२, ४–६।
२. वृहत् संहिता—XIV. २८।
३. तुलनीय, बी० बी० साहनी : दी टेक्नीक आफ कास्टिंग काएन्स इन एनशेन्ट इण्डिया।
४. एस० चट्टोपाध्याय : अर्लि हिस्ट्री आफ नार्थ इण्डिया, दृ० ५२।
५. महाभारत, VIII. ५·४७
६. वही, VII. १९·१६; VII. १६१·५; VII. १५७·३०
७. IV. १·१७८
८. V. १·११७
९. देखिए, एलन : कै 'टॅलॉग ऑफ दी का एँन्स ऑफ एन्' शेन्ट इंडिया इन दी ब्रिटिश म्युजिअम, पृ० २७० से आगे। जे० एन० बनर्जी : डे ँवलॅपमें न्ट ऑफ हिन्दू आइकनाग्राफि, पृ० १४२।

कायम होने का उल्लेख सर्व प्रथम पाणिनि[१] ने किया है, उन्होंने इस प्रसंग में वाहिक प्रदेश, जिसकी व्याख्या नदियों का देश अर्थात् पंजाब[२] थी, के और भी कई एक गणतंत्रों (संघों) का स्थान निर्धारित किया है। सिकन्दर के इतिहासकारों ने भो, यहाँ के लोगों के सम्वन्ध में नामोल्लेख न करते हुए, अप्रत्यक्ष रूप से संकेत बिया है कि ये हाइफासिस अर्थात् व्यास नदी के उस पार अत्यन्त उर्बर प्रदेश के रहने वाले थे। वहाँ के निवासी समृद्ध कृषक और युद्ध-वीर थे। वे उत्कृष्ट आन्तरिक शासन-प्रणाली में बसते थे और शासक कुलीन नेता भी उन पर न्याय और मध्यम-मार्ग (नरमी)[3] से राज करते थे। मेगास्थनीज[४] ने सिर्फ उन गण-राज्यों का विवरण दिया है, जो मौर्यों की केन्द्रीय शक्ति के अधीन थे। इस प्रकार के गणतंत्रों की स्थिति से अच्छी तरह अवगत रहते हुए भी कौटिल्य ने अपने समय के गणतन्त्र के नामों का उल्लेख नहीं किया है। जिस नाम से वहाँ के लोग परिचित थे, उसका उल्लेख किए बिना वह उन्हें वार्त्ताशस्त्रोपजीविन:[५] कहता है। इन गणराज्यों के सम्बन्ध में अच्छी धारणा पोषण नहीं करने के कारण, उनके यथाशीघ्र उच्छेद के लिए वह राजा को परामर्श देता हैं।

महान् प्रतापी राजा नन्दों के पाटलिपुत्र के साथ, ग्रीक इतिहासकारों द्वारा वर्णित गणराज्य का सादृश्य स्थापित नहीं किया जा सकता सिर्फ इसलिए कि उस समय वहाँ राज-तन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रचलन था। कौटिल्य के विवरण समेत इन उच्चकोटि (क्ला-सिकल) के विवरणों में प्रमाणों का अभाव् है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि पूर्वोक्त अज्ञातनामा गणराज्य यौधेय गणराज्य से भिन्न था। इसके विपरीत यदि हम व्यास नदी के उस पार बसने वाले लोगों के गुणों, स्थानीय शासन-प्रणाली एवं भौगोलिक परिपार्श्व पर विचार करें तो यह मानना पड़ेगा कि ये वही लोग हैं, जो यौधेय नाम से प्रसिद्ध थे।

मौर्यों के पतन से ले कर कुषाणों के अन्तिम रूप से श्रीहीन होने तक, जो १७६ ई०[६] के लगभग घटित हुआ, यौधेयों के अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष का काल रहा है, इसमें उन्हें अपरिसीम बलिदान देना पड़ा। उनके इतिहास में इसे अस्थिरता का युग कहा जायेगा, इस बीच उन्हें विदेशी घुमक्कड़ दलों से, जो इस इलाके में शासन करते थे, लगातार सामना करना पड़ा। जब कभी उन्हें अवसर मिला, इन विदेशी शासकों के विरुद्ध उन्होंने सशस्त्र बगावत का

---

१. IV. १·१६८
२. के० पी० जायसवाल : हिन्दू पालिटि, परिच्छेद १४।
३. जे० डबल्यु० मैक्क्रण्डल : एनशेन्ट् इंडिया ऐज् डिस्क्राइब्ड् वाइ मेगास्थनीज ऐन्ड एरियन पृ० ४३, २१२; दिओदरस्–II. ४?; एरियन—XII।
४. वही, इन्वेसन आफ् अलेक्जन्डर दी ग्रेट, पृ० १२१ फुट नोट; एरियन—V. २५; स्त्राबो (XV. ३५) के अनुसार गणतन्त्र में पाँच हजार पार्षद थे, प्रत्येक ने राज्य को एक एक हाथी भेंट दिया।
५. इससे संकेत मिलता है कि प्रजा के हाथ में उद्योग, व्यवसाय और युद्ध कर्म था।
६. भारतीय भूमि से प्राप्त सबसे अन्तिम मुद्राएँ, जो कनिष्क संवत् ९८ की हैं, इससे मेल खाती हैं।

झंडा खड़ा किया। वास्तव में वह स्वतंत्रता-प्रिय जाति थी, तब तक उन्हें शान्ति नहीं मिली जब तक उन्होंने विदेशी सत्ता से अपने देश को मुक्त न किया।

इतिहास के विभिन्न कालों में शक्ति के लिए यौधेयों ने जो संघर्ष किया है, उनकी मुद्राओं के अध्ययन से यह पता चलता है। यौधेयों[1] द्वारा जारी की गई तीन विशिष्ट प्रकार की मुद्राएँ, तीन विभिन्न कालों की द्योतक हैं। प्रथम वर्ग की मुद्राएँ, जिनमें 'वृषभ और गज' के प्रतीक[2] अंकित हैं, ई० पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध की हो सकती हैं। द्वितीय वर्ग की अधिकांश मुद्राएँ, जिनमें छह सिरों वाले कार्त्तिकेय की अनुकृति है एवं 'ब्रह्मण्य-देवस्य भ'[3] या 'भागवत स्वामिनो ब्रह्मण्य (देव) यौधेय'[4] आलेख है, द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध की हो सकती हैं। तृतीय वर्ग की मुद्राएँ, जिनमें 'यौधेय (योधेय) गणस्य जय'[5] आलेख है, तीसरी और चौथी शताब्दी की हैं।

प्रथम वर्ग की मुद्राएँ पुष्यमित्र शुंगोत्तरकालीन हैं, जब यौधेयों ने शुंगों की छद्म मौर्य-शक्ति से अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। यह स्वतन्त्रता किन्तु क्षणस्थायी रही और यौधेय लोग विदेशी आक्रमणकारियों—जैसे, हिन्दू, ग्रीक, पार्थव और शकों द्वारा अवश्य ही पराजित किए गए होंगे। द्वितीय वर्ग की मुद्राएँ अल्पकालिक हैं, जब उनकी भाग्यलक्ष्मी ने करवट ली और थोड़े समय के लिए उन्होंने आजादी हासिल की। जब ये मुद्राएँ चालू की गई, खूब सम्भव है, शकों ने यौधेयों को कुछ हद तक आभ्यन्तरिक स्वायत्त शासन प्रदान किया होगा। किन्तु इतिहास का सबसे अन्धकारमय युग कुषाण-शासनकाल है, जब सारी सत्ता केंद्रित कर ली गई और वे सिक्के चलाने के अधिकार से वंचित कर दिए गए। किन्तु इस काल में भी, पश्चिमी शक क्षत्रप राजा रुद्रदामन्, जो उत्तर भारत का विजयोत्सव मनाने के लिए आया था,

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—एलन : पूर्व उद्धृत ग्रन्थ—CLii—iii.

२. बी० ए० स्मिथः कैटॅलॉग ऑफ् दी काएँन्स इन इंडियन म्युजिअँम कलकत्ता, पृ० १८०; रैप्सन : इंडियन काएँन्स, पृ० १५.

३. बी० ए० स्मिथ : पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८१, क्र० सं० ८, फलक XXi. १५.

४. एलक : पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७८, फलक Vi. ११.

५. बी० ए० स्मिथ, (पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८२, क्र० सं० २१, फलक XXi. १८) मुद्रा के सम्बन्ध में इस प्रकार वर्णन करता है : सीधा—राजा या देवता की आकृति सामने की ओर मुँह किए खड़ी, जिसके दाहिने हाथ में बर्छी है और बायाँ हाथ कटिप्रदेश पर; बायीं ओर बायें पैर के समीप मयूर है। ब्राह्मी लिपि में सुन्दर रूप से अंकित है, यौधेय (योधेय) गणस्य जय, 'यौधेय-गण की जय हो।' उल्टा—कुषाण मुद्राओं पर उत्कीर्ण मीरो की तरह, बायीं ओर मुड़ती हुई वस्त्राच्छादित पुरुषाकृति, दायाँ हाथ फैला हुआ और हाथ कटिप्रदेश पर : बिन्दुकित वृत। यह युग मृण्मय मुहर या मन्नत फलकों का भी है, जो लुधियाना के समीप 'सुनेत' से पाए गए हैं (हॉर्नले, जर्नल एसियाटिक सोसाइटी बंगाल, १८८४, पृ० १३८–४०), जिनमें लिखा है 'यौधयनं जयंन्त्र-धरनं। और भी देखिए—अल्तेकर : प्रॅसीडिंग्स ऑफ् दी इण्डिया ऑरियेन्टॅल कॉन्फ़्रेरेन्स्, बनारस, १९४३, पृ० ५१३ से आगे।

के गिरनार के अभिलेखों[1] (१५० ई०) में यौधेयों के भव्य पराक्रम की गाथा प्रोज्ज्वल है, जिसमें उन्हें 'स्वाभिमानी' कहा गया है एवं जो अपनी उपाधि सभी क्षत्रियों में श्रेष्ठ घोषित करते हैं,

तृतीय वर्ग की मुद्राएँ, जो क्रम में अन्तिम हैं, उस समय जारी की गई थीं जब यौधेय पौरुष के चरम सीमा पर थे और कुषाणों के साथ उनके कठोर युद्ध का अन्त हो चुका था। इन सिक्कों के प्रचलन के साथ गुप्तों के आधिपत्य स्थापना के पूर्व, एक ऐसे युग का सूत्रपात हुआ जिसमें करीब १५० वर्षों तक, हरियाणा और उसके निकटवर्ती[2] अंचलों में यौधेय एक दुर्जेय शक्ति के रूप में परिणत हो गए। विदेशी दासता से मुक्त करने के, स्वतन्त्रता के उस महासंग्राम में, जिन स्वतन्त्रताप्रिय एवं पराक्रमी यौधेयों ने अपने प्राणों की आहुति दी थी, 'योद्धा' या 'विजय' के प्रतीकात्मक ये मुद्रायें, उनके उपयुक्त स्मारक हैं। महत्ता और मात्रा की दृष्टि से राजनीतिक क्षेत्र में उनकी देन अद्वितीय है। कहने का तात्पर्य है, यदि चन्द्रगुप्त देश को यवनों की जंजीरों से मुक्ति दिलाकर प्रसिद्ध हुए तो यौधेय कुषाणों के भीषण आक्रमणों से देश की रक्षा कर सूरमा बन गए।



१. ऐपिग्राफ़िका इंडिका, VIII. पृ० ४२ से आगे—'सर्व-क्षत्राविष्कतृवीर शब्दजातोत-सेकाविधेयानां। तुलनीय-एलनः पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २७६; कॉम्प्रिहेन्सिव् हिस्ट्री ऑफ् इंडिया, पृ० २५५.

२. कनिंघम के अनुसार यौधेय लीग भवालपुर की सीमा पर जो जोहियावाड़ कहलाता है, सतलज के दोनों तटों पर बसते थे। (ए एस आर, खण्ड XIV. तुलनीय—CII. iii. पृ० २५१; जे आर ए एस १८९७, पृ० ८८७ से आगे)।

महाभारत एवं पुराणकालीन हरियाणा

विष्णुदत्त भरद्वाज

वैदिक साहित्य में कुरुक्षेत्र (हरियाणा) का उल्लेख

हरियाणा वह प्रदेश है जिसकी पावन भूमि पर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। वैदिक साहित्य में अर्थात् वेद[१], ब्राह्मण[२], आरण्यक[३], उपनिषद्[4], सूत्र[५], में हरियाणा के लिए कुरुक्षेत्र शब्द मिलता हैं। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन, उपनिषद्, महाभारत, पुराण तथा ऐतिहासिक ग्रंथों में हरियाणा के लिए कुरुक्षेत्र और कुरुजांगल शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। ऋग्वेद में कुरुक्षेत्र (हरियाणा) की सरस्वती नदी और उसकी सात सहायक नदियों का भी उल्लेख है। यजुर्वेद में कुरुक्षेत्र (हरियाणा) को इन्द्र, विष्णु और शिव की यज्ञभूमि कहा हैं।

महाभारत में कुरुक्षेत्र का उल्लेख

महाभारत में कुरुक्षेत्र का सविस्तार वर्णन मिलता है। सूर्य कन्या तपती के गर्भ से सम्राट् संवरण द्वारा उत्पन्न कुरु राजा थे। (आदि० ९४।४८) इनके द्वारा वाहिनी के गर्भ से अश्ववान्, अभिष्यन्त, चैत्ररथ, मुनि एवं जनमेजय का जन्म हुआ। इनके नाम से कुरुक्षेत्र एवं कुरुजांगल प्रदेश की प्रसिद्धि हुई। इनकी तपस्या से कुरुक्षेत्र पवित्र हुआ। (आदि० ९४,५०-५१) कुरुक्षेत्र में इनके यज्ञ करते समय सरस्वती नदी 'सुरेणु' नाम से प्रकट हुई थी।

कुरु का क्षेत्र कुरुक्षेत्र कहलाता है। यह सरस्वती एवं दृषद्वती नामक नदी का मध्यवर्ती क्षेत्र है। इसमें निवास का विशेष माहात्म्य है। (वन० ८३।४।२०४-२०५) कुरु ने तपस्या से इस क्षेत्र को पवित्र बनाया था। (आदि० ९४,५०)। वनयात्रा के समय पाण्डवों का यहाँ आगमन हुआ (वन० ५-१। कुरुक्षेत्र की सीमा में मान्धाता यज्ञस्थल के

---

१. (क) ऋग्वेद ९।६५।२२ घ—ऋग्वेद ७:२।८
(ख) ऋग्वेद ९।११३।१ ङ—ऋग्वेद ७।३६।६
(ग) ऋग्वेद ८।७।२९ च—ऋग्वेद ७।९५।१ तथा ७।५६।१

२. शतपथब्राह्मण—"कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनमास"

३. तैत्तिरीय आरण्यक ५।१।१ (यहाँ कुरुक्षेत्र (हरियाणा) की सीमा का उल्लेख है।)

४. (क) छान्दोग्योपनिषद् १।१०।१
(ख) छागलेयोयनिषद् ३।१
(ग) जाबालदर्शनोपनिषद् ४।४१

५. (क) बौद्धायन श्रौ० १८।४५।
(ख) कात्यायन श्रौ० २६।६, ३०-३२।

अवशेष चुलकाणा ग्राम से निकट है, ऐसी लोकप्रथा है। मुद्गल ऋषि कुरुक्षेत्र में ही रहते थे (वन० २६०।३)। भीष्म और परशुराम का युद्ध कुरुक्षेत्र में हुआ था (उद्योग १७८-२२)। कौरव और पाण्डव युद्ध के लिए कुरुक्षेत्र में ही एकत्र हुए थे। और वहीं श्री कृष्ण के मुख से अर्जुन को गीता का उपदेश मिला था। भीष्म० २५ अ० से ४२ अ० तक) महाभारत युद्ध का मैदान कुरुक्षेत्र ही था (भीष्म पर्व से शल्य पर्व तक) इसी क्षेत्र में भीष्मजी शर शय्या पर पड़े थे (भीष्म ११९।९२) कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी ओघवती के रूप में प्रकट हुई थी (शल्य ३८।३-४।) पहले कुरुक्षेत्र समन्तपंचक क्षेत्र था।

महाराज कुरु के समय से इसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ा। इसकी सीमा का निर्धारण और महिमा शल्य पर्व अ० ५३ में दी हुई है।

कुरुक्षेत्र की सीमा:—रामपूर्वतापनि-उपनिषद् में कुरुद्वयम् का उल्लेख हैं। लोक परम्परा में भी हरियाणा के दो भाग देवधरती (देवधरित्री, सं०) तथा अड़क (अटक सं०) का प्रयोग मिलता है। लोक में देवधरती कुरुक्षेत्र भूमि को कहते हैं। कुरुजांगल के लिए लोक में अड़क शब्द प्रयुक्त होता है।

हरियाणा के लिए हरियाणक और हरिवाणक का उल्लेख अर्वाचीन ग्रंथों तथा शिलालेखों में मिलता है। अत: हरियाणक और हरिवाणक कुरुक्षेत्र और कुरुजांगल या देवधरती और अटक के पर्याय हैं। वामनपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[1] पृथूदक (पहेवा ग्राम) हरियाणा में है। कुरुक्षेत्र (हरियाणा) की सीमा का उल्लेख वामन पुराण २०-७० में देखा जा सकता है। महाभारत के आरण्यक पर्व में कुरुक्षेत्र सीमा का इस प्रकार वर्णन है:—'तरन्तुकारान्तुकथोर्यदन्तरं रामह्रदानां मचक्रूकस्य च एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपंचकं पिता महस्योत्तरवेदिरुच्यते।[2]

हरियाणा का नामकरण :—अब प्रश्न यह उठता है कि कुरुक्षेत्र का नाम हरियाणा कैसे पड़ा। इस विषय में कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं; जो महाभारत-कालीन कृष्ण, परशुराम (जिन्हें हरि भी कहते हैं) से सम्बद्ध हैं। वस्तुतः हरियाणा महाभारतकालीन ही नहीं वह वैदिककालीन हैं। हरियाणा की संस्कृति, धर्म, तीर्थस्थान इत्यादि के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् मेरा यह विनम्र कथन है कि 'हरियाणा' या 'हरियाणक' शब्द हरि और यान से बना है। हरि (विष्णु, सूर्य) का पर्याय है। हरियान = हरियाणा वैदिक काल में सूर्योपासक क्षेत्र रहा है और यह पौराणिककाल में चतुर्भज विष्णु का उपासना-क्षेत्र बन गया। अनन्तकाल से कुरुक्षेत्र में जो मेला लगता है वह सूर्यग्रहण पर ही लगता है। इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र में विभिन्न तीर्थों पर सूर्य कुण्डों की विद्यमानता इस बात की पुष्टि करती है कि यह क्षेत्र सूर्योपासक क्षेत्र है। जनश्रुति के आधार पर यह क्षेत्र पक्षिराज गरुड़ की तपोभूमि है। यहाँ पर चतुर्भुज विष्णु ने गरुड़ को हरियान पद प्रदान कर इस क्षेत्र को हरियाणक नाम से अभिहित किया। पौराणिक युग के पश्चात् यहाँ शैव सम्प्रदाय का बोलबाला हो गया। अतः हरियाणा हरयाण (शिवोपासक) बन गया।

---

१. वामन १२।४५

२. आरण्यकपर्व ८३–१०८

महाभारत का हरियाणा—महाभारत में कुरुवन एक प्रसिद्ध प्रदेश था। आधुनिक हरियाणा कुरुबन का वह भूभाग है जो कौरवों ने पाण्डवों को दिया था। इस प्रदेश में पाणिप्रस्थ (पानीपथ), श्रोणिप्रस्थ (सोनीपत) इत्यादि हैं। महाभारत काल में हरियाणा में एक अश्वमेघ यज्ञ किया गया था जिसमें उग्रसेन सम्मिलित हुए थे। यज्ञोपरान्त यज्ञस्थल का अगराहो (अगरवा) नाम रखा गया। अगरोहा हिसार के समीप है। यहाँ से अग्रवाल वैश्य जाति की उत्पत्ति मानी जाती है। अगरोहा का ध्वंसावशेष 'थेह' कहलाता है। यहाँ राजा उग्रसेन के काल के सिक्के तथा प्राचीन नगर निर्माण योजना के ध्वंस रूप मिलते हैं। हयहय वंशीं राजाओं का गढ़ हाँसी से २०-२५ मील दूर राखीगढ़ी हैं। परशुराम ने जिस स्थल पर पितृतर्पण किया था वह स्थल रामह्रद या रामश कहलाता है।

महाभारत के बाद का हरियाणा :—पार्श्वनाथचरितपुराण के निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होता है कि हरियाणा की प्रसिद्ध नगरी दिल्ली थी।

"हरियाणए देसे असंख गाम गामियणा,
जणि अणवरभ काम परचक्क
विहट्टणु सिरि संधट्टणु जो सुखइणा
परिगणियं। रिउरुति रावट्टणु विउलु
पवट्टणु दिल्ली नामेण जिमिणियं।
जहिं असिवर तोडिउ रिउ कपालु।
णरणाहु प्रसिद्धं अणंग वालु,
णिरुदलवड्ढिय हम्मीर वीरु
वंहियणविदं पवियण्य चीरू।"

(कवि श्रीधर रचित पार्श्वनाथ चरितपुराण)

(असंख्य गाँववाले हरियापा देश में दिल्ली नामक एक नगर था। वह सुदृढ़ आकार वाले उच्च गोपुरों, आनन्ददायक मंदिरों और सुन्दर उपवनो से अलंकृत था। उसमें असंख्य घोड़े, हाथी और सैनिक थे। वह अनेक नाटकों और प्रेक्षागृहों से सम्पन्न था। वहाँ उत्तम तलवारों से शत्रुकलापों को भग्न करने वाला, अंगपाल नामक एक राजा था। उसने हमीर दल को बढ़ाया था और बन्दीजनों को वस्त्र प्रदान किए थे।)

हिसार जिले का इतिहास (अमीनकृत) से ज्ञात होता है कि अंगपाल के पुत्र का नाम जाटू था। उसने जाटोहा साढ़ा बसाया। और जाटू के भाई हरपाल ने राजली, गुराणा ग्रामों को हिसार जिले में बसाया। हाँसी और हिसार भी पृथ्वीराज की राजधानी रहे थे। इन नगरों का उल्लेख पृथ्वीराज रासो में मिलता है। जाटू की संतान ने बलियाली, मंगाली, हाजमपुर, जमालपुर ग्राम हिसार जिले में बसाए। जाटू की संतान मुसलमान हो गई थी। इसीलिए वे राँघड (राजपूत मुसलमान) बन गए थे। १९४७ में जाटू की संतान पाकिस्तान चली गयी। हाँसी में एक सूफ़ी फकीर की कब्र है जिसकी अब भी बड़ी मान्यता है। सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक के एक शिलालेख में लिखा है—'देशोऽस्ति हरियानाख्यः।' अन्यत्र हरियाणा के विषय में निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं :—

"अभोजितोमरैरादौ चौहाणैस्तदनंतरम् ।
हरिवाणभूरेषा शकेन्द्रैः शास्यतेऽधुना ।।"
(अखण्ड प्रकाश, पं० धरनीधर हाँसी)

"प्रालंबग्रामपूर्वे तु कुशुंभग्रामपश्चिमे ।
हरिवाण भूरेषा सर्वसस्यावर्द्धिनी ।।"

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह यौधेय वीरों का जनपद रहा है । यौधेयों की प्रभूत बिभूति का वर्णन अपभ्रंश कवि पुष्पदंत ने किया है । रोहतक यौधेयों की राजधानी रहा है । महाभारत में नकुल दिग्विजय में आता है कि नकुल दिल्ली के पश्चिम की ओर बढ़ा और वह रोहतक होता हुआ मेहम (महित्थम्) और सिरसा (शौरीक) तक गया है ।

हरियाणा के वैदिक, महाभारत-कालीन और अद्यतन रूप से परिचय प्राप्त करने के पश्चात् हम महाभारत, नारद और वामन पुराण में दो हुई हरियाणा की तीर्थयात्राक्रम का परम्परा से चले आते तीर्थक्रम से मिलान कर इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि हरियाणा के अधिकांश ग्राम महाभारतकालीन ग्रामों के अपभ्रंश रूप हैं ।

कुरुक्षेत्र की सीमा—कुरुक्षेत्र किसी नगर विशेष का ही नाम नहीं, अपितु लगभग चालीस कोस के एक विशाल भूभाग को कुरुक्षेत्र कहते हैं जिसके ईषाण कोण में पीपली (कुरुक्षेत्र) के निकट अरन्तुक यज्ञ (रतन या रन्तुक यज्ञ ह०), पूर्वदक्षिण कोण में सींख ग्राम के निकट तरन्तुक यज्ञ (ररखू ह०), पश्चिम दक्षिण कोण में रामहृद (रामश ह०) के पास कपिल यक्ष तथा उत्तर पश्चिम कोण में बहर के पास मचक्रुक यक्ष है । सत्ययुग में कुरुक्षेत्र का नाम 'ब्रह्मावर्त' और त्रेता में परशुराम तीर्थ या स्यमंत पंचक, द्वापर तथा कलि में 'कुरुक्षेत्र' है । यह क्षेत्र दृषद्धती और सरस्वती नदियों का मध्यवर्ती भाग है ।

कुरुवन की सीमा—हिसार जिले में सिसार, हाँसी, भिवाणी, फतेहबाद, सरसा, डबवाली तथा टोहाणा तहसीलें हैं । सरसा, हिसार तथा फतेहबाद की तहसीलों का अधिकांश 'बागड़ क्षेत्र की 'बागड़ी' कहलाती है । हाँसी, भिवाणी और हिसार की तहसीलों को 'बांगर' या 'चकहरियाणा' कहते हैं : बाँगर की बोली 'बाँगरू' 'हरियाणी', 'जाट्टू' 'देसवाली' कहलाती है । खादर में जमुना नदी के समीप लगता हुआ सोनीपत, पानीपत तहसीलों का भूभाग है । गोहाना और रोहतक तहसीलों का अधिकांश भूभाग 'बांगर' में है । जींद का समीपवर्ती क्षेत्र (गिरदा, द०) जिसे बोली में 'गधारवाल' कहते हैं, बांगर का भाग है। पटियाला और नाभा का भी कुछ भाग 'बांगर' कहलाता है जिसे विनाण[1] कहते है । विनाण में बावन गाँव हैं । कुरुक्षेत्र की भूमि नरदक, खादर, बांगर, बेट और ढेर नाम से बोली जाती है । राजोंद

---

१. बिनाण के ग्राम—करमगढ, धरोदी, धमताण, लौन, अलंगा, सुरत वाला, अमरगढ़ा, दणौदा, लीताणी, सैन्थली, कालवा, खाल, विखाआला, सूरैआला, गाज्जूआला, बिठमढ़ा, महीरगढ़ ।

'हृ०' हरियाणी शब्द का द्योतक है ।

से फरल और करनाल से कुरुक्षेत्र के बीच के भूभाग को 'नरदक' कहते हैं। राजोंद से फरल २५ मील है और कुरुक्षेत्र से करनाल २५ मील है। छातर, ठूआ, अलेवा, वरसौला, खटकड़; कसूण, कुचराया, लोधार, मटोर, कलाथ, बालूबात्ता, सांघण के पास के गाँव और जींद के निकट के सफीदम, सीख, रामरा, पिण्डारा, ईक्कस, पाकेरीखेड़ी, 'बांगर' में सम्मिलित हैं। जिस क्षेत्र में सरस्वती और घग्घर के नाले बहते है उसे 'नाली' कहते हैं। नाली में क्योंडक, अरणाय, बाबालदाणा, मालखेड़ी आदि गाँव हैं। थानेश्वर के भूभाग को मारकण्डे बेट और लाडवे का ग्रेर कहते हैं। थानेश्वर से शाहाबाद तक, थानेश्वर से पेहवा तक मुरताजपुर से इसलामाबाद तक के भूभाग की 'मारकन्डे का बेट' कहते हैं। क्योंकि बरसात में मारकण्डा नदी इस भूभाग के खेतों को लहराती है। मारकण्डे के बेट के उत्तर-पश्चिम में शाहाबाद, पश्चिम में पेहबा, पश्चिन दक्षिण में बीबीपुर उत्तरपश्चिम में इसलामाबाद हैं। लाडवे के ढेर का पूर्वदक्षिण का पाया खुर्दन धरौना, पश्चिम दक्षिण का पाया उभरी, पूर्वोत्तर का पाया (सीमा) रादौर और उत्तरपश्चिम का पाया लण्डी है।

कुरुक्षेत्र के तीर्थ स्थान—थानेश्वर नगर से ईषाण कोण में दो कोस की दूरी पर (अरन्तुक यक्षा, सं०) 'रत्नक[१] यक्ष' है। इस यक्ष से उत्तर में प्राची सरस्वती के तट पर 'कोटि तीर्थ' है। कोटितीर्थ से दो कोस की दूरी पर गोवर्धनपुर में 'मानसी गंगा' है। रतनक यक्ष से चार कोस 'अमीण' ग्राम है जिसके पास महाभारत काल में 'अदितिवन'[२] था। अमीण के ईशाण कोण में 'अदितिकुंड' है। अदितिकुण्ड के दक्षिण में 'वामनकुण्ड' है। वनमालि ने वामनकुण्ड को यहाँ अप्रमाणित माना हैं। इस कुण्ड के दक्षिण 'भचकुक कुन्ड' है। इससे दो कोस पर वडगल ग्राम है। वडगल से चार कोस पर सोंखड़ा है। सोंखड़ा अमीण से छः कोस पर 'सगा' ग्राम है, जिसके ईषाण कोण में विष्णु का स्थान 'विमल'[३] है। यहाँ भगवान् विष्णु से विमल ऋषि के निमित्त पैर मार कर जल निकाला था। यहाँ पर श्रीकृष्ण और बलदेव को एक आसन पर विराजमान देखकर मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। सगा से दो कोस भलोलपुर (बहलोलपुर) है जिसके ईषाण कोण में 'परिप्लव तीर्थ'[४] है। यहाँ महर्षि पाराशर ने घोर तपस्या की थी। इस तीर्थ पर फाल्गुन शुक्ल एकादशी को बड़ा भारी मेला लगता हैं। भलोलपुर से दो कोस पर बालू ग्राम है। इस ग्राम के वायु कोण में 'पृथिवी तीर्थ[५] है जिसे लोक में 'चामसर' कहते हैं। बालू से तीन कोस औंगद (औगध) हैं। इसके दक्षिण 'आगप्रतीर्थ' है। रामचन्द्र-श्रीपाद ने यहाँ तीन तीर्थ प्रमाणित किये हैं—१—पुष्पकवास, २—दशरथ तीर्थ (जसरा), ३—अगम तीर्थ। औंगद से पाँच कोस की दूरी पर 'दाचौर' है। यहाँ चितंग नदी में दक्षेश्वर[६] तीर्थ है। यहाँ दक्ष प्रजापति ने तप किया

१. नारदपुराण, २५, ४२।

२. वही, ४३, ४४।

३. वही, ४५, ४६, ४७ तथा महाभा० वन० तीर्थ ४३ वाँ अध्याय १०, ११।

१. नारद० ४८ तथा ४९। एवं महा० व० ती० ८३ अ० ११-१२।

२. नारद० ५०, ५१। एवं महा० व० ती० ८३ अ० १३।

३. नारद० ५२।

था। दाचर से तीन कोस पर 'लावला' में 'लवतीर्थ' है। लावला से दो कोस पर 'कुडलण' ग्राम में 'कुशतीर्थ' है। दाचार से लगभग आठ कोस पर 'सालवण' ग्राम है, जहाँ 'शालूकिनी[1] तीर्थ है। महाभारत में यहाँ पर दशाश्वमेध तीर्थ का उल्लेख है। यहाँ ब्रह्मा ने देवताओं के साथ दशाश्वमेधयज्ञ किया है। सालवण से एक कोस पर रसालुवा के दक्षिण ब्रह्म तीर्थ (कच्चाजोहड़ा) है। रसालवा से दो कोस भीमणवाद तथा भीमणवाद से एक कोस साहणपुर है। सोहनपुर से छह कोस पर 'सफीदम' है। सफीदम के दक्षिण में 'सप्ततीर्थ[2] और पश्चिम में आस्तिक मुनि का आश्रम है। सफीदम में राजा जनमेजय ने अपने पिता परीक्षित के डसने का बदला लेने की इच्छा से सर्पदमन यज्ञ किया था। सफीदम से पाँच कोस 'सीख' ग्राम है। सींख गांव से आधा कोस पर दक्षिण दिशा के आग्नेय कोण में 'तरन्तुक यज्ञ'[4] (तरावू) है।

सींख से दो कोस पर हाट के वायव्यकोण पर 'पंच नदी तीर्थ'[5] (पंचनीढ़ाव, ह०) कोटितीर्थ तथा उत्तर में 'हाटकेश्वर' तीर्थ है। पंचनद तीर्थ पर भगवान् शंकर ने असुरों को भयभीत करने के लिए पांच नाद किए थे। 'कोटितीर्थ[6] में भगवान् शंकर ने करोड़ तीर्थों को एकत्रित किया था। यहाँ पर कोटीश्वर (बृहत् पिण्डी) महादेव हैं। श्रावण शुक्ल पक्ष के अन्तिम रविवार को यहाँ भारी मेला लगता है। हठकेश्वर पर अर्जुन ने अश्वत्थामा को मारने का हठ किया था पर श्रीकृष्ण और द्रौपदी के कहने पर मणि निकाल कर छोड़ दिया। उसी समय से इस तीर्थ को 'हठकेश्वर' कहते हैं। यहीं पर तीसरा तीर्थ 'वामन'[7] है। यहाँ पर भगवान् वामन को सभी देवों ने स्थापित किया था। हाट से साढ़े तीन कोस पर 'चौंसठ योगिनी तीर्थ' कलौती में है। कलौती से दो कोस कालवा के पूर्व में 'ययातिकुंड' है। कालवा से आठ कोस पर 'आसण'[8] ग्राम के पश्चिम में 'अश्विनीकुमार तीर्थ' है। यहाँ अश्विनीकुमार ने राजा शर्याती की पुत्री सुकन्या के पातिव्रत्य से प्रसन्न होकर उस के वृद्धपति च्यवन को इस तीर्थ में स्नान करवा कर वृद्ध से युवा बनाया था। आसन से दो कोस पर 'वराह'[9] है, जिसके दक्षिण में 'वराहतीर्थ' है। भगवान् वराह यहीं पर अवतरित हुए थे, जिन्होंने हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी का उद्धार किया। वराह से तीन कोस पर 'पिण्डारा' के उत्तर में 'पिंडारक' सोम तीर्थ[10] है। महर्षि कण्व सत्ययुग मे सोमतीर्थ पर स्नान करने आये थे। सोम-

---

१. नारद० ५३ एवं महा० व० ती० ८३ प्र० १३-१४।
२. नारद० ५४ एवं महा० ती० ८३, प्र० १५।
३. महा० व० ती० ८३ अ० १५।
४. नारद० ५६-५७ एवं महा० व० ती० ८३ अ० १६।
५. नारद० ५६। ५७। तथा महा० व० ती० ८३ अ० १६।
६. महा० व० ती० ८३ अ ५८, ५९, १७।
७. नारद० ६०।
८. नारद० ६१ तथा महा० व० ती० ८३ अ० १७।
९. नारद० ६२ तथा महा० व० ती० ८३ अ० १८ तथा १९।
१०. नारद० ६३।

वती अमावस्या पर यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है। पिंडारक से तीन कोस पर 'जींद'[१] है जिसके उत्तर में 'सोमतीर्थ' (सोमेश्वर) है, पूर्व में भूतेश्वर तीर्थ, वायव्य कोण में ज्वालमालेश्वर, दक्षिण में बनखंडी महादेव, अग्निकोण में शठारी (ठठारी), पश्चिम में जयन्ती देवी मंदिर है। जींद से दो कोस पर 'इक्कस'[२] में, दक्षिण दिशा में 'एक हंस' तीर्थ है जिसे 'ढूँढू' कहते हैं। महाभारत युद्ध के अन्त में भयभीत दुर्योधन इस तीर्थ में छिप गया था, ढूँढ़ने पर वह यहाँ मिला। फिर यहीं पर युद्ध करता हुआ भीमसेन द्वारा मारा गया। ढुंढू के निकट ही कृतशौच (पुनः पुनः) तीर्थ है, जिसे 'नृसिंह ढाब' भी कहते हैं। भगवान् नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को मार कर यहाँ रक्त पूर्ण हाथ बारंबार धोया था। कृत शौच के उत्तर में 'मूंजवट'[३] तीर्थ है। यहीं पर महाग्राहिणी यक्षिणी ह्रद है। यहाँ से लगभग दो कोस पोहकर-खेडी है, जिसके पश्चिम में 'पुष्कर तीर्थ[४] है। पोकरखेड़ी से एक कोस की दूरी पर 'रामरा' है। रामरा (रामह्रद)[५] के पूर्व में 'यक्षकुण्ड' कपिलयक्ष तथा उसकी पत्नी उलूखलमेखला है। कपिल यक्ष के उत्तर में सन्निहित और रामह्रद तीर्थ हैं।

रामरा से पाँच कोस पर बरसोला ग्राम है जिसके दक्षिण में 'वंशमूलतीर्थ'[६] है। खटकड़ से दो कोस 'कसूण' के पूर्व मे 'कायशोधतीर्थ'[७] है। कसूण से दो कोस घोघड़िया है। घोघड़िया से तीन कोस 'कर सिंधु' है। करसिंधु से एक कोस 'अलीपुर' है। अलीपुर से ८ कोस पर 'लोहधार'[८] के उत्तर 'लोकोद्धार' तीर्थ ६ है। लोहधार से एक कोस पर मटोर है जिसके पूर्व मृकण्डेश्वर (मुकटेश्वर) तीर्थ है। लोहधार से दो कोस 'कसाण' के उत्तर 'श्रीतीर्थ'[९] और शालिग्रम तीर्थ है। कसाण से तीन कोस की दूरी पर 'कलायत'[१०] है, जिसके दक्षिण कपिला ह्रद तीर्थ है। कलायत से चार कोस बालू म 'बालखिल्य तीर्थ' है। बालू से तीन कोस 'बाता' में 'मरुद्गण' तीर्थ है। कलायत से आठ कोस सजूमा[११] क पश्चिम सूर्यतीर्थ है। सूर्यवन भी इसी ग्राम के निकट हैं। 'सजूमा' से दो कोस 'गुहणा' है जिसके पश्चिमोत्तर में 'गोमवन[१२] तीर्थ है। यहाँ भाद्रपद की चतुर्थी को गो मेला लगता है। गुहणा से दो कोस

---

१. महा० व० ती० ८३ अ० १९ तथा २० और नारद० ६४।
२. नारद० ६५ तथा महा० व० ती० ८३ अ० २०, २१।
३. नारद० ६६, ६७ तथा महा० व० ती० ८३ अ० २२ तथा २३।
४. नारद० ६८ तथा महा० व० ती० ८३ अ० २४,२५।
५. नारद० ७०,८० तथा महा० व० ती० ८३ अ० ७२,२६।
६. नारद० ७३ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ४१,४२।
७. महा० व० ती० ८३ अ० ४२,४३।
८. नारद० ७४ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ४४,४५।
९. नारद० ७५ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ४६।
१०. नारद० ७६,७७,४७।
११. नारद० ७८, तथा महा० व० ती० ८३ अ० ४८,४९।
१२. नारद० ७९ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ५०।

'सांघण' के पूर्व 'शंखिनी देवी तीर्थ'[१] है तथा उत्तर 'ब्रह्मावर्त तीर्थ' है। सांघण से चार कोस पर बहर ग्राम के उत्तर सरस्वती के तट पर 'यक्षतीर्थ'[२] है।

बहर से दो कोस पर बमरोत है जिसके वायुकोण में ब्रह्मावर्ती तीर्थ[३] है। बमरौत से तीन कोस पर सोमथा के ईशाण कोण में 'सुतीर्थ[४] है। सोमथा से एक कोस पर पोलड़था में सरस्वती में इक्षुमती और 'अंशुमति संगम' है, जहाँ भव नामक महादेव के पूजन का विधान है। पोलड़था से चार कीस 'कक्योर' में कामेश्वर तीर्थ'[५] है। कक्योर से चार कोस क्वारतन से पश्चिम में कायरत्न तीर्थ है। क्वारतन से एक कोस मांडी के पूर्व सप्तमातृकातीर्थ है। 'रसूलपुर' के पूर्व 'मातृगया'[६] तीर्थ है।

रसूलपुर से तीन कोस की दूरी पर सीवण (सीतावन)[७] है, जिसके पश्चिमोत्तर में स्वानुलोमा पहंतीर्थ (साल्लोकी, लोक प्रसिद्ध नाम), के पूर्व 'केशाभ्य' और दक्षिण 'दशाश्वमेध तीर्थ है। सीवण के वायु कोण में 'ऋणमोचन तीर्थ' है। सीवण से तीन कोस माणस के पूर्व 'मानुष'[८] तीर्थ है। मानस से दो कोस गादली के पूर्व 'आपगा'[९] नदी है। गादली से एक कोस शीलाखेड़ी के वायु कोण में 'ब्रह्मोदुम्वर तीर्थ'[१०] है, वहीं डोभी में सप्तर्षि कुण्ड[११] है। सिल्होखेड़ी से एक कोस कैथल से आधे कोस पर किरमिच के उत्तर 'कुलंपुनीतें'[१२] तीर्थ है। (कुलोत्तारण तीर्थ)। किरमिच से तीन कोस पवणावा ग्राम के पूर्व पवनह्लद[१३] है। पवणाना से दो कोस पर 'बदलाणा' है जिसके दक्षिण में 'अमृततीर्थ'[१४] है। बदलाणा से एक कोस पर 'कोल' की ईषाणाश्रित पूर्व दिशा में कुलोत्तारण तीर्थ (कलणहार ह०) है। कौल से आठ कोस पर 'सारसा' के अग्निकोण में 'शालिहोत्र' तीर्थ[१५] है। सारसा से एक कोस पर व्यासखेड़ी के ईषाण में व्यासह्लद तीर्थ है। व्यासखेड़ी के पश्चिम में 'पुनह' 'तापनतीर्थ' है। व्यासखेड़ी से ढाई कोस पर संधोली है जिससे चार कोस की दूरी पर गुमथला है। गुमथला

---

१. महा० व० ती० ८३ अ० ५१।
२. नारद ८१।
३. महा० व० ती० ८३ अ० ५३।
४. महा० व० ती० ८३ अ० ५४,५५।
५. महा० व० ती० ८३ अ० ५७ तथा नारद० ८०।
६. महा० व० ती० ८३ अ० अ० ५८ तथा नारद० ८१।
७. महा० व० ती० ८३ अ० ५९–६४ तथा नारद० ८२–८३।
८. नारद० ८४ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ६५,६६।
९. नारद० ८५ तथा ८६ एवं महा० व० ती० ८३ अ० ६७–६९–७०
१०. नारद० ८८।
११. महा० व० ती० ८३ अ०।
१२. कुलम्पुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः।
१३. नारद० १२१ तथा महा० १०५।
१४. महा ८३।१०६।
१५. शालिहोत्रस्य राजर्षेः।

के पश्चिम में एक कोस पर 'मालधन खेड़ी' है। मालधन खेड़ी के पूर्व 'दिगंतापन तीर्थ' है। मालधन खेड़ी से चार कोस पर 'न्यावच' (नीच) है। न्यावच से डेढ़ कोस पर कक्योर है। यहाँ कामेश्वर तीर्थ दक्षिणोत्तर तीर पर है। न्यावच से डेढ़ कोस पर 'बाणपुर'[१] (श्रीतीर्थ) है। वानपुर में श्रीकुंजतीर्थ (कुंजबिहारी) है। वानपुर से लगभग चौथाई कोस की दूरी पर न्यावच (विहार तीर्थ) हैं जिसके ईशान में 'नैमिष' तीर्थ है। न्यावच से दो कोस पर 'वेलवती' है जिसके नैऋत्य कोण में वेदतीर्थ (बिलौंती, ह०) है। बिलौंती से डेढ़ कोस पर 'स्थाणा'[२] ग्राम के वायव्याश्रित पश्चिम दिशा में ब्रह्मतीर्थ है। थाणा से तीन कोस पर 'गुथकला' है जिसके पूर्व सोमतीर्थ[३] है। गुमथला से दो कोस पर 'मंकण' (मांगण, ह०) ग्राम है। मांगण ग्राम में सप्तसारस्वत तीर्थ[४] है। (वृद्धकेदार शिव सं०) 'विधक्यार'[५] तीर्थ है। कैथल से एक कोस कलसी ढाबर है, जिसमें कलसीतीर्थ[६] है। कलसी से एक कोस शेरगढ़ के उत्तर में शरकतीर्थ[७] तथा पश्चिम में भय कोटिहृद्रकूप (रुद्रकोटीश्वर) है। कलसी के उत्तर में[८] किंदान'[९] 'किंजप्य'[१०] तीर्थ है। किंजप्य से एक कोस पर सर्गखेड़ी या ड्योढ़ खेड़ी है। ड्योढ़खेड़ी के उत्तर में एक कोस पर 'धन्यजन्मा'[११] तीर्थ है। ड्योढ़ खेड़ी से लगभग दस कोस पर 'पण्ड्री' के ईशान में पुण्डरीक तीर्थ[१२] है पुंडरी से दो कोस पर मोहणा के ईशान में मधुवन तीर्थ[१३] है। यहाँ दृषद्वती और कौशिकी का संगम है।

ट्योंठा से दो कोस पर 'साकरा' के पश्चिम में शक्रवर्त तीर्थ[१४] है। साकरा से पाँच कोस पर फलगू[१५] (फलकी वन सं०) है। रसीणा से दो कोस 'बस्तली'[१६] (व्यासस्थली

---

१. महा० ८३।१०८
२. नारद० १२४, तथा महा० ११२
३. नारद० १२४ तथा महा० ११४
४. नारद० १२५,१२६
५. नारद० ८९ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ७३,७४
६. नारद० ९०
७. नारद० ९१ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ७५।
८. महा० व० ती० ८३ अ०।७७
९. महा० व० ती० अ० ८३।७८,७९
१०. महा० व० ती० अ० ८३।७९
११. महा० व० ती० अ० ८३।९७,९८,८१।
१२. महा० व० ती० अ० ८३।८३
१३. नारद० १०९
१४. नारद० १०१
१५. नारद० १०३,१०५,८६,९०
१६. नारद० १११,११२

सं०) है। वस्तली से तीन कोस 'नीशंग' के पश्चिम 'मिश्रक तीर्थ'[1] है। नीशंग से दो कोस 'बरास'[2] (व्यास वन) के पूर्व मनोजव तीर्थ[3] उत्तर में कोटि तीर्थ, ईशान में चम्पक तीर्थ, पूर्व में तिलोत्तमा तीर्थ तथा दक्षिण में श्रीपद तीर्थ में लिंगमणिशद्र हैं। बरास से दो कोस पर सीतामढ़ी में 'वेदीतीर्थ'[4] है। तदनन्तर निगधू ग्राम में 'आह्ल'[5] मुदित' तीर्थ है। निगधू से तीन कोस पर बरसाणा में 'वामनक' तीर्थ है। निगधू से तीन कोस पर बौड़स्याम (बरसाल) है, जिसके दक्षिण ज्येष्ठाश्रम[6] तीर्थ है। बोड़श्याक मांगणा (मंकण) से दो कोस पर सतौड़ा है। सतौड़ा के उत्तर 'औशनस तीर्थ, शुक्र तीर्थ, कपालमोचन तीर्थ है। सतौड़ा से एक कोस पर गलेठवा गाँव में 'अग्नि तीर्थ' है। गलेठवा से लगभग एक कोस पर पृथूदक (पिहोवा, ह०) है; जिसके अन्तर्गत 'आर्ष्टिषेण तीर्थ, 'देवापितीर्थ, 'कपालमोचन' विश्वामित्र हैं। १. ब्रह्मयोनि, २. अवाकीर्ण, ३. वृहस्पति, ४. पापान्त, ५. धृतश्रवा, ६. दुग्धश्रवा, ७. मधुश्रवा, ८. कुरुपावन तीर्थ, ९. विश्वामित्राश्रम, १०. वाशिष्ठोपवाह, ११. क्रुदमकूप, १२. अरुणासंगम, १३. समुद्र चतुष्टय, १४. शतसहस्र, १५. शातकतीर्थ, १६. सोमतीर्थ, १७. रेणुका तीर्थ, १८. प्रतिग्रमोचन तीर्थ १९. औजसर इसके अन्तर्गत हैं।[7]

चन्द्रसमुद्र, सूर्यसमुद्र नामक तीर्थ स्थान हैं। अरुणा से एक कोस 'संहंसा' है। यहाँ (शुक्रजोहड़ी) शातिक तीर्थ है और शतसाहस्त्रिक तीर्थ संहंसा के पश्चिम 'सोमतीर्थ'[8] है। यहाँ से साढ़े चार कोस 'रणायचा' के नैॠत्यकोण में रेणुकाश्रम[9] है। रणायचा से चार कोस मुरतजापुर है। मुरतजापुर से डेढ़ कोस भूरिश्रवा (भोर) है। भोर से दो कोस कमोधा है जहाँ महाभारत काल में काम्यकवन धाम था। कमोधा से तीन कोस 'जोसर' है जिसके दक्षिण में ज्योतिसर है। ज्योतिसर से दो कोस थानेश्वर है।

थानेश्वर[10]

कालका लाइन से दक्षिण और कैथल ब्रांच के उत्तर में स्थित है। इस नगर के उत्तर में स्थाणुतीर्थ है। स्थाण्वीश्वर महादेव के पश्चिम में कुलेशगण हैं, कुलेश के दक्षिण रुद्रकर है, उत्तर की तरफ रावणेश्वर है। रावणेश्वर के निकट ही कुमारेश्वर, विभीषणेश्वर हैं। दक्षिण में हरितेश्वर, कंकालेश्वर, सिद्धेश्वर स्थानेश्वर महादेव के आस-पास हैं। पूर्वोक्त लिंगों के

---

१. नारद० १०७, तथा महा० व० ती० ८३ अ० ९१,९२

२. नारद० ९३

३. नारद० ९३

४. महा० व० ती० अ० ८३।९९,१०१,१०२

५. महा० व० ती० अ० ८३।१००

६. नारद० ११५,११८,११९

७. इन तीर्थों के बिशेष विवरण के लिए नारद० १२८-१३७ द्रष्टव्य।

८. नारद० १३३।

९. नारद० १३४।

१०. नारद० १३८-१४२।

दर्शन के पश्चात् सन्निहित तीर्थ (सनेत) स्थान है। फिर करबालारुद्रकूप स्थान है। 'कषारुद्र-ह्लद' 'वायुकुण्ड' की प्रदक्षिणा के पश्चात् पूर्व की तरफ दो कोस पर रत्नुकतीर्थ है।

कुरुक्षेत्र (हरियाणा) के वन—कुरुक्षेत्र में प्राचीन काल में सात वन[1] थे, जहाँ पर उन्हीं वनों के नाम से आज गाँव बसे हुए हैं। काम्यक वन (धाम) के स्थान पर 'कमोधा' ग्राम है। यह ज्योतिसर से लगभग तीन मील दूर है। अदितिबन की जगह 'अमीण' बसा हुआ है। यह कुरुक्षेत्र से पाँच मील दूर दिल्ली-अम्बाला रेलवे-लाइन पर एक स्टेशन भी है। व्यास-वन के स्थान पर वरास है जो करनाल से कैथल जाने वाली सड़क पर है। फलथीवन के स्थान पर 'फरल' ग्राम है। यहाँ फल्गु का मेला लगता है। सूर्यवन के पास संजूमा ग्राम है। मधु-वन के स्थान पर मोहणा ग्राम है। यह करनाल से कैथल जाने वाली सड़क पर स्थित है। सीतावन' स्यूण' ग्राम है जो कैथल तहसील में है।

कुरुक्षेत्र में सात नदियाँ हैं। ये नदियाँ सरस्वती और दृषद्वती के बीच वर्षाकाल में बहती हैं। इन नदियों के नाम निम्नलिखित हैं—सरस्वती, वैतरणी, गंगामंदाकिनी, मधुस्रवा, दृष-द्वती, कौशिकी और हैरण्यवती।

कुरुजाँगल (हरियाणा) प्रदेश के वन, नदी, पर्वत और नगर—हिसार का समीपवर्ती सघन वन 'बीड़ बबरान' के नाम से प्रसिद्ध है। सुना जाता है कि यह बीड़ महा-भारतकालीन बभ्रुवाहन के नाम से 'बबरान' जाना जाता है। हिसार दिल्ली से १०२ मील की दूरी पर स्थित है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरु जनपद में इसुकार या इषुकार नामक समृद्ध, सुन्दर और स्फीत नगर था। फतेहाबाद और सरसा के भूभाग में 'घाघर' नदी बहती है। भिवाणी तहसील में भिवानी से लगभग १५ मील की दूरी पर 'तोषाम' का पहाड़ है जिस पर सिद्ध 'मूँगीपा' की समाधि है तथा 'पंचतीर्थी' तालाब है।

जिस प्रकार हाँसी का पुराना नाम आसिका था (भंडारकर के लेख की सूची, संख्या ३२९) उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम 'ऐषुकारि' ज्ञात होता है, यद्यपि कुछ लोग उसका संबंध अरबी हिसार से लगाते हैं 'दे० वासु० पा० पृ० ८६)। जनपदीय बोली में हिसार को 'हँसार' और हाँसी को 'आस्शी' कहते हैं। हाँसी के चोपटा बाजार में एक विष्णु प्रतिमा है जिसे चन्द्रवंशी राजाओं से संबंधित बताया जाता है। सरसा का संस्कृत नाम शैरीषक है। नकुल दिग्विजय में यह पड़ता है। नकुल दिल्ली से पश्चिम दिशा में बढ़ा और रोहतक होता हुआ मेहम (सं० महित्थम्) और सिरसा (सं० शैरीषक) तक गया है। रोहतक (सं० रोहितिक) दिल्ली से ४५ मील दूर है। प्राचीन काल में योधेयों ने रोहतक को अपनी राज-धानी बनाया था। उस समय इस प्रदेश का नाम 'बहुधान्यक'[2] प्रसिद्ध था।

संक्षेप में हरियाणा अर्थात् आर्यावर्त आर्य संस्कृति का केन्द्र रहा है। महाभारत में आए कुरुक्षेत्र के स्थानों के संस्कृत नाम कोष्ठक में दिए जा रहे हैं—सालवण (शालूकिनी), सफीदों (सर्पदधि सर्पदमन), सोमतीर्थ (पिण्डतारक), पिण्डारा. रामरा (रामह्लद), पुंडरी (पुण्ड्रीक), फल्गू (फलकीवन), वस्तली (व्यासस्थली), पेहवा (पृथूदक); सोनीपत

---

१. नारद० ३८

२. हरियाणीं लो० पृ० ५३

(श्रोणिप्रस्थ); पानीपत (पाणिप्रस्थ), हिसार (इषुकार); हाँसी (आसिका); सिरसा (शौरीषक), रोहतक (रोहितक), मेहम (महित्थम)। अंत में महाभारत कालीन हरियाणा के स्थानों का ऐतिहासिक विवरण महाभारत के आधार पर दिया जा रहा है।

पिण्डतारका (पिण्डरा) हरियाणा में एक तीर्थ स्थान है। जो व्यक्ति पिण्डतारक तीर्थ में स्नान करके वहाँ एक रात निवास करता है, वह प्रातःलाल होंते ही पवित्र हो कर अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त कर लेता है (अनुशासनपर्व २५-५७)। रामह्रद (रामरा) कुरुक्षेत्र (हरियाणा) की सीमानिर्धारक एक ह्रद है (शल्य० ५३·२५), इसमें काशिराज की कन्या अम्बा ने स्नान किया था (उद्योग पर्व १८६-२८) परशुरामजी ने पितृतर्पण यहीं किया था।

पृथूदका (पेहवा) में एक ऋषि रुषंगु थे जिनके आश्रम पर आर्ष्टिषेण मुनि ने घोर तपस्या की थी और विश्वामित्र को यहीं ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हुई थी। (शल्य० ३५/२३-३४) रोहतक = रोहितक (रोहितकारण्य) पश्चिम दिग्विजय के समय नकुल यहाँ हो कर आगे गए थे (सभा० ३२/४-५)। रोहतक का निकटवर्ती वन रोहितकारण्य है जो कौरवों की विशाल सेना से भर गया था (उद्योग० १९/३०-३१)। लोमश ऋषि का आश्रम लुहार माजरा में था। वे इन्द्र और अर्जुन का संदेश लेकर काम्यकवन (कमोधा) में गए थे (वन० ९१/१०-१४)।

व्यासस्थली (बसतली) हरियाणा का एक प्राचीन तीर्थ है, जहाँ व्यास ने पुत्रशोक से संतप्त हो कर शरीर त्याग का विचार किया था। शंखतीर्थ (सांघण) सरस्वतीतटवर्ती एक प्राचीन तीर्थ है, इसका विशेष वर्णन (शल्य० ३७/१९-२६) मिलता है। सर्पतीर्थ (सफीदों) में श्वेतकेतु ऋषि जनमेजय के सर्पसत्र के सदस्य बने थे (आदि० ५३/७)। ये उद्दालक के पुत्र हैं।

सप्तसारस्वत (मांगणा) में मंकण ऋषि को सिद्धि प्राप्त हुई थी। यह सरस्वती तीर्थ में सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है। समन्तपंचक (रामरा, रामह्रद) में है। यहाँ परशुराम ने रक्त के पाँच सरोवर बनाए थे। और उन्हीं में रक्तांजलि द्वारा अपने पितरों का तर्पण किया था (आदि० २/४-५)। कौरवों और पाण्डवों का महाभारत युद्ध यहीं हुआ था। इसी क्षेत्र में ढुंढु (इक्कस) सरोवर में दुर्योधन का निधन हुआ (शल्य० ३९/४०) था।

हरियाणा में सरस्वती नामक एक नदी है। पांडवों ने वन यात्रा के समय इसे पार किया था (वन० ५/२)। काम्यवन (कमोधा) का भूभाग सरस्वती के तट पर है। दधीचि का आश्रम सरस्वती नदी के उस पार था (वन० १००/१३) हिरण्यवती कुरुक्षेत्र में एक नदी है जहाँ पर कृष्ण ने पांडव-सेना का पड़ाव डाला था।

पैल (पीलणी ग्राम) में एक ऋषि थे, जो व्यास जी के शिष्य थे। द्वैतवन (देवता) एक वन और सरोवर है, जहाँ वनवास के समय पांडवों ने निवास किया (वन० २४/१३)। खाण्डववन यमुना के किनारे स्थित एक वन है जिसे श्रीकृष्ण और अर्जुन की सहायता से अग्नि ने जलाया था।

महाभारत कालीन हरियाणा के स्थान भारतीय सभ्यता और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं। इन स्थानों के नामों का तुलनात्मक परिचय देना ही लेखक का विनम्र लघु प्रयास है, जिसके लिए लेखक को लगभग छह माह तक हरियाणा के प्राचीन स्थान-नामों के ध्रुवीकरण के लिए भागीरथ प्रयास करना पड़ा है।

हरियाणा में पुरातात्त्विक अन्वेषण

मदनलाल वर्मा

पुराविदों का साहस दर्शनीय होता है। वे अनेक दुर्गम बीहड़ स्थलों पर जाकर जब पुराने ध्वंसावशेषों के उत्खनन का कार्य प्रारम्भ करते हैं, तो उनके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ, बाधाएँ और विघ्न आ टपकते हैं, पर वे निरुत्साहित कदापि नहीं होते। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि सतत परिश्रम करने पर भी उन्हें कुछ विशेष तत्त्वों की उपलब्धि नहीं होती, पर कभी-कभी कुछ विचित्र एवं निरुपम कलात्मक वस्तुओं के मिलने पर उनकी बाछें खिल जाती हैं। वे उस विशिष्ट स्थल के तत्वों का अन्वेषण कर अपना अहोभाग्य समझते हैं और यह सोच कर उन्हें मानसिक तुष्टि का आनन्द अनुभव होता है, कि उन्होंने मानवेतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया है। अतः 'पुरातत्व का अभिमानपूर्ण दावा है, कि उसने समस्त संसार में मानव की प्रगति के इतिहास में नये अध्याय जोड़े हैं[1]।

आधुनिकयुगीन भारत में पुरातत्त्वों के अन्वेषण की प्रेरणा हमें वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा ही मिली। इस देश की प्राचीन संस्कृति, कला आदि की अनेकों विशेषताएँ इन्हीं पुरातत्त्वों के फलस्वरूप प्रकाश में आईं। परन्तु अभी इसके लिए हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा थोड़ा कार्य हुआ है, क्योंकि भारत के अनेक प्रान्तों में अभी भी पुरातत्त्व का कार्य उपेक्षणीय पड़ा है।

तीन चार वर्ष पूर्व नवम्बर, १९६६ में हरियाणा को एक पृथक् प्रान्त के रूप में घोषित किया गया। इस प्रान्त में अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ पुरातत्त्वीय उत्खनन की महती आवश्यकता है।

यह प्रान्त वीरों की धरती है। इस धरती पर यौधेयों का राज्य हजारों वर्षों तक रहा है। अतः इसको यौधेय भूमि भी कहा जाता है। इसके निम्नलिखित स्थानों का पुरातत्त्वीय निरीक्षण अनिवार्य है :—

१. खोखरा कोट (रोहतक)।
२. दौलत पुर (महम, जिला रोहतक)।
३. अगरोहा (हिसार)।
४. तौशाम (भिवानी, जिला हिसार)।
५. गुड़गांव।
६ झज्जर (रोहतक)।
७. हांसी (हिसार)।

---

१. सर लियोनार्ड वूले: उत्खनित इतिहास (हिन्दी अनुवाद-रमेश वर्मा), १९६९ संस्करण, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली : पृष्ट १०।

८. अस्थलबौहर (रोहतक) ।

९. कुरुक्षेत्र (करनाल) ।

इनमें से पहले आठ स्थानों का संकेत श्री आर० एस्० शर्मा ने भी अपनी एक पुस्तक में किया है[1] ।

अधुनापर्यन्त हमारे ज्ञान के अनुसार हरियाणा के पुरातत्वों में जो सामग्री उत्खनन द्वारा उपलब्ध हुई हैं, उसमें विशेष रूप से परिगणनीय वस्तुओं के नाम निम्नलिखित हैं :—

१. यौधेयगण की मुद्राएँ ।
२. यौधेयगण की मोहरें ।
३. शिलालेख ।
४. बर्तन ।
५. ईंटें ।
६. अस्थिपंजर (ममीज़) ।
७. आटा पीसने की चक्कियाँ ।
८. मूर्तियाँ, चित्र आदि ।

इनमें से कुछ वस्तुओं का संग्रह हरियाणा प्रान्तीय-पुरातत्त्व-संग्रहालय गुरुकुल झज्जर, जिला रोहतक, हरियाणा (भारत) में श्री आचार्य भगवान् देव की अध्यक्षता में हुआ है । इस संग्रहालय में हजारों की संख्या में सिक्के (मुद्राएँ) पड़े हैं । सैकड़ों की संख्या में बर्तन है । अनेकों मोहरें हैं । ईंटें पड़ी हैं । मोहरों को पेटियाँ हैं । कुछेक ममीज़ (अस्थिपंजर) भी पड़े हैं । इसी प्रकार अनेकों अन्य वस्तुएँ पड़ी हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—आटा पीसने की चक्कियाँ ।

अभी दो तीन वर्ष पूर्व खोखरा कोट में एक ऐसी मूर्ति मिली है, जिसमें एक द्विमुखी सिंह है, जिसके साथ एक देव और एक देवी भी है । इसका संकेत श्री आर० एस्० शर्मा ने

---

१. दी फालोइंग प्लेसिज़ आर इन नीड आफ आरक्यालोजिकल सर्वे इन हरयाणा : (यहाँ प्रथम आठ स्थानों का नाम है) ।

देअर इज़ एवरी पासिबिलिटी दैट रूइन्ज़ आफ एन्शियण्ट सिविलाइज़ैशन मे कम टू लाइट बाई दी एक्सकेवेशन आफ दीज़ प्लेसिज़ ।

मोरओवर दी एक्सकेवेशन आफ दी फालोइंग प्लेसिज़ मे ब्रिंग टू लाइट मिडी-वल सिविलाइज़ेशन :—

१. पानीपत ।
२. तरावड़ी ।
३. सोनीपत ।
४. फतेह बाद ।

(हरयाणा डायरेक्टरी एण्ड हूज़ हू, १९६७-६८ । एडीटिड बाई आर० एस्० शर्मा, पब्लिश्ड बाई: इण्डियन बुक डिपो एजेन्सी, अम्बाला कैण्ट: पेज १९३ ।

हरियाणा में पुरातात्त्विक अन्वेषण

मदनलाल वर्मा

पुराविदों का साहस दर्शनीय होता है। वे अनेक दुर्गम बीहड़ स्थलों पर जाकर जब पुराने ध्वंसावशेषों के उत्खनन का कार्य प्रारम्भ करते हैं, तो उनके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ, बाधाएँ और विघ्न आ टपकते हैं, पर वे निरुत्साहित कदापि नहीं होते। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि सतत परिश्रम करने पर भी उन्हें कुछ विशेष तत्त्वों की उपलब्धि नहीं होती, पर कभी-कभी कुछ विचित्र एवं निरुपम कलात्मक वस्तुओं के मिलने पर उनकी बाछें खिल जाती हैं। वे उस विशिष्ट स्थल के तत्वों का अन्वेषण कर अपना अहोभाग्य समझते हैं और यह सोच कर उन्हें मानसिक तुष्टि का आनन्द अनुभव होता है, कि उन्होंने मानवेतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया है। अतः 'पुरातत्व का अभिमानपूर्ण दावा है, कि उसने समस्त संसार में मानव की प्रगति के इतिहास में नये अध्याय जोड़े हैं[१]।

आधुनिकयुगीन भारत में पुरातत्त्वों के अन्वेषण की प्रेरणा हमें वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा ही मिली। इस देश की प्राचीन संस्कृति, कला आदि की अनेकों विशेषताएँ इन्हीं पुरातत्त्वों के फलस्वरूप प्रकाश में आईं। परन्तु अभी इसके लिए हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा थोड़ा कार्य हुआ है, क्योंकि भारत के अनेक प्रान्तों में अभी भी पुरातत्त्व का कार्य उपेक्षणीय पड़ा है।

तीन चार वर्ष पूर्व नवम्बर, १९६६ में हरियाणा को एक पृथक् प्रान्त के रूप में घोषित किया गया। इस प्रान्त में अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ पुरातत्त्वीय उत्खनन की महती आवश्यकता है।

यह प्रान्त वीरों की धरती है। इस धरती पर यौधेयों का राज्य हजारों वर्षों तक रहा है। अतः इसको यौधेय भूमि भी कहा जाता है। इसके निम्नलिखित स्थानों का पुरातत्त्वीय निरीक्षण अनिवार्य है :—

१. खोखरा कोट (रोहतक)।
२. दौलत पुर (महम, जिला रोहतक)।
३. अगरोहा (हिसार)।
४. तौशाम (भिवानी, जिला हिसार)।
५. गुड़गांव।
६ झज्जर (रोहतक)।
७. हांसी (हिसार)।

---

१. सर लियोनार्ड वूले: उत्खनित इतिहास (हिन्दी अनुवाद-रमेश वर्मा), १९६९ संस्करण, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली : पृष्ठ १०।

८. अस्थलबौहर (रोहतक)।

९. कुरुक्षेत्र (करनाल)।

इनमें से पहले आठ स्थानों का संकेत श्री आर० एस्० शर्मा ने भी अपनी एक पुस्तक में किया है[1]।

अधुनापर्यन्त हमारे ज्ञान के अनुसार हरियाणा के पुरातत्वों में जो सामग्री उत्खनन द्वारा उपलब्ध हुई है, उसमें विशेष रूप से परिगणनीय वस्तुओं के नाम निम्नलिखित हैं :—

१. यौधेयगण की मुद्राएँ।
२. यौधेयगण की मोहरें।
३. शिलालेख।
४. बर्तन।
५. ईंटें।
६. अस्थिपंजर (ममीज़)।
७. आटा पीसने की चक्कियाँ।
८. मूर्तियाँ, चित्र आदि।

इनमें से कुछ वस्तुओं का संग्रह हरियाणा प्रान्तीय-पुरातत्त्व-संग्रहालय गुरुकुल झज्जर, जिला रोहतक, हरियाणा (भारत) में श्री आचार्य भगवान् देव की अध्यक्षता में हुआ है। इस संग्रहालय में हजारों की संख्या में सिक्के (मुद्राएँ) पड़े हैं। सैकड़ों की संख्या में बर्तन है। अनेकों मोहरें हैं। ईंटें पड़ी हैं। मोहरों को पेटियाँ हैं। कुछेक ममीज़ (अस्थिपंजर) भी पड़े हैं। इसी प्रकार अनेकों अन्य वस्तुएँ पड़ी हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—आटा पीसने की चक्कियाँ।

अभी दो तीन वर्ष पूर्व खोखरा कोट में एक ऐसी मूर्ति मिली है, जिसमें एक द्विमुखी सिंह है, जिसके साथ एक देव और एक देवी भी है। इसका संकेत श्री आर० एस्० शर्मा ने

---

१. दी फालोइंग प्लेसिज़ आर इन नीड आफ आरक्यालोजिकल सर्वे इन हरयाणा : (यहाँ प्रथम आठ स्थानों का नाम है)।

देअर इज़ एवरी पासिबिलिटी दैट रूइन्ज़ आफ एन्शियण्ट सिविलाइज़ैशन मे कम टू लाइट बाई दी एक्सकेवेशन आफ दीज़ प्लेसिज़।

मोरओवर दी एक्सकेवेशन आफ दी फालोइंग प्लेसिज़ मे ब्रिंग टू लाइट मिडीवल सिविलाइज़ेशन :—

१. पानीपत।
२. तरावड़ी।
३. सोनीपत।
४. फतेह बाद।

(हरयाणा डायरेक्टरी एण्ड हूज़ हू, १९६७-६८। एडीटिड बाई आर० एस्० शर्मा, पब्लिश्ड बाई: इण्डियन बुक डिपो एजेन्सी, अम्बाला कैण्ट: पेज १९३।

भी किया है[1] ।

इन सभी उपलब्ध पुरातत्त्वों का विवरण यहाँ अपेक्षित है। अतः अब यहाँ क्रमशः इन का वर्णन अपने ज्ञान के अनुसार किया जाता है ।

१. यौधेयगण की मुद्राएँ

(क) यौधेयों की प्रथम प्रकार की मुद्राएँ :—ये मुद्राएं प्रिन्सप, थोमस और कनिंघम आदि विदेशी इतिहासकारों को उपलब्ध हुई हैं। उनमें से छः मुद्राओं के चित्र तथा विवरण जोहन ऐलेन ने ब्रिटिश म्यूज़ियम के केटेलाग विवरण पुस्तिका में दिए हैं। उन सभी पर एक बाड़ वाले वृक्ष का चित्र अंकित है। तीन मुद्राओं पर उज्जैनी के समान छोटा चिन्ह अंकित है। दो मुद्राओं पर एक विशिष्ट आयुध का चित्र भी है। एक मुद्रा पर अन्य आयुध का चित्र है। उस आयुध का चित्र प्रायः उन प्रथम प्रकार की यौधेयों की मुद्राओं पर है, जो हरियाणे के—रोहतक, हांसी, हिसार आदि विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। यह चिन्ह ऐसी सभी मुद्राओं पर है[2] ।

(ख) दूसरी प्रकार की मुद्राएँ :—ये मुद्राएँ हरियाणा के रोहतक, सुनेत, हिसार, हांसी, भिवानी, दादरी, भालोठ, भगवती पुर, अगरोहा और रैया आदि स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। इन पर एक ओर शिवजी महाराज नन्दी के साथ खड़े हैं। शिवजी का एक हाथ बैल की ककुद पर तथा दूसरा हाथ पीठ के पिछले भाग पर रखा दिखाया गया है। दूसरी ओर योधेयगण के आयुध अर्थात् शस्त्रों—त्रिशूल, वज्र, चक्र, परशु आदि के चित्र हैं। एक चित्र जो प्रायः इन सभी मुद्राओं पर अंकित है, उन सबकी आकृति एक जैसी है[3] ।

(ग) तीसरी प्रकार की प्रसिद्ध मुद्राएँ :—इन मुद्राओं के ठप्पे-साँचे रोहतक के खोखराकोट की खुदाई में स्वर्गीय डा० बीरबल साहनी द्वारा उपलब्ध हुए हैं। ये मुद्राएँ हांसी, हिसार, भिवासी, दादरी, बामला आदि से प्राप्त हुई हैं। आचार्य भगवान् देव के संग्रहालय में ऐसी मुद्राएँ पाँच सौ से अधिक संख्या में हैं। इनके प्रथम पक्ष पर ब्राह्मी लिपि में 'यौधेयानाम् बहुधान्यके' अंकित है। इन अक्षरों के बीच नन्दी बैल का चित्र है। इन मुद्राओं में यज्ञ के यूप का चिन्ह किसी-किसी मुद्रा पर विपरीत ढंग का भी मिलता है। इन मुद्राओं पर दूसरी ओर हाथी का चित्र है[4] ।

(घ) चतुर्थ प्रकार की मुद्राएँ :—ये मुद्राएँ कनिंघम आदि द्वारा प्राप्त हुई ताम्र और रजत धातुओं की हैं। इन पर एक ओर षण्मुख कार्तिकेय हाथ में भाला (शक्ति) लिए खड़ा है। दूसरी ओर एक देवी है, जिस के बाएँ भाग में कमल का फूल है। ताम्र मुद्राएँ

१. एन आइडल आफ ए डबल फेस्ड लायन विद ए गाड एण्ड गाडेस्स हैज़ बिन डिस्कवर्ड एट खोखरा कोट, रोहतक रिसैण्टली। (वही पुस्तक : पृष्ठ १९३) ।

२. द्रष्टव्य : आचार्य भगवान देव वीरभूमि हरयाणा, नाम और सीमा (प्रथम बार, १ मार्च, १९६५ ई०) हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, जिला रोहतक : पृष्ठ १३२-१३३ ।

३. द्रष्टव्य वही पृष्ठ १३४-१३५ ।

४. द्रष्टव्य : वही : पृष्ठ १३५-१३६ ।

भी ऐसी ही हैं। यौधेयों की छोटी-छोटी अनेक प्रकार की मुद्राएँ हरियाणा के एक प्राचीन दुर्ग से आचार्य भगवान् देव को उपलब्ध हुई हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई बड़ी महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ झज्जर के संग्रहालय में पड़ी हैं[१]।

(ग) यौधेयों की पाँचवें प्रकार मुद्राएँ:—इन मुद्राओं पर ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा में 'यौधेयगणस्य जय' लिखा है। मध्य में कार्तिकेय अपनी शक्ति लिए खड़ा है। एक वर्तुलाकार मुद्रा पर देवी के चारों ओर बनी मणियों की माला यह व्यक्त करती है, कि यह अमूल्य रत्नों तथा धन धान्य से युक्त बहुधान्यक अर्थात् हरियाणा की मुद्रा है। यह मुद्रा सुनेत, करौंधा, अटायल, हांसी, हिसार, भिवानी, दादरी, मल्हाणा आदि स्थानों से आचार्य भगवान् देव को मिली है और महम, सोनीपत, जयजयवन्ती आदि स्थानों पर भी कई लोगों को पर्याप्त संख्या में मिली है[२]।

एक अन्य मुद्रा जिला हिसार के यौधेय दुर्ग के खण्डहर नौरंगाबाद बामले से प्राप्त हुई है, जिस पर हरियाणा जाति का ककुद्वान बहुत रमणीक सांड का चित्र दिया है। सांड के ऊपर ब्राह्मी लिपि में—"यौधेयानां जय मन्त्रधराणाम्" लेख चिह्नित है[३]।

इन सभी उपलब्ध मुद्राओं के अतिरिक्त अभी सम्भावना की जाती है, कि भविष्य में होने वाले उत्खननों में हमें कुछ और भी मुद्राएँ प्राप्त होंगी।

यौधियगण की मोहरें

हरियाणा प्रान्त के पुराने दुर्गों से कई मिट्टी की मौहरें उपलब्ध हुई हैं। कुछ खण्डहर तो ऐसे हैं, जिनके उत्खनन से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकती है।

इन मोहरों में विशेष उल्लेखनीय दो प्रकार की मोहरें हैं। ये दोनों मृण्मयी हैं और बहुत ही रोचक हैं। एक मोहर की लम्बाई २-३ इन्च और चौड़ाई १.८ इन्च है। यह गोलाकार सी है। इसे पकड़ने के लिए मूठ भी बनी हुई है, जो ऊपर से कुछ पतली है। पूरी मोहर पर निर्माता की हस्तरेखाएँ भी स्पष्ट दीख पड़ती हैं। इस पर चार पक्तियों का एक लेख है। ऊपर की पंक्ति में एक विशेष चिह्न है। लगता है, जैसे यह चिह्न यज्ञीय यूप का हो। आगे इसी पंक्ति में ब्राह्मी अक्षरों में 'रफ्त' लिखा है। अक्षर कुछ कट-से गए हैं। दूसरी पंक्ति में "यौधेय जन" यह लेख है। तीसरी पंक्ति के आरम्भ में 'द' अक्षर है। इसी पंक्ति में जो लेख है, यह 'प्रकृतानाक' पढ़ा जाता है, जो प्राकृत भाषा में है। अन्तिम और चौथी पंक्ति में 'नगर' पढ़ा जाता है।[४]

दूसरी मोहर की लम्बाई १.५ इंच और चौड़ाई १.२ इन्च हैं। यह चतुष्कोणीय है। इसके ऊपर भी पकड़ने के लिए मूठ बनी हुई है, जो ऊपर से पहली के विपरीत गोलाई पर

---

१. द्रष्टव्य : वही : पृष्ठ १३८-१४०।

२. द्रष्टव्य : वही : पृष्ठ १४०-१४१।

३. आचार्य भगवान् देव : हरयाणा की संस्कृति : भाषा विभाग, हरयाणा की वार्षिक गोष्ठी (१९६७—१९६८) : पृष्ठ १६।

४. विशेष द्रष्टव्य: वीर भूमि हरयाणा: वही : पृष्ठ १४३–१५१।

है। इस पर ब्राह्मी अक्षरों में और प्राकृत भाषा में 'भत्ति निकाय' लिखा है। वर्गाकार सी इस मोहर पर चार ऊपर के भाग में और एक अन्तिम 'य' अक्षर मोहर के बाएँ भाग में उल्लिखित है। अक्षरों के नीचे एक विशेष चिन्ह है, जो शायद किसी आयुध का प्रतीत होता है। इसके मूल में पहुँचने के लिए अभी पर्याप्त अन्वेषण की आवश्यकता है। इस तरह की अनेक महत्त्वपूर्ण मोहरें हरयाणा प्रान्तीय पुरातत्व संग्रहालय गुरुकुल झज्जर में सुरक्षित हैं[१]।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मोहरें भी उपलब्ध हुई हैं, जिन पर सिंह का चित्र है[२]।

(३) शिला-लेख

हरियाणा प्रान्त का सबसे प्राचीन उपलब्ध शिलालेख तोशाम (तहसील भिवानी, जिला हिसार) का है। यह स्थान भिवानी से उत्तर-पश्चिम में लगभग चौदह मील की दूरी पर है। इस ग्राम के पश्चिम में एक पहाड़ी है, जिसकी ऊँचाई लगभग ८०० फीट है। इस पहाड़ी के पूर्वी भाग में यह लेख चट्टान पर खुदा हुआ है। लिपि के आधार पर इसे ईस्वी सम्वत् की चौथी या पांचवी शताब्दी का माना जा सकता है[३]।

इस लेख के अनन्तर प्रतिहार वंश के महाराजाधिराज भोज आदिवराह के राज्यकाल का एक प्रस्तर लेख पहवा गरीबनाथ के मन्दिर से उपलब्ध हुआ है। इस लेख की तिथि २७६ हर्ष सम्वत् अर्थात् ९३९ विक्रम संवत् है[४]।

तृतीय शिलालेख भी पेहवा से उपलब्ध हुआ है। यह प्रतिहारवंशी महाराजाधिराज महेन्द्रपाल के गाज्यकाल का है, जिसकी ज्ञात तिथियाँ विक्रम संवत् ९५० से विक्रम संवत् ९६४ तक हैं[५]।

चौथा शिलालेख जिला अम्बाला की तहसील जगाधरी के तोपरा नामक ग्राम में स्थापित अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण किया गया था। इस स्तम्भ को तुग़लकवंशी बादशाह फीरोज़शाह दिल्ली ले आया था और अब यह दिल्ली में कोटला फीरोज़शाह नाम से प्रख्यात पुराने राजप्रासादों के खंडहरों के मध्य एक भवन की दूसरी मंज़िल की छत पर परिस्थापित है। इस स्तम्भ पर अशोक के सात स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त एक लेख विक्रम संवत् १२०० का है, जो कि बीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ की प्रशस्ति है[६]।

पाँचवाँ शिलालेख ज़िला हिसार के नगर हाँसी से उपलब्ध हुआ था। अब यह शिला ऐडनबरा (स्काटलैण्ड) के रायल स्कौटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है। यह लेख सम्राट् पृथ्वीराज द्वितीय के राज्यकाल का है। इसको तिथि विक्रम १२२४ हैं[७]।

---

१. द्रष्यव्य : वही : पृष्ठ १५१–१५५।

२. द्रष्टव्य : आचार्य मगवान् देवः हरयाणा को संस्कृतिः वहीः पृष्ठ २३।

३. प्रो० जगन्नाथ अग्रवाल : हरियाणा के कुछ शिलालेखः सप्तसिन्धु पत्रिका, (उप भाषा विशेषांक), १९६५–६६, हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला : पृष्ठ ४४५।

४. वही : पृष्ठ ४४५।

५. वही लेख : पृष्ठ ४४६।

६. वही : पृष्ठ ४४६।

७. वही : पृष्ठ ४४७।

छठा लेख रोहतक नगर के समीप अस्थल बोहर नामक ग्राम से उपलब्ध हुआ है। इस लेख की तिथि विक्रम संवत् १३३७ है। इस लेख में हरियाणा शब्द का रूप हरियानक है[1]।

इसके अनन्तर दिल्ली के लाल किले के संग्रहालय में सुरक्षित विक्रम संवत् १३८५ का एक शिलालेख वर्णनीय है, जिसमें लिखा है, कि हरियाना नाम का एक देश है, जो धरा पर स्वर्गसदृश है[2]।

इन शिलालेखों के अतिरिक्त महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार अभिलेख में जो शक संवत् ७२ में लिखा गया, यौद्धों के पराक्रम को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है— "सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकविधेयानां यौधेयानाम्[3]।" अतः हरियाणा के वैशिष्ट्य में इसका उल्लेख करना भी आवश्यक है।

सम्भव है, इस प्रान्त के अछूते खंडहरों के उत्खनन से हमें कुछ और भी शिलालेख उपलब्ध हों, परन्तु अभी तक विशेष रूप से उपर्युक्त शिलालेखों की उपलब्धि हुई है। वैसे अन्य कई छोटे मोटे शिलालेख भी सम्भवतः किसी और को मिले हों। हमें उनका ज्ञान नहीं है। संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि हरियाणा के शिलालेख बहुत अधिक पुराने नहीं हैं, जिनसे सिन्धु घाटी सभ्यता के विषय में कुछ और ज्ञान की अभिवृद्धि हो सके।

(४) बर्तन

हरियाणा प्रान्त में उत्खनन से प्राप्त होने वाले बर्तनों में हमें जिनका पता लग सका है, उनमें सुराहियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सुराहियों के चारों ओर चित्रकला का सौन्दर्य अवलोकनीय है। इन पर अनेक प्रकार के बेल बूटे तथा क्रीड़ासक्त दम्पती के चित्र ही देखे जाते है, जिन्हें देख कर अजन्ता के चित्रों की की याद आ जाती है।

(५) ईंटें

विभिन्न प्रकार की पुरानी ईंटों का संग्रह हरयाणा प्रान्तीय पुरातत्त्व संग्रहालय गुरुकुल झज्जर में सुरक्षित है। यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से इनका इतना अधिक महत्त्व नहीं, तथापि इनसे प्राचीन काल का निर्माण-शक्ति की आधुनिक शक्ति से पृथक्ता अवश्य बोधित होती है। अतः पुरातात्त्विक अन्वेषण में इनका उल्लेख करना अनुचित नहीं।

(६) अस्थिपंजर (ममीज़)

कुछ अस्थिपंजर झज्जर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त आज से कुछ वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र के गीता भवन के पास एक खंडहर के उत्खनन से एक मानव का अस्थिपंजर उपलब्ध हुआ था। यह अस्थिपंजर मैंने स्वयं देखा था। उसे देख कर प्रतीत होता था, कि किसी तपस्यालीन साधु ने बैठे बैठे प्राणत्याग दिए हों। वैसे कुरुक्षेत्र सरोवर के

१. द्रष्टव्य : जनरल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल : खण्ड ४३ (पुरातन क्रम संख्या) : पृष्ठ १०८।
२. द्रष्टव्य : प्रो० जगन्नाथ का वही लेख : पृष्ठ ४४४।
३. उद्धृत : गद्यसौरभम् (सम्पादक-दुर्गादत्त मेनन) : प्रथम संस्करण, १९६७ : पंजाब यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चण्डीगढ़ : पृष्ठ २९।

है। इस पर ब्राह्मी अक्षरों में और प्राकृत भाषा में 'भक्ति निकाय' लिखा है। वर्गाकार सी इस मोहर पर चार ऊपर के भाग में और एक अन्तिम 'य' अक्षर मोहर के बाएँ भाग में उल्लिखित है। अक्षरों के नीचे एक विशेष चिन्ह है, जो शायद किसी आयुध का प्रतीत होता है। इसके मूल में पहुँचने के लिए अभी पर्याप्त अन्वेषण की आवश्यकता है। इस तरह की अनेक महत्त्वपूर्ण मोहरें हरयाणा प्रान्तीय पुरातत्व संग्रहालय गुरुकुल झज्जर में सुरक्षित हैं[१]।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मोहरें भी उपलब्ध हुई हैं, जिन पर सिंह का चित्र है[२]।

(३) शिला-लेख

हरियाणा प्रान्त का सबसे प्राचीन उपलब्ध शिलालेख तोशाम (तहसील भिवानी, जिला हिसार) का है। यह स्थान भिवानी से उत्तर-पश्चिम में लगभग चौदह मील की दूरी पर है। इस ग्राम के पश्चिम में एक पहाड़ी है, जिसकी ऊँचाई लगभग ८०० फीट है। इस पहाड़ी के पूर्वी भाग में यह लेख चट्टान पर खुदा हुआ है। लिपि के आधार पर इसे ईस्वी सम्वत् की चौथी या पांचवी शताब्दी का माना जा सकता है[३]।

इस लेख के अनन्तर प्रतिहार वंश के महाराजाधिराज भोज आदिवराह के राज्यकाल का एक प्रस्तर लेख पहवा गरीबनाथ के मन्दिर से उपलब्ध हुआ है। इस लेख की तिथि २७६ हर्ष सम्वत् अर्थात् ९३९ विक्रम संवत् है[४]।

तृतीय शिलालेख भी पेहवा से उपलब्ध हुआ है। यह प्रतिहारवंशी महाराजाधिराज महेन्द्रपाल के गाज्यकाल का है, जिसकी ज्ञात तिथियाँ विक्रम संवत् ९५० से विक्रम संवत् ९६४ तक हैं[५]।

चौथा शिलालेख जिला अम्बाला की तहसील जगाधरी के तोपरा नामक ग्राम में स्थापित अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण किया गया था। इस स्तम्भ को तुग़लकवंशी बादशाह फीरोज़शाह दिल्ली ले आया था और अब यह दिल्ली में कोटला फीरोज़शाह नाम से प्रख्यात पुराने राजप्रासादों के खंडहरों के मध्य एक भवन की दूसरी मंज़िल की छत पर परिस्थापित है। इस स्तम्भ पर अशोक के सात स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त एक लेख विक्रम संवत् १२०० का है, जो कि बीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ की प्रशस्ति है[६]।

पाँचवाँ शिलालेख ज़िला हिसार के नगर हाँसी से उपलब्ध हुआ था। अब यह शिला ऐडनबरा (स्काटलैण्ड) के रायल स्कौटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है। यह लेख सम्राट् पृथ्वीराज द्वितीय के राज्यकाल का है। इसकी तिथि विक्रम १२२४ हैं[७]।

१. द्रष्यव्य : वही : पृष्ठ १५१–१५५।
२. द्रष्टव्य : आचार्य भगवान् देवः हरयाणा को संस्कृतिः वहीः पृष्ठ २३।
३. प्रो० जगन्नाथ अग्रवाल : हरियाणा के कुछ शिलालेखः सप्तसिन्धु पत्रिका, (उप भाषा विशेषांक), १९६५–६६, हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला : पृष्ठ ४४५।
४. वही : पृष्ठ ४४५।
५. वही लेख : पृष्ठ ४४६।
६. वही : पृष्ठ ४४६।
७. वही : पृष्ठ ४४७।

छठा लेख रोहतक नगर के समीप अस्थल बोहर नामक ग्राम से उपलब्ध हुआ है। इस लेख की तिथि विक्रम संवत् १३३७ है। इस लेख में हरियाणा शब्द का रूप हरियानक है[1]।

इसके अनन्तर दिल्ली के लाल किले के संग्रहालय में सुरक्षित विक्रम संवत् १३८५ का एक शिलालेख वर्णनीय है, जिसमें लिखा है, कि हरियाना नाम का एक देश है, जो धरा पर स्वर्गसदृश है[2]।

इन शिलालेखों के अतिरिक्त महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार अभिलेख में जो शक संवत् ७२ में लिखा गया, यौद्धों के पराक्रम को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है—"सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकविधेयानां यौधेयानाम्[3]।" अतः हरियाणा के वैशिष्ट्य में इसका उल्लेख करना भी आवश्यक है।

सम्भव है, इस प्रान्त के अछूते खंडहरों के उत्खनन से हमें कुछ और भी शिलालेख उपलब्ध हों, परन्तु अभी तक विशेष रूप से उपर्युक्त शिलालेखों की उपलब्धि हुई है। वैसे अन्य कई छोटे मोटे शिलालेख भी सम्भवतः किसी और को मिले हों। हमें उनका ज्ञान नहीं है। संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि हरियाणा के शिलालेख बहुत अधिक पुराने नहीं है, जिनसे सिन्धु घाटी सभ्यता के विषय में कुछ और ज्ञान की अभिवृद्धि हो सके।

(४) बर्तन

हरियाणा प्रान्त में उत्खनन से प्राप्त होने वाले बर्तनों में हमें जिनका पता लग सका है, उनमें सुराहियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सुराहियों के चारों ओर चित्रकला का सौन्दर्य अवलोकनीय है। इन पर अनेक प्रकार के बेल बूटे तथा क्रीड़ासक्त दम्पती के चित्र ही देखे जाते है, जिन्हें देख कर अजन्ता के चित्रों की की याद आ जाती है।

(५) ईंटें

विभिन्न प्रकार की पुरानी ईंटों का संग्रह हरयाणा प्रान्तीय पुरातत्त्व संग्रहालय गुरुकुल झज्जर में सुरक्षित है। यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से इनका इतना अधिक महत्त्व नहीं, तथापि इनसे प्राचीन काल का निर्माण-शक्ति की आधुनिक शक्ति से पृथक्ता अवश्य बोधित होती है। अतः पुरातात्त्विक अन्वेषण में इनका उल्लेख करना अनुचित नहीं।

(६) अस्थिपंजर (ममीज़)

कुछ अस्थिपंजर झज्जर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त आज से कुछ वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र के गीता भवन के पास एक खंडहर के उत्खनन से एक मानव का अस्थिपंजर उपलब्ध हुआ था। यह अस्थिपंजर मैंने स्वयं देखा था। उसे देख कर प्रतीत होता था, कि किसी तपस्यालीन साधु ने बैठे बैठे प्राणत्याग दिए हों। वैसे कुरुक्षेत्र सरोवर के

---

१. द्रष्टव्य : जनरल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल : खण्ड ४३ (पुरातन क्रम संख्या) : पृष्ठ १०८।

२. द्रष्टव्य : प्रो० जगन्नाथ का वही लेख : पृष्ठ ४४४।

३. उद्धृत : गद्यसौरभम् (सम्पादक-दुर्गादत्त मेनन) : प्रथम संस्करण, १९६७ : पंजाब यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चण्डीगढ़ : पृष्ठ २९।

पश्चिमी तट पर तथा नाभि कमल मन्दिर के समीप जो काफी ऊँचे खंडहर हैं, मेरे विचार में यदि उनका उत्खनन किया जाए, तो हमें विभिन्न अस्थिपंजर तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हो सकती है। पर सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है, कि इस कार्य के लिए कौन अपना साहस प्रदर्शित करे।

(७) आटा पीसने की चक्कियाँ

इस प्रकार की कुछ पुरानी चक्कियाँ झज्जर के संग्रहालय में पड़ी हैं, जो देखने योग्य हैं।

(८) मूर्तियाँ, चित्र आदि

यौधेयगण की मुद्राओं और मोहरों पर अंकित तथा बर्तनों पर अंकित अनेकों चित्र दर्शनीय हैं। उपलब्ध चित्रों में शिव, बैल तथा आयुधों के चित्र अधिक संख्या में हैं। मूर्तियों में मृण्मूर्तियाँ तथा प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली हैं।

एक विशिष्ट मूर्ति का उल्लेख आवश्यक होगा। यह मृण्मूर्ति यौधेयों के एक प्राचीन दुर्ग नौरङ्गाबाद से उपलब्ध हुई हैं। इस पर यौधेय जाति का एक योद्धा या सेनापति सिंह के ऊपर आरूढ़ है। इसके हाथ में वज्र है। इस मूर्ति के दूसरी ओर शान्ति के द्योतक कमल पुष्प का अभिराम चित्र है[१]।

इनके अतिरिक्त मिलने वाली मूर्तियों और चित्रों में उल्लेखनीय हैं—कुषाणकालीन सिंहनिहन्ता सैनिक, गणेश (ढोलवाह), आठवीं शती ई० की बुद्ध प्रतिमा, मध्ययुगीन वामन अवतार विष्णु, मध्यस्था नारी के आगे पीछे दो नर, कलायत के मन्दिर में कपिल मुनि की प्राचीन मूर्ति इत्यादि।

आचार्य भगवान् देव को भी सांघी ग्राम से महात्मा बुद्ध की एक प्रस्तर मूर्ति मिली है[२]। एक शिवमूर्त्ति ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ' को मिली है। यह मूर्ति जो सिरसा के थेड़ में खोदी गई थी, ८ वीं सदी की है[३]।

उपर्युक्त उपलब्ध सामग्री के अतिरिक्त पुरातत्त्वीय दृष्टि से कुछ अन्य उल्लेखनीय वस्तुओं के नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) यज्ञ की भस्म (राख)। इस भस्म के लिए आचार्य भगवान् देव ने लिखा है :—जिला रोहतक में बेरी से ५–६ मील की दूरी पर दूबलधन ग्राम में महर्षि दुर्वासा रहते थे। यहां उन्होंने एक बृहद्‌यज्ञ अनेक वर्षों तक किया था, उस स्थान पर उन्हीं के नाम पर लोगों ने दुर्वासाश्रम बना रक्खा है। यहां के ग्रामीण लोग जब आश्रम के लिए कुआं

---

१. द्रष्टव्य : आचार्य भगवान् दवः हरियाणा की संस्कृति : वही : पृष्ठ १९।

२. द्रष्टव्य : वही : पृष्ट ३१।

३. द्रष्टव्य : जैमिनी कौशिक 'बरुआ' की पुस्तक : तूर्य के नाद, शंख का स्वर : १९६६ संस्करण : जैमिनी प्रकाशन, कमरा नं० १२१, माधो भवन, ११६।१, महात्मा गाँधी रोड, कलकत्ता—७।

खोदने लगे, तो ३५ हाथ नीचे तक हवन की भस्म-राख ही निकलती चली गई। हो सकता है, वह बृहद्यज्ञ सत्र, जिसे पौराणिक भाई कहते हैं, कि ८० हजार वर्ष तक महर्षि दुर्वासा यहां यज्ञ करते रहे, वह स्थान यही हो और ८० सहस्र वर्ष के स्थान पर ८० वर्ष तक अथवा इससे अधिक लम्बा यह यज्ञ यहाँ चलता रहा होगा। खुदाई में निकली हुई यज्ञ की भस्म (राख) इसके लिए साक्षी हैं[1]।

(२) प्राचीन ध्वस्त मन्दिर :—इन में कुछ मन्दिरों के खण्डहर कुरुक्षेत्र तथा पेहवा में अवलोकनीय हैं।

(३) महम (रौहतक) की ऐतिहासिक बावली।

(४) कलायत में दुर्गा का मन्दिर।

(५) भूतेश्वर जीन्द।

(६) चन्दन की लकड़ी का बनाया हुआ बादाम।

(७) प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अमर शहीद श्री रामप्रसाद बिस्मिल का हवन कुण्ड।

(८) हरियाना की सर्वखाप पंचायत का ताम्रपत्र।

(९) शिरस्त्राण इत्यादि।

इस वस्तुओं में से अनेकों के चित्र सप्तसिन्धु मासिक हिन्दी पत्रिका के उपभाषा विशेषांक (१९६५–१९६६) में निरूपणीय हैं।

उक्त विवेचन द्वारा अन्ततः हम कह सकते हैं, कि पुरातन काल में हरियाणा प्रदेश सभ्यता और संस्कृति के उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ था। इस प्रान्त की प्राचीन कला सम्पूर्ण भारत की कला है, क्योंकि हमारी भारतीय रचनाओं में "........बाह्य सौन्दर्य दिखाने की बजाय आन्तरिक भावों के अंकन को बहुत महत्व दिया गया है[2]"।

अतः हमारी प्राचीन कला की मुख्यतम विशेषताएं हैं—भावव्यंजता की प्रधानता, धर्मत्व की मुख्यता तथा अनामता[3]। ये सब विशेषताएँ हमारे प्राचीन स्तूपों, स्तम्भों, गुफाओं, राज प्रासादों, चित्रों तथा मूर्तियों आदि में देखी जा सकती हैं, क्योंकि–"जातियों, की महत्ता का एक मानदण्ड कलाकृतियां भी हैं[4]" इस प्रकार पुरातत्त्वों के अन्वेषण से तथा उनकी ओर रुचि दिखाने में किसी राष्ट्र की संस्कृति का एक विशिष्ट मार्ग प्रशस्त होता है। हमें आशा करनी चाहिए, कि भारत सरकार तथा हरियाणा सरकार इस कार्य की ओर उन्नत पग उठाने का अवश्य प्रयास करेगी।

●

---

१. वही : आचार्य भगवान् देव की पुस्तक पृष्ठ ११।

२. श्री हरिदत्त वेदालंकारः भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहासः १९५५ : आत्माराम०

३. द्रष्टव्य : वही।

४. वही : पृष्ठ १६२।

मध्यकालीन हरियाणा और दक्खिनी हिंदी के विकास में हरियानी का योगदान

छविनाथ त्रिपाठी

वैदिक साहित्य से लेकर स्मृतियों तथा पुराणों तक हरियाना के वर्तमान क्षेत्र की प्रचुर प्रशस्ति गाई गई है। इस क्षेत्र के प्रतिष्ठापक हर (शिव या रुद्र) की महिमा के वर्णन से सारा श्वेताश्वतर उपनिषद् भरा हुआ है। मनुस्मृति में सरस्वती और दृषद्वती[1] के बीच के क्षेत्र को देव निर्मित देश ब्रह्मावर्त कहा गया है।[2] दृषद्वती को कुछ विद्वान् वर्तमान घग्घर नदी कहते हैं। ब्रह्मावर्त में प्रचलित आचार ही सदाचार माना गया है।[3] मनुस्मृति-काल में जिन क्षेत्रों को ब्रह्मर्षि देश कहा गया है, उनमें कुरुक्षेत्र की गणना सर्वप्रथम की गई है। कुरुक्षेत्र के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र और ब्रह्मावर्त को मिलाकर ही वर्तमान हरियाना राज्य का निर्माण हुआ है। मनु स्मृति के अनुसार यह 'यज्ञिय' देश है क्योंकि यहाँ कृष्ण सार मृग स्वच्छन्द विचरण करते थे।[5] वर्तमान हरयाणा और राजस्थान की सीमा से लगते क्षेत्र में इन कृष्ण-मृगों का दर्शन आज भी किया जा सकता है।

हरयाणा या हरियाना के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य, स्मृतियां, सूत्रग्रन्थ, महाभारत, हरिवंश, स्कन्दपुराण तथा विष्णुपुराण आदि उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने यौधेय गणतन्त्र, गुप्त एवं वर्धनवंश मे सम्बद्ध इतिहास ग्रन्थ। पौराणिक युग के प्रारम्भ का हरियाना सतलज (शतद्रु) घाटी से लेकर कैलाश पर्वत तक फैला हुआ था। कार्तिकेय और परशुराम की शक्ति-परीक्षा तथा कार्तिकेय और तारकासुर के युद्ध का क्षेत्र यही था। अन्धकवृष्णि युग में श्रीकृष्ण के प्रभाव क्षेत्र के कारण ही हरयाणा, हरियाणा भी कहा जाने लगा। आभीर युग में इस प्रदेश का दक्षिणी भाग 'हरि' नाम से भी पुकारा जाता था।

आठवीं सदी के अपभ्रंश महाकवि स्वयम्भू ने इस क्षेत्र के प्रदेशों के प्रचलित नामों का उल्लेख किया है—

मरु-कण्णाट-लाट-जालंधर। टक्क-हीर-कीर-खस-बब्बर। पउम चरिउ ३०।२।

---

१. दृषद्वती का उल्लेख ऋक् ३।२३।४ और १०।५३।८ में है।

२. मनुस्मृति २।१७

३. वही २।१८

४. कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पांचालाः शूरसेनकाः।
एवं ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मवर्तादनंतरः॥ मनु० २।१९॥

५. कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वाभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥ मनु० २।२३।

सक-सूर सेण-मरु-पत्थिवावि । पउम चरिउ ८२।६ ।

दसवीं सदी के कवि पुष्पदन्त ने भी विविध प्रदेशों का उल्लेख किया है। उन्होंने 'हरि' को 'आहीर' नाम दिया है, किन्तु एक स्थान पर प्राचीन प्रचलित नाम 'हरि-कुरु' भी लिखा है—

आहीर-कीर-गंधार-गउड़-णेवाल-चोड ।

कोंकण-केरल-कुरु-कामरूव-सिंहल-पहूय ।। आदि पुराण पृष्ठ २३०-२३१

मागह-जह-भोट्ट-णेवालवि । उंड्ड-पुंड-हरिकुरु-भंगालवि । आदि पु० पृ० ८८

आठवीं से दसवीं शताब्दी तक वर्तमान हरियाणा के तीन प्रमुख क्षेत्र थे—आहीर (हीर) कीर और जट्ट, तथा समग्र रूप में यह 'हरि-कुरू' या यौधेय भूमि के नाम से पुकारा जाता था। महा कवि पुष्पदन्त ने इस यौधेय-भूमि का विस्तृत एवं मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है--

वित्थिण्णए जंबु दीवि भरहे । स्वर-किरण-करावलि-भूरि-भरहे ।
जोहेयउ णामि अत्थि देसु । णं धरणिएं धरियउ दिव्व वेसु ।
जहिं चलइँ जलाइँ स विब्भमाइँ । णं महि कामिणि णव जोव्वणाइँ ।
गोवाल—मुहालुंखिय—फलाइँ । जहिं महुरइँ णं सुक्र यहो फलाइँ ।
मंथर--रोमंथण-चलिय-गंड । जहिं सुहि णिसिण्ण गो-महिसि-संड ।
जँह उच्छु वणइँ रस दंसिराइँ । णं पवण-वसेउ पणच्चिराइँ ।
जँह कण भर पणविय पक्क सालि । जहिं दीसइ सयदलु सदलु सालि ।
जहिं कणिसु-कीर रिछोलि-चुणइ । गहवइ-सुयाहि पठिवयणु भणइ ।
छोक्करण-राव-रंजिम मणेण । पहि पउ ण दिण्ण पंथिय जणेण ।
जहिं दिण्णु कण्णु वणि मयउलेण । गोवाल गेय रंजिय मणेण ।
जहिं जण-धण-कण परिपुण्ण गाम । पुर-णयर सुसीमाराम साम ।

घत्ता राय उरु मणोहरू रयणं चिय भरू, ताहिं पुरवरु पवणुद्धयहि ।
चल चिंधहि मिलियहिं णहयलि घुलियहिं, लिवइ व सग्गु सयंभुयहि ।।

जं छण्णउ सरसहिं उववणेहिं । णं विद्धउँ-वम्मह-मग्गणेहिं ।
कय सद्दहि कण्ण सुहावएहिं । कण इ' व सुर हर पारावएहिं ।
गयवरदाणोल्लिय धाहियालि । जहिं सोहइ चिरु पवसिय पियालि ।
सर हंसईं जहिं णेउर-खेण । मउ चिक्कमंति जुवई-पहेण ।
जं णिय भुयासि वर णिम्मलेण । अण्णुवि दुग्गउ परिहा-जलेण ।
पडि खलिय-वइरि-तोमर-झसेण । पंडुर पायारिं णं जसेण ।
णं बेढिउ बहु सोहग्ग भारू । णं पुंजीकय संसार सारू ।
जहिं विलुलिय मरगय तोरणाइँ । चउदारइँ णं पउराणणाइँ ।
जहि धवल-मंगलुच्छव सराइँ । दु-ति-पंच-सत्त भोमइँ घराइँ ।
णव कुंकुम रस छडयारुणाइँ । विक्खित्त दित्त मोत्तिय कणाइँ ।
गुरु देव पाय पंकय बसाइँ । जहिं सब्बइँ दिब्बइँ माणुसाइँ ।
सिरिमंतइँ संतइँ सुत्थियाइँ । जहिं कहि मिण दीसहि दुत्थियाइँ ।।

जसहर चरिउ—पृ० ४।५

विस्तीर्ण जम्बू द्वीप के भरत खंड में सूर्य की प्रचुर तीक्ष्ण किरणों से भरा हुआ यौधेय नाम का देश है। वहाँ की धरती ने मानों दिव्य वेश धारण किया है। जहाँ आवर्तयुक्त जल धारायें इस प्रकार चलती हैं मानों विभ्रम-बिलास से युक्त कामिनी-कुल हों। जहाँ भृंगों के घर कुकविता के समान फैले हुए हैं। जहाँ नील कमल सदृश नेत्रों की स्निग्धता है, जहाँ के फूले-फले उपवनों में भूमि रूपी कामिनी नव-यौवन-सम्पन्न हो गई है। जहाँ के ग्वाले ऐसे फल चुनते हैं मानों वे मधुर-पुण्य-फल हों। जहाँ गाय-भैंस और साँढ़ धीरे-धीरे जुगाली करते हैं जिससे उनके कपोल चंचल दिखाई पड़ते हैं। जहाँ के ईखों के वन में रस इस प्रकार भरा है जैसे बाँसों के बन में पवन। जहाँ दानों से भरी हुई, पके धान की बालियाँ झुक गई हैं और उनके आस पास कमल खिले हुए हैं। तोतों की पंक्तियाँ मंजरियाँ चुनती हैं और गृह-पतियों की कन्याएँ उन्हें प्रतिवचन कहती हैं। छोकड़ों (बच्चों) के समूह मन ही मन मग्न हैं। पथिक जन मार्ग पर पग बढ़ाते हैं। जहाँ कर्ण-वन मृगों से भरे हुए हैं और गोपाल अनु-राग भरे मन से गीत गाते हैं। जहाँ के गाँव जन'धन और अन्न से परिपूर्ण हैं। पुर और नगरों की सीमाएँ बगीचों से श्यामल दिखाई पड़ती हैं।

इस यौधेय देश में रत्न-जटित मनोहर घरों से मुक्त 'राकनगर' है। इस श्रेष्ठ नगर की पताकाएँ, पवन से हिलाई हुई, आकाश में फहरा रही है, वे मानों स्वर्ग को छू रही हों। यह नगर चारों ओर से सरोवरों और उपवनों से घिरा हुआ है, ऐसा लगता है मानों ये काम के बाण हों, जिनसे सारा नगर विध गया हो। यहाँ के देव-मण्दिरों से आता हुआ पारावतों का कलरव कानों को सुखदायी लग रहा है। यहाँ मद-प्रवाह करती गज-पंक्तियाँ हैं जिन पर भ्रमर मंडरा रहे हैं। ऐसा प्रतित होता है मानों चिर-प्रवसित-प्रिय से मिलन हो गया हो। नूपुर के सदृश कलरव करते सरोवरों के हंस, युवती के सौंदर्य की आभा से सुशोभित माला के समान ही निर्मल है।

दुर्ग की परिखाएँ जल से भरी हुई हैं। भुजाओं की शक्ति के समान ही उनका जल निर्मल है। उनमें मछलियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानों शत्रु के गिरे हुए तोमर हो। उनके प्राकार यश के समान श्वेत है। ये दुर्ग-प्राकार अत्यधिक सौभाग्य भार से अचल हैं। संसार का सार मानों वहीं पूंजीभूत हो गया हो। चंचल एवं हिलती हुई मरकत मणि के समान तोरण हैं। नगर के चारों द्वार नगरवासियों के मुख के समान ही भव्य है। जहाँ दो-तीन, चार और पाँच तथा सात मंजिलों के घर हैं। ये साक्षात् मंगलोत्सवों के समान श्वेत लगते हैं। नये बिखरे कुंकुम-रस की छटा सदृश उनमें अरुणिमा है। उनमें मुक्ता कणों की दीप्ति बिखर रही है। यहाँ के सभी मनुष्य दिव्य हैं तथा गुरु और देवता के चरण कमलों के वशी-भूत हैं। वे श्रीमंत, संत, एवं सुस्थित हैं। कहीं भी दुःस्थिति (अकाल आदि) नहीं दिखाई पड़ती।

मध्यकाल की हरियानी भाषा का स्वरूप

मध्यकाल की हरियानी भाषा की कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। इस क्षेत्र में मध्यकाल की जो कृतियाँ मिलती हैं वे दो प्रकार की हैं। प्रथम प्रकार की वे रचनाएँ हैं जो अपभ्रंश पर्परा से अधिक प्रभावित हैं। ऐसी एक कृति बल्ह कवि रचित 'कूकडा-मंजारी चउपई'

श्री अगरचन्द नाहटा ने 'जन-साहित्य'[1] में प्रकाशित करवायी है। इसकी हस्तलिखित प्रति १६०५ ई० की है, अतः इसका वास्तविक रचनाकाल इससे कुछ और पूर्व हो सकता है। इसकी भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश प्रभावित हरियानी है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

भणई मंजारी निसुणि कूकुडा तिया काजि मनि बडा किज्जइ।
घरि आया आपणइ, उठि महत आदर दिज्जइ ॥ २२ ॥

भणइ, निसुणि, किज्जइ, आपणइ, दिज्जइ; अपभ्रंश के पद हैं। इस रचना के कुछ शब्द—सारदै, विनाइक, कूकडा, मूरिख, स्याणा, मुकंच आदि तथा परसर्ग या विभक्तियाँ सर्वनाम एवं योजक तत्कालीन हरियानी के ही हैं—

जे परवति स्याँ आवहि भाइ ।। २८ ॥
वयर विरोध करउ तुझ सेती । ३१ ।
मइं आनी मूसा कारना । ९ ।
अर पूजइ हर देव । ३२ ।

इसके क्रिया-रूप मिश्रित हैं और 'ण' के बहुल-प्रयोग की प्रवृत्ति भी रचना में दिखाई पड़ती है। यह नीति-परक रचना है।

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ नाथ-पंथ और संत-संप्रदाय की हैं। इनकी भाषा हरियानी का रूप प्रस्तुत न कर तत्कालीन प्रचलित अवधी भाषा का स्वरूप ही प्रगट करती है—

'देखि भूमि उज्ज्वल सुधराई। वन जंगल सोभा सुधराई ॥ मस्तनाथ चरित्र

हरियानी का लोक-साहित्य समृद्ध है, पर उसकी भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, अतः उसके आधार पर किसी काल-विशेष की हरियानी भाषा के स्वरूप का स्पष्टीकरण संभव नहीं है।

हरियानी भाषा के मध्यकालीन स्वरूप की खोज में दक्खिनी-हिन्दी सर्वाधिक सहायक हो सकती है। चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दिल्ली के सुलतानों ने दिल्ली, हरियाना और कुरु-प्रदेश के लोगों को ले जाकर दौलताबाद और उसके आस-पास के क्षेत्र में बसाया था। ये लोग अपने साथ अपनी भाषा भी ले गये और निरन्तर उसका प्रयोग करते रहे। इसमें कई कवि भी थे। दक्षिण में गुलवर्गा, बीजापुर, गोलकुंडा, बीदर और बरार नाम से पाँच स्वतन्त्र राज्य बने, जहाँ उन कवियों को प्रश्रय मिला। औरंगजेब द्वारा इन पाँचों राज्यों को विनष्ट कर देने के बाद हैदराबाद में स्वतंत्र निजाम राज्य की स्थापना १७२३ ई० में हुई। यहाँ के कवि और लेखक अपनी भाषा को हिन्दी या हिन्दवी कहते आ रहे हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने इसे 'दखिनी-हिन्दी' नाम दिया। इस दखिनी-हिन्दी के प्रायः सभी लेखक और कवि मुसलमान हैं, जिनका झुकाव अपनी रचना में अरबी फ़ारसी के शब्दों के समावेश की ओर अधिक रहा। यद्यपि इस प्रवृत्ति के विरोध में क्षीण स्वर भी सुनाई पड़ते हैं और कुछ ने अरबी फारसी के शब्दों को पृथक् रखने का प्रयत्न किया, पर यह प्रयत्न सफल न हुआ और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अरबी-फ़ारसी की पदावली से बोझिल, उर्दू

१. जन साहित्य—लोकसमास विशेषांक अक्तूबर-नवम्बर १९६५ पृ० ३६७-३८०

ने साहित्य तथा प्रशासन में अपना सुदृढ़ स्थान बना लिया। इस क्रम में चार सौ वर्ष लगे। इन चार सौ वर्षों में भाषा का जो रूप ढलता रहा. उसका साँचा तो उन्होंने दिया था जो चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली से जाकर दौलताबाद बसे थे।

उत्तरी भारत के अमीर खुसरो की पहेलियों और मुकरियों की भाषा खड़ी बोली हिन्दी कही जाती है, पर उनके मौलिक रूप की उपलब्धि में सन्देह है। इंशा अल्ला खाँ की 'हिन्दवी छुट' वाली 'रानी केतकी की कहानी' सन् १७९८ और १८०३ ई० के मध्य लिखी गई। यही वह समय था जब हिन्दी और उर्दू ने अपना पृथक् पृथक् मार्ग चुन लिया था। इससे पूर्व की हिन्दी रचनाओं के लिए दखिनी-हिन्दी के साहित्य का महत्त्व बढ़ जाता है, जिसमें चार सौ वर्ष पूर्व से ही हिन्दी की रचनाएँ मिलने लगती हैं। ये रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों में हैं।

मुस्लिम दरबारी वातावरण के कारण अरबी-फारसी के शब्द इसमें आरम्भ से ही मिलते हैं, परन्तु इसकी आधारभूत बोली के कुछ उद्धरण अपने मौलिक रूप में यहाँ उपलब्ध हो जाते हैं। इन्हें कौरवी कह कर भाषा-वैज्ञानिकों और हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने छुट्टी पा ली है। उर्दू-साहित्य में उसे देहलवी बोली कहा जाता रहा है, जिस पर उर्दू ने आकार प्राप्त किया। दिल्ली, खड़ी बोली या कौरवी का क्षेत्र नहीं अपितु हरियानी का क्षेत्र है। हरियानी के समीपस्थ मुजफ्फर नगर, सहारनपुर और मेरठ का कुछ क्षेत्र खड़ी बोली या कौरवी का है, परन्तु कौरवि का शेष क्षेत्र हरियानी से संलग्न नहीं है। अतः दखिनी-हिन्दी की आधारभूत बोली हरियानी हो है। कुरु प्रदेश की बोली का भी यत्किंचित् योगदान हो सकता है क्योंकि दिल्ली और हरियाना के कुछ संलग्न क्षेत्रों में वह बोली जाती है और उसका कुछ प्रभाव दखिनी हिन्दी पर दिखाई भी पड़ता है। इस क्षेत्र के कुछ लोग भी दक्षिण गये होंगे। दखिनी-हिन्दी की आधारभूत बोली में हरियानी की खोज से यह निष्कर्ष सहज ही निकल सकता है कि वर्तमान उच्च हिन्दी के निर्माण में उसका उल्लेखनीय योगदान है।

हरियानी और कौरवी की अधिकांश शब्दावली समान है। वाक्य-रचना की प्रक्रिया भी समान है। इन दोनों के मौलिक अन्तरों की खोज प्राथमिक आवश्यकता है, जिनके आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय किए जा सकते हैं। हरियानी और कौरवी के ध्वनिग्राम समान हैं। दखिनी-हिन्दी की आधारभूत बोली की खोज में एक कठिनाई यह भी है कि उसकी सभी रचनायें फारसी लिपि में प्रस्तुत की गई हैं, जिसमें द्वित्त्व वर्णों को भी एक ही वर्ण द्वारा व्यक्त किया गया है जैसे 'आट्टा' का 'आटा'। पढ़ते समय छन्द के आग्रह से संयुक्त ध्वनियों का आभास मिलता हैं। दखिनी हिन्दी में 'ण' के स्थान पर 'न' ही मिलता हैं, विकास और फारसी लिपि दोनों ही इसके लिए उत्तरदायी हैं। इन कठिनाइयों के होते हुए भी इन चार सौ वर्षों में लिखी गई रचनाओं से कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं, जो तत्कालीन हरियानी के हैं और वर्तमान हरियानी के निकटतम या सदृश हैं। मोटे टाइप के अंश द्रष्टव्य हैं—

१. ख्वाजा बंदा नेवाज (१३२८ ई०-१३८६ ई०) दिल्ली से दौलताबाद गये थे। इनकी 'मेराजनामा' एक गद्य-रचना है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—'अगर उसमें ते एक पर्दा उठ जावे तो उसकी आँच ते मैं जलूँ। होर एक बक्त ऐसा होता है, समझो

और देखो, बेपर्वा अँधेरे के उजियाले के आरिफान[1] पर है।

२. शाह मीरांजी (मृत्यु १४८४ ई०) ने 'सबरस' गद्य में लिखा। इसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

इसका काम उस पर नहीं खुल्या, सो तुझपर क्या खीलेगा। तू क्या समझ कर भूल्या है? बहुत सिखेगा तो इधर-उधर कियाँ दो चार हिकायताँ। इन हिकायताँ सों क्या हासिल ?।

३. अशरफ ने १५०३ ई० में अपना काव्य 'नौसिर हार' लिखा। नानक और सरदास के बीच के काल में विद्यमान इस कवि ने अपनी काव्य-भाषा को हिंदवी कहा है—

नजम लिखूँ सब मौजूं आन। यों मैं हिंदवी कर आसान। इस समय अरबी-फारसी शब्दावली से बोझिल हिन्दी या हिंदवी कठिन समझी जाती होगी।

४. फीरोज (१५६४ ई०) ने 'तौसींफनामा' में कहा है—

मेरा पीर मखदुम जी जग मनें। मँगुँ न्यामता (मैं सदा) उसबशें।
वही फूल जिस फूल की बास तूँ। वही जीव जिस जीव की बास तूँ।

५. साहबुरहानुद्दीन (जन्म १९४३ ई०, रचना काल १५८२ ई०) ने अपना भाषा का हिंदवी न कह कर हिन्दी कहा और उसकी प्रशंसा की—

यह सब बोलूं हिन्दी बोल। पन तूँ अनभौ सेनी खोल।
ऐब न राखें हिन्दी बोल। मानें तू चख देखे खोल।
हिन्दी बोलो किया बखान। जेकर फसाद अथामुंज ज्ञान।
तूने देख्या आप स आप। बे घड्या यह तुज पाप॥

६. महाराष्ट्र के महात्मा एकनाथ (१५४८-१५९९ ई०) भी अपने गुरु जनार्दन स्वामी के पास बारह वर्ष तक देवगिरि (दौलताबाद) रहे। उनकी हिन्दी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

डंख मारा बे डंख मारा। सो बड़े-बड़े कूं नहीं उतारा।
ग्यानी कूं ग्यान लगाऊँ। लोभे आँधे कूँ उड़ाऊँ॥

७. शाहअली (मृत्यु १५६६ ई०) सूफी सन्त थे।

हासिल सब कुरान का है इतना जानो।
वहम दुइ का दूर करो होर मुझे पछानो।

८. वजही (१६०९ ई०) की 'कुतुब मुश्तरी' में दो हजार शेर हैं। इनमें से कुछ तो विशुद्ध हरियानी के हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में हरियानी के द्वित्व व्यंजन छन्द के आग्रह से स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं —

जिता चोरी कर चोर अपे साव होय। दगाबाज उचक्के कूं माने कोय।
चुरा कर चुराता न कह जोर कोय। यो बाँता समझते सो है होर कोय॥
जे कुच तुज कूं होना सो हाजिर है सब। उसासाँ जो भरता सो तूँ क्या सबब।
दुनियाँ के सो लोगों में वफा दीसता नैं। धुंध दीखे जफाबाज दिसता नहीं॥

---

१. ज्ञानी लोग।

वजही के गद्य-काव्य 'सबरस' (समाप्तिकाल १६३५ ई०) को राहुलजी ने हिन्दी का प्रथम गद्य काव्य माना है। तुलसीदास की मृत्यु के बारह वर्ष बाद इस ग्रन्थ की समाप्ति हुई। इसकी सैकड़ों गद्य-पंक्तियाँ हरियानी की हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

योबी एक चोरी है, योबी एक हरामखोरी है ॥
वहां के लोकां कूं पूछया कि 'इस जागां कूं क्या कते (कत्ते = कहते) हैं ॥
कैं तुजे कुछ काम मुश्किल पड़े, तो यो बाल आग पर जाल ॥
यों बोल बोल लट भौत लम्बी भौत बडी, वहाँ ते पेचां खाते खाते कमर पर चडी ॥
खुश्बोई की डौरी छुटी, चौधर बास की महकार उठी। दो चार प्याले शराब
कता हूं सुनो कान घर लोग हो। कहावत मने बात जो आये सो।
परख देके तूँ काँच होर पाव कूँ। बराबर न कर दूद होर छाच कूं ॥
पिये, दुनियाँ में जो कुछ करते सो गये ॥

९. मुहम्मद कुली कुतुब (१५८०-१६१२ ई०) गोलकुंडा का बादहाश था। इसके काव्य में वर्ण्य-विषयों की बहुविधता है। इसने लिखा है—

हरचा शीशा हरचा प्याला, हरचा कसबत,[1] हरचा जोबन।
हरचा ज्वानी, हरचाली में न यां मोत्यां के हारां कर ॥
तेरी बातां, तेरी धातां तेरी रीतां अहै बहु घात ॥[2]
'सख्यां सब ग्वाही हैं ॥' 'कि पुत्ल्यां म्याने दिस्ती है ॥' आदि।

१०. अब्दुल (१६०३ ई०) ने चौदह विषयों का वर्णन किया है। वह अपनी भाषा को देहलवी कहता है—

जबां हिंदवी मुजसों होर देहलवी। न जानूँ अरब होर अजम मस्नवी[3] ॥

११. अमीन (१६२० ई०) में 'बहराम-हुस्नबानूं' की कथा लिखी है। इसकी कुछ पंक्तियां हैं—

'सहेल्यां जो थ्यां तीन उसके सँगात।'
'बहु सुन शाह वां सेती आया बहार।'

१२. गौवासी (१६२० ई०) दक्खिनी-हिंन्दी के तीन प्रभुख महाकवियों में से एक है। वह गोलकुंडा का राज कवि था।

'जे कुच ख्वास्त तेरा है सब उस पे छोड'। दुन्यां के इलाके ते तूं दिलकूं तोड।
'मुंज हाल उस ठार पैदा हुआ।'
'पिरोने लग्या बैस[4] आप हात सों। रँगा रँग हारां बहुत भाँत सों।'

---

१. परिधान, खिसक जाना
२. प्रकृति, ढंग
३. फारसी
४. माला

'पड़्या था अकेला दु:खी बेकरार।'
'कमर में ते वैं अपने खंजर कूं काड। गया आपना पेट लेने कूं फाड॥'
'पिछान्या कि साअद वफादार है।'
'हवा पर चल्या दौड पँख मार-मार। रख्या मुजकूं ल्याकर सो इस ठार उतारा।'
'यकेला अपें काड ल्याया अथा। सो माँ बाप सों ल्या मिलाया अथा।'
'बडा रन पड़्या सख्त रगड़ा हुआ।'
वुढा ढोंढा था सो हुआ फिर जवान।'
'जधां ते जो तूं लेव कर वो गया। तधां ते खलल बर तरफ हो गया।'
'कह्या तूं क्यों इस ठार आया कना।'[1]

१३. मुकीमी ने (१६२७ ई०) 'चन्द्रवदन-महियार' प्रेम कथा लिखी है। इसकी एक पंक्ति है—

'कया जा उसे 'ए दिवाने बशर।[2] कहां सूं तु आया चल्या है किधर।'

१४. कुतुबी (१६३४ ई०) ने शेख युसुफ देहलवी की धार्मिक पुस्तक 'तोहफ्तुन्नसाहय का दक्खिनी हिन्दी में पद्यबद्ध अनुवाद किया है—

यूं पर जो बारी ज्वाब दे दायम रहे सर बांध कर।

१५. सनअती (१६४५ ई०) के समय अरबी-फारसी शब्दावली का इतना अधिक प्रयोग होने लगा था कि हरियानी और कौरवी की उपेक्षा होने लगी। सनअती ने 'दखनी जबाँ' को आसान कहा—

जिसे फारसी का न कुल ज्ञान है। सो दखनी जबां उनकूं आसान है।'

यह 'दखनी-जबां' हरियानी पर आश्रित है—

'न तुज सारखां रंग कोई रंग सके।'
पडेयक पे यक रन मैं कै ठाट-ठाट। सुं बोले सुटे ताड के झाड काट।

१६. खुशनूद (१६४६ ई०) की पंक्तियाँ हैं—

'दिस्या मुज एक ठार ओ ऊँट आया। वहाँ के शाख-पात वो तोड खाया।'
'जुगाल उसका पड़्या था एक किनारे। बहुत पाता झडे थे उसमें सारे।'

१७. रुस्तमी (१६४९ ई०) के 'खावरनामा' प्रेम कथा की एक पंक्ति है—

'न देख्या किसी मर्द इस सात में।'

१८. निशानी (१६५६ ई०) की रचना 'फूल बन' में अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है, परन्तु जो पंक्ति ऐसी शब्दावली से मुक्त है उसमें हरियानी की झलक देखी जा सकती है—

'पिरित का थंड होर बारा[3] लग्या सो।
'है सात्रा सो पे दो बीस आर[4] (१७४४) वेतां।'

---

१. कहना
२. आदमी
३. वर्षा
४. चार (च्यार-आर)

१९. नस्रती का स्थान सारे दक्खिनी कवियों में ऊँचा है। इनकी शब्दावली है—

'सोने मंगे तो धरम दुक ना तन में उपरी ल्हो छिटक।'

'ऊनों क्यां सख्याँ चूँकि सौ साथ थ्यां। इनो के कने भी इसी घात थ्यां।

'यो सब सच कतो हूँन को जान झूट।'

'तेरी सिफत सब थाकई बोल्या हुँ आपे जोड़ में।'

'कता हूँ एता फौज देहली की बात। चौंधेर ते यों चिगियाँ उडियाँ।

यकत ठार खातिर में चल्या यक तरफ। वठ्यां मिल के दोनों अधिक वर शरफ॥'

२०. तबई (१६७० ई०) ने 'बहरानो-गुलनन्दाम' केवल चालीस दिनों में लिखा था जिसमें १३४० शेर हैं—

'कता हूँ सुनो कान धर लोग हौ। महावत मने बात हो आप यो।'

२१. इस्रती (१६६२ ई०) बसरा में पैदा हुए थे। १२ साल की उम्र में बीजापुर आये और 'चित लगन' 'नेह दर्पन' तथा 'दीपक पतंग' की रचना उन्होंने की।

'समज सच तु दो दिन के बिछड़े का रोग। मुंज आशिक उपर जिन सुट्या प्यास भूक।'

'जलेव्यां के निछल शीरी पे रख आंख। झजरसे पट्टियाँ के शहद रहे झांक।'

२२. जईफी (१६८९ ई०) अपनी रचना 'हिदायत-हिन्दी' का काल बतलाते हैं—

'सदी बारहवीं का लग्या था बरस।'

२३. मुहम्मद अमीन (१६९७ ई०) में 'यूसुफ-जुलेखा' लिखा।

'इग्यारा सौ उपर जब नौ गुजरे।'

२४. वल्दी (१७०३ ई०) ने 'पंछी वाचा' लिखा। उनकी पंक्ति हैं—

के पड़े हैं इस वजा गफलत मनें। कुफ्र है जो मुल्क होर मिल्लत मने।'

२५. वली दकनी (१७०५ ई०) की भाषा ने पूर्णतः उर्दू के निजी स्वरूप की विशेषताएँ स्थापित कर लीं। वृन्द, लाल, घनानन्द, नागरीदास आदि हिन्दी कवि इनके समकालिक हैं।

'ऐ यारे मन बहला हैगा। बीच उस्के बहुत जफा होगा।'

२६. वली के बाद भी हरियानी प्रभाव के दर्शन हाशिम अली (१७३७ ई०) की कविताओं में होते हैं—

'क्योंकर पिछानूं मुझकूँ बता जाओ कुछ निशाँ।'

'ल्हो मरा क्यों तेरा चंदरमुख है।'

२७. बाकर आगाह (१७४५-१८०५ ई०) की सत्रह कृतियां हैं। वे दक्खिनी में कहते हैं—

'थे बारा सो के ऊपर छ बरस जब।'

'मुसाफिर कुं पौंचाने जाता था वो।'

२८. तुराब दखिनी (१८४० ई०) ने अपनी रचना का नाम ही 'बारा बहार' रखा है। कुछ पंक्तियां हैं—

'न समजी ओ हुआ सो देख बेहाल।'
'भौत आलम में हैं स्याने–दिवाने।'
तुम कां गये थे खत लिखने की खातिर।'

ऊपर दिये गये उद्धरण[1] दक्खिनी हिन्दी के हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि ये सभी लेखक मुसलमान हैं, मुसलमानी दरबारों से सम्बन्धित हैं तथा अरबी-फारसी के साहित्यिक-वातावरण से प्रभावित हैं, इन उद्धरणों तथा इनकी कृतियों में प्राप्त हरियानी के अन्य उद्धरणों का विश्लेषण अधिक उपयुक्त होगा। भाषा में 'ण' की प्रचुरता अपभ्रंश काल से ही चली आ रही है, जिसका प्रचुर प्रयोग राजस्थानी और हरियानी में अब भी होता है और यह 'न' का स्थानापन्न है। उच्च हिन्दी में 'न' का प्रयोग होता है, जैसे 'जाणां' के स्थान पर 'जाना'। 'भू' धातु' का 'हू' मे परिवर्तन पालि-काल में ही हो चुका था। वर्तमान हरियानी में 'हू' और 'सू' दोनों का प्रयोग प्रचलित है। उच्च हिन्दी मे 'सू' का प्रयोग नहीं होता। 'ल' का परिवर्तन हिन्दी की अन्य बोलियों मे 'ड़' 'र' और 'स' के रूप मे उपलब्ध होता है। जैसे 'निकलना' का निकड़ना, निकरना, निकसना आदि; पर आदि 'न' का 'ल' मे परिवर्तन हरियानी के कुछ शब्दों मे मिलता है, पर इनका प्रयोग कम हो गया है जैसे—लिकड़ना। हरियानीं की 'नै' विभक्ति हिन्दी में 'ने' ही प्रयुक्त होती है। हरियानी के उच्च हिन्दी में परिवर्तन की इस प्रक्रिया में ये तथ्य मोड़ की स्थिति के सूचक हैं। हरियानी की शेष विशेषताओं के दर्शन ऊपर के उद्धरणों में किये जा सकते हैं।

परसर्ग—

ऊपर के उद्धरणों में कर्त्ता के परसर्ग०, नैं और ने मिल जाते हैं। कर्म के परसर्ग०, कूं, कुं और नैं, दिखाई पड़ते हैं। 'कू' का प्रयोग 'को' के अर्थ में कौरवी के भी सभी क्षेत्रों में उपलब्ध नहीं होता। इसका प्रयोग जिला मुजफरनगर तथा मेरठ के मवाना तहसील के क्षेत्रों में ही होता है, जो हरियाना के संलग्न क्षेत्र हैं। करण के–सों, ते, कने, सेत्ती और सेती में अन्तिम दो हरियानीं के विशेष परसर्ग हैं। संप्रदान के परसर्गों में–की खातिर, की ल्यां और 'की खात्तिर' के रूपान्तर 'की आसते (वास्ते)' दखिनी हिन्दी में प्रयुक्त हुए हैं। अपादान में—ते, सूं, सों, स, धोर तें—का प्रयोग मिलता है। धोर, धोरें, धोरें ते, का प्रयोग आज भी हरियानी में अधिक मिलता है। सम्बन्ध के—कर, का, कियां (स्त्रीलिंग की), के, की, रा, रे, री—में कियां उल्लेखनीय है। अधिकरण में प्रयुक्त परसर्ग हैं—में, मैं, म्यानें मनें, पर, पे, ऊपर आदि। इनमें में, मैं का परिवर्तित रूप है। सम्बोधन के लिए—ऐ, हो, रे, र, बे का प्रयोग हुआ है। हो और बे का प्रयोग वर्तमान हरियानी में भी होता है। शेष सम्बोधन उच्च हिन्दी में भी मिलते हैं।

हरियानी में दो कारकों के परसर्गों का प्रयोग एक साथ बहुत दिखाई पड़ता है, हिन्दी में ऐसे प्रयोग केवल उन अव्ययों के साथ ही मिलते हैं जो परसर्गों की भाँति प्रयुक्त होते हैं। दक्खिनी हिन्दी में हरियानी भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार ही–में ते, पर सों, सात में (साथ

---

१. देखिए—दखिनी हिन्दी काव्यधारा-राहुल सांकृत्यायन

में), के ऊपर, पास तें, उपराल, भीतर, बहार (बाहर) और धोरें के साथ अन्य परसर्ग मिला कर प्रयुक्त हुए हैं ।

सर्वनामों—में उत्तम पुरुष एक वचन के रूप–मैं, में, मुज, मुजे, मुझे, मेरा तथा बहुवचन में 'हमन' मिलते हैं । यह हरियानी के प्राचीन रूप 'म्हानैं' और वर्तमान रूप 'हमनै' के लिए प्रयुक्त हुआ हैं । मध्यम पुरुष के—तुज, तुझ, तूं, तू, तुमन-रूप मिलते हैं । अन्य पुरुष सर्वनाम के रूप हरियानी के अधिक समीप हैं—उस, इस, सौ, यह, यो, वो (वह) ओ तथा बहुवचन रूप उन, इन, (स्त्री०) यां—प्रयुक्त हुए हैं । तिर्यक्‌रूप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—हिन्दी इन्होंने, उन्होंने के स्थान पर इन्नै, उन्नै तथा इनन, उनन का प्रयोग हरियानी का है । स्त्रीलिंग का उनौं क्यां भी हरियानी का है । अन्य प्रकार के सर्वनामों में—क्या, किस, जिस, जे, जेकर, जो, इतना, जिता (जित्ता) कैं; वां, जां, कौन, कुछ, कुच, कैसे क्योंकर, कोई, वैं, तन (तिन) को एता (एत्ता), जिन, जेतें, केतक, जँधा, तँधा, अब, कधीं, कहीं, इधर-उधर आसपास—आदि कुछ उच्च हिन्दी के, कुछ कौरवी और हरियानी दोनों के और कुछ केवल हरियानी के हैं ।

निषेध वाचकों में—नहीं, नैं, न और ना हैं; जिनमें 'ना' का प्रयोग हरियानी में अधिक होता है ।

विशेषणों में—ऐसा, बड़े-बड़े, बड़ी, लम्बी, थोड़े, हरचा सभी हरियानी में प्रयुक्त होते हैं पर हरचा (हरा) विशेष उल्लेखनीय हैं ।

संख्यावाची—एक, दो, तीन, चार, आर, छ, नौ, इग्यारा (ग्यारा), बार, बारा सत्रा, बीस, सो, सौ, हजार, दुई, दोनों, बारवीं और बार सौ में से कुछ ऊपर के उद्धरणों में भी प्रयुक्त हुए हैं । ये सभी वर्तमान हरियानी में भी इसी रूप में मिलते हैं ।

योजकों में—कै, तो, ज्यों-त्यों, यों जिव (ज्यूं), होर, ओर, बी (भी), कि आदि कुछ हिन्दी रूप ग्रहण कर चुके हैं, कुछ फारसी लिपि के कारण भिन्न प्रतीत होते हुए भी हरियानी के हैं जैसे—जिव (ज्यूं) ।

क्रियापदों के रूप—कौरवी की अपेक्षा हरियानी के अधिक सदृश हैं । वर्तमान रूपों में मूल क्रिया के रूप हरियानी के ही हैं—

(क) जानूं, मंगू, मंगु, बोलूं, रखूं, लगाऊँ, पिछानूं, जलूं ।

(ख) जावे, माने, रहे, सके, समजते ।

(ग) वार सूँ, हार सूं, लग्या से ।

(घ) बोल्या हूँ, रया है, कता हूं, दिस्ती है, दिसता, भरता (होना सहायक क्रिया से युक्त या रहित रूप) ।

इनमें से प्रथम तीन वर्ग की क्रियाएँ हरियानी की हैं । चतुर्थ वर्ग की क्रियाओं में सहायक 'हू' धातु का रूप मात्र हिन्दी का है ।

भूत काल के रूपों में यह थोड़ा अन्तर भी दिखाई नहीं पड़ता । जैसे—किया, कह्या कया, कै (कहे); खुल्या, घडचा, चडी, चल्या, छुटी, झडे, जोड्या, तोड्या, देख्या, दीखे

दिस्या, दिया, पड्या, पाड्या, पडे, पीये, पिछान्या, पूछ्या, फुग्या, बोले, बठ्यां, बिछड़े, भूल्या, मंगे, मारा, मिले (मिल्ले), सोते (सोये पड़े थे), रख्या, लग्या, ल्यायी आदि ।

भविष्य काल के रूपों में भी खोलेगा, गया, जीवैगा, सिखेगा, हैगो, आदि हरियानी के उपलब्ध होते हैं ।

संभाव्य—करते, होता दिसे, तथा आज्ञा रूप कर, करो, काट, काड, खोल, छोड़, जाओ, जानों, जाल, (डाल), तोड, देख, पछानो, पिछान, बोलो, समज, सुनो और विध्यर्थ जाय, टाल्या जावे, देके (देखे) संभाले आदि रूप विशुद्ध हरियानी हैं ।

वाक्य-विन्यास और वाक्य-रचना की प्रक्रिया हिन्दी, कौरवी और हरियानी में एक समान है । कौरवी में बहुवचन बनाने की रीति हिन्दी के समान है । बहुवचन शब्द एकारान्त या ओकारान्त होते हैं । हरियानी के बहुवचन रूप आकारान्त या आँकारान्त होते हैं । दक्खिनी हिन्दी की प्रक्रिया हरियानी के सदृश है, कौरवी के सदृश नहीं । निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं—आँख—आँख्याँ, उसासां, चिंगियाँ, गोतियाँ, जलेब्याँ, दुनियां दुन्यां, दावां, न्यामतां नाजुकियां, पेचाँ, पुतली-पुल्याँ, बातां, बिजल्यां, बेतां, बुस्तां, मोत्यां, रीतां, लोक-लोग, लोकां लोगां, स्वाद भरियाँ, सख्यां, सहेल्यां, हिकायतां, हारां आदि ।

लुप्त-विभक्तिक पदों के प्रयोग भी हरियानी के सदृश हैं । जैसे—इसी साथ (इसी के साथ), किसी (किसी ने) आदि ।

उपसर्गों—में 'बे' का प्रयोग जितना हरियानी ने अपनाया है, उतना उच्च हिन्दी ने नहीं । दक्खिनी हिन्दी में तो अरबी-फारसी पदावली के कारण इसका प्रयोग अधिक हुआ ही है ।

हरियानी की महाप्राण ध्वनियाँ—रह, ल्ह, क्ह, ळ्ह, व्ह, न्ह, ण्ह, म्ह—हैं । ल्ह और और र्ह का प्रचुर प्रयोग दक्खिनी हिन्दी में मिलता है । दो से अधिक स्वरों के साथ-साथ पृथक् प्रयोग भी हरियानी और दक्खिनी हिन्दी में समान हैं, जैसे—आइयाँ, पाइयाँ, भरियाँ, उड़ाऊँ आदि ।

शब्द-भण्डार—की दृष्टि से हरियानी और दक्खिनी हिन्दी में प्रवृत्ति-भेद के कारण भिन्नता है । एक जनभाषा है और दूसरी का झुकाव अरबी-फारसी के शब्द-चयन की ओर अधिक है, फिर भी ऐसे शब्दों की विस्तृत सूची प्रस्तुत की जा सकती है जिनका प्रयोग दोनों में उपलब्ध हो जाता है—

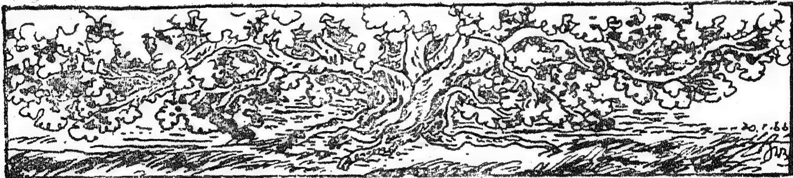
अकास, अँधारे, आसान, अनभी, आँधे, आशिक, आँच, आग, अकल, अजब, अधिक, इलाके, इश्क, उचक्के, ऊँट, एकट, ऐब, ऐश, औरत, कमर, कोठरी, ख्याल, खियाल, ख्वास्त ग्यान, ग्यानी, ग्वाही, गफलत, चख, चोर, चोरी, चुराता, चतुर, चौधर, चौंधेर, चंदरमुख, छाच, छबीला, जीव (जी), जोडा, जोड, जागां (जगह), जमाने, जीवां, जवाँ, ज्वान, ज्वाब, ज्वानी, जोबन, जफा, झाड, झूट, झजर, टुक, ठाँ, ठार-ठार, ठाट-ठाट, थंड, डंख, डोरी, डूंगर, तन, तख्त, तोता, ताड, धुंद, घातां, दंद, दीवा, दिवाने, नजर, नजीक, निपट, निबल, नवें, निछल, निशां, पर्वा, बेपर्वा, पर्दा फसाद, फर्जन्द, फिकर, पिरित, परान, बोल,

बाल्ल, बास, बाग, बेखबर, बेटी-बेट्टा, बुढा-ढोढा, बारीं, बुलबुल, बरस, भीत, भँवर, भाँत, भरी, मुश्किल, मर्द, मस्ती, मती, माँ-बाप, मुसाफिर, मूँ, यकायक, यकत, यकेला, यार, रगे-रग, रोज, बजा (बजह), बले (भले), स्याने, सख्त, सरै, सारखा, सच, सर्सरी, सुन्ना (सोना), सुगड, शौ (शौहर), शाख-पात, हासिल, हाजिर, हात (हात) हरयाली, हाली, हाल, हरामखोरी, हिन्दी आदि संज्ञार्थक प्रयुक्त क्रिया रूप—होना, खेलनै, पतियाना, पौंचाने; समान हैं। पूर्वकालिक क्रिया के रूप 'कै' और 'कर' के साथ भी प्रयुक्त हुए हैं और इनके विना भी; जैसे—जाकै, काड कर, दे बोली, आन, सुन, काड, मार-मार, ढूढती, ल्याकर आदि ! ये प्रयोग हरियानी और दक्खिनी हिन्दी में एक समान हैं।

संयुक्त क्रियाओं के रूप में सर्वाधिक साम्य है—काड ल्याया था, ल्या मिलाया था, कना समाया (कहना पल्ले पड़ा), सो रह्या, पड्या था, खोल देखन लग्या, तोढ खाया, पिरोने लग्या, दौढ चल्या, संभाल्या जाये आदि।

कानधर, दगदगे में पाड, (सन्देह में डालना), के पडे है, ल्हो मरा, ढूंढ काडूं, चड बैठा है, प्यास-भूक सुटचा, आँखे खोल देखे, दौड चल्या, रन पड्या, रगड़ा हुआ, हँस वड्या, छंद-बंद, स्याने-दिवाने—जैसे हरियानी के लाक्षणिक प्रयोग भी दक्खिनी हिन्दी में मिलते हैं।

ऊपर गद्य-पद्य दोनों के उद्धरण दिये गये हैं। पद्यात्मक उद्धरणों का अन्वय करके या उन्हें गद्य-रूप दे कर पढ़ने से वर्तमान हरियानी के साथ उनका सादृश्य और अधिक स्पष्ट हो जायेगा। जो अन्तर दिखाई पड़ते हैं, वे काल-भेद के कारण प्रतीत होते हैं। और अधिक अनुसंधान के लिए उद्धृत कवियों की रचनाओं का गम्भीर एवं भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है। हिन्दी के वर्तमान रूप के विशेषतः दक्खिनी हिन्दी के निर्माण के आधार रूप में हरियानी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।



हरियाणा के आधुनिक संस्कृत साहित्यकार

सत्यव्रत शास्त्री

अनेक शताब्दियों से मौलिक संस्कृत साहित्य की सर्जना भारत में होती है। अनेक कवियों, लेखकों व गवेषकों ने इस पवित्र भूमि को अलंकृत किया है। हरियाणा की भूमि तो इस दिशा से और भी उर्वर रही है। इसी के परमपावन कुरुजांगल प्रदेश एवं सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच बसे ब्रह्मावर्त में सृष्टि के प्रथम चरण में नाना ऋषियों की ऋचाएँ उच्चरित हुई हैं, उनके आश्रमों में ऋषिकण्ठों से उद्गीत वेदमन्त्रों से दिशाएँ अनुनादित हुई हैं, यज्ञकुण्डों से उद्गत धूम ने नभोमण्डल को आच्छादित किया है। न जाने कितने ऋषियों, महर्षियों, सन्तों, महात्माओं व समाज-सुधारकों की यह साधना भूमि रही है।

समय सदा एक-सा नहीं रहता। साधना-भूमि युद्ध-भूमि में परिणत हुई। तपःप्रवृत्ति में विघ्न पड़ा, चिन्तन की गति अवरुद्ध हुई, मानस-मन्थन को भला अब अवकाश कहाँ! शस्त्र खनखनाए, घोड़ों की टापें गूँजीं, योद्धाओं की ललकार सुनाई दी और दिनों, सप्ताहों और महीनों युद्ध चला। रक्त की नदी बह चली और उसी में ही बह गई तपःसाधना और साहित्य सृष्टि।

समय फिर बदला। उसके बदलते ही तपः साधना और साहित्य सृष्टि पुनः लौट आई। यही है संक्षेप में हरियाणा की साहित्यिक गतिविधि का इतिहास--रुकता, ठिठकता, बल खाता इतिहास।

साहित्य सृष्टि के लौटते ही इस देश की आदि भाषा संस्कृत में भी ग्रन्थ रचना होने लगी। गत शताब्दी के अन्तिम अथवा वर्तमान के प्रथम चरण में संस्कृत में जो नवीन साहित्य धारा प्रवाहित होनी प्रारम्भ हुई सो अब तक चली आ रही है। अनेक साहित्यस्रष्टाओं ने अपने साहित्य जल से इसे समृद्ध किया है।

इन साहित्यस्रष्टाओं में विशेष उल्लेखनीय हैं भिवानी के स्वर्गीय विद्यामार्तण्ड पण्डित सीताराम शास्त्री जिनका वैदुष्य दूर-दूर तक विख्यात है। इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है यास्क कृत निरुक्त की सरल एवं सुबोध शैली में हिन्दी में व्याख्या। यह व्याख्या तीन खण्डों में प्रकाशित हुई है। द्वितीय खण्ड के आदि में विस्तृत भूमिका भी है जिसमें निरुक्त सम्बन्धी प्रश्नों पर गहन विचार किया गया है। पण्डितजी की निरुक्त की इस व्याख्या का विद्वत्समाज में बहुत स्वागत हुआ है।

पण्डित जी ने हिन्दी में श्रीमद्भगवद्गीता की एक भक्तिप्रधान व्याख्या भी लिखी है, जिसका शीर्षक उन्होंने श्रीगीताभगवद्भक्तिमीमांसा दिया है। ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"इस सम्पूर्ण गीता-शास्त्र में सब स्थानों में उस एक भक्ति-तत्त्व का ही प्राधान्य से उपदेश है। इससे हम यही निर्णय करते हैं कि यह गीता श्रीमद्भगवद्भक्तिगीता ही है।"

इन पक्तियों में उन्होंने अपना मत स्पष्ट कर दिया है। उनकी दृष्टि में श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भगवद्भक्तिगीता ही हैं।

पण्डितजी ने साहित्यशास्त्र पर दो ग्रन्थ भी लिखे हैं। एक साहित्योद्देश नाम से संस्कृत में प्रतिपादित सिद्धान्तों की हिन्दी में सविस्तर व्याख्या प्रस्तुत करता है। साहित्योद्देश के निर्माण में विद्यार्थियों को सरल से सरल उपाय द्वारा साहित्यशास्त्र का ज्ञान कराना पण्डितजी का प्रेरक रहा है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिये गये चार श्लोकों में उन्होंने इस अभिप्राय को स्पष्ट भी कर दिया है। उन्होंने कहा है—

त्वरया पारमिच्छूनां गन्तुं भिन्नार्थभासिनाम्।
शास्त्राब्धीनामनायासं छात्राणां गृहगामिनाम्॥
कीदृङ्निबन्धसङ्धानां निर्माण - कार्यमृद्धये।
कालेऽन्तरायसङ्कीर्णे विद्वद्भिरुपकारिभि :॥
तन्निदर्शनमेतन्मे पण्डितानां समर्हणम्।

ग्रन्थ में कतिपय मानचित्र भी दिये गये हैं जिनसे विद्यार्थी को विषय सुगमता से समझ में आ सकता है और उसे स्मरण रखने में भी सहायता मिल सकती है। शास्त्री जी ने साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण एवं दशरूपक इन सुप्रसिद्ध साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर किया है। पण्डितजी ने इन सभी ग्रन्थों से सहायता ली है। इतने अंश में उनके ग्रन्थों में मौलिकता नहीं है। उनकी विशेष मौलिकता है विषयों के वर्गीकरण में एवंच मानचित्रादि के माध्यम से उनके स्पष्टीकरण में। अपने ग्रन्थ (साहित्योद्देश) को पण्डित जी ने तीन भागों में विभक्त किया है—प्रथम पदार्थोद्देश में काव्य, शब्द, अर्थ, वृत्ति आदि त्रयोदश काव्य-शास्त्रीय पदार्थों का निरूपण है, द्वितीय काव्यभेद में साहित्य दर्पण के षष्ठ परिच्छेद के अनुसार दृश्य और श्रव्य काव्यों का बर्णन हैं; तृतीय नाट्यपदार्थविभास में दशरूपक के अनुसार नाट्यपदार्थों का वर्णन है। ग्रन्थ के अन्त में कतिपय परिशिष्ट दिये गये हैं जिनसे इसकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है।

पण्डित जी ने सांख्यदर्शन की हिन्दी में एक व्याख्या भी लिखी है जो कि विषय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से बेजोड़ हैं। पण्डितजी वेद के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे (यद्यपि इस दिशा में लिखा उन्होंने विशेष नहीं है)। नाना विषयों में उनकी गति थी। उनकी अगाध विद्वत्ता से अभिभूत हो कर ही महामहोपाध्याय पण्डित छज्जूराम शास्त्री ने उनके विषय में कहा था—

'लोके प्रसिद्धनामा सीमाऽऽचारस्य वेदमर्मज्ञः।
जयति भिवानीधामा सीतारामाभिधः शास्त्री॥'[1]

तहसील जींद के रिटोली ग्राम के उपरिनिर्दिष्ट महामहोपाध्याय पण्डित छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर स्वयं भी बहुत बड़े संस्कृत साहित्यकार हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओं में इन्होंने रचनाएँ लिखी हैं। ये नैयायिक भी हैं और कवि भी। अपने व्यक्तित्व में इन दो विभिन्न तत्त्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न विलक्षणता के प्रति ये जागरूक हैं। दुर्गाभ्युदय नाटक में अपनी यह विलक्षणता इन्होंने इन शब्दों में व्यक्त की है—

---

१. साहित्यबिन्दु, तृतीय बिन्दु, पृष्ठ १००।

कर्कशे तर्कविषये कोमले काव्यवस्तुनि ।
समं लीलायते यस्य छज्जूरामस्य भारती ॥[१]

"जिस छज्जूराम की वाणी तर्क के कर्कश विषय में एवंच मनोहर काव्य रचना में एक समान क्रीड़ा करती है ।"

पण्डित जी की सबसे पहली रचना पंचसर्गात्मक सुलतानचरितम् नामक एक काव्य थी जो कि पण्डित जी ने स्वयं देहरादून से संवत् १९६७ में प्रकाशित की थी । इस काव्य में चित्तौड़गढ़ के राजा महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल की कथा वर्णित है । महीपाल का एक दूसरा नाम सुरतान भी था । इसी सुरतान का उच्चारण ही बदलते बदलते सुलतान हो गया था । इस सुलतानचरितम् का संस्करण कभी का समाप्त हो चुका है । अब यह ग्रन्थ दुर्लभ ग्रंथों की कोटि में है । इसके बाद की पण्डित जी की रचना है सात अंकों का दुर्गाभ्युदय नाटक । इसमें भगवती दुर्गा के महिषासुर के साथ संग्राम एवं उसके वध के पौराणिक कथानक का वर्णन है । पण्डित जी ने छज्जूरामायणम् नामक एक अन्य नाटक भी लिखा है जो कि अद्यावधि अप्रकाशित है । शास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय हैं पंडित जी का अलंकार-शास्त्र का ग्रंथ साहित्यबिन्दु जिसका प्रमुख उद्देश्य है छात्रों को सरल रीति से साहित्य शास्त्र का ज्ञान कराना, अलंकारादि के भेद-प्रभेदों की उलझन से बचाना, परिष्कृत संस्कृत द्वारा वाद-युग की प्राचीन पद्धति में प्रवृत्त कराना एवंच साहित्य-शास्त्र को प्रौढ़ विद्या न मानने वाले मत का निराकरण करते हुए उसे (साहित्य शास्त्र को) सब शास्त्रों का सार सिद्ध करना । इस ग्रन्थ की विशेषता को पण्डित जी के सुपुत्र श्री जीवनराम शास्त्री ने इन शब्दों में व्यक्त किया है— "यद्यपि यह ग्रन्थ अल्पकाय है तथापि काव्यशास्त्रवत् नाटकादि भेदों से विरहित नहीं, साहित्यदर्पणवत् विषयविवेचनादरिद्र नहीं, प्रमेयांश को परिष्कृत करता हुआ भी रसगंगाधरवत् दुष्प्रधर्ष्य नहीं, अलंकारकौस्तुभवत् अनुपयुक्त-विस्तार-बहुल नहीं, चन्द्रालोकसाहित्यसारवत् केवल पद्यबद्ध नहीं ।" इस ग्रन्थ की एक यह भी विशेषता है कि इसमें नव्वे प्रतिशत उदाहरण ग्रन्थकार के ही हैं । पण्डितजी के जो ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित हैं उनसे भी इसमें उदाहरण हैं । यथा मुनिविषयक प्रीति के उदाहरण के प्रसंग में छज्जूरामायण से निम्नलिखित श्लोक यहाँ उद्धृत किया गया है—

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं चक्रे रामायणाख्यममृतं यः ।
मुनिवर्यं कविधुर्यं वन्दे वाल्मीकिं भक्त्या ॥[२]

"मैं कविशिरोमणि मुनिवर श्रीवाल्मीकि को भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ जिन्होंने श्रोत्राञ्जलिपुट द्वारा पातव्य रामायण नाम के अमृत की सृष्टि की थी ।"

इस प्रकार सुलतानचरित काव्य से जो सम्प्रति सुतरां दुर्लभ है निम्नलिखित श्लोक विप्रलम्भ शृंगार के उदाहरण के प्रसंग में प्रस्तुत ग्रन्थ में पाया जाता है । इस श्लोक में सुलतान की रानी निहालीदेवी उससे कहती है—

---

१. अङ्क १, श्लोक २, पृष्ठ ३ ।
२. द्वितीय बिन्दु, पृष्ठ ८५.

इन पक्तियों में उन्होंने अपना मत स्पष्ट कर दिया है। उनकी दृष्टि में श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भगवद्भक्तिगीता ही हैं।

पण्डितजी ने साहित्यशास्त्र पर दो ग्रन्थ भी लिखे हैं। एक साहित्योद्देश नाम से संस्कृत में प्रतिपादित सिद्धान्तों की हिन्दी में सविस्तर व्याख्या प्रस्तुत करता है। साहित्योद्देश के निर्माण में विद्यार्थियों को सरल से सरल उपाय द्वारा साहित्यशास्त्र का ज्ञान कराना पण्डितजी का प्रेरक रहा है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिये गये चार श्लोकों में उन्होंने इस अभिप्राय को स्पष्ट भी कर दिया है। उन्होंने कहा है—

त्वरया पारमिच्छूनां गन्तुं भिन्नार्थभासिनाम्।
शास्त्राब्धीनामनायासं छात्राणां गृहगामिनाम्॥
कीदृङ्निबन्धसङ्धानां निर्माण - कार्यमृद्धये।
कालेऽन्तरायसङ्कीर्णे विद्वद्भिरुपकारिभि:॥
तन्निदर्शनमेतन्मे पण्डितानां समर्हणम्।

ग्रन्थ में कतिपय मानचित्र भी दिये गये हैं जिनसे विद्यार्थी को विषय सुगमता से समझ में आ सकता है और उसे स्मरण रखने में भी सहायता मिल सकती है। शास्त्री जी ने साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण एवं दशरूपक इन सुप्रसिद्ध साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर किया है। पण्डितजी ने इन सभी ग्रन्थों से सहायता ली है। इतने अंश में उनके ग्रन्थों में मौलिकता नहीं है। उनकी विशेष मौलिकता है विषयों के वर्गीकरण में एवंच मानचित्रादि के माध्यम से उनके स्पष्टीकरण में। अपने ग्रन्थ (साहित्योद्देश) को पण्डित जी ने तीन भागों में विभक्त किया है—प्रथम पदार्थोद्देश में काव्य, शब्द, अर्थ, वृत्ति आदि त्रयोदश काव्य-शास्त्रीय पदार्थों का निरूपण है, द्वितीय काव्यभेद में साहित्य दर्पण के षष्ठ परिच्छेद के अनुसार दृश्य और श्रव्य काव्यों का वर्णन हैं; तृतीय नाट्यपदार्थविभास में दशरूपक के अनुसार नाट्यपदार्थों का वर्णन है। ग्रन्थ के अन्त में कतिपय परिशिष्ट दिये गये हैं जिनसे इसकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है।

पण्डित जी ने सांख्यदर्शन की हिन्दी में एक व्याख्या भी लिखी है जो कि विषय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से बेजोड़ हैं। पण्डितजी वेद के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे (यद्यपि इस दिशा में लिखा उन्होंने विशेष नहीं है)। नाना विषयों में उनकी गति थी। उनकी अगाध विद्वत्ता से अभिभूत हो कर ही महामहोपाध्याय पण्डित छज्जूराम शास्त्री ने उनके विषय में कहा था—

'लोके प्रसिद्धनामा सीमाऽऽचारस्य वेदमर्मज्ञ:।
जयति भिवानीधामा सीतारामाभिधः शास्त्री॥'[१]

तहसील जींद के रिटोली ग्राम के उपरिनिर्दिष्ट महामहोपाध्याय पण्डित छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर स्वयं भी बहुत बड़े संस्कृत साहित्यकार हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओं में इन्होंने रचनाएँ लिखी हैं। ये नैयायिक भी हैं और कवि भी। अपने व्यक्तित्व में इन दो विभिन्न तत्त्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न विलक्षणता के प्रति ये जागरूक हैं। दुर्गाभ्युदय नाटक में अपनी यह विलक्षणता इन्होंने इन शब्दों में व्यक्त की है—

---

१. साहित्यबिन्दु, तृतीय बिन्दु, पृष्ठ १००।

कर्कशे तर्कविषये कोमले काव्यवस्तुनि ।
समं लीलायते यस्य छज्जूरामस्य भारती ॥[1]

"जिस छज्जूराम की वाणी तर्क के कर्कश विषय में एवंच मनोहर काव्य रचना में एक समान क्रीड़ा करती है ।"

पण्डित जी की सबसे पहली रचना पंचसर्गात्मक सुलतानचरितम् नामक एक काव्य थी जो कि पण्डित जी ने स्वयं देहरादून से संवत् १९६७ में प्रकाशित की थी। इस काव्य में चित्तौड़गढ़ के राजा महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल की कथा वर्णित है। महीपाल का एक दूसरा नाम सुरतान भी था। इसी सुरतान का उच्चारण ही बदलते बदलते सुलतान हो गया था। इस सुलतानचरितम् का संस्करण कभी का समाप्त हो चुका है। अब यह ग्रन्थ दुर्लभ ग्रंथों की कोटि में है। इसके बाद की पण्डित जी की रचना है सात अंकों का दुर्गाभ्युदय नाटक। इसमें भगवती दुर्गा के महिषासुर के साथ संग्राम एवं उसके वध के पौराणिक कथानक का वर्णन है। पण्डित जी ने छज्जूरामायणम् नामक एक अन्य नाटक भी लिखा है जो कि अद्यावधि अप्रकाशित है। शास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय हैं पंडित जी का अलंकार-शास्त्र का ग्रंथ साहित्यबिन्दु जिसका प्रमुख उद्देश्य है छात्रों को सरल रीति से साहित्य शास्त्र का ज्ञान कराना, अलंकारादि के भेद-प्रभेदों की उलझन से बचाना, परिष्कृत संस्कृत द्वारा वाद-युग की प्राचीन पद्धति में प्रवृत्त कराना एवंच साहित्य-शास्त्र को प्रौढ़ विद्या न मानने वाले मत का निराकरण करते हुए उसे (साहित्य शास्त्र को) सब शास्त्रों का सार सिद्ध करना। इस ग्रन्थ की विशेषता को पण्डित जी के सुपुत्र श्री जीवनराम शास्त्री ने इन शब्दों में व्यक्त किया है— "यद्यपि यह ग्रन्थ अल्पकाय है तथापि काव्यशास्त्रवत् नाटकादि भेदों से विरहित नहीं, साहित्यदर्पणवत् विषयविवेचनादरिद्र नहीं, प्रमेयांश को परिष्कृत करता हुआ भी रसगंगाधरवत् दुष्प्रधर्ष्य नहीं, अलंकारकौस्तुभवत् अनुपयुक्त-विस्तार-बहुल नहीं, चन्द्रालोकसाहित्यसारवत् केवल पद्यबद्ध नहीं।" इस ग्रन्थ की एक यह भी विशेषता है कि इसमें नव्वे प्रतिशत उदाहरण ग्रन्थकार के ही हैं। पण्डितजी के जो ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित हैं उनसे भी इसमें उदाहरण हैं। यथा मुनिविषयक प्रीति के उदाहरण के प्रसंग में छज्जूरामायण से निम्नलिखित श्लोक यहाँ उद्धृत किया गया है—

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं चक्रे रामायणाख्यममृतं यः ।
मुनिवर्यं कविधुर्यं वन्दे वाल्मीकिं भक्त्या ॥[2]

"मैं कविशिरोमणि मुनिवर श्रीवाल्मीकि को भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ जिन्होंने श्रोत्राञ्जलिपुट द्वारा पातव्य रामायण नाम के अमृत की सृष्टि की थी।"

इस प्रकार सुलतानचरित काव्य से जो सम्प्रति सुतरां दुर्लभ है निम्नलिखित श्लोक विप्रलम्भ श्रृंगार के उदाहरण के प्रसंग में प्रस्तुत ग्रन्थ में पाया जाता है। इस श्लोक में सुलतान की रानी निहालीदेवी उससे कहती है—

---

१. अङ्क १, श्लोक २, पृष्ठ ३।

२. द्वितीय बिन्दु, पृष्ट ८५.

अभिनयनयने निमीलिताक्ष
कृतकसमाधिरयं तव प्रतीतः ।
अलमलघुतयाऽद्य मामनङ्ग-
ज्वरदवधुं स्ववधूं कुरुष्व कण्ठे ।।[1]

"हे व्यर्थ ही नयनों को मीचे हुए भद्र पुरुष, यह तेरी कपटसमाधि है यह मैं जानती हूँ । देर मत करो । मुझ कामज्वरोपतप्त अपनी पत्नी को तुम गले लगाओ ।"

साहित्यबिन्दु विशेषतः उल्लेखनीय इसलिये भी है कि इसमें पण्डित जी ने एक विशेष प्रयोग किया है । उन्होंने सभी के सभी काव्य दोषों के उदाहरण अकेले श्रीहर्ष कृत नैषधीयचरित से ही दिखा दिये हैं । इसमें उन्हें प्रेरणा उस किंवदन्ती से मिली है जिसके अनुसार श्रीमम्मट ने श्रीहर्ष के नैषधीयचरित को अनेकदोषदूषित बताया था । उनका कहना है कि नैषध जिसे कि 'विद्वदौषध' कहा गया है, ही सर्वाधिक दोषयुक्त एवंच गुणयुक्त काव्य संस्कृत वाङ्मय में है—

काव्यस्य गुणदोषाणामाकरः कथ्यते बुधैः ।
नैषधं तत्र तेऽस्माभिः प्रदर्श्यन्ते यथामति ।।[2]

पण्डित जी के कतिपय अन्य लघु ग्रन्थ भी है जिनमें कुरुक्षेत्रमाहात्म्यम् और कर्मकाण्डपद्धतिः का उल्लेख किया जा सकता है ।

पण्डित जी ने संस्कृत वाङ्मय के कतिपय प्रमुख ग्रन्थों पर टीकाएँ भी रची हैं जिसमें विशेष उल्लेखनीय हैं न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पर मूलचन्द्रिका, न्यायदर्शन पर सरला, वेदान्तसार पर सारबोधिनी, महाभाष्य प्रथम आह्निकद्वय पर परीक्षा, निरुक्त के पांच अध्यायों पर सारबोधिनी, लघुसिद्धान्त-कौमुदी पर साधना, काव्यप्रकाश पर परीक्षा अथवा विद्यासागरी । कुछ समय पूर्व ही पण्डित जी की एक अन्य रचना प्रकाशित हुई हैं—विबुधरत्नावली । श्लोकों में निबद्ध संस्कृत साहित्य का यह इदम्प्रथम इतिहास है । पण्डित जी ने इसे आठ अध्यायों में विभक्त किया है । विषय का अति संक्षेप में इसमें निरूपण है । यद्यपि लेखक का कहना है कि उन्होंने वैदिक वाङ्मय के इतिहास का इसमें निरूपण किया है तो भी इसे इतिहास तो नाममात्र में ही कहा जा सकता है । बहुत अंशों में तो यह संस्कृत वाङ्मय के प्रमुख ग्रन्थों का सूचीपत्र मात्र ही है । उदाहरणार्थ संस्कृत नाटकों के इतिहास के प्रसंग में ग्रन्थकार ने कतिपय नाटकों एवं उनके लेखकों के उल्लेख भर करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है—

कुन्दमालां धीरनागः क्षेमेशः चण्डकौशिकम् ।
व्यधुस्तथा शङ्खधरः कविर्लटकमेलाकम् ।।
बालरामायणं बालभारतं राजशेखरः ।
विद्धशालभञ्जिकां च कृतवान् कविशेखरः ।।[3]

१. द्वितीय बिन्दु, पृष्ठ ६७.
२. तृतीय बिन्दु, पृष्ठ ९१ (टीका)
३. अध्याय ६, श्लोक ४८–४९.

इस प्रकार एक ही श्लोक में अनेक साहित्यकारों और उनकी कृतियों का उल्लेख लेखक ने किया है। प्रख्याततम साहित्यकारों के लिये उन्होंने एक या कभी-कभी दो श्लोकों का भी उपयोग किया है। उनमें पहिले में कवि और उसकी कृतियों का उल्लेख है, जबकि दूसरे में काव्यात्मक ढंग से उसपर टिप्पणी है जिसमें भाषा सौष्ठव भी है और यमकादि अलंकार का पुट भी। उदाहरण के लिये सुप्रसिद्ध नाठककार श्रीहर्ष का उल्लेख करते हुए पण्डित जी कहते हैं—

नागानन्दं हर्षदेवः स्थाण्वीश्वरमहीपति :।
रत्नावलीं च कृतवान् तथैव प्रियदर्शिकाम् ॥
कारणं हि कवित्वस्य न ब्रह्मकुलसम्भवः।
क्षत्रिया अपि हर्षाद्याः कस्य हर्षाय नाभवन् ॥

यहाँ हर्षाद्याः कस्य हर्षाय नाभवन् में अवश्यमेव चमत्कार है। इसी प्रकार का चमत्कार है पण्डित जी द्वारा बाण की वाणी के 'गैर्वाणी स्त्री' कहने में—

हर्षदेवसभारत्नं गद्यकाव्यमहाकविः।
बाणः कादम्बरीं चक्रे तथा हर्षचरित्रकम् ॥
अलौकिकः कविर्बाणः सोऽपि कोविदसत्तमाः।
गैर्वाणी स्त्रीव यद्वाणी सर्वस्य हरते मनः ॥

पण्डित जी ने प्रत्यक्षज्यौतिषम् नाम से ज्योतिष पर भी एक ग्रन्थ लिखा है जो कि अद्यावधि अप्रकाशित है।

काव्यों में पण्डितजी की नूतनतम कृति है—द्वादशसर्गात्मक परशुरामदिग्विजय महाकाव्य। भगवान् के दशावतारों में परशुराम षष्ठ अवतार हैं। जबकि मत्स्य, कूर्मादि अन्य अवतारों का पुराणादि में सविस्तर वर्णन है, भगवान् परशुराम का ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्डादि पुराणों में अति-संक्षिप्त वर्णन हैं। उन सभी पुराणों से उपलब्ध सामग्री को एकत्रित कर पण्डित जी ने प्रस्तुत महाकाव्य में उपस्थापित किया है। भगवान् परशुराम जी का समस्त वर्णन प्रामाणिक हैं, कल्पित नहीं है। इसे ग्रन्थकार ने स्वयं उद्घोषित किया है—

यत् किमप्यत्र वृत्तं तत्प्रमाणितं न कल्पितम्।

पर यह ग्रन्थ केवल इतिवृत्त ही नहीं है, महाकाव्य भी है। इसलिये काव्य की आवश्यकताओं के अनुसार इसमें (परशुराम के कथानक में) कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन करना भी आवश्यक हो गया—

पुराणवृत्तं संक्षिप्य परिवर्त्य च किञ्चन।
चरितं परशुरामस्य लिखितं कृतिनां कृते ॥

पर इससे ग्रन्थ की शोभा बढ़ी ही है, घटी नहीं—

यत्किञ्चिदपि नूत्नत्वं भूषणं तन्न दूषणम्।

ग्रन्थकार का यह चौदहवां ग्रन्थ है। इसीलिये प्रत्येक सर्ग के अन्त के पद्य में उसने इसे त्रयोदश प्रबन्धों का भ्राता कहा है—

त्रयोदशप्रबन्धानां भ्रातुः चैतस्य काव्यस्य।

समस्त महाकाव्य एक ही छन्द, अनुष्टुभ् में लिखा गया है. यहाँ तक कि सर्गान्त में भी छन्द नहीं बदला है। अनुष्टुभ् पण्डित जी का परमप्रिय छन्द है। काव्य के प्रारम्भ में प्राक्कथन में पंडित जी के सुपुत्र श्री जीवनराम शास्त्री ने कविरत्न अखिलानन्द जी के एक पद्य को उद्धृत करते हुए पंडित जी के अनुष्टुभ् वृत्त में नैपुण्य का उल्लेख किया है और कहा हैं कि अमर कवि कालिदास, कवि अभिनंद और छज्जूराम अनुष्टुभ् छन्द में तो निपुण हैं पर अन्य छन्दों में कृपण हैं—

कविरमरः कालिदासः कविरभिनन्दश्च छज्जुरामश्च ।
वृत्तेऽनुष्टुभि निपुणाः कृपणा अन्येषु वृत्तेषु ॥

समूचे काव्य में कुल मिलाकर ६२१ पद्य हैं। शैली सरल एवं सरस है। मंगलाचरण, ग्रन्थकार-परिचयादि के बाद पंचम श्लोक से काव्य-कथानक प्रारम्भ होता है। इसी पंचम श्लोक से ही काव्यच्छटा का आस्वादन होने लगता है। माहिष्मती नगरी का वर्णन इसमें कवि ने किया है—

पुरन्दरपुरस्पर्धिन्यभवद् भूमिभूषणम् ।
माहिष्मतीति नगरी शर्मदानर्मदान्तिके ॥

'इन्द्र की नगरी की स्पर्धा करने वाली, पृथ्वी की अलंकारभूत माहिष्मती नाम की नगरी कल्याणदा नर्मदा नदी के किनारे स्थित थी।'

इस मनोरम शैली में जो कथानक प्रारम्भ होता है तो अन्त तक इसी में चलता जाता है। कवि की कोमलकान्त पदावली काव्य को चार चाँद लगा देती।

इतने विशाल संस्कृत वाङ्मय के रचयिता पंडित जी लेखनी के धनी हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। संस्कृत भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है। पदशय्या मनमोहक है। अनुप्रास एवं यमक का पुट उसमें अनायास ही आ जाता है। पंडित जी अपनी रचना के इस गुण को पहचानते हैं। इसीलिये इन्होंने यह गर्वोक्ति की है—

अनुप्रासिनि सन्दर्भे छज्जूरामसमोऽद्य कः ।
पुराप्यासन्न चेदासन् द्वित्रा एव कवीश्वराः ॥[1]

"अनुप्रासयुक्त रचना में छज्जूराम के बराबर आज कौन है? पहिले भी शायद कोई कवि शिरोमणि रहे होंगे और यदि रहे भी हों तो शायद दो तीन ही रहे होंगे।"

पंडित जी की रचना में कहीं-कहीं तो अनुप्रास की झड़ी-सी लग जाती है। उदाहरण के लिये दो सन्दर्भ नीचे उपस्थित किये जा रहे हैं—

(क) अस्ति काचन सर्वजनतोषा अपरेव ।
सितपक्षदोषा स्त्रीमात्रकान्तिमोषा योषा ।[2]

(ख) भगवतीशुम्भयोः सिंहनादं श्रुत्वा
समागतानेकमातङ्गकुरङ्गहर्यक्षऋक्ष-

---

१. दुर्गाभ्युदय, अङ्क १, पृष्ठ ४.
२. वही, अङ्क ५, पृष्ठ ४९.

शृगालकोलकोलाहलाहूतपूतवेताल-
चक्रवालकंठनालप्रकटीभवद्घोरचीत्कार-
चमत्कारयुक्तेयं समरभूमिरवलोक्यते ।
तयोरेव सक्रोधपादन्यासप्रभूतकम्पेन
च सालरसालप्रियालतमालहिन्तालसुर-
दारकोविदारकर्णिकारनिम्बकदम्ब-
बकुलनिचुलकर्पूरबीजपुरमधूकबन्धूक-
कपित्थाश्वत्थवृक्षाः परिपतन्ति ।[1]

उत्प्रेक्षादि अर्थालंकारों के प्रयोग में भी उनकी असाधारण निपुणता है। मास के एक पक्ष में चन्द्रमा बढ़ता है और दूसरे में घटता है, इस वैज्ञानिक तथ्य पर अपनी कल्पना शक्ति को आधारित करते हुए उन्होंने कहा है—

इमं कर्त्तुं चन्द्रमसं तद्वक्त्रसदृशं विधिः ।
पक्षद्वितयभेदेन करोति विकरोति च ॥[2]

"विधाता इस चन्द्रमा को उसके (देवी के) मुख के सदृश बनाना चाहते थे। इस लिए कभी उसे बनाते हैं, कभी बिगाड़ते हैं, एक पक्ष में बनाते हैं और (फिर जब पाते हैं कि वह अच्छा नहीं बना) तो दूसरे पक्ष में उसे मिटाते हैं। इसी प्रकार उसे बनाते और मिटाते रहते हैं।" (पर कभी वह वैसा बन पाया है क्या ?)

पण्डित जी ने अपनी कृतियों के पद्यों के बारे में ठीक ही कहा है—

छज्जूरामकृतौ नैकः स श्लोकः परिदृश्यते ।
अल्पानल्पाथवा काचिद्यत्र नैव चमत्कृतिः ॥[3]

"छज्जूराम की रचनाओं में एक भी ऐसा श्लोक नहीं है जिसमें थोड़ा बहुत चमत्कार नहीं है।"

कवि अपने बारे में अनेक बार गर्वोक्ति करते हैं। ऊपर उनकी दो एक गर्वोक्तियाँ उद्धृत भी की जा चुकी हैं। सम्भवतः इस दिशा में वे मध्ययुगीन सुप्रसिद्ध कवि एवं साहित्य-शास्त्री पण्डितराज जगन्नाथ से प्रभावित हुए हैं। साहित्यबिन्दु के उपान्त्य श्लोक में तो उन्होंने कविता को सम्बोधित करते हुए उनका उल्लेख भी किया है। वे कविता से कहते हैं कि हे कविते ! क्या तू पण्डितराज जगन्नाथ के स्वर्ग सिधार जाने पर व्याकुल है, तुझे कुछ सूना-सूना सा लगता है क्या ? अरी इस ग्रंथकार को देख, कुछ सन्तोष का अनुभव कर, वही तो इसकी प्रतिभा है, वही सूक्तियों में रस है, वही नवीनता है, वही भव्यता है—

श्रीमत्पण्डितराजपण्डितजगन्नाथे प्रयाते दिवं
किं शून्याऽसि किमाकुलासि कविते साहित्यवाग्देवते ।

१. वही, अङ्क ७, पृष्ठ ६७.
२. वही, अङ्क ५, पृष्ठ ४९.
३. वही, अङ्क १, पृष्ठ ३.

समस्त महाकाव्य एक ही छन्द, अनुष्टुभ् में लिखा गया है. यहाँ तक कि सर्गान्त में भी छन्द नहीं बदला है। अनुष्टुभ् पण्डित जी का परमप्रिय छन्द है। काव्य के प्रारम्भ में प्राक्कथन में पंडित जी के सुपुत्र श्री जीवनराम शास्त्री ने कविरत्न अखिलानन्द जी के एक पद्य को उद्धृत करते हुए पंडित जी के अनुष्टुभ् वृत्त में नैपुण्य का उल्लेख किया है और कहा हैं कि अमर कवि कालिदास, कवि अभिनंद और छज्जूराम अनुष्टुभ् छन्द में तो निपुण हैं पर अन्य छन्दों में कृपण हैं—

कविरमरः कालिदासः कविरभिनन्दश्च छज्जुरामश्च ।
वृत्तेऽनुष्टुभि निपुणाः कृपणा अन्येषु वृत्तेषु ॥

समूचे काव्य में कुल मिलाकर ६२१ पद्य हैं। शैली सरल एवं सरस है। मंगलाचरण, ग्रन्थकार-परिचयादि के बाद पंचम श्लोक से काव्य-कथानक प्रारम्भ होता है। इसी पंचम श्लोक से ही काव्यच्छटा का आस्वादन होने लगता है। माहिष्मती नगरी का वर्णन इसमें कवि ने किया है--

पुरन्दरपुरस्पर्धिन्यभवद् भूमिभूषणम् ।
माहिष्मतीति नगरी शर्मदानर्मदान्तिके ॥

'इन्द्र की नगरी की स्पर्धा करने वाली, पृथ्वी की अलंकारभूत माहिष्मती नाम की नगरी कल्याणदा नर्मदा नदी के किनारे स्थित थी।'

इस मनोरम शैली में जो कथानक प्रारम्भ होता है तो अन्त तक इसी में चलता जाता है। कवि की कोमलकान्त पदावली काव्य को चार चाँद लगा देती।

इतने विशाल संस्कृत वाङ्मय के रचयिता पंडित जी लेखनी के धनी हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। संस्कृत भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है। पदशय्या मनमोहक है। अनुप्रास एवं यमक का पुट उसमें अनायास ही आ जाता है। पंडित जी अपनी रचना के इस गुण को पहचानते हैं। इसीलिये इन्होंने यह गर्वोक्ति की है--

अनुप्रासिनि सन्दर्भे छज्जूरामसमोऽद्य कः।
पुराप्यासन्न चेदासन् द्वित्रा एव कवीश्वराः ॥[1]

"अनुप्रासयुक्त रचना में छज्जूराम के बराबर आज कौन है? पहिले भी शायद कोई कवि शिरोमणि रहे होंगे और यदि रहे भी हों तो शायद दो तीन ही रहे होंगे।"

पंडित जी की रचना में कहीं-कहीं तो अनुप्रास की झड़ी-सी लग जाती है। उदाहरण के लिये दो सन्दर्भ नीचे उपस्थित किये जा रहे हैं--

(क) अस्ति काचन सर्वजनतोषा अपरेव ।
सितपक्षदोषा स्त्रीमात्रकान्तिमोषा योषा ।[2]

(ख) भगवतीशुम्भयोः सिंहनादं श्रुत्वा
समागतानेकमातङ्गकुरङ्गहर्यक्षऋक्ष-

---

१. दुर्गाभ्युदय, अङ्क १, पृष्ठ ४.
२. वही, अङ्क ५, पृष्ठ ४९.

शृगालकोलकोलाहलाहूतपूतवेताल-
चक्रवालकंठनालप्रकटीभवद्घोरचीत्कार-
चमत्कारयुक्तेयं समरभूमिरवलोक्यते ।
तयोरेव सक्रोधपादन्यासप्रभूतकम्पेन
च सालरसालप्रियालतमालहिन्तालसुर-
दारकोविदारकर्णिकारनिम्बकदम्ब-
बकुलनिचुलकर्पूरबीजपुरमधूकबन्धूक-
कपित्थाश्वत्थवृक्षाः परिपतन्ति ।[१]

उत्प्रेक्षादि अर्थालंकारों के प्रयोग में भी उनकी असाधारण निपुणता है। मास के एक पक्ष में चन्द्रमा बढ़ता है और दूसरे में घटता है, इस वैज्ञानिक तथ्य पर अपनी कल्पना शक्ति को आधारित करते हुए उन्होंने कहा है--

इमं कर्त्तुं चन्द्रमसं तद्वक्त्रसदृशं विधिः ।
पक्षद्वितयभेदेन करोति विकरोति च ॥[२]

"विधाता इस चन्द्रमा को उसके (देवी के) मुख के सदृश बनाना चाहते थे। इस लिए कभी उसे बनाते हैं, कभी बिगाड़ते हैं, एक पक्ष में बनाते हैं और (फिर जब पाते हैं कि वह अच्छा नहीं बना) तो दूसरे पक्ष में उसे मिटाते हैं। इसी प्रकार उसे बनाते और मिटाते रहते हैं।" (पर कभी वह वैसा बन पाया है क्या ?)

पण्डित जी ने अपनी कृतियों के पद्यों के बारे में ठीक ही कहा है—

छज्जूरामकृतौ नैकः स श्लोकः परिदृश्यते ।
अल्पानल्पाथवा काचिद्यत्र नैव चमत्कृतिः ॥[३]

"छज्जूराम की रचनाओं में एक भी ऐसा श्लोक नहीं है जिसमें थोड़ा बहुत चमत्कार नहीं है।"

कवि अपने बारे में अनेक बार गर्वोक्ति करते हैं। ऊपर उनकी दो एक गर्वोक्तियाँ उद्धृत भी की जा चुकी हैं। सम्भवतः इस दिशा में वे मध्ययुगीन सुप्रसिद्ध कवि एवं साहित्य-शास्त्री पण्डितराज जगन्नाथ से प्रभावित हुए हैं। साहित्यबिन्दु के उपान्त्य श्लोक में तो उन्होंने कविता को सम्बोधित करते हुए उनका उल्लेख भी किया है। वे कविता से कहते हैं कि हे कविते ! क्या तू पण्डितराज जगन्नाथ के स्वर्ग सिधार जाने पर व्याकुल है, तुझे कुछ सूना-सूना सा लगता है क्या ? अरी इस ग्रंथकार को देख, कुछ सन्तोष का अनुभव कर, वही तो इसकी प्रतिभा है, वही सूक्तियों में रस है, वही नवीनता है, वही भव्यता है—

श्रीमत्पण्डितराजपण्डितजगन्नाथे प्रयाते दिवं
किं शून्याऽसि किमाकुलासि कविते साहित्यवाग्देवते ।

१. वही, अङ्क ७, पृष्ठ ६७.
२. वही, अङ्क ५, पृष्ठ ४९.
३. वही, अङ्क १, पृष्ठ ३.

एतं ग्रन्थकृतं निभाल्य कमपि प्रासादमासादय[१]
सैवाऽस्य प्रतिभा स सूक्तिषु रसः सा नव्यता भव्यता ॥[२]

एवमेव इसी साहित्यबिन्दु में पण्डित्यवीर के उदाहरण में उन्होंने निम्नलिखित स्वरचित श्लोक उपस्थित किया है—

मयि कुर्वति शास्त्रार्थं चार्वाकस्तु भवत्यवाक् ।
जैनः श्रयति मौनत्वं[3] बौद्धो बुद्धिं विमुञ्चति ॥[४]

"जब मैं शास्त्रार्थ करता हूं तो चार्वाक् की बोलती बन्द हो जाती है, जैन चुप पड़ जाता है और बौद्ध बुद्धिहीन हो जाता है।"

उनकी नवीनतम काव्यकृति परशुरामदिग्विजय में भी एक गर्वोक्ति पाई जाती है जो कि पण्डितराज जगन्नाथ की गर्वोक्तियों को भी मात दे सकती है। पण्डित जी कहते हैं कि कुरुक्षेत्र से बढ़कर पवित्र तीर्थ और कोई नहीं है, सप्तसमुद्रवेष्टित पृथ्वी का दान करनेवाले परशुराम से बढ़कर कोई दानी नहीं रहा है। छज्जूराम के समान कोई और समस्त विषयों का ज्ञाता नहीं है—

नान्यत्पुण्यतमं समस्तजगति क्षेत्रं कुरुक्षेत्रतो
नासीत्सप्तसमुद्रमुद्रितमहीदाता च रामात्परः ।
छज्जूरामसदृक् समस्तविषयज्ञाताऽस्ति नान्यः सुधी–
रित्येषा जयतात् त्रयी स्वयशसा यावत् क्षितौ जाह्नवी ॥[५]

पंडित जी भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा उनके बारे में कहे गये स्तुति वचनों को भी यत्र तत्र उद्धृत करते हैं। साहित्यबिन्दु में ही कम से कम दो विद्वानों के इस प्रकार के वचन पाये जाते हैं। प्रथम सहोक्ति के उदाहरण के प्रसंग में श्री दुर्गादत्त कवि का है—

शब्दे न्याये च साहित्ये कवित्वे दर्शनेषु च ।
समं लीलायते वाणी छज्जूरामस्य मद्गुरोः ॥[६]

(स्पष्ट ही यह श्लोक पूर्वोद्धृत पंडित छज्जूराम कृत पद्य 'कर्कशे तर्कविषये कोमले काव्यवस्तुनि समं लीलायये यस्य छज्जूरामस्य भारती' का छाया मात्र है) । दूसरा छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास के उदाहरणों के प्रसंग में कविरत्न अखिलानन्द सरस्वती का है—

दार्शनिकी यत्प्रतिभा प्रतिभासम्पन्नचेतसां पुंसाम् ।
रमयति मानसमाराच्छज्जूरामः स विश्रुतः शास्त्री ॥

---

१. छन्दोऽनुरोधात् पंडितजी महाप्रसाद के स्थान पर प्रासाद का प्रयोग कर गये हैं—अपि-माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिरम् ।

२. पृष्ठ २३०.

३. मौनत्वम् में त्व प्रत्यय अनर्थक है।

४. द्वितीय बिन्दु, पृष्ठ ७४.

५. श्लोक १०८, पृष्ठ ११२.

६. पञ्चम बिन्दु, पृष्ठ १८७.

यन्मुखपद्मविनिःसृतकाव्यकलापः प्रतिक्षणं लोके ।
काव्यकलारसिकानां मनांसि सद्यः प्रमोदयति ॥[1]

पंडित जी की अभिनवतम कृति है महर्षि पतञ्जलि कृत योग दर्शन पर योगमञ्जरी नामक हिन्दी वृत्ति । योगदर्शन पर व्यास भाष्य भोजवृत्ति, माठरवृत्ति आदि अनेक प्राचीन व्याख्याएँ हैं । उन सभी का सार ग्रहण कर पंडितजी ने यह अभिनव हिन्दी वृत्ति रची है । इसकी सहायता से योगसूत्रों का अन्वयपूर्वक मूलार्थ बहुत अच्छी तरह जाना जा सकता है । यही इसकी विशेषता है । श्रुति-स्मृति के प्रमाणों से भरपूर होने से यह विद्वानों और विद्यार्थियों दोनों के लिये एक समान उपयोगी है ।

जिला करनाल की कैथल तहसील के कौल ग्राम के शास्त्रार्थमहारथी पं० माधवाचार्य शास्त्री की अर्वाचीन संस्कृत साहित्य को देन भी सुतरां प्रशंसनीय है । अब तक इनके तीन काव्य टुडेस्मृतिः, कबीरचरितम् एवं कथाशतकम् प्रकाशित हो चुके हैं । टुडेस्मृतिः एक छोटी सी हास्य कृति है । इसमें भारत में बढ़ती आधुनिकता की प्रवृत्ति पर गहरी चोट है । बीच-बीच में अंग्रेज़ी और हिन्दी शब्दों के प्रयोग से कथ्य विषय का प्रभाव और भी बढ़ गया है । उदाहरण के लिये खद्दरधारी कांग्रेसियों पर चुटकी लेते हुए लेखक कहते हैं—

ये श्वेतखद्दरधरा नोकीली कैपधारिणः ।
मुण्डितश्मश्रुकूर्चा ये टमाटर-निभाननाः ॥[2]

जिस प्रकार गीता-पुराणादि में भगवान् अपनी विभूतियों का वर्णन करते हैं इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में कलियुग भी अपनी विभूतियों का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत पद्यों को पढ़ते ही हँसी फूट निकलती है । कलि कहते हैं—

शिरोम्बराणां कैपोऽस्मि हैटोऽस्मि रौबवाससाम् ।
चायोऽस्मि पेयद्रव्याणां भोज्यानां बिस्कुटोऽस्म्यहम् ॥
रोटीनां डबलरोटी घृतानामस्मि डालडा ।
टमाटरोऽस्मि शाकानां रस्यानां लशुनं तथा ॥[3]

शास्त्रार्थमहारथी जी के कबीरचरितम् में सुप्रसिद्ध सन्त कबीर के चरित का सरल सरस शैली में वर्णन है । प्रस्तावना का श्लोक ही लीजिये । कितनी प्रांजल सुबोध भाषा है इसकी । सामान्य संस्कृत जानने वाला व्यक्ति भी इसे आसानी से समझ सकता है—

वाराणसीतीर्थनिवासभूमी
रहस्यवादी कविसार्वभौमः ।
हिन्दीर्महात्मा यवनस्य पीर
आसीत्पुरा भक्तवरः कबीरः ॥[4]

---

१. पञ्चम बिन्दु, पृष्ठ १४८.
२. श्लोक ५१, पृष्ठ १६ ।
३. श्लोक ६२-६३, पृष्ठ १९ ।
४. श्लोक २, पृष्ठ ९ ।

हिन्दू-मुस्लिम समन्वय सन्त कबीर के जीवन का परम ध्येय था। अपनी वाणी में उन्होंने अनेक स्थानों पर कहा है कि राम और रहीम, कृष्ण और करीम एक ही हैं—

य एव रामः स मतो रहीमो
य एव कृष्णः स मतः करीमः ।[१]

कहीं-कहीं तो शास्त्रार्थमहारथी जी ने कबीर के दोहों को ही संस्कृत-रूपान्तर प्रदान कर दिया है। कबीर का सुप्रसिद्ध दोहा है—

पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
चक्की क्यों नहीं पूजिये पिसा खाय संसार ॥

इसी को संस्कृत में शास्त्रार्थ महारथी जी ने इन शब्दों में कहा है—

चेल्लभ्यते प्रस्तरपूजया हरि—
रभ्यर्चये पर्वतमन्वहं न्वहम् ।
ततोऽधिका पूज्यतमाऽस्ति चक्रिका
यत् पिष्टमश्नन् मनुजोऽत्र जीवति ॥[२]

इसी प्रकार कबीर के दोहे—

कंकर पत्थर जोड़ कर मसजिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय ॥

को शास्त्रार्थमहारथी जी संस्कृत में इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

लोष्टानि चित्वा रचिता नु मस्जिद्
तद् यूपमारुह्य विरौति मुल्ला
सः सर्वगः सर्वगुणप्रसूतिः
स दूरवर्ती बधिरः खुदा किम् ॥[३]

शास्त्रार्थ महारथी जी का **कथाशतकम्** अपने ढंग का एक अनूठा ही ग्रन्थ है। इसमें भारत के पौराणिक एवञ्च मीरा, धन्ना, रविदास आदि ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन चरित्र से सम्बद्ध सौ कथाओं का ललित एवं मनोहर शैली में वर्णन है।

शास्त्रार्थ महारथी जी का अन्तिम उल्लेखनीय ग्रन्थ है पंचविंशति पृष्ठात्मक **परतत्त्व-दिग्दर्शनम्**। यह षड्दर्शनों की सूत्र शैली में लिखा गया है। इसका भाष्य स्वयं उन्होंने ही लिखा है। कुल मिलाकर इसमें २७ सूत्र हैं जो अर्वाचीन होते हुए भी प्राचीनता का आभास देते हैं। दिग्दर्शनार्थ चार पाँच सूत्र नीचे उपस्थित किये जा रहे हैं—

गुणातीतः सर्वगुणनिलयो हि परः पुमान् (सूत्र १७)।
एकैकगुणानुरोधेन स एव ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यां भजते (सूत्र १८)।
नामसु प्रणवस्य मुख्यता सर्वशास्त्रसिद्धा (सूत्र २०)।

---

१. श्लोक १९४, पृष्ठ ५९।
२. श्लोक १३४, पृष्ठ ६२।
३. श्लोक १३५, पृष्ठ ६३।

हरिहरौ विशिष्य परस्परात्मानौ परस्परनुतिप्रियौ वरदौ मोक्षदौ च (सूत्र २४)।
ईशस्यापि नटवत् लीलाभिनयो भक्तानुग्रहार्थः (सूत्र २५)।

सूत्रभाष्य में शास्त्रार्थ महारथी जी ने सूत्र प्रतिपादित विषय की पुष्टि में महाभारत-पुराणादि से अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। शास्त्रार्थं महारथी जी ने सूत्रों और सूत्रभाष्य में यही सिद्ध किया है कि परतत्त्व, संसार की नियामिका सर्वोच्च शक्ति, एक है। वेदपुराणादि शास्त्रों का मथितार्थ ही, जैसाकि उन्होंने ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर ही लिखा है, प्रस्तुत पुस्तक में उपस्थापित किया गया हैं।

शास्त्रार्थ महारथी जी के बाद विशेष उल्लेखनीय नाम है—ज़िला करनाल की पानी पत तहशील के सुझाना गांव के पण्डित विद्यानिधि शास्त्री का, जोकि नाना विषयों के आचार्य भी हैं और सुमधुर कवि भी। दुर्भाग्य से इनकी बहुत कम रचनाएँ प्रकाशित हो पाई हैं। प्रकाशित ग्रन्थों में इनके चार ग्रन्थ हैं—(१) व्यवहारभानुः (जोकि महर्षि दयानन्दकृत हिन्दी-भाषोपनिबद्ध व्यवहारभानु का संस्कृत पद्यानुवाद है), (२) मैत्रायणीसूक्तिसङ्ग्रहः, (३) संक्षिप्त रामायणम्, (४) संक्षिप्त महाभारतम्। इनमें सिवाय प्रथम के शेष तीन सङ्ग्रहात्मक या संक्षेपात्मक हैं। प्रथम यद्यपि अनुवाद है, तथापि रुचिर पद्य रचना के कारण स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही प्रतीति देता है। भाषा में इतनी उदात्तता है कि ऐसा लगता है कि मानो कोई प्राचीन कवि लिख रहा हो। लाल बुझक्कड़ की कहानी में जब एक बालक खम्भे को पकड़ लेता है और छोड़ता नहीं तो उसके माता पिता रोने बिलखने लगते हैं, वे समझते हैं कि उनके पुत्र को खम्भे ने पकड़ लिया है। पड़ोसी भी आसपास से आ जाते है। उन्हें रोते देख वे भी रोने लगते हैं। चारों ओर कुहराम मच जाता है। इस दृश्य का कितना सुन्दर वर्णन कवि ने किया है—

अन्येऽपि प्रतिवेशिनः समुदिता ह्याकर्ण्य तत्क्रन्दितं
द्राक् प्राक्रसंत रोदितुं प्रतिगृहं सांराविणं बह्वभूत्।
स्तम्भो डिम्भममुं न मुञ्चति करग्राहं निगृह्णन्नसौ
हा हन्तेति समन्ततः सविधुरं ग्राम्या गिरः प्रावृतन्।[1]

स्थान-स्थान पर भाषा की प्रांजलता और गरिमा बरबस ध्यान आकर्षित कर लेती है। शिक्षा क्या है ? इसका लक्षण क्या है ? (का शिक्षेत्युच्यते स्पष्टं लक्षणेनाभिधीयताम्) इस पर पंडित जी कहते हैं—

दोषानविद्याप्रमुखान्विहाय
यया परं सौख्यमुपैति लोकः।
षुण्यांश्च विद्यादिगुणानधीते
सा नाम शिक्षेत्यवबोधनीयम्॥[2]

"अविद्यादि दोषों का परिहार कर जिससे लोग परम सुख प्राप्त करते हैं और पवित्र विद्यादि गुणों का अध्ययन करते हैं, उसे शिक्षा समझना चाहिए।"

१. श्लोक २२१, पृष्ठ ९९.
२. श्लोक ६९, पृष्ठ १६.

इस प्रकार के श्लोकों की पूरे ग्रन्थ में भरमार है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ को चार खंडों में विभक्त किया है जिन्हें कि उसने मयूख (= किरण) संज्ञा दी है जो कि ग्रंथ के भानु (= सूर्य) होने के कारण उचित ही थी। मूल ग्रंथ की प्रश्नोत्तर-शैली को रूपान्तर में भी तदवस्थ रखा गया है। ग्रन्थ में सामान्य अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति आदि छन्दों के साथ-साथ क्लिष्ट वैतालीय, पुष्पिताग्रा, शालिनी, शिखरिणी, भुजंगप्रयात, रथोद्धता आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। कई वेद और उपनिषद्वाक्यों को श्लोकों में और वह भी क्लिष्ट छन्दों में लिखे गये श्लोकों में संग्रथित करने का अभिनन्दनीय प्रयास भी किया गया है। यथा पुष्पिताग्रा छन्द में यजुर्वेद का 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' वचन लगभग उसी रूप में रख दिया गया है—

इदमहमनृतादुपैमि सत्यं
वचनमिदं यजुषः प्रमाणमत्र[1]।

कभी-कभी वेद के अथवा उपनिषद् के समूचे मन्त्र को शब्दान्तर में उपस्थापित कर दिया गया है। यथा मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र।

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

को ग्रन्थकार ने इन शब्दों में उपस्थापित किया है—

सत्यं जयेन्नानृतमाशुलभ्यः
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
क्राम्यन्ति येन प्रतिपन्नकामा
ब्रह्मर्षयस्तत्परमं निधानम्॥[2]

ग्रन्थकार वैयाकरण हैं इसलिये स्थान-स्थान पर क्लिष्ट प्रयोग भी करते हैं जिन्हें वे पादटिप्पणियों में समझा भी देते हैं। उनका कोष-ज्ञान भी बहुत विस्तृत है। अनेक स्थानों पर वे अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। यथा––भाग्यहीन के लिये दौर्भागिनेय, कामुक के अनुक, प्रत्युपकार के लिये प्रतिशोर्षक, कूपपतन के लिये कौपीन, हाथी के लिये पद्मी आदि।

व्यवहारभानु के अतिरिक्त पण्डित जी ने अनेक कविताएं भी लिखी हैं जोकि समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। १०० से ऊपर उनकी संस्कृत और हिन्दी कविताएँ अप्रकाशित पड़ी हैं। उनकी दो काव्य कृतियाँ महर्षिदयानन्दचरितम् और भक्तफूलसिंहचरितम् सम्प्रति मुद्रणयन्त्रस्थ हैं।

काव्य कृतियों के अतिरिक्त पंडित जी ने सामवेद का हिन्दी पद्यानुवाद भी किया है जोकि अजमेर की पत्रिका 'सविता' में क्रमशः प्रकाशित होता रहा है। अब तक वहाँ इसके ३५० पद्य प्रकाशित हो चुके हैं। वैसे स्वतन्त्र रूप से भी यह प्रकाशित हो रहा है।

अनुप्रास एवं यमकछटा पंडित जी की कविता का विशेष गुण रहा है। उदाहरणार्थ

---

१. श्लोक २३५, पृष्ठ १०४।
२. श्लोक २३७, पृष्ठ १०४।

महात्मा गांधी शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुई उनकी कविता श्रीगान्धिमहोदयजन्माभिनन्दनम् के निम्नलिखित पद्य उपस्थित किये जा सकते हैं——

रुचिर-कृदिभिः कृतिभिः कृतिभिः
स महान् नृषु गान्धिवरः प्रथितः ।
हृदये स्मृतिभिः स्थिरतां गमितः
स्तुतिसत्कुसुमाञ्जलिभिर्ग्रथितः ।।
अचकात्स चमत्कृतिभाक् परितः
स्वयशः सुयशा विविधं विबुधः ।
स्पृहणीयचरित्रतयाऽत्र जग–
त्यविगीतनिपीतसुनीतिसुधः ।।[1]

आज से लगभग दो वर्ष पूर्व पंडित जी की एक कविता आर्यसमाजमहोत्सवगीतिः भारतोदय[2] गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर) में प्रकाशित हुई थी । वह भी पूर्व निर्दिष्ट कविता के समान तोटक छन्द में ही हैं । लय एवं थिरकन इसका अपना विशेष गुण है । कविता में ११ पद्य हैं । प्रत्येक के अन्त में 'महयाम्यहमार्यसमाजमहम्' आता है । अनुप्रास एवं यमक की झंकार यहाँ भी है——

ऋषिणाऽद्यदयालुतया पिहिता
सुधियाऽभ्युदयं पदवीयमिता ।
उदिता मुदिता सुखिता सखिता
महयाम्यहमार्यसमाजमहम् ।।
उपमारहिताऽपि न मा रहिता
नियमावलिरस्य कुमारहिता ।
भुवि वृद्धिमुपैतु सदा सुखदा
महयाम्यहमार्यसमाजमहम् ।।

पण्डितजी की नूतनतम कृति श्रीगन्धिचरितामृतम् नामक महाकाव्य है जो कि पूर्वोक्त भारतोदय[3] में ही क्रमशः प्रकाशित हो रही है । अब तक इसके दो अंश प्रकाशित हुए हैं जिसमें प्रथम सर्ग भी अभी पूर्ण नहीं हुआ है । पंडित जी का श्रीगान्धिचरितामृतम् अपने आध्यात्मिक गुरु पंडित चारुदेव शास्त्रीजी की गद्य कृति श्रीगान्धिचरितम्[4] से सुतरां प्रभावित है । अब तक के प्रकाशित अंश से ऐसा लगता है कि पंडित विद्यानिधि का श्रीगान्धिचरितामृतम् पण्डित चारुदेव शास्त्री के श्रीगान्धिचरितम् का रूपान्तर ही है । शास्त्रीजी ने अपनी गद्य कृति की पूर्वपीठिका के रूप में दस श्लोक दिये हैं जिनमें प्रत्येक के अन्त में 'स वाचां विषयोऽस्ति नः' आता है । पण्डितजी ने भी इसी प्रकार के ग्यारह श्लोक दिये हैं जिनमें

---

१. गुरुकुल पत्रिका, गुरुकुल कांगड़ी ।

२. मार्च १९६९ ।

३. जनवरी-फरवरी, १९७० और जुलाई, १९७०.

४. लाहौर, संवत् १९८७.

प्रत्येक के अन्त में 'स एव वाचां विषयो ममास्ते' आता है जो कि 'स वाचां विषयोऽस्ति नः' का ही रूपान्तर है। इसी प्रकार का साम्य प्रत्येक श्लोक में दीख जाता है। उदाहरणार्थ—

श्री गान्धि चरितम् का पद्य

महितो यश्च लोकस्य महतोऽमहतोऽपि च।
आकुमारं यशो यस्य स वाचां विषयोऽस्ति नः॥

एवंच श्रीगान्धिचरितामृतम् का पद्य—

यः पूजनीयो महतां जनानां
लोके बभूवामहतामपीह !
यशोऽस्ति यस्योर्जितमाकुमारं
स एव वाचां विषयो ममास्ते॥

अथवा श्रीगान्धिचरितम् का पद्य—

ब्रह्मक्षत्रे विशश्शूद्रा अन्त्यजाः श्वपचा अपि।
आत्मैवाभून्मुनेरस्य स वाचां विषयोऽस्ति नः॥

एवंच श्रीगान्धिचरितामृतम् का पद्य—

क्षत्रं तथा ब्रह्मविशश्च शूद्राः
सन्त्यन्त्यजा ये श्वपचा विगर्ह्याः।
अभून्मुनेर्यस्य समे स्व आत्मा
स एव वाचां विषयो ममास्ते॥

शब्दों के हेरफेर से एक ही हैं। न केवल पद्यों की ही, गद्य की भी यही स्थिति है। शास्त्रीजी का गद्य वाक्य है—

अस्ति सुराष्ट्रदेशे पोरबन्दरमिति ख्यातमपृथुलं
सामिस्वायत्तं राज्यम्। एतद्धि हनुमद्वंशीया बाहुजाः प्रशासति।

इसी को ही पद्य रूप प्रदान करते हुए पण्डितजी ने लिखा है—

सुराष्ट्रदेशे किल पोरबन्दरं
चकास्ति राज्यं प्रियकीर्तिसुन्दरम्।
प्रशासनं यत्र पुरा प्रचक्रिरे
हनूमतो वंशभवा हि बाहुजाः॥

सम्भवतः पण्डितजी ने शास्त्रीजी के श्रीगान्धिचरितम् को आदर्श ग्रन्थ के रूप में सामने रख लिया है और उसके आधार पर अपनी काव्यरचना प्रारम्भ की है।

सिरसा खेड़ी (ज़िला जीन्द) के निवासी महामहोपाध्याय पंडित विद्याधर शास्त्री वेदाचार्य का वेद विषयक साहित्य सुतरां ख्यात है। इन्होंने कात्यायनश्रौतसूत्रवृत्ति, शुल्ब सूत्रवृत्ति एवं पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति नामक तीन ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें पदे पदे उनकी विद्वत्ता का पता चलता है। इन्हीं के सुपुत्र श्री वेणीराम गौड़ वेदाचार्य ने कर्मकाण्डमीमांसा नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें वैदिक कर्मकांड का सविस्तार निरूपण है। श्री वेणीरामजी सम्प्रति काशी में कार्य कर रहे हैं।

परीक्षोपयोगी ग्रन्थ लेखक के रूप में जुलाना मंडी के पंडित हरिपुष्प न्यायरत्न का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उनके तीन परीक्षोपयोगी ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं—न्यायमुक्तावल्यादर्शः, निरुक्तलतिका एवं काव्यप्रकाशसारः ।

भिवानी के पंडित सत्यदेव वासिष्ठ की संस्कृत में तीन रचनाएँ हैं—सत्याग्रहनीतिकाव्यम् शीर्षक से एक काव्य, चार भागों में विभक्त विष्णुसहस्रनाम पर सत्यभाष्यम् नाम से एक भाष्य एवं नाडीतत्त्वदर्शनम् नाम से आयुर्वेद का एक ग्रन्थ । सत्याग्रहनीतिकाव्यम् पं० रुद्रदेव त्रिपाठी कृत हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ है । ग्रन्थकार ने इस पर संक्षिप्त टिप्पण भी लिखा है जिसका नाम उसने अनन्तवृत्ति दिया है । ग्रंथ के आदि में लेखक ने आत्मनिवेदन रूप १२ श्लोक दिये हैं । तत्पश्चात् पं० रुद्रदेव त्रिपाठी की संस्कृत में विस्तृत भूमिका है । तदनन्तर काव्य प्रारम्भ होता है । यहाँ भी पहिले ११ श्लोकों में काव्यहेतु का निरूपण किया है । इसमें उन्होंने सत्य की महिमा का गान किया है—

त्वं पापनाशकं सत्यं भववारिधितारकम् ।
पाहि मां भवभीष्माब्धेस्तत्रैवाग्रहमागतम् ॥

"हे सत्य तू ही पापनाशक है, तू ही भवसागर से पार करने वाला है । संसाररूपी इस घोर समुद्र में गिरा हुआ मैं तेरे ही आग्रह शरण में आया हूँ ।"

एतदनन्तर काव्य का प्रारम्भ होता है । सम्पूर्ण काव्य को पंडितजी ने चार-चार पादों के पाँच अध्यायों में विभक्त किया है । प्रत्येक पाद का उन्होंने शीर्षक दिया है । ये शीर्षक इस प्रकार हैं—दुर्जनगर्हा, सुजन-प्रशंसा, क्षुत्क्षामीय, अहिंसाव्रतमाहात्मीय, राष्ट्रपतनोत्थानीय, त्रिविधराजभेदीय, स्वराज्यमहिमवर्णनीय, सदैवमृद्धीय, वारिपटुनीय, आदर्शकर्मवर्णनीय उद्बोधनीय, षड्तुवर्णनीय, नानावर्षगणीय, सन्मित्रमात्रश्रयीय, आसविद्वीय, धर्म, सत्यविभूति परमायुषीय, ऋतुचर्या, स्वातन्त्र्यीय । ग्रंथ में कुल मिलाकर ७०७ श्लोक हैं । पंडितजी की रचना बहुत प्राञ्जल एवं मार्मिक है । अपने हृदय की गहराइयों में से उन्होंने इसे लिखा है, स्वानुभूति को उन्होंने मूर्तरूप दिया है । पंडित जी स्वयं सत्याग्रही रहे हैं । सत्याग्रही के धैर्य को वे पहिचानते हैं । कितने भी कष्ट आयें, कितनी भी पीड़ा हो, सत्याग्रही कभी भी पांव पीछे नहीं हटाता—

प्रपीडितैर्नैकविधैर्विघातैः
पदं न पश्चात् कुरुते मनस्वी ।
विवर्धितः किं मृगराड् बलिष्ठं
विलोक्य नागं प्रतियाति पृष्ठे ॥
कुत्सेयुः कुशलाः स्तुवन्तु बहु वा प्राणाः प्रणश्यन्तु वा
न्यायार्थं समरे प्रदत्तकरणो धीरो न पश्चाद् व्रजेत् ।
निर्दोषं परिषद् व्यवस्यति तु यं तं कर्तुमातिष्ठते
विच्छेद्योत्पथगं जलं तरणकृद्यात्येव लभ्यां भुवम् ॥[1]

---

१. अध्याय ३, पाद ३, श्लोक ३६–३७, पृ० ८५.

सत्याग्रहियों को किस-किस प्रकार की यातना दी जाती थी, इसका नग्न चित्र कवि ने इन श्लोकों में उपस्थित किया है—

रुग्णे वर्ष्मणि भूरिलोहनिगडं नानाविधं प्रोह्यते
तीव्रैर्वेतसयष्टिकादिककृतैर्घातैर्मुहुश्चोद्यते ।
यूथं कीटकुलान्वितं चरनिशान्तस्थं समुत्थाप्यते
प्रायः पेषणिकाऽपि भोजनकृते चूर्णाय सञ्चाल्यते ॥
कोष्ठे चैव तमोमयेऽतिरजसाऽऽच्छन्ने कुतोऽप्युष्यते
जीर्णेनान्नचयेन नीरसमयेनैवोदरं पुष्यते ।
शाणीयेन वपुश्छदेन कथमप्येतद् वपुर्भूष्यते
हा हा तर्ह्यपि धर्मशत्रुभिरलं रक्तः[1] सतां चूष्यते ॥[2]

"सत्याग्रही के रुग्ण शरीर पर लोहे की हथकड़ी और बेड़ियाँ जकड़ दी जाती हैं। फिर हण्टर और बेंतों से उन्हें पीटा जाता है, मामूली राज-चरों के घर का मल उठवाया जाता है, कैदियों के खाने के लिये या राजचरों के भोजनार्थ सत्याग्रहियों से चक्कियाँ चलवाई जाती हैं, अन्धेरे और गन्दे कमरों में उन्हें रखा जाता है, खाने लिये उन्हें सड़ा-गला और सत्त्वहीन अन्न दिया जाता हैं, केवल टाट के दो-एक टुकड़े तन ढँकने के लिये उन्हें दिये जाते हैं। बड़े दुःख की बात है कि इतनी दुर्दशा करने पर भी उन धर्मशत्रुओं द्वारा उनका खून चूसा जाता है।

पर कोई कितना भी कष्ट क्यों न दे, कितना भी क्यों न सताये, सत्याग्रहियों ने जो मार्ग एक बार अपना लिया उस पर वे अडिग रहते हैं—

नो यान्ति सत्यनिभृते पथि दण्डभीता
गत्वाऽपि विघ्नविहताः प्रतियान्ति मध्याः ।
दण्डैरनेकविधकैः प्रतिहन्यमाना
गन्तव्यमार्यपुरुषा न परित्यजन्ति ॥[3]

काव्य की भाषा प्रायः सरल है पर यदाकदा कवि अपनी व्याकरणनैपुणीप्रदर्शनार्थ इसमें कठिन शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। उदाहरणार्थ निम्न श्लोक उपस्थित किया जा सकता है—

जञ्जमीति च मां मृत्युर्जरीहर्ति च काञ्चनम् ।
दरीदर्श्मि च सत्यं त्वां दिक्षु सर्वासु रक्षकम् ॥

"हे सत्य मृत्यु मुझे बार-बार भोज्य बना रहा है, मेरे पास जो भी जमा पूँजी है, उसका अपहरण कर रहा है। किन्तु फिर भी सर्वदिशाओं में एकमात्र तुझे ही मैं अपना रक्षक देख पा रहा हूँ।"

---

१. नपुंसकलिङ्ग रक्त का पुंलिङ्ग में यहाँ प्रयोग चिन्त्य है।

२. अध्याय १, पाद ३, श्लोक ९–१०, पृष्ठ ३९–४०।

३. अध्याय १, पाद २, श्लोक ४५, पृष्ठ ३५

कहीं-कहीं यमक और अनुप्रास की अपूर्व छटा भी ध्यान बरबस आकर्षित कर लेती है। तृतीयाध्याय के चतुर्थ पाद के प्रथम श्लोक में वसन्त का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं-

वीरुद्वृक्षवरप्रतानविभवाः पुष्यन्त्यहो माधवे
हृद्यं कोकिलकण्ठजं मधुरुतं वायुः पुनानो दिशः।
नानाभावविभावभावितनृणां भावा विकासोन्मुखाः
सोल्लासं सहकारमञ्जरिरपि[1] स्वागन्तुमातिष्ठते ॥

"वसन्त ऋतु के आगमन पर लता और सुन्दर वृक्षों का विस्तृत वैभव विकसित होता है। मनोहर कोकिलकण्ठ-कूजन तथा दिशाओं को पवित्र करता हुआ पवन विकास की ओर अग्रसर होने वाले विविध विचारों से परिपूर्ण मनुष्यों के भाव एवं फूटती हुई आम्र मंजरियाँ उल्लासपूर्वक वसन्त का स्वागत करने को उपस्थित हैं।"

विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में पण्डित जी का वैदुष्य पदे पदे अवभासित होता है। एक-एक नाम की उन्होंने विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। सबसे पहिले व्याकरणप्रक्रिया से रूप-सिद्धि प्रदर्शित की है। तदनन्तर वेद से मन्त्रलिङ्ग उपस्थित किया है। सबसे अन्त में स्वरचित श्लोक द्वारा नाम-विशेष का विशेष अभिप्राय स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिये स्थालीपुलाक न्याय से भगवान् के ६२५वें नाम सर्वतश्चक्षुः की व्याख्या उपस्थित की जा सकती है—

सर्वत इति सर्वशब्दात् 'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति पा० ५।४।४४ सूत्रस्थवार्तिकेन सार्वविभक्तिकस्तसिः प्रत्ययः।

चक्षुः—चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि धातुर्दर्शनेऽपि, अत्र च दर्शनार्थक एव। इदितोऽप्यस्य नुम् न। अन्ते दि इति व्याख्यानात् (द० क्षीरतरङ्गिणी २।८) चक्षेः शिच्च इत्युणादिना (२।११९) उसिप्रत्ययस्तस्य च शिद्वदतिदेशः, सेन शित्वात् तिङ्शित् सार्वधातुकम् (पा० ३।४।११३), सूत्रेण सार्वधातुकत्वात् ख्यात्रादेशाभावः, चक्षुरिति। सर्वतः पश्यतीति सर्वतश्चक्षुः!

अत्र मन्त्रलिङ्गं—
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः (ऋक् १०।८१।३)
यजुः (१७।१९)
विश्वतश्चर्षणिरुत विश्वतोमुखः (अथर्व १३।२।२६)

भवति चात्रास्माकम्—

स सर्वतश्चक्षुरिहास्ति विष्णुः
स विश्वतः पश्यति विश्वमेतत्।
स विश्वबाहुः स च विश्वतस्थात्
तमेव गायन्ति नमन्ति धीराः ॥

---

1. स्वागतं व्याहर्तुम् अथवा स्वागतं कर्तुम् के स्थान पर स्वागन्तुम् प्रयोग अव्यावहारिक है। इसका अर्थ होगा अच्छी तरह आने के लिये जोकि कवि को अभीष्ट नहीं है। दीर्घान्त मञ्जरी शब्द का ह्रस्वान्त मञ्जरि रूप में प्रयोग भी अनुचित है।

३३० पृष्ठ का नाडीतत्त्वदर्शनम् पण्डित जी का नाडीतत्त्व पर अपूर्व समीक्षात्मक ग्रन्थ है। पण्डित जी आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् हैं, उनकी इस विद्वत्ता का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ से चलता है। आयुर्वेद के अध्येताओं और अध्यापकों के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य सर्जना में पुरानी पीढ़ी का ही केवल योगदान नहीं है। युवा पीढ़ी भी इस दिशा में प्रयत्नशील है। भिवानी (हिसार) के श्री विश्वनारायण शास्त्री (प्राध्यापक संस्कृत विभाग, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली) इसी प्रकार के युवा पीढ़ी के साहित्यकार हैं। शास्त्रीय विषयों पर संस्कृत में इनके अनेक लेख विश्वसंस्कृतम् आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। ये बहुत परिमार्जित और प्रांजल संस्कृत लिखते हैं। हिन्दी में भी संस्कृत सम्बन्धी अनेक विषयों पर इन्होंने लिखा है। अभी हाल ही में इनकी कृति निरुक्तमीमांसा प्रकाशित हुई है जिसकी विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

पूर्वोल्लिखित विद्वान् शास्त्रार्थ महारथी पण्डित माधवाचार्य जी के सुपुत्र पंडित प्रेमाचार्य शास्त्री भी इसी युवा पीढ़ो के संस्कृत साहित्यकार हैं। शास्त्रार्थमहारथी जी के ग्रन्थ परतत्त्वदिग्दर्शनम् के अन्त में नाना छन्दों में विरचित १११ श्लोकों का परतत्त्वविषयकभ्रान्तिनिरसनात्मक एक परिशिष्ट दिया हुआ है जो कि प्रेमाचार्यजी का लिखा है। भाषा में इनकी बहुत प्रौढ़ि है, पदशय्या में एक उदात्तता है जो प्राचीन संस्कृत का स्मरण दिला देती है। परिशिष्ट के प्रथम तीन श्लोक मंगलाचरण के हैं। उन्हीं में से एक नीचे उद्धृत किया जा रहा है। इससे पता चल सकता है कि श्री प्रेमाचार्यजी का संस्कृत पर कितना अधिकार है। इस श्लोक में श्लेष भी है, सभी विशेषण विष्णु, शिव, और लेखक के पिता माधवाचार्य इन तीनों के पक्ष में समान रूप से घटते हैं—

यस्त्रय्यांगविभूषितान्धककुलः ख्यातो यशोदानतो
यं प्राहुर्विबुधा महारथमिति प्रेक्ष्य स्थितं संगरे।
नीतो येन विपञ्चतां स्वमहसाऽनङ्गो विदग्धः क्षणात्
सत्याश्लेषरसप्लुतो विजयतेऽसौ सर्वदो माधवः ॥

सर्वदो माधवः का तीन प्रकार के अर्थ किया जा सकता। सर्वद + माधवः—सब कुछ देने वाले विष्णु, सर्वदा + उमाधवः—शिव जी सदैव । सर्वदः + माधव—सभी को देने वाले माधव (माधवाचार्य)।

विष्णु के पक्ष में श्लोकार्थ—वेदवाणी में जिसकी यह ख्याति है कि इसने अन्धकवंश को सुशोभित किया है, जो अपनी माता यशोदा को प्रणाम करता है। युद्ध में स्थित जिसे देख विद्वान् महारथी कहते हैं, जिसने अपने तेज से दग्ध अनंग (कामदेव) को क्षण में ही सशरीर बना दिया (अनंग ने ही प्रद्युम्न नामक उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया था, यह पुराणों में प्रसिद्ध है), सत्या अर्थात् पत्नी सत्यभामा के आलिंगन रस से आनन्दित उस सब कुछ देनेवाले विष्णु की जय हो।

शिव के पक्ष में श्लोकार्थ—जिसने अन्धकासुर के कुल को धराशायी (भूमिशायी, भू + उषित + अन्धककुलः) बना दिया, यश एवंच दान देने के कारण (यशः + दानतः) जिसकी वेदवाणी में प्रसिद्धि है, युद्ध में स्थित जिसे देख देवता (रथक्षोणीयन्ता इत्यादि स्तुतियों

के माध्यम से) महारथी कहते है, जिसने अनंग को अपने तेज से क्षण भर में जलाकर शरीर-हीन कर दिया, अपनी पत्नी सती के आलिंगन रस से आनन्दित (सती+आश्लेषरसप्लुतः) उस शिव की (सर्वदा+उमाधवः) जय हो।

माधवाचार्य के पक्ष में श्लोकार्थ—वैदिक विषयों में जिसने अन्धकुकुल स्वामी दयानन्द के गुरु जन्मान्ध (अन्धक) स्वामी विरजानन्द के कुल आर्यसमाज नामक संस्था को धराशायी (भू + उषित) कर दिया, जो (स्वसंस्था सनातनधर्म को) यशस्वी बनाने के कारण (यशोदानतः) सुप्रसिद्ध है, युद्ध अर्थात् वाग्युद्ध (शास्त्रार्थ) में स्थित जिसे देख विद्वान् महारथी की उपाधि देते हैं (पण्डित जी शास्त्रार्थमहारथी नाम से विख्यात हैं), जिसने अनङ्ग अर्थात् अण्णाङ्गराचार्य को स्वपक्षसाधक पंचावयव वाक्यशून्य बना दिया (दक्षिण के पण्डित अण्णङ्गराचार्य से शास्त्रार्थ महारथी जी का वादविवाद बहुत देर तक चला था। उसमें शास्त्रार्थ महारथी जी ने उसे निरुत्तर कर दिया था), इस प्रकार के सभी को कुछ न कुछ देनेवाले सत्य के आश्रयण द्वारा (सत्य + आश्रयण····) रसात्मक ब्रह्म में समासक्त माधवाचार्य की जय हो।

मङ्गलाचरण के पश्चात् ६ श्लोकका प्रसङ्गावतार है। तदनन्तर ६ श्लोकों में परिशिष्टकार ने अपनी कुल परम्परा का परिचय दिया है। तत्पश्चात् प्रकृतविषय का निरूपण किया है। शास्त्रार्थ महारथी जी ने हिन्दी में 'क्यों' नामक एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी—

आलम्ब्य संस्कृतसमन्वयपद्धतिं तां
ग्रन्थाश्च तातचरणैर्बहवः प्रणीताः।
तेष्वेव बिस्तृततमः श्रुतिसारहृद्यः
'क्यों' नामकोऽखिलसुविज्ञमतः प्रबन्धः ॥[1]

उसमें शास्त्रार्थमहारथी जी ने समन्वय पक्ष को प्रतिपादित किया था। उन्होंने कहा था कि शैव वैष्णवों से भिन्न नहीं हैं और वैष्णव शैवों से भिन्न नहीं हैं—

वैष्णवाश्चापि नाशैवाश्शाङ्करा नाप्यवैष्णवाः।
राद्धान्त एव बहुभिः प्रमाणैस्तत्र साधितः ॥[2]

यह शास्त्रार्थ महारथी जी की दृढ़ मान्यता थी। बरेली के पं० राघवाचार्य ने श्रीवैष्णव-सम्मेलन नामक अपनी पत्रिका में इस मान्यता की आलोचना की। विवाद दक्षिण भारत तक भी पहुँचा। काञ्चीनिवासी पंडित सम्पत्कुमाराचार्य जी ने वैदिक मनोहरा पत्रिका में शास्त्रार्थ महारथी जी के मत के विरोध में एक विस्तृत लेख लिखा जिसका उत्तर उन्होंने (शास्त्रार्थ महारथी जी ने) अपनी पत्रिका लोकालोक के माध्यम से दिया। इस पर सम्पत्कुमाराचार्यजी तो चुप हो गये पर उनके श्वसुर जगदाचार्य स्वामी अण्णङ्गराचार्य ने एक कठोर चोट शास्त्रार्थ महारथी जी पर की। विनीत पुत्र प्रेमाचार्य से यह न सहा गया, उसने उस चोट का उत्तर इन १११ श्लोकों के माध्यम से दिया। शास्त्रार्थ महारथी जी के समन्वयवाद के राघवाचार्य कृत्त प्रतिवाद को दही से भरे पात्र पर ढेला मारने के समान कहा है—चक्रे दधिभरित महा-

---

१. श्लोक १६, पृष्ठ २९।

२. श्लोक १७, पृ० २९।

भाजने लोष्टपातम् । दाक्षिणात्यों ने उनके पिता पर चोट की थी इसलिये।उन पर उनका रोष स्वाभाविक ही था । दक्षिणात्यों को उन्होंने उच्चासन के मत्कुण (= खटमल) कहा है उनके मत में उत्तर के लोग ही शास्त्र के वचन का पालन करते हैं—

पालयन्त्युत्तरस्थास्तु चैतच्छास्त्रानुशासनम् ।
दाक्षिणात्यास्तु दृश्यन्ते उत्तुङ्गासनमत्कुणाः ॥[१]

उन पर और गहरी चोट करते हुए वे कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि जो ऊँचे हों उसकी पूजा हो हो, गाय, गंगा, पीपल का पेड़ ये सब भूमि पर होने पर भी पूजे जाते हैं जबकि धुआँ, कौव्वा, और राहु ऊँचे होने पर भी नहीं पूजे जाते—

भूमिस्था अपि पूज्यन्ते गोगङ्गाश्वत्थपादपाः ।
उत्तुङ्गा अपि नेज्यन्ते धूमध्वाङ्क्षविधुन्तुदाः ॥[२]

कहीं-कहीं तो यह रोष बहुत उग्र रूप धारण कर लेता है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्वा जीवनादपि ।
यैर्विज्ञैर्यावदायुष्यं स्वधर्मो नोज्झितो मनाक् ॥
तान् हि काकणिकालुब्धान् लिखता 'भवता' करः ।
न कम्पितो न रुद्धो वा ह्येषोऽस्ति महिमा कलेः ॥[३]

"जिन विद्वानों ने काम, भय, लोभ, और प्राणों की रक्षा के कारण भी जीवन भर तनिक भी स्वधर्म नहीं छोड़ा, उनको कौड़ियों के लोभी लिखते हुए आप लोगों का हाथ काँपा या रुका नहीं । यही है कलि युग की महिमा ।"

श्री प्रेमाचार्य जी को तनिक भी सन्देह नहीं है कि माधव और उमाधव दोनों एक ही हैं । श्रुति ने भी इसी तथ्य को प्रतिपादित किया—

माधवोमाधवाभ्यां या वर्तते श्रुतिसम्मता ।
तादात्म्यरूपता नात्र विचिकित्सालवाणिमा ॥[४]

श्री प्रेमाचार्य की वाणी से अपार आत्मविश्वास टपकता है । पितृभक्त पुत्र बीर घोषणा करते हुए कहते हैं—

शास्त्रार्थो न विभीषिका पितृकुले नोद्वेजको वाऽप्यसौ
वादेष्वेव हि बद्धकक्षवपुषां यातं वयो नोऽखिलम् ।
किन्त्वद्यावधि वेदधर्मरिपवः संमर्दिताः प्रायशो
हंहो सम्प्रति सम्प्रदायगुरवोऽभ्यर्च्या विपक्षाऽऽश्रिताः ॥[५]

"मेरे पिताश्री के लिये शास्त्रार्थ कोई विभीषिका नहीं है, न ही उससे उन्हें उद्वेग होता

---

१. श्लोक ४९, पृष्ठ ३३ ।
२. श्लोक ५०, पृष्ठ ३३ ।
३. श्लोक ८४–८५, पृष्ठ ३५ ।
४. श्लोक १०५, पृष्ठ ३८ ।
५. श्लोक ९३, पृष्ठ ३६ ।

है। हमने तो कमर कस रखी है। हमारी तो सारी आयु ही शास्त्रार्थ में बीती है। किन्तु अब तक प्रायः हमने वेदधर्म के विरोधियों का ही मर्दन किया है पर वाह रे! आज प्रतिपक्षी बने सम्प्रदायाचार्यों की भी हमें 'पूजा' करनी होगी।

श्री अण्णङ्गराचार्य के नाम को संस्कृत में अनंगारि रूप में रखते हुए श्री प्रेमाचार्य ने बहुत ही साहित्यिक ढंग से उन पर चुटकी ली है। उन्होंने कहा है कि आपके रंग-ढंग से आपकी वैष्णवता प्रकट नहीं होती, आप तो अनंगारि शिव लगते हैं, कालकूट के कारण शिव नीलकंठ हैं, आशीर्ष उनका शरीर सर्पों से भरा है, मस्तक पर अनंग को भस्म करने के लिये निकली हुई अग्नि की ज्वाला है; सो आपका कण्ठ भी शिवद्वेषी वचनों के कारण मलिन (नील) है। दुर्दप रूप सर्पों से आपका शरीर भी भरा है। दुर्दम मात्सर्य रूपी अग्नि की ज्वाला आपके सिर पर भी धू-धू कर जला रही है—

शर्वद्वेषवचोगरेण मलिना कण्ठोपकण्ठप्रभा
[1]आचूडं कवलीकृता तनुरहो दुर्दपकुम्भीनसैः।
मौलौ दुर्धरमत्सरानलशिला यावत्समुज्जृम्भते
तावद्वैष्णवता न, किन्तु भवतां जागर्त्यनंगारिता।

यद्यपि हरियाणा एक बहुत छोटा-सा राज्य है तो भी जैसा कि प्रस्तुत संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हैं, अर्वाचीन संस्कृत साहित्य की इसकी देन सुतरां अभिनन्दनीय है। हरियाणा का संस्कृत साहित्यकार अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है। अनेक विषम परिस्थितियों में भी वह साहित्य सर्जना में जुटा है। यह शुभ लक्षण है और उज्ज्वलतर भविष्य का परिचायक है।

---

१. कण्ठोपकण्ठप्रभा एवं आचूडम् में सन्ध्यभाव चिन्त्य है।

हरियाणवी

कैलाश चन्द्र भाटिया

यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से भारतवर्ष के मानचित्र पर हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में 'हरियाणा' राज्य की स्थापना अभी कुछ वर्ष पूर्व ही हुई है, पर सांस्कृतिक एवं भाषिक दृष्टि से 'हरियाणा' का महत्त्व अत्यन्त प्राचीन है। हरियाणा का सीधा संबंध प्राचीन 'कुरु' जनपद से है। डा० धीरेन्द्र वर्मा[1] ने प्राचीन जनपद के आधार पर इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित किया है :

प्राचीन जनपद	महाभारत के आधार पर	कुरु
महाजनपद	बुद्ध भगवान् के समय में मध्यदेश	कुरु
मध्यकाल के राज्य	मुख्य चीनी यात्री ह्वानसांग के आधार पर	स्थानेश्वर
सूबे और राज्य	मुसलमान काल में। अकबर।	दिल्ली
वर्तमान बोलियाँ	वर्तमान स्थिति में	खड़ीबोली तथा बाँगरू[2]

हरियाणवी का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। प्राचीनकाल का कुरुक्षेत्र ही आज इसकी सीमाएँ बनाता है। ग्रियर्सन[3] के अनुसार यमुना के पश्चिम की ओर दिल्ली के उत्तर तथा पश्चिम के क्षेत्र और दक्षिण-पूर्वी पंजाब[4] में यह बोली प्रयुक्त होती है। ऊपरी दोआब की यह स्थानीय हिन्दोस्तानी है जिसमें पंजाबी और राजस्थानी का अधिक मिश्रण है। खड़ीबोली, अहीरवाटी, मारवाड़ी तथा पंजाबी से घिरा हुआ यह क्षेत्र पटियाला, नाभा, जींद से चलकर करनाल रोहतक होता हुआ दिल्ली तक फैला हुआ है। जिला रोहतक केन्द्र माना गया है जिसके पूर्व में खाद्दर, दक्षिण में अहीरवाटी, दक्षिण-पश्चिम में शेखावटी, पश्चिम उत्तर में पछाद्धा और उत्तर तथा पूर्व में बाँगर क्षेत्र है। जैसा कहा जा चुका है यमुना नदी इसकी पूर्वी सीमा बनाती है यही कारण है कि बादली और नरेला तक वस्तुतः हरियाणवी ही है यद्यपि ये क्षेत्र हरियाणा राज्य में नहीं हैं यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'हलवासिया' जी का जन्म स्थान 'भिवाणी' (भिवानी) 'हरियाणबी' की सीमा पर स्थित है जिसके पूर्व में हरियाणवी है तो पश्चिम में शेखावटी।

यमुना के साथ-साथ वाले प्रदेश को खाद्दर (खादर) कहते हैं, समीपवर्ती बरसाती जल से भरा हुआ भूमि खंड 'डाब्बर' कहा जाता है। करनाल के समीप भूमि ऊँची-नीची है

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा-हिन्दी की बोलियाँ तथा प्राचीन जनपद, विचारधारा, १९५६ पृष्ठ २५।

२. 'बाँगरू' हरियाणवी का ही उपरूप है और कुछ भाषाविद् इसका पर्याय मानते हैं।

३. भारतका भाषा सर्वेक्षण, ग्रियर्सन, भाग ९, पृष्ठ १४९।

४. आजकल पृथक् 'हरियाणा' राज्य है।

और यही क्षेत्र 'बाँगर' कहलाता है, बाँगर विशेष प्रकार की कुछ ऊँची भूमि को कहा जाता है जो बरसात में नदी की बाढ़ में भी न डूबे। इसके अनुसार यह स्थान 'बाँगर' कहलाया जिसके आधार पर ही यहाँ की भाषा 'बाँगरू' कहलायी। डा० अम्बा प्रसाद सुमन[1] के अनुसार 'जो भूमि बैंगन की भाँति ऊँची उठी हुई मालूम पड़ती थी, उसे 'बाँगड़' नाम मिल गया होगा, क्योंकि देशज शब्द 'वंग' का अर्थ बैंगन ही है। देशीनाममाला (७।२९) में लिखा हुआ है—'वंगं वृन्ताकम्' यही 'वंग' शब्द स्वार्थ 'ड़' प्रत्यय के योग से 'वंगड़' हुआ और फिर वंगड़-बाँगड़-बाँगर रूप में विकसित हुआ। अतः उस बाँगर प्रदेश की बोली 'बाँगरू' कहलाई।'

करनाल तथा निखन (पटियाला) के आस-पास के स्थान इसके प्रमुख क्षेत्र हैं। पंजाबी का विशेष प्रभाव है जिसके फलस्वरूप 'अम्बाला'[2] की बोली भिन्न हो जाती है। जाटों की बोली होने के कारण 'जाटू'[3] नाम से भी अभिहित की जाती है। 'हरियाणवी' नाम हरियाणा के आधार पर पड़ा है। 'हरियाना' को 'हरियान', 'हरिण्यारण्य', हर्यरण्य (हरावन), हर्‌या (उद्दण्ड पशु) से व्युत्पन्न किया जाता है लेकिन डा० बाहरी[4] के मत से इसका विकास 'अहीर' से जिसे इस बोली में 'हीर' कहते हैं, हुआ है। आना का अर्थ स्थान या प्रदेश है जैसे राजपूताना, तलिंगाना हैं। 'हीराना' अहीरों का प्रदेश से हरियाना सिद्ध होता है। अहीर या जाट इस प्रदेश में हैं भी सबसे अधिक।'

यह बात भी नहीं भुला देनी चाहिए कि किसी राज्य की सीमाओं के साथ आवश्यक नहीं है कि तत्संबंधी किसी भाषा की भी सीमा वही हो। वस्तुतः ब्रज तथा राजस्थान के उत्तर में छछरौली, अम्बाला, मांडवी के दक्षिण की ओर जो लम्बा और चौड़ा समतल मैदान ही 'हरियाणा'[5] है जिसको पश्चिम में सतलज और पूर्व में यमुना घेरे हुए हैं।

यह भी उल्लेख है कि खड़ीबोली (कौरवी) हरियाणवी की सीमावर्ती बोली है। दोनों बोलियाँ पश्चिमी हिन्दी की उपभाषाएँ हैं, जाटों का बाहुल्य दोनों क्षेत्रों में है अतएव

---

१. हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप, पृष्ठ ११९।

२. अम्बाला की बोली पृथक् हो जाने के कारण 'अम्बालवी' नाम से अभिहित की गई है। जनसंख्या की दृष्टि से 'बाँगरू' के बाद इसका ही नम्बर आता है। यह पश्चिम में पंजाबी, उत्तर से पहाड़ी, पूर्व में सहारनपुर की खड़ी तथा दक्षिण में बाँगरू से घिरा हुआ क्षेत्र है। अम्बाला तथा पटियाला जिलों में घग्गर नदी के पूर्व में तथा करनाल की थानेसर तहसील में बोली जाती है। इस बोली के विशेष अध्ययन के लिए डा० कृष्ण स्वामी का 'शोध प्रबंध-अम्बालवी', पंजाब वि० वि० द्रष्टव्य है।

३. ई० जोजेफ़ की पुस्तक 'जाटू', बीइंग सम ग्रैमेटिकल नोट्स एंड ए ग्लोसरी अव् द लैंग्वेज अव् द 'रोहतक जाट्स' का उल्लेख ग्रियर्सन ने किया है।

४. ग्रामीण हिन्दी बोलियाँ, सन् १९६६, पृष्ठ ५८।

५. "हरियाणा" राज्य घोषित किये जाने पर उसको कुछ राजनैतिक सीमाओं में बाँधा गया है पर इधर चंडीगढ़ को लेकर पुनः उग्र विवाद खड़ा हुआ और तत्संबंधी निर्णय से चंडीगढ़ के स्थान पर पंजाब का कुछ भू-भाग हरियाणा को प्राप्त हुआ है।

दोनों भाषाओं की 'सीमावर्ती बोली'[१] में जहाँ एक ओर हरियाणवी का रूप विद्यमान हैं, वहाँ खड़ी का भी है।

प्रो० स्थाणुदत्त शर्मा[२] ने हरियाणवी बोली का विस्तार हरियाणा प्रदेश की सीमाओं से परे भी इस प्रकार स्वीकार किया है : "पूर्व की ओर वह यमुना नदी को पार करके मेरठ जिले में अपना स्थान बना चुकी है। वहाँ पर विशेष रूप से जाटों के परिवारों में, हमें शुद्ध हरियाणई सुनने को मिलती है। इस भाषा का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध हरियाण प्रदेश से है संभवतः उतना ही जाट लोगों से भी। यदि इस भाषा का परिचय यों दिया जाय कि जिला रोहतक तथा उसके आसपास के जाटों की भाषा को हरियाणई कहते हैं तो संभवतः ठीक मान लिया जाएगा। दिल्ली से दक्षिण पश्चिम की ओर नांगलोई, में तथा इससे भी और आगे तक रहनेवाले जाट लोगों में बैठने पर शुद्ध हरियाणई सुनने को मिलेगी। पश्चिम दिशा में तोशाम की पहाड़ी तक तथा इससे भी आगे तक एवं उत्तर की ओर जिला करनाल के अन्तर्गत अरोड़ लोगों के ग्रामों तक यही भाषा सुनने को मिलती है।"

इस प्रकार हरियाणवी का केन्द्र बिन्दु 'रोहतक' ही ठहरता है। यह संयोग ही है, कि अब तक किये गये कार्यों में सबसे उल्लेखनीय कार्य कुरुक्षेत्र वि० विद्यालय के भाषा शास्त्र विभाग के अध्यक्ष डा० जगदेव सिंह का 'कांगरू'[३] पर किया गया कार्य है। प्रो० जगदेवसिंह का सम्बन्ध भगवतीपुर से (रोहतक) है। लेखक ने अपनी भाषा को ही आदर्श भाषा मानकर शोधकार्य पूरा किया है।

हरियाणवी का इतना प्राचीन सांस्कृतिक महत्त्व होते हुए इस भाषा में साहित्य रचना नहीं की गई। जो कुछ भी लोक साहित्य मिलता है उसका कोई संग्रह नहीं किया गया है। थोड़े बहुत जो छोटे-छोटे गीत संग्रह मिलते भी हैं तो उनकी भाषा का स्वरूप ही बदल दिया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि हरियाणवी में प्राप्त साधु-सन्तों की वाणियों तथा स्त्रियों के विविध प्रकार के गीत—जच्चा, चैतो, गणपत, सुहाग, जकड़ी, बनड़ा, खोड़िया' संठजे आदि तथा सांग-संगीतों को संग्रहीत किया जाय।

ध्वनिग्रामीय दृष्टि से 'हरियाणवी' की कुछ विशेषताएं हैं। सामान्य बातों की ओर यहाँ ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

खड़ीबोली के दीर्घ स्वर—आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, के दो रूप हरियाणवी में

---

१. अभी तक सीमावर्ती क्षेत्र का सर्वेक्षण तथा शोधकार्य नहीं हुआ है। इस प्रकार के सर्वेक्षण महत्त्वपूर्ण होते हैं साथ में रोचक भी। ब्रज तथा खड़ीबोली के सीमावर्ती क्षेत्र का सर्वेक्षण डा० मनोहरलाल गौड़ ने किया है और अवधी तथा भोजपुरी क्षेत्र का डा० अमरबहादुर सिंह ने किया है।

२. हरियाणे की भाषा, सप्तसिंधु, १९६५-६६, पृष्ट ११३।

३. डा० जगदेवसिंह ने यह कार्य संयुक्त राज अमेरिका में रहकर सम्पन्न किया है और पी-एच० डी० को उपाधि मिली है। इसके कुछ अंश (अनुवादित) सप्तसिंधु के कुछ अंकों में प्रकाशित हो चुके हैं।

मिलते हैं—दीर्घ तथा किंचित् दीर्घ। सामान्यतः स्वतन्त्र रूप से इन स्वरों का उच्चारण दीर्घ है, पर संयुक्त व्यंजनों से पूर्व कम दीर्घ रह जाता है :

आॅद्दर,
बॆंस्सकणा, भैंसा
कोॅट्ठा, गोॅब्बर,

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ क्षेत्रों में द्वित्व तथा दो व्यंजनों के युग्म से पूर्व स्वर ह्रस्व हो जाते हैं, अट्टा, अद्धा, भुक्का, भित्तर, गड्डी, पुच्छा, आदि, पर हरियाणवी में ये स्वर ह्रस्व तथा दीर्घ के मध्य बने रहते हैं। हरियाणवी की इस विशेषता पर यान्त्रिक प्रणाली से कार्य होना चाहिए। तब ह्रस्व, दीर्घ तथा दीर्घतर रूप स्थिर हो सकेंगे, साथ में भौगोलिक सीमाएँ भी स्थिर करनी होगी। किस क्षेत्र में किस प्रकार का उच्चारण मान्य समझा जाता है इसके भाषिक भूगोल के आधार पर मानचित्रों का निर्माण करना होगा।

ह्रस्व स्वरों के भी ह्रस्व तथा ह्रस्वतर भेद हो सकते हैं क्योंकि द्वित्व से पूर्व स्वर और अधिक ह्रस्व हो जाते हैं, जैसे इँक्का, कुँप्पा, आदि।

द्वितीय अक्षर पर बलाघात के कारण पर शब्द की आदि स्थिति में ह्रस्व स्वरों का लोप भी हो जाता है।

व्यंजनों में मूर्द्धन्य 'ळ' विशिष्ट व्यंजन है जैसे, बादल, काला, पीला, फल, फलटा बाळटी, चाळीस, ताळा, आदि। इस विशिष्ट ध्वनि के अर्थभेदक युग्म भी मिलते हैं।

खाल = चमड़ा
खाळ = बड़ी खाई
ळाली = रक्तिमा
ळाळी = भूसी
गाल = मुँह का दांया-बांया भाग
गाळ = गाली

प्रो० स्थाणदत्त शर्मा[1] ने 'हाहँ्ल, गाहँ्ल, में हँ्ल' एक विशिष्ट ध्वनि कीं ओर भी संकेत किया है।

'ण' का प्रयोग व्यापक रूप में होता है, जैसे, मण, माणी, कूंण, छालाणी, सोणा उठणा, बैठणा आदि। 'ड' 'ढ' के साथ 'ड़' 'ढ़' भी प्रयुक्त होते हैं पर खड़ीबोली से भिन्न रूप में। सभी व्यंजनों के महाप्राण रूप मिलते है, र्ह, ल्ह, ळ्ह, व्ह, न्ह्, म्ह, य्ह आदि।

अल्पप्राणीकरण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है, जैसे लोब। लोभ।

'ड़' से पूर्व 'र' का आगम भी कुछ शब्दों में मिलता है, जैसे, भिरड़। भिड़। रस-ड़क। सड़क।

---

१. प्रो० शर्मा ने इन विशिष्ट ध्वनियों के कारण ही 'हरियाणवी' के लिए भिन्न लिपि की जोरदार माँग उठायी है। भिन्न लिपि के स्थान पर आवश्यकतानुसार हरियाणवी की विशिष्ट ध्वनियों को नागरी लिपि में ही जोड़ा जा सकता है। 'ळ' तो जुड़ भी चुका है।

'ह्' ध्वनि के भिन्न उच्चारण विभिन्न क्षेत्रों तथा स्थितियों में मिलते हैं। अक्षर के आदि में तो यह व्यंजन है, किन्तु मध्य तथा अन्य स्थिति में उच्चावरोही सुर मात्र है, जैसे ग्याह् रां, चौह् धा। डा० जगदेवसिंह ने इसके घोष तथा अघोष दो उपरूप स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार पद के आदि में स्वर के पूर्व तथा घोष वर्णों के बीच 'घोष' रूप आता हैं, अन्यत्र अघोष, जैसे

हार, राही—घोष
गोह पत्होर—अघोष

प्रो० स्थाणगुप्त शर्मा ने इसके क्षेत्रीय उच्चारणों की ओर भी ध्यान दिया है। उनके मतानुसार,

'हरियाणे के सबसे उत्तरीय तथा सबसे दक्षिणीय भागों में इसकी आवाज कुछ नुकीली सी एवं संवृत कंठ से निकलती हुई प्रतीत होती है। फिर ज्यों-ज्यों केन्द्रीय हरियाणे की ओर आते जाते हैं, त्यों त्यों उसका नुकीलापन कम होता जाता है और साथ ही कंठ भी संवृत से शनैः शनैः विवृत होता चला जाता है। एक बार अम्बाला, राजपुरा के पास वाले देहात का उच्चारण सुनिये, फिर कथेल, नरवाणे के आसपास का उच्चारण सुनिये और उसके अनन्तर रोहतक, महस, हांसी, के समीप पहुँचिये तब यह भेद स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो जाएगा। इसी प्रकार रेवाड़ी से दादरी और फिर हांसी, हिसार की ओर आने पर यह भेद देखा जा सकेगा। केंद्रीय हरियाणे में पहुचने पर 'कहदो' 'हली' आदि शब्दों के हकार की ध्वनि कम होते होते 'कहॅ्दी' 'सहॅ्ली' जैसी रह जाती है। इसीको हमने औरस्य ध्वनि कहा है।"

हरियाणवी ले लोक साहित्य का अध्ययन किया जा चुका है। हरियाणवी की सांस्कृतिक शब्दावली पर भी शोध प्रबन्ध स्वीकृत हो चुका है। आवश्यकता इस बात की है कि 'लोक साहित्य' का टेप पर संकलन किया जाय और उसे साहित्य को उच्चारणगत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न चिन्हों की सहायता से लिपिबद्ध किया जाय। हरियाणा बहुत प्राचीन जनपद से सम्बद्ध है अतएव यहाँ की विशिष्ट लोक सांस्कृतिक शब्दावली का एक सचित्र कोश तैयार किया जाय। ये सब कार्य अब सम्भव हैं क्योंकि हरियाणा को पृथक् राज्य का स्थान प्राप्त हो चुका है।

●

१. डा० शंकर लाल यादव, हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य, हि० एकेडेमी, इलाहाबाद।

हरियाणवी कवियों की हिन्दी साहित्य को देन

देवेन्द्र सिंह 'विद्यार्थी'

हिन्दी साहित्य के विकास तथा संवर्धन में हरियाणा का जो अमित योगदान रहा है उसका सामयिक अवलोकन अभी तक उपेक्षित-सा रहा है। इस लेख के माध्यम से मैं इस योगदान की महत्ता एवं व्यापकता का संक्षिप्त-सा परिचय प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास कर रहा हूँ।

१. जैन कवि

यह सर्व विदित है कि आदि कालीन हिन्दी काव्य का उद्‌गम अपभ्रंश के माध्यम से हुआ। अपभ्रंश काव्य में जैनधर्मा कवियों की गति विशेष थी। अतः हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि हरियाणा के प्राचीनतम कवि जिन्होंने हिन्दी साहित्य को समुन्नत किया वे जैनधर्मा थे।

इतिहास ग्रंथों में जिन आदिकालीन कवियों का उल्लेख हुआ है। उनमें कवि पुष्प या पुष्पदंत का नाम आता है। जैन मतावलम्बी कवि पुष्पदंत रोहतक के किसी निकट-वर्ती गाँव में पैदा हुए थे। इन को अब तक तीन रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी है। "तिसठि महां पुरिस गुणालंकार" बम्बई से श्री पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित होकर "श्रीमाणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला" में छप चुकी है। इसी ग्रंथमाला में इनकी दूसरी रचना "जसहर चरिउ" भी छपी है। तीसरी रचना "नाथ कुमार चरिउ" का सम्पादन श्री हीरालाल जी ने करके इसे "देवेन्द्र जैन ग्रंथमाला" में प्रकाशित किया है।

कवि पुष्प की गणना राज्याश्रयी कवियों के अंतर्गत की जाती है। किन्तु यह चाटुकार बिल्कुल नहीं थे। इसके विपरीत इनकी ख्याति "अभिमान मेरू" के रूप में पाई जाती है। स्वाभाविक है कि हरियाणावासी होने के नाते कुछ अधिक आत्मसम्मानावलम्बी हों। जीविका के दामों के बदले अपनी स्वतंत्रता बेचना इन्हें न रुचा होगा और इनके ससम्मान जीवन को देखकर दूसरे राज्याश्रयी कवियों ने इन्हें अभिमानी मान लिया होगा।

कवि पुष्प की रचना में ललित तत्त्व की प्रचुरता बताई गई है। यह उनके स्वभाव की सहृदयता का प्रमाण है। उनकी रचना में विरह का वर्णन अतिसुन्दर हुआ है, ऐसा आलोचकों का मत है। इस से उनके कवि-चित्त की सूक्ष्मान्वीक्षणता तथा आर्द्र एवं व्यापक सम्वेदना का पता चलता है। यह गुण उन्हें महाकवियों की श्रेणी में ला खड़ा करता है।

कवि पुष्प का रचना काल ९९५-९७२ ई० माना गया है। यह राष्ट्रकूट कृष्ण के सम कालीन कहे जाते हैं। शुक्ल जी ने इन्हें सम्वत् १०२९ में उपस्थित माना है।

कवि पुष्प के बाद जिन कवियों का हमें पता चल पाया है उनमें हरियाणा के कवि

बूचराज काफी प्रसिद्ध हैं। डा० प्रेम सागर जैन ने अपने ग्रन्थ "हिन्दी जैन-भक्ति-काव्य और कवि" में बूचराज की रचनाओं का विवरण इस प्रकार दिया है :

१. "मयणा जुज्झ" में, कामदेव और श्री ऋषभदेव का युद्ध वर्णन किया गया है। ऋषभदेव आत्म-संयम से उसका मुकाबला करते हैं। अन्त में जीत संयमी ऋषभदेव की होती है।

२. दूसरी रचना है "संतोष जय तिलक"। इस ग्रन्थ की रचना १५५१ के चौमासा में हिसार नगर में की गई थी, इस तथ्य का उल्लेख ग्रन्थ में किया गया है।

"संतोषहं जय तिलउ पंपिउ हिसार नयर मंझ में" ।। १२० ।।

३. तीसरी रचना है "चेतन पुद्गल ढमाल"। इस रचना में १३६ पद हैं। इस रचना द्वारा चेतन को विविध प्रकार से सावधान कर पुद्गल की संगति से हटा कर चिदानन्द की भक्ति की प्रेरणा दी गई है।

४. चौथी रचना है "टांडाणा गीत"। यह बणजारा जाति के लोक गीतों के ढंग की रचना है।

५. पांचवी रचना है "नेमि नाथ वसंतु" जिन में श्री नेमिनाथ के अकस्मात् वैराग्य लेने पर, प्रथम वसन्त आगमन के समम उनकी विरहिनी पत्नी राजोमती की मनोदशा का वर्णन है। इसी ग्रन्थ में लिखा है कि कवि बूचराज मूल संघ के भट्टारक पद्मनन्द की परम्परा में हुए थे।

६, छठी रचना का नाम है "नेमीश्वर का बारह मासा"। यह राजोमती की विरहा-वस्था का वर्णन है।

७. सातवीं और अंतिम रचना कवि के स्फुट पदों का संग्रह है।

कवि बूचराज के समान ही एक और जैन कवि हैं रूप चन्द पाण्डे। कवि रूप चन्द का समय १६८० से १६९४ तक रचना काल के रूप में दिया गया है। यह कुरु प्रदेश में सलेमपुर नाम के गाँव में उत्पन्न हुए थे, ऐसा इनकी रचनाओं में उपलब्ध अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध होता है। इनके पिता का नाम भगवान दास बताया गया है। यह जाति के अग्रवाल बनिया थे।

इनकी रचनाओं के निर्माण काल का सुस्पष्ट उल्लेख उपलब्ध प्रतियों के अधार पर निश्चित कर सकना सम्भव नहीं। इन्होंने अपने जीवन-वृत्त के विषय में भी कुछ अधिक सूचना नहीं दी।

उपलब्ध रचनाओं के नाम इस प्रकार दिये गये हैं :—

परमार्थी दोहा शतक (अन्य नामः रूप चन्द शतक); गीत परमार्थी, मंगल गीत प्रबन्ध, नेमिनाथ रासा; लघु, मंगल, खटोलना का गीत, सोलह स्वप्न फल, जिन स्तुति।

इसी शताब्दी के एक कवि आनन्दघन का भी उल्लेख मिला है। कवि आनन्दघन का दूसरा नाम लाभानन्द भी बताया गया है। इनका जीवन-वृत्त सुलभ नहीं। किन्तु यह १६८० से १७४५ सम्वत् तक विद्यमान रहे ऐसा इनकी रचना के आधार पर अनुमान किया

गया है। यह सिरसा के आसपास-पास किसी गांव के थे। यह भी अग्रवाल जाति के बनिया ही थे।

कवि लाभानन्द अथवा आनन्दघन ने जैन तीर्थङ्करों के स्तवन में एक ग्रन्थ "आनन्द घन बहत्तरी स्तवावली" लिखा था।

बूड़िया के बांसल गोत्रीय अग्रवाल कवि भगवतो दास ने २५ काव्थ ग्रन्थ रचे थे। यह भट्टारक महेन्द्र सेन के शिष्य थे।

मुनि हेम विजय रचित "पद नेमि नाथ" के तथा "भट्टारक रत्नकीर्ति" के भी फुटकर पदों के संग्रह मिल जाते हैं। यह भी इसी प्रदेश के सुपुत्र कहे जाते हैं। मुनि आत्माराम, कवि नत्थमल्ल तथा कवि डेढ़राज भी जैन कवि परम्परा से ही सम्बन्धित कहे जाते हैं।

२. सूफी कवि

हरियाणा में बहुत से सूफी कवि भी हुए हैं। उन में सब से पहले १३वीं शताव्दी के प्रमुख सूफी कवि फरीद का नाम सामने आता है। फरीद साधारणतः पंजाबी की उपभाषा लहंदा के कवि माने जाते हैं, किन्तु उन्होंने हिन्दी को भी अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाया था। शेख फरीद के दीक्षा गुरु दिल्ली के ख्वाजा कुतुबुद्दीन कहे जाते हैं। ख्वाजा साहव ने शेख फरीद को कुछ समय के लिए सिरसा हांसी की पीरी की वलायत पर नियुक्त किया था। ख्वाजा साहब का वसाल जिस समय हुआ था शेख फरीद उस समय हांसी में ही उपस्थित थे। यहीं के लोगों की अपने में अधिक अनुरक्ति देख कर, इस भय से कि कहीं उपासकों की अतिरंजित रागात्मक भावना उन्हें अहंमन्यता का शिकार न कर दे, आप पाकपटन आ गये थे।

शेख जी की हिन्दी रचनाएँ सम्भवतः उनके सिरसा, हांसी और दिल्ली वास के दिनों की ही कृतियाँ हैं। गुरु ग्रंथ साहब में शेख फरीद के दो पद भी हैं। जहाँ फरीद जी के श्लोक लहंदा भाषा में हैं वहाँ पदों की भाषा पर हिन्दी की छाप स्पष्ट है। कुछ अन्य संग्रहों में फरीद की हिन्दी प्रधान कृतियाँ भी मिलती हैं। किन्तु इन रचनाओं की प्रामाणिकता अभी संदेह का विषय है और स्वतन्त्रान्वीक्षण की अपेक्षा रखती है।

शेख फरीद के बाद हरियाणा के सूफी फकीरों में दूसरा प्रमुख नाम शेख शरफुद्दीन पानीपती का है। यह हज़रत शेख बू अली शाह कलन्दर के लकब से प्रसिद्ध थे। शेख शरफुद्दीन बू अली शाह कलन्दर के पूर्वज ईरान से आकर पानीपत में बसे थे। इनके घराने की भाषा फ़ारसी थी। भारत के जन्म जात होने से शेख जी को नित्य प्रति के प्रयोग हिन्दी भाषा का व्यावहारिक ज्ञान हो गया था, अतः फारसी के साथ साथ आप हिन्दी में भी कविता करते थे।

लोक में इनके अनेक दोहे प्रसिद्ध हैं। किन्तु अभी तक आप का रचा कोई ग्रंथ देखने में नहीं आ या और न ही आप के दोहों का कोई संग्रह ही मिल पाया है। इनकी रचना का लिखित सूत्र तथा मौखिक स्रोत द्वारा संककित यदि कोई संकलन प्रस्तुत किया जा सके तो तत्कालीन भाषा विकास तथा भावा के ऐतिहासिक स्वरूप का अध्ययन करने वालों के लिए

बड़े महत्त्व की वस्तु सिद्ध होगा। दिल्ली के बादशाह ग़यासुद्दीन तुगलक को आप पर बहुत श्रद्धा थी। उसने अपने पुत्र शाहजादा मुबारक को शिक्षा-दीक्षा पाने के लिए इनकी सेवा में भेजा था।

शेख बू अली शाह कलन्दर के पीछे इसी इलाके में बसने वाले एक दूसरे मुसलमान फकीर शेख जमालुद्दीन हांसवी थे। यह भी नसल से ईरानी थे। शेख जमाल अपनी रचना में उस प्रकार हिन्दी को रचा नहीं पाए जिस प्रकार कि शेख बू अली कलन्दर। सम्भवतः इनका जन्म और लालन-पालन भारत में नहीं हुआ था अतः हिन्दी इन्होंने माँ के दूध साथ नहीं प्राप्त की थी। इनकी रचना में हिन्दी और फारसी की शब्दावली अलग अलग एक ही छन्द के एक ही चरण में कन्धा से कन्धा जुटा कर चलती दिखाई देती है। तुक का पहला आधा हिस्सा तो फारसी में मिलता है और अन्त का आधा अंश हिन्दी में। तुकांत का अनुप्रास तो सर्वत्र हिन्दी में प्रयोग किया मिलता है। यह ढंग भारतीय मुसलमान लेखकों को अमीर खुसरो की देन समझा जाता है।

शेख जमालुद्दीन अपनी काव्य-छाप 'जमाली' करते थे। इनका रचा कोई ग्रंथ अथवा कोई संपादित संग्रह नहीं मिला है। जहाँ तहाँ पुराने घरानों में संग्रहीत सूफी कवियों की वाणी के साथ साथ इनके भी कतिपय छन्द मिल जाते हैं। इनकी रचना का छन्द विधान गजल की परम्परा के अनुसार है। शेख जमाली बादशाह हुमायुँ के समकालीन बताये जाते हैं।

इनके बाद कवि मुहम्मद अफजल कादरी का नाम आता है। अफ़जल कादरी ने दक्खन के किसी मीरां शाह मारूफ से सम्पर्क किया और सूफी पंथ में आ गए। यह मीरा शाह मारूग कीन्हीं महीउद्दीन कादरी के बेटे या खलीफे थे और इन्होंने मुहम्मद अफ़जल की सपुर्दगी अपने एक खलीफा मुहम्मद सुलतान को सौंपी थी। यह समाचार हमको मुहम्मद अफ़ज़ल की दक्खिनी में लिखी रचना 'महीउद्दीन नामा' से प्राप्त होते हैं। 'महीउद्दीन नामा' की एक प्रति हैदराबाद के अदारा-ए-अदबियाते उर्दू के संग्रह में सुलभ है। उनकी रचना 'बिकट कहानी' (१७२० ई०) की एक प्रति जो ११०३ हिजरी की लिखी है एडनबरा विश्वविद्यालय के संग्रहालय में है तथा दूसरी प्रति फारसी लिपी में लिखी हुई हैदराबाद के पूर्वोक्त संग्रहालय में है। 'महींउद्दीन नामा' का पता पहली बार यूरूप में ही मिला था। ब्रिटिश म्यूज़ियम तथा इण्डिया आफिस में इस रचना की प्रतियाँ सुरक्षित हैं। बलूमहार्ट की सूची में पहली बार इस रचना का उल्लेख हुआ था। अफजल रचित मर्सियों का पता "यूरोप में दक्खिनी मखतूतात" नाम की रचना में दर्ज है।

इनके अतिरिक्त हरियाणा में सूफी कवियों की एक खासी अच्छी परम्परा चली आयी है। किन्तु इन लोगों की न तो रचनाएँ ही सुलभ हैं और न इनके जीवन वृत्त ही मिलते हैं। तो भी इनका कुछ न कुछ उल्लेख कतिपय ग्रन्थों में मिल ही जाता है। ऐसे एक कवि हैं शेख बहाउद्दीन चिश्ती। वे ऐसे बजुर्गों में से थे जो जीवन भर कहीं एक जगह के होकर नहीं रहते बल्कि घूम फिर कर मानवता का शुभ सन्देश सब तक पहुँचाना अपना आदर्श रखते हैं। यह सरहिन्द, हांसी, हिसार, रोहतक पानीपत आदि शहरों में वर्षों रह कर एकता तथा

सौन्दर्योपासना का प्रचार करते रहे थे। रोहतक के मुल्ला अनवर तथा पानीपत के शेख अल्ला:दाद इनके गुरु थे। शेख बहाउद्दीन कुछ दिन उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात तथा दक्खिन में भी रहे थे। इन्हें रागविद्या से प्रेम था। कव्वाली की महफिलें, यह जहाँ भी जाते, जमती ही रहती थी। आप भी भारतीय संगीत विद्या में निपुण थे। इनकी रचना राग-रागनी के ही पदों के अन्तर्गत मिलती है।

रोहतक के शेख गुलाम कादर जीलानी इस पीढ़ी के अन्तिम प्रसिद्ध सूफी कवियों में थे जिनकी लड़ी शेख फरीद तथा शेख बू अली कलन्दर से आरम्भ हुई थी। बचपन इनका अपने मामा के यहाँ बीता जो कि धार्मिक प्रवृत्तियों के बजुर्ग थे। अतः बालक गुलाम कादर के मन पर उनके साधु-स्वभाव की गहरी छाप पड़ी। युवावस्था में, कुछ दिन जीवन यापन की दृष्टि से गुलाम कादर ने शाही फौज में नौकरी कर ली थी किन्तु नौकरी का बन्धन उस से बहुत दिनों निभाया न गया और वह फकीर हो गया।

फकीर हो कर गुलाम कादर जीलानी फिरके में दीक्षित हुआ। फकीरी में इन्होंने घोर तपस्या का मार्ग अपनाया। अल्पाहार की साधना में अपना दैनिक आहार केवल ११ तोले भर अनाज तक घटा लिया था। लोगों में इनके नाम के साथ अनेक सिद्धियाँ जुड़ी हुई है। किन्तु ये करामात दिखाना पसंद नहीं करते थे। इनके प्रभाव में आकर बहुत लोगों ने इसलाम ग्रहण किया था तो भी यह ग़ैरमुसलिमों को किसी प्रकार हेय या संकीर्ण दृष्टि से नहीं देखते थे। इन्होंने दो बार हज यात्रा की थी।

इन की रचना का कोई ग्रन्थ विशेष देखने में नहीं आया; न कोई अच्छा संग्रह ही मिलता है। जहाँ तहाँ लोगों के घरों में मिलने वाले फुटकर संकलनों में इन के रचे छन्द भी मिल जाते हैं। इनके छन्दों को लोग चौपाइयाँ कहते हैं किन्तु छन्द की दृष्टि से उन्हें किसी प्रकार भी चौपाई छन्द में नहीं गिना जा सकता।

शेख मूसा, शेख नसीरुलहक्क आदि इस परम्परा की अन्तिम कड़ियां कहीं जा सकती हैं। इनके बाद सूफी कवियों की हिन्दी रचना कट्टरता की मरुभूमि में खो गई।

३. सतनामी कवि

सूफी कवियों के अतिरिक्त सतनामी कवियों ने भी हिन्दी साहित्य को महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया है। सतनामियों ने १६७२ ई० में औरंगज़ेब की कट्टरपंथी नीति के विरोध में सशस्त्र टक्कर ली थी। रणक्षेत्र में इनके २,००० वीर खेत रहे थे।

सतनामी विचारधारा में न तो मूर्तिपूजा को स्थान है और न जातिगत भेद-भाव का ही चलन है। सभी सतनामी आपस में भाई-भाई का सा व्यवहार करते है। सभी एक साथ खान पान कर सकते हैं और बिना किसी भेद भाव के रिश्ते-नाते बना सकते हैं। ये लोग सिर पर बाल या चोटी आदि बिल्कुल नहीं धारण करते अतः इस कारण मुंडिया भी कहे जाते हैं। जात-पात छोड़ इनके यहाँ हिन्दु-मुसलिम का भी कोई अन्तर नहीं किया जाता।

सतनामी पंथ के केन्द्र दिल्ली, रोहतक, आगरा, फर्रुखाबाद, जयपुर और मिर्जापुर में है। इस पंथ के आदि प्रवर्तक वीरभान तथा दूसरे जगजीवनदास तथा दूलनदास माने जाते हैं।

इस पंथ के प्रवर्तक श्री बीरभान का जन्म नारनौल में बिजेसर ग्राम में, सम्वत् १६०० में हुआ था। ये दादू के समकालीन थे और सन्त रैदास की परम्परा में ऊधोदास के शिष्य थे। इसीलिए अपने को ऊधो का दास लिखते थे। इनकी वाणी पंथ की धर्म पुस्तक "पोथी" में संग्रहीत है। पोथी को जुमलाधार या चौकी में सिक्खों के गुरु ग्रन्थ साहब के समान ही पूर्ण सत्कार के साथ रखा जाता है। चौकी पर से ही इसे पढ़ा जाता है। इस पोथी की अनेक शिक्षाओं में १२ हुक्म प्रधान हैं जिन्हें "आदि उपदेश" की संज्ञा दी जाती हैं।

वीरभान जी के सहोदर जगजीवनराम भी उत्तम कवि थे। उनकी वाणी भी पोथी में शामिल मानी जाती हैं। इनका नाम कुछ लोग जोगीदास भी बताते हैं।

४. संत कवि

संत कवियों में सबसे प्रसिद्ध संत निश्चल दास हुए हैं। वे जिला हिसार के कूँगड़ ग्राम में एक जाट के घर पैदा हुये थे। बचपन में ही इनके मन में लालसा हुई कि वह संस्कृत सीख कर धर्म ग्रंथों का अध्ययन करें। किन्तु जाट का बेटा था इसलिए ब्राह्मणों ने इन्हें पढ़ानेसे इनकार कर दिया। बालक रंगरूप से अब्राह्मण नहीं दीखता था अतः उसने काशी जाकर अपने को ब्राह्मण का बेटा बता कर संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की। और वह भी इस हद तक कि वह स्वयं अभिमान से कह उठा—

सांख्य न्याय में श्रम कियो पढ़ि व्याकरण अशेष।
पढ़े ग्रन्थ अद्वैत के रह्यो न एकौ शेष।
कठिन जो और निबन्ध है जिनमें मत के भेद।
श्रम ते अवगाहन कियो निश्चल दास सवेद॥

कहते हैं कि इनकी बुद्धिमता से प्रसन्न होकर एक ब्राह्मण ने इन्हें अपनी पुत्री का दान करना चाहा परन्तु निश्चल दास ने अपना रहस्य खोल दिया। ब्राह्मण देवता ने नाराज़ होकर शाप दिया कि तुम्हारी दो शादियाँ होगी।

गृहस्थी से कब और किस की प्रेरणा से यह दादू के पंथ में प्रविष्ट हुए, इसका सप्रमाण कोई उल्लेख नहीं मिलता। अपने गाँव में ही रहकर यह वेदान्त का उपदेश देने लगे। बूँदी नरेश रामसिंह जी इनसे दीक्षित हुए थे।

इनकी रचनाएँ 'विचार सागर', 'वृत्तिप्रभाकर' तथा 'मुक्ति प्रकाश' हैं। "विचार सागर" मराठी, बंगला तथा अंग्रेजी में अनूदित मिलता है। स्वामी विवेकानन्द ने 'विचार सागर' के विषय में कहा था कि 'यह भारत के अन्तर्गत गत तीन शताब्दियों में लिखे गये किसी भी भाषा के ग्रन्थ से अधिक प्रभावशाली है।'

इनका जन्म १७६० में तथा निधन १८२० में हुआ बताया जाता है। स्वर्गवास के समय आप किहड़ोली गाँव में थे।

रोहतक ज़िले के छुड़ानी गाँव के साधारण जाट घराने में सम्वत् १७७४, बैशाख सुदी १५, को जन्में गरीबदास भी प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उनकी शिक्षा दीक्षा औपचारिक ढंग से कभी नहीं हुई। छोटी अवस्था में गाँव के अन्य समवयस्क बालकों के समान यह भी ढोर चराने जाया करते थे। जहाँ कोई साधु सन्त मिलता यह बालक तन-मन से उनकी सेवा

करता था। कहते हैं कि ऐसे ही उसे एक दिन भक्त कबीर ने साक्षात दर्शन दे कर अपना शिष्य बना लिया। अपनी वाणी में गरीबदास कबीर को ही अपना गुरु मानते हैं।

"दास गरीब कबीर का चेरा, सत्तलोक अमरापुर डेरा।"

किन्तु शारीरिक रूप से तो कबीर का मिलन सम्भव नहीं हो सकता था, अवश्य यह भावना का मिलन होगा।

इनका रचना का नाम 'हिरवर बोध' है। इसमें २४,००० पद कहे जाते थे किन्तु आज कल ७,००० से अधिक नहीं मिलते। उपलब्ध वाणी में साखी, सवैया, रेखता, झूलना, अरिल्ल, बैत, रमैनी, आरती और अनेक प्रकार के राग हैं। कबीर की रचना के ढंग पर ही गरीबदास की रचना भी बहुमुखी है। भाषा के विषय में भी इनके प्रयोग बहुरूपी हैं। अरबी फारसी, पंजाबी, राजस्थानी बांगरू आदि के शब्द उन्मुक्त भाव से प्रयुक्त हुए हैं। अध्यात्म-वाद की दृष्टि से भी गरीबदास की वाणी कबीर की वाणी के बहुत निकट आ जाती है। 'सद्गुरु' और 'स्मरण' पर गरीबदास की वाणी में बहुत ज़ोर दिया गया है।

गरीबदास सुखदेव मिश्र के शिष्य चरणदास के समकालीन थे। यह "घर ही मांहि उदास" की विचारधारा के पक्षधर थे। इन्होंने अपने गाँव ही में घर गृहस्थी का जीवन विताते हुए अपने सिद्धान्तों का उपदेश दिया था। १८३५ में छुड़ाणी गाँव में ही जीवन लीला समाप्त की। इनके जूते, लोटा, कटोरा तथा पलंग आदि अभी तक मठ में सुरक्षित हैं। प्रति वर्ष इनकी स्मृति में मेला लगता है।

ऐसे ही एक सन्त सन्तदास जी के शिष्य सन्त चतुरदास हो गए हैं, जिन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से श्रीमद् भागवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय तथा श्रीमद्भागवत के दशमस् स्कन्ध का भाषानुवाद किया था। यह अनुवाद सम्वत् १६५२ में हुआ था।

५. निर्मला संत कवि

कुरुक्षेत्र निर्मला सन्तों का अच्छा खासा केन्द्र रहा है। इसी जगह पर एक माननीय सन्त मानसिंह थे। इनके शिष्य गुलाबसिंह का इस क्षेत्र के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विकास में पर्याप्त योगदान रहा है।

सन्त गुलाबसिंह का जन्म तो पंजाब के सेखों नाम के गाँव में हुआ था, किन्तु इनका कार्यस्थल कुरुक्षेत्र ही रहा, जहाँ इनके गुरु सन्त मानसिंह जी का निवास था। सन्त गुलाब सिंह की माता का नाम गौरी तथा पिता का नाम राईया था यह उनके अपने ग्रन्थों के अन्तः-साक्ष्य से सिद्ध होता है। सन्त गुलाब सिंह विद्या अध्ययन के लिए काशी भी गए थे।

इनकी रचनाओं की संख्या २५ के ऊपर कही जाती है, किन्तु अभी तक केवल 'भावरसामृत', 'मोखपन्थ प्रकाश', 'प्रबोध चन्द्र', 'स्वप्न अध्यायी', 'रामगीता' तथा 'रामहृदय', ही मिली हैं। इनकी भाषा प्रौढ़ तथा रचना प्रांजल है।

सन्त आत्मासिंह थानेसर के सन्त रामसिंह जी के शिष्य थे। इनका जन्म कहाँ हुआ था तथा माता-पिता का नाम क्या था, इसका कुछ भी पता नहीं मिलता। किसी ग्रन्थ-सूची तथा किसी साहित्य के इतिहास ग्रन्थ में भी इनके बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

केवल इनका रचा एक ग्रन्थ 'वेदान्त प्रश्नोत्तर माला' हमारे निजी संग्रह में है। पूरे ग्रन्थ में कुल २६८ छन्द हैं, जिनमें वेदान्त के विषय में प्रश्नोत्तर पद्धति से चर्चा की गई हैं।

सन्त आत्मा सिंह कविता में अपना नाम 'जिन्द मृगेश' और 'जीवमृगेन्द' भी रखते थे।

कुरुक्षेत्र के निकट एक गाँव है ढड्डी। इस गाँव में गुरु तेगबहादुर जी की पुण्य स्मृति में एक रेरुद्वारा है। क्षौर इस गुरुद्वारा के पुजारी थे निर्मला सन्त भाई उज्जवल सिंह। इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं। पहली रचना है 'श्री गुरु नानक नारायण ध्यान' ओर दूसरी का नाम है, 'आत्मा अनात्मा विवेक।' 'श्री गुरु नानक नारायण ध्यान' मौलिक रचना है और सम्वत् १९१० में लिखी गई थी। 'आत्म-अनात्म-विवेक' संस्कृत से अनुवाद की गई है और १९११ में अनूदित हुई थी।

६. दरबारो कवि

हरियाणा में कुछ दरबारी कवि भी हुए हैं। उनमें सब से पहले कैथल वासी राजा जुगल किशोर भट्ट का नाम आता है। यह दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के बड़े मुसाहबों में से थे। बादशाह ने इन्हें राजा की उपाधि से विभूषित किया था तथा काफ़ी जागीर भी दी थी। इनके अपने कथनानुसार इनकी सभा में चार कवि-जन रहा करते थे। अपने आश्रित कवियों के नाम राजा जुगलकिशोर ने इस प्रकार गिनाए हैं।

१. रुद्रमणि ३. सुखलाल ३. सन्तजीव और ४. गुमान कवि।

इनका रचा अभी तक केवल एक ग्रन्थ 'अलंकार निधि' मिला है। इस ग्रन्थ की रचना १८०५ में हुई थी।

इस ग्रन्थ में ९६ अलंकार उदाहरण समेत वर्णन किए गए हैं। कवि ने अपने वंश के बिषय में भी सूचना दी है :

ब्रह्म भट्ट ही जाती को निपट अधीन नदान।
राजा पद मो को दियो महमद शाह सुजान। १।
कैथल जन्म स्थान है दिल्ली है सुखवास।
जा में विविध प्रकार हैं रस को अधिक विलास। ५।

बावल नगर के कवि मुकुन्ददास महाराजा कर्मसिंह पटियाला नरेश के आश्रित थे। इनका रचा एक ग्रन्थ 'रस शिरोमणि' अथवा 'रसिक शिरोमणि' तथा दूसरा 'सर्व संग्रह' मिला है। इसमें से 'रस शिरोमणि' ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने अपना परिचय दिया है—

आदि गौड़ द्विज वंस में मुद्‌गिल गीत सुजान।
कवि मुकंद इहि नाम निज बावल नगर सुथान। २१।

ग्रन्थ की रचना राजा कर्म सिंह के आदेश पर १८४९ वि० में हुई थी।

कैथल नगर में ही महाकवि भाई संतोषसिंह रहते थे। उन्होंने एक लाख से भी अधिक छंद रचे हैं। यह कैथल अधिपति राजा उदयसिंह के आश्रित थे। और यहीं इन्हें तीन गाँव, जागीर में, राजा ने दिये थे। यह जागीर उनके स्वर्गवास तक रही। कवि

संतोषसिंह का जन्म १७८८ सम्वत् में अमृतसर के निकट एक गाँव 'सराए नूर दीन' में हुआ था। इनके पिता का नाम देवासिंह तथा माता का नाम राजो था।

सम्वत् १८२१ में आपने 'अमर कोष' का भाषा-अनुवाद प्रस्तुत किया और १८२३ में 'नानक प्रकाश' की रचना कर ली। 'नानक प्रकाश' शीघ्र ही लोक-प्रिय हो गया था। इनके काव्य गुण तथा पाण्डित्य की चर्चा सुन पटियाला के काव्य-मर्मी राजा कर्मसिंह इन्हें सादर अपने यहाँ लिवा ले गए। किन्तु पटियाला का वातावरण इन्हें बहुत देर बाँध नहीं पाया। पटियाला में रह कर इन्होंने 'आत्मपुराण' का भाषानुवाद किया था।

सम्वत् १८२१ में कैथल नरेश राजा उदयसिंह महाराजा पटियाला से मिलने आए तो जाते समय कवि संतोषसिंह जो भी साथ लिवा ले गए। कैथल में कवि का मन रम गया फिर वह जीवन पर्यन्त वहाँ से उठ कर कहीं और नहीं गये।

इन्होंने १८२९ में 'जपुजी' पर 'गर्वगंजनी' नाम से टीका १८३१-३३ में 'बाल्मीकीय रामायण' का भाषानुवाद नथा १८०५ में अपनी महान् कृति 'गुरु प्रताप सूर्य' की रचना की। 'गुरु प्रताप सूर्य' समाप्त होने के थोड़े ही समय पीछे आप की इहलोक लीला भी समाप्त हो गई।

लाडवा भी मैणद्वाब की एक छोटी सी रियासत थी ! इन रियासतों को अंग्रेज़ी अमलदारी ने अधिकार च्युत कर दिया था और यह मामूली जागीरदार मात्र रह गए थे। यहाँ के एक रईस थे टीका निहाल सिंह जी। इनके आश्रय में रह कर कवि बंठासिंह, तथा कवि उज्ज्वल सिंह ने 'राम कथा' तथा 'कृष्ण चरित्र' आदि स्वांगो की रचना की। स्वांगों की यह रचना रासमंडी वालों के स्वांगों के अनुकरण पर हुई है। स्वांग के ढाँचे में लोक-गीतकारों की रचना रीति सफल हो सकती है, यहाँ उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा और रचना शैली के लिए गुंजायश नहीं। अतः रचनाओं का स्तर साधारण ही कहा जा सकेगा, फिर भी कलात्मक गुण से सर्वथा शून्य नहीं। राम कथा पर तो स्वांग रचना का यह इस क्षेत्र में पहला ही प्रयास देखने में आया है। कवि वग्गासिंह अपना काव्य उपनाम 'सफेद केहरी' रखते हैं। और कवि उज्ज्वल सिंह की काव्य छाप कवि 'ओं हरि' है। कवि उज्ज्वल सिंह ने अपने गुरु का नाम सन्त वीरसिंह लिखा है। कवि बग्गासिंह राम कथा का स्वांग रचने वाले हैं और कवि उज्ज्वलसिंह ने दो स्वांग रचे हैं : एक कृष्ण कथा परक है तो दूसरा 'ज्ञान गुटका' नाम से वेदान्त पर आधारित है। इन रचनाओं का रचना संवत् १८८९ बताया जाता है। अपनी किसम की एक मात्र रचनाएँ होने से राम कथा तथा ज्ञान गुटका का एक विशिष्ट स्थान है। इन रचनाओं का अध्ययन लोक-काव्य तथा नागरिक-काव्य के बीच का अन्तर समझने समझाने में बहुत सहायक हो सकता है।

दादरी के शम्भुदयाल जींद दरबार के आश्रित थे। यह जाति के गौड़ ब्राह्मण थे और महाराजा रणबीर सिंह जींद-पति के साथ शतरंज खेलने पर नियुक्त थे। इनको कविता करने का भी चसका था और रागविद्या से भी प्रेम था अतः यह राग रागनी के पदों में रचना करते थे। इन्होंने १९५९ सम्वत् में रुक्मणी मंगल की रचना की थी। इनके एक मित्र ने, जिनका नाम यह मूलचरण लिखते हैं, इनकी इस रचना को इनके अपने शहर दादरी में ही कथा के

रूप में बाँचा भी था। यह कवि के लोकप्रिय होने की दलील है। ग्रन्थ एक बार लीथो पर सं० १९६७ में दिल्ली से छपा भी था। हमने इसकी छपी हुई प्रति ही संगरूर डिस्ट्रिक्ट लायब्रेरी में देखी थी। छपाई अच्छी नहीं हो सकी अतः आरम्भ के दो तीन पद पढ़े ही नहीं जाते।

दादरी के ही कवि मनमोहन इन्हीं राजा रणबीरसिंह के आश्रित थे। वस्तुतः मनमोहन जी सितारिया थे और महाराज को सितार सिखाने पर नियुक्त थे। समय-समय पर कभी-कभी छन्द रचना भी कर लेते थे। इनका रचा केवल एक ग्रन्थ बताया गया है। रचना का नाम 'रणबीर प्रकाश' है और इसमें महाराजा के यश के ही छन्द हैं, कुछेक स्फुट छन्द भी हैं।

७. कुछ अन्य कवि

महाकवि तुलसीदास जी के शिष्य कवि आनंद राय लोक-विद्या पर लिखने वाले हरियाणवी हिन्दी कवियों में अग्रणी थे। उनके रचे 'कोक-मंजरी' तथा 'आसन-मंजरी' गन्थ बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। इन्द्रजाल तथा सामुद्रिक शास्त्र पर भी आपने 'बचन-विनोद' नाम का एक ग्रंथ रचा था। एक ग्रन्थ आपका काव्य दूषणादि के विषय में भी मिलता है।

अपने विषय की इन्हें पर्याप्त जानकारी थी। अपनी रचना 'कोंक-मंजरी' में इन्होंने लिखा है :

"कायथ कुल आनन्द कवि वासी कोट हिसार।
कोक कला इति रुचि करन जिन यह कियो विचार।"

और अपने ग्रन्थ "बचन-विनोद" में आपने गुरु के विषय में सूचना दी है :—

"नमो कमल दल जमल पग श्री तुलसी गुरु नाम।
प्रगट जगत जानत सकल जहं तुलसी तहं राम ॥२॥"

इस उद्धरण को देख कर कोई सन्देह नहीं रह जाता कि कवि आनन्दराम के गुरु रामचरित मानस के रचयिता तुलसी हो थे कोई अन्य तुलसी दास नहीं।

कोकमंजरी ग्रन्थ में रचना सम्वत् का उल्लेख करते समय लिखा है :—

"ऋतु बसन्त सम्वत् सरस सोरह सौ अरु साठ
'कोक मंजरी' यह करी धर्म कर्म कर पाठ ॥

'कोक मंजरी' की रचना कवि के प्रकाशित सम्वत् उल्लेख के अनुसार १६६० में थी। हुई 'वचन विनोद' का प्रतिलिपिकाल १६७९ है और शिव सिंह सेंगर ने इन्हें १७११ में उपस्थित कहा है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कोकमंजरी कवि आनन्द राय की युवा-अवस्था की रचना है। कवि का जीवन वृत्त ज्ञात नहीं। कोकमंजरी की रचना के समय यदि उनकी आयु के बीस पच्चीस साल हुए हों तो उनका जन्म १६३५-४० के लगभग माना जा सकता है। और अगर वे १७१५ तक भी जीवित रहे मान लिए जाएँ तो उनकी आयु ८० वर्ष के करीब बैठती है, जो अनुचित नहीं।

घरौंडा के कवि हृदय राम मिश्र, कवि भानु दत्त कृत 'रस तरंगिणी' के भाषानुवाद के लिए विख्यात है! 'सुदामा चरित्र' तथा 'धर्म समाध' नाम की इनकी दो रचनाएँ और कही

जाती हैं। 'रस तरंगिणी' के इनके द्वारा किये गए अनुवाद का नाम ग्रन्थ में ही 'रस रत्नाकर' भी लिखा है। इस ग्रन्थ का रचना काल १७३१ वि० बताया गया है। 'रस रत्नाकर' के आरम्भ में ही कवि ने अपना परिचय दिया है :—

गौड़ दस ते आने के बसे सबै कुरुखेत,
विप्र गौड़ हरियानिया कहै जगत इंह हेत ।।

'रस रत्नाकर' की रचना कवि के कथनानुसार कृष्णदत्त के पठनार्थ हुई थी :—

"भानुदत्त कृत संस्कृत रस तरंगिनी भाई,
कृष्ण दास के पढ़न को पोथी करी बनाई" ।।६०।।

यह कृष्ण सम्भवतः इनके पुत्र थे अन्यथा कोई प्रिय शिष्य। इन कृष्णदास का एक ग्रन्थ 'भागवत दशम स्कन्ध' भाषा में मिलता है, जिसकी एक प्रति का लिपी-काल १८२३ वि० दिया हुआ है।

विनोद में जिला हिसार के एक माधौदास कायस्थ नागौरी का उल्लेख मिलता है। माधोदास का कविता काल १८३७ वि० अनुमानित है। इनके पाँच ग्रन्थ, १-करुणावतीसी, २-नारायण लीला, ३-दधिलीला, ४-अवतारगीता तथा ५-मुहूर्त चिंतामणि नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा की गई हिन्दी हस्त लिखित ग्रन्थों की खोज में मिले हैं। इनका अधिक वृत्त कहीं नहीं मिला।

गार्सिन दि तास्सी ने १८६७ में वर्त्तमान एक कवि हरि बख्श मुशी का भी उल्लेख किया है। १८६७ से इनका रचा एक 'भक्तमाल' ग्रन्थ सोहना—-गुड़गांव, के एक छापापाना में छप रहा था। जिस में मेरठ के 'अखबारे आलस' के मुताविक ९०० पृष्ठ होने की सम्भावना थी।

सम्वत् १८७६ में कुरुक्षेत्र के कवि धर्मसिंह ने 'द्वादशस्कन्ध' भाषा की रचना की। इनकी और रचना 'कथा राजे भरथरी की' भी मिलती है। दूसरी रचना का रचना काल नहीं दिया हुआ। पिछले दिनों कवि धर्मसिंह रचित एक बृहद्-ग्रन्थ सिख इतिहास के विषय में आगरा की कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी इंस्टीट्यूट के संग्रह में भी देखा गया था।

'द्वादश स्कन्ध' भाषा ग्रन्थ में कवि ने राजा गोपी चन्द के योगी होने का वृत्तान्त पौराणिक ढंग से कहा है। इसी ग्रन्थ में कवि ने कुछ सूचना अपने विषय में भी दी है :—

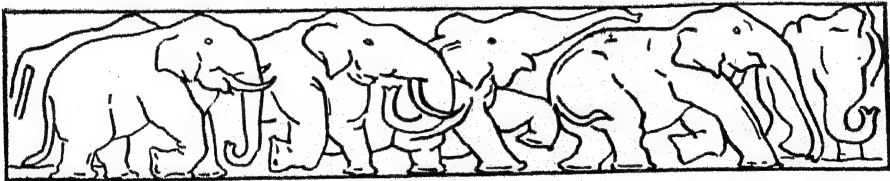
"सत्य तनय मृगराज तनुज नाहर सिंह जानो,
कुरुखेत्तर मैं बास जाति रघुबंसी मानो ।।१२०।।"

सम्वत् १९२४ में कुरुक्षेवासी कवि रास सिंह ने 'लघु रामायण' नाम से संक्षिप्त राम चरित्र की रचना की थी।

पण्डित जगद्धर शर्मा गुलेरी द्वारा सम्पादित "ए सर्चे रिपोर्ट फार हिन्दी मैन्यूस्क्रिप्ट्स

इन पंजाब'' में नारनौल के एक कवि रामदत्त का उल्लेख है जिसने श्री कृष्ण के भक्ति-भाव के पद रचे थे। गुलेरी जी ने ही नारनौल के एक दूसरे कवि श्रीधर का भी पता दिया है जो जाति का गौड़ ब्राह्मण था और वैद्य-शास्त्री बताया गया है। कवि श्रीधर ने सम्बत् १९७७ में एक छन्दो-बद्ध नाटक 'दया कुमार' की रचना की थी।

ऊपर हरियाणा निवासी पचास से ऊपर कवियों का संक्षिप्त-सा परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह अपनी किस्म का सम्भवतः प्रथम प्रयास है। इस सूची में केवल उन ही कवियों का नामोल्लेख किया गया है जिनके बारे में अन्तः साक्ष्य से या बहिर्साक्ष्य से यह सिद्ध है कि वे हरियाणा के थे। इनके अतिरिक्त शताधिक कवि ऐसे रहे हैं जिनके बारे में पर्याप्त गुंजायश है कि उनको हरियाणवी माना जा सके किन्तु स्पष्ट साक्षी न होने से इस सूची में उन्हें शामिल नहीं किया जा सका।



हरियाणा लोक-कथा : शिल्प और संस्कृति

भीमसिंह मलिक

यद्यपि लोक–कहानियों की सृष्टि लोकमानस की अद्भुत देन है तथापि हम लोकमानस पर होने वाली प्रभाव–प्रतिक्रिया तथा लोक परम्परा के माध्यम से समुत्पन्न उन तत्त्वों तक पहुंच सके है जो लोककथाओं का धूप-छाँह का निर्माण करने में सहायक रहते आये हैं। लोक-कहानी तथा लिखित कहानी में पहला अन्तर तो यही है कि एक लोकमुख की उपज है तो दूसरी लेखनी-मुख की। एक सजीव अंग से उद्भूत है तो दूसरी जड़ धातु से। लोक-कथा में कथक जीवित प्राणी है तो साहित्यिक कहानी का लेखक दूर तथा पाठक से अपरिचित रहता है। लोक-कहानी में से ही साहित्यिक कहानी पैदा हुई है; अतः लोक-कहानी का प्रभाव साहित्यिक कहानी पर भी देखा जाता है। वृहत्कथा से लेकर जातक तथा जैन-कथाओं की लिखित सामग्री का आधार लोक-परम्परा है तथा इस रूप में समस्त भारतीय कथा-साहित्य लोक-कथाओं से प्रभावित एवं सम्पुष्ट होता रहा है।

प्राकृत तथा पश्चिमी अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य में लोक-जीवन के स्वतंत्र छिटपुट प्रसंगों तथा लोक-प्रचलित कथानकों का उल्लेखप्रचुर मात्रा में है। इस संदर्भ में आचार्य द्विवेदी की यह सम्मति भी विचारणीय है कि "हाल की सतसई में जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ एक ऐसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है जो ईसा के पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य में बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रंथ में अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनों की प्रेमगाथाएं, ग्राम-वधूटियों की शृंगार–चेष्टाएं, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी·चित्रण, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि वातें इतनी जीवित, इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है।'[१]

पंडितों ने प्राकृत और संस्कृत की इन ऐहिकता-परक रचनाओं का कारण आभीर जाति के संसर्ग को माना है और आभीर जाति ग्रामों के स्वाभाविक वातावरण में निवास करती थी। वे नगरों की शिष्टता से दूर रहकर गोपालन के व्यवसाय में निरत थे। नगरों की संख्या तत्कालीन स्थिति से सर्वथा नगण्य थी और वह लोक-जीवन पर अपनी छाप अंकित करने में भी पूर्णतः असमर्थ थी। अतः ये फुटकर कविताएँ, अहीरों की प्रेमकथाएँ और उनके गृहचरित्र लोक-साहित्य में अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे और इनकी सरसता पंडितों से छिपी नहीं रही।"[२]

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १२१।

१. वही, पृष्ठ १२२।

आगे चलकर साहित्य में लोक-तत्त्व के माध्यम और उसकी विशिष्टता की ओर संकेत करते हुए आचार्य द्विवेदी की यह धारणा है कि (१) ऐहिकतापरक फुटकर पद्य और (२) लोक-प्रचलित कहानियों के गीतरूप; ये दो प्रकार की रचनाएँ विश्व के समस्त लोक-साहित्य में मिलती हैं। जाति की संस्कृति और धर्ममत के अनुसार इनके ऊपरी आकार-प्रकार में विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें आमुष्मिकता की चिन्ता बहुत कम थी।[1]

यद्यपि लोक-प्रचलित कथाओं के गीतरूप का संग्रह बहुत कम और वह भी पर्याप्त परिवर्तित रूप में प्राप्त है तथापि उनमें भारतीय लोक-कथानकों की एक यह स्थायी विशेषता दृष्टिगोचर होती है कि वे सदा किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को आश्रय बनाकर रचित होते हैं; परन्तु ऐतिहासिक घटना-परम्परा का उनमें नितान्त अभाव रहता है। इस कथन की संगत व्याख्या में यही कथनीय प्रतीत होता है कि भारतीय मस्तिष्क की प्रधान विशेषता है उसकी कल्पनाशीलता, जो कि लोक-कथाओं एवं साहित्यिक कथाओं का अविस्मृत अंग है। उदाहरणतः उस युग के प्रख्यात काव्यों—पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, पद्मावत आदि में बहुत सी लोक-प्रचलित गाथाएँ भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ संयुक्त कर दी गई हैं। अकेले पद्मावत के साक्ष्य पर यह विदित होता है कि उस युग में सपनावती, मुगधावती, मिरगावती, मधुमालती, प्रेमावती, उषा-अनिरूद्ध आदि की कथाएँ लिखित अथवा मौखिक किसी-न-किसी रूप में लोगों में प्रचलित थी।[2] और इन लोक-कथाओं के द्वारा लोगों का मनोरंजन होता था। यह क्षेत्र पूर्णतः जनसाधारण का था जहाँ धर्म का हस्तक्षेप न्यूनातिन्यून होता है और जो अपभ्रंश साहित्य की पश्चिमी परम्परा से लगभग चौदहवीं-पन्द्रहवीं शतियों तक तथा कई शताब्दियों बात तक प्रत्यक्षतः ग्रामों की बैठकों में कथानक और गान रूप से चलता आ रहा था। पौराणिक धर्म ने इन लोककथानकों का प्रवाह किंचित् मंद करने की चेष्टा की थी और यह उपेक्षित भी होने लगा था (किन्तु सूफी साधकों ने पुनः पौराणिक कथानकों के स्थान पर इन लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर अपने धर्म-प्रचार के कार्य को नवीन मोड़ प्रदान किया। और तब से लेकर आज तक इन लोक-कथानकों में अनेक प्रकार के परिवर्धन-संशोधन अनेक कारणों से होते आ रहे हैं किन्तु इनकी सातत्यता लोक और साहित्य में मात्रा-काल-भेदानुसार निरन्तर अखंड गति से वर्तमान रहती आई है।

लोक-कथाओं के मूल में शिल्प की दृष्टि से दो तत्त्व सबसे अधिक मौलिक और मुख्य माने जा सकते हैं। इनमें (१) वस्तु तथा (२) कथन का ढंग। वस्तु के अनुसार पात्र खोजे जाते हैं और वातावरण पैदा किया जाता है। कथन-शैली हमें संवादों तथा वर्णनों में से ले जाकर कथन-फ़ल की उपलब्धि कराती है। प्रत्येक लोक-कहानी फलमूला होती है और कथक हमें अपने व्यक्तित्व तथा वर्णन के चक्र में डाल कर फलागम तक ले जाता है। अंग्रेजी ढर्रे पर लिखी गई आज की कहानियों में इसे उद्देश्य कहते हैं।

वस्तु अथवा कथा-पट की रचना में कथक लोक-जीवन की जानीमानी अनुभूतियों तथा घटना-शृंखलाओं का आश्रय लोक-रुचि तथा विश्वास उत्पन्न करने के लिए लेता है।

---

१. वही, वही पृष्ठ।

२. सं० वासुदेवशरण अग्रबाल, कड़वक २३३

दूसरी और उसे अपनी कहानी में कुछ विचित्र रंग भी भरने पड़ते हैं जिससे कि वह आकर्षण तथा कुतूहल का भ्रम अथवा रहस्य श्रोताओं के भीतर बुन सके। जीवन से ऊबे हुए प्राणियों को कल्पना के मनोरम क्षणों में जीना बहुत सरस तथा मधुर लगता है। अतः भारतीय लोक-कथा की भूमि में दो सामान्य तत्त्व सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं; एक लौकिक जीवन से सम्बद्ध तथा दूसरा अलौकिक विश्वासों एवं धारणाओं पर आधारित। यही कारण है कि भारत विदेशियों के लिए रहस्य, जादू तथा रोमांस की भूमि रहता आया है क्योंकि यहाँ की लोक-कथाओं में विचित्र-तत्त्व का दैनिक जीवन के परिधि-तत्त्व के साथ अनोखा संयोग प्राप्य है। यहाँ की परियाँ भी अपने सौंदर्य, शरीर तथा काम-मानस की दृष्टि से मानवी जादूगरनियाँ दिखाई देती हैं। भारत तथा ईरान की लोक-वार्ताओं में अयथार्थ का धुँधलापन सा है। अफ्रीका की जन्तु-कथाओं तथा ग्रिम-कहानियों की भाँति इनमें भी पशु-पक्षी मनुष्यों की तरह बोलते हैं। खास-खास कहानियों में जादुई चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इनमें दानव, परी तथा नागरानियों जैसे पात्र मिलते हैं। जीव तथा वस्तुएं कभी लघु रूप तो कभी बृहद् रूप धारण करती हैं। हवा में उड़ना, रूप-परिवर्तन, अदृश्य होना आदि घटनायें द्रुत गति से निरन्तर घटती रहती है। इन तत्त्वों की पृष्ठभूमि में पुराणों की धर्मगाथाओं, प्राचीन विश्वासों के अवशेषों तथा स्थानीय देवताओं और आस्थाओं के मूल है। कुछ विद्वानों के मत में पारलौकिक भावनाएँ भी इन कथा-भूमियों में कार्यशील रही हैं। किन्तु जहाँ दानव तथा मनुष्य साथ-साथ रहें, जहाँ वस्तुओं के रूप बदलें मनुष्य जल पर चलें, वहाँ पारलौकिक तत्त्व शून्य ही दिखाई देता है। पात्रों का अन्तर्धान, विषद्वारा प्रदत्त आरोग्य, प्राकृतिक नियमों की प्रतिकूलता, आग की ठंडक, मुर्दों का संजीवन जादू के धात-प्रतिघात इन कथाओं में पदे पदे सुलभ हो जाते हैं।[१] यहाँ तक कि एक कहानी में गाय का गोबर भी सोने का बताया गया है।

लौकिक-तत्त्व को व्यक्त करने वाले उपकरणों में दूध-दही की चर्चा, सोने तथा रत्नाभरणों, किसान-व्यापारीवर्ग, सराय-धर्मशाला, जल-संकट, अकाल, राजाओं के ऐश्वर्य' प्रजा की पीड़ा, सौतेली माताओं के दुर्व्यहार, रमते जोगियों के तपोबल, चोर-सिपाहियों की आँख मिचौनी, तीर्थ स्नान, यात्रा, सामुद्रिक जहाज, विमान, पद्मिनी नारी आदि वस्तुओं, व्यक्तियों तथा संस्थाओं का पुनः पुनः दिग्दर्शन होता रहता है। इन कहानी-सूत्रों में हमें अधर्म की जीत तथा धर्म की हार भी कई बार देखनी पड़ती है और वह भी हृदय कड़ा करके। साधारण कन्याओं का विवाह राजकुलों में हो जाता हैं। रंक को सिंहासन पर आसीन तथा मूर्खों को सम्पत्ति में लोट-पोट होते देख हम भाग्य के विधान पर मुग्ध से हो जाते हैं। इन परिचित तत्त्वों के सूत्र भारोपीय संस्कृति की सामान्य धारा के अतीत में भी खोजे जा सकते हैं।

हरियाणा की कथाओं के मुख्य वृत्त विवाह तथा प्रेम की समस्याओं से उत्पन्न होते हैं। विवाह को लोग वरदान समझते थे तथा सौंदर्य की खोज में नागलोक, अप्सरालोक तथा भूलोक का कोना-कोना छान डालते थे। सशर्त विवाह प्रचलित थे। रूप-गुण तथा धनसम्पन्न

---

१. स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑव् फॉक लोर, माइथोलॉजी एण्ड लीजैन्ड, जिल्द एक, ए–I, १९४-६, न्यूयार्क E पृष्ठ—५१६–१७।

कुबेर-कन्याएँ और ऐश्वर्यशाली राजकुमार तथा श्रेष्ठिपुत्र विवाह से पहले शर्तें लगाते थे।' 'बातग्य नार' में लड़के ने शर्तं लगाई है तथा उरवसी अर राजकुमार में गंधी की बेटी उर्वशी ने। विवाह सर्वथा व्यक्ति के अधीन नहीं था। बिरादरी के नियमों द्वारा अनुशासित था। अपहरण की घटनाएँ ऐसी स्थिति में स्वाभाविक हो जाती हैं। प्रेम की साधना के लिए लोग योगी हो जाते थे। नारी के सतीत्व की परीक्षाएं भी घटनाक्रम को कथा-विस्तार की ओर ले जाती हैं। पद्मिनी नारी भी कथाओं को जन्म देती हैं। तोता-मैना परम्परा की समस्त कथाएँ स्त्रियों के अवगुणों तथा पुरुषों के अविश्वास पर आधारित हैं। सामान्य वैवाहिक सुविधानों के अभाव में सामाजिक जीवन में संशयालुता बढ़ जाती है। ऐसी कहानियों में अवचेतन मन की गहनता दर्शनीय है।

कुपात्र को दान देने से पैदा हुई घटनाएँ, धर्म-संकट की जीवन-स्थिति, आपसी अविश्वास, युक्ति-कौशल द्वारा कार्य-सिद्धि, भाग्यवाद, धार्मिकता तथा लोक रीतियों का पालन ऐसी दैनिक घटनाएँ हैं जिन से साधारण रूप में तथा यत्र-तत्र अपवाद रूप में भी कथाएं शुरू होती हैं और बढ़ती जाती हैं। घटनाओं की अधिकता इन कथाओं के रचनाविधान का अटल नियम है। परिस्थितियां तथा पात्र घटना-केन्द्रित हैं। घटनाओं में असंभाव्य का अंश भी संभाव्य की तरह आया है। कल्पना का यहाँ प्रभुत्व है। कपोल-कल्पना इनकी खूबी है। दीन दुखी जब बहुत अधिक तंग होते तो कुएँ की कोटी पर सो जाते थे। मृत्यु की घटनाएँ और आत्महत्या की ये चेष्टाएँ भी तो कहानियों को गति प्रदान करती हैं। कभी घटना में से घटनाएँ निकलती हैं तो कभी घटना के ऊपर घटनाओं की श्रृंखला चली चलती हैं।

कहानियों में पात्रों की संख्या भी अधिक है। छोटी से छोटी कहानी में भी तीन से कम पात्र नहीं मिलते और बड़ी कहानियों में तो यह संख्या दस से पन्द्रह तक पहुँच जाती है। राजा, रंक, धनी-व्यापारी किसान, पुरोहित, देव-दानव, नर-नारी, भटियारिन और जादुगरनी योगी, भोगी-डोम-डोमनी, जल्लाद, सैनिक, मंत्री तथा गुरु-शिष्य आदि सभी पात्र कहानियों में अपनी लीलाएँ दिखाते हैं। बड़ी कहानियों में नायक-नायिकाओं के साथ खलनायक भी आये हैं। पशु पक्षी भी मनुष्यों के साथ कार्य में जुटे रहते हैं। हंस तथा शेर के बच्चे भी कृतज्ञता दिखाते हैं। वे भी मानवी विश्व के प्राणी माने गये हैं। इन कहानियों में चरित्र-चित्रण नहीं के तुल्य हैं। हां, कहीं-कहीं प्रधान पात्रों का चरित्रांकन थोड़ा-बहुत अवश्य हो जाता है जैसे 'काणो ब्राह्मण' में ब्राह्मण का तथा 'उरवसी अर राजकंवार' में दोनों के चरित्र की हल्की सी झलक मिल जाती हैं। कारण कि इन कहानियों का लक्ष्य समष्टिगत प्रभाव का है; चरित्र की रंगरेखा के उभार का नहीं।

संवाद लोककथाओं में मिलते तो हैं पर उनका अंश अति न्यून है। महादेव-पार्वती की वार्ता भी कहानियों में सुनी जाती है पर उसमें एकरसता है, विविधता नहीं है। एकाध स्थान पर संवाद कहानी में बाधा डालकर नई परिस्थिति को जन्म भी दे देते हैं, यथा, वातर्‌य नार 'में जब पत्नी ने पति को जूता मारने से रोका तो उसने व्यापार करने की ठानीं। 'चिड़िया और मूसी' की कहानी में बाल-सुलभ चंचलता तथा रोचकता से पूर्ण संवाद मिलते हैं। 'जाड्डा बालू मा' में आदि से अन्त तक दो शेरों का और बाद में शेरों तथा हिरन का

संवाद चलता है । 'सपने में हनुमान' तथा 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' उक्तिमूलक हास्य-कहानियों में संवाद बड़े चुटीले तथा व्यंग्यपूर्ण हैं । हास्य-व्यंग्य तथा बाल कथाओं के संवाद सजीव तथा सुन्दर हैं ।

वातावरण का रंग लोक-कहानियों की अपूर्व शोभा है । लौकिक तथा अलौकिक वातावरण का ऐसा काट-कम्बल इन में छाया रहता है कि कहानी से बाहर के विश्व की प्रकाश-रेखाएं दिल और दिमाग की खिड़की में झांक भी क्या लेंगी ? जादू का रहस्यमय तथा योग-धूनी का साधनात्मक और चमत्कारपूर्ण वातावरण भी मिलेगा और राजमहलों में द्वेष-विद्रोह तथा शंकुलता की अग्नि भी धधकती मिलेगी । अधिकांश कहानियों में ग्रामीण समाज का प्रसार देशकाल के भीतर दिखाई देता है । राजाओं तथा सेठों के भव्य भवनों में भी ग्रामीण रीति-नीति तथा आचार-व्यवहार का क्रम मिलता है । राजकुमार मज़दूरों की भाँति कार्य करते हैं । राजकुमारियाँ महलों की छतों पर केश सुखाती तथा झरोखों से गली में झाँकती हैं और सेठ का लड़का तेली के यहाँ छः रोटी पर नौकरी करने लगता है । चौपड़-सार का खेल राजभवनों तथा भटियारिन आदि सब के यहाँ चलता था । पंडित जी राज-पुरोहित हैं तथा धानक बकरी चराने वाला है और दोनों एक ही मार्ग से क्रमशः अपने अपने स्थान पर जाते हैं । राजा सुल्तान और निहालदे वन में उसी प्रकार सोते हैं जैसे कि खाती, सुनार और दरजी के पुत्र । ये कहानियाँ कृत्रिम वातावरण तथा अभिजात-चेतना से बिल्कुल शून्य हैं । ऊँच नीच का भेदभाव भी इनके अन्तर्गत नहीं है ।

लोक-प्रथाओं के सुस्पष्ट चित्र इन में अंकित किये गये हैं । यात्रा तथा यात्रा-विश्राम का दृश्य देखिये :

'राह में चालते चालते रुखां की एक बगीची दिखाई दी । आछे गोल-गोल छतरियां के अर खूब ऊँचे-ऊँचे पेड़्डे खड़े थे । साथै एक कूआ अर धरमशाला । कूँए पै जा कै पाणीं खींचा, हाथ धोये अर चूरमें की पोटली खोल कै खाण लाग ग्या । धोरे एक कुत्ता बी पूँछ हिलाता जा जीभ काढ़ कै राल टपकाता जा । अर तू जाणैं बालक बी रोट्टी खाते धौरे आ ए जायां करै ।'

वधू के गृह-प्रवेश की झांकी भी कम आकर्षक नहीं । लोकमर्यादा तथा गौरव का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है 'चल्लाक लड़का' कहानी में "छोरा बहू मैं गोरै जाल तलै छोडच, अपणींमा पै भाज्या भाज्या गया अर बोल्या, मा । तेरी बहू गोरै बैठची से, जा कै उसनैं लीया । मा नैं झट गाल की लुगाइयां ताहीं बहावा दिया, सारी कट्ठी हो कै गीत गान्ती गोरै तैं बहू मैं धरां ल्याई । मा की छाती बहू नैं देख कै सीली हो ग्यी ।'

पर्व बने तथा चौपाल में बैठे लड़के का हुलिया एक ही पंक्ति में स्पष्ट कर दिया गया है :

'परस (चौपाल) मैं मूढ़ा पै बैठचो हुक्को पीवण लाग्य रह्यो से ।'

सेठानी द्वारा ब्राह्मण से दान का संकल्प छुड़ाने का का वर्णन देखिए :

'सिठाणी नैं हाथ पै हाथ धर लियो, ब्राह्मण नैं उसकी चलू मैं पाणीं गेर्‌यो अर मंतर पढ़ दियो ।'

संवाद प्राय: लोक-कहानियों में कथन-पक्ष को सुदृढ़ करते हैं। वस्तुत: लोक-कथाओं की शैली सर्वसाधारण के अनुकूल तथा आडम्बरहीन होती है। कथन के उत्साह और अनुभव के साथ शैली में अन्तर अवश्य आ जाता है। अधिकांश कथाओं की शैली गद्यात्मक होती हैं। गद्य में भी लय की अनुध्वनि कई स्थानों पर मिल जाती है। सीधे-सीधरे ढंग से कहानी कही जाती है। बनावट और अतिरंजना यहाँ लेशमात्र भी नहीं होती। हाँ, अतिशयोक्तिपूर्ण कथन अवश्य उपलब्ध होते हैं।

कुछ कहानियों के मध्य अथवा अन्त में पद्य भी मिलते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित शैली से कहानी में चमत्कार सा आ जाता है, जैसे दीपक में तेल डालने से लौ की चमक बढ़ जाती है। 'पद्मनी' कहानी में नीति की व्यंजना करने वाला दोहा देखिए :

गंज्जा काणां कोतरा ओछी गरदन होय।
इन च्यारां तैं तब बोलिए जब हाथ में लीत्तर होय॥

'बैय्या अर बान्दर' तथा 'रानी महकावली' की कहानियों में भी चम्पू शैली के दर्शन होते हैं।

मुझे एक कहानी गीत-शैली में भी मिली है। हरियाणा का लोकसाहित्य छानते-छानते मेरा समागम जिस कहानी से हुआ; वह इस प्रकार है : किसी महाराजा के दो लड़के थे। वे दोनों मृगया के लिये जाया करते। बड़ा विवाहित तथा छोटा कुमार था। कुमार ने एक दिन मृगया में अपने बड़े भाई का बध करके बन में डाल दिया। वह अपनी भाभी को हथियाना चाहता था। राजधानी में लौटने पर भाभी ने अपने पति के विषय पूछा कि वह कहाँ हैं ? देवर ने कहा कि उन्होंने वन में धूम मचा रखी है। इससे औरत को संशय हुआ और वह बन में गई। एक लाश को देखकर बोली कि चलो इसे देखते हैं, देवर ने कहा कि ये तो कोई गीदड़ या कुत्ता मरा पड़ा हैं। भाभी ने जब देखा तो वही उसके पति का शव था। उसने अपने देवर को बहुत भला-बुरा कहा अन्त में देवर को आत्मग्लानि हो गई। गीति-कथा इस प्रकार है:—

'अपने छज्जै पै खड़ी ए केश सुखाऊँ,
देवर आण्य कै घर बड़या मेरे राम।
और दिनां देवर दोनों आवते,
आज एकला क्यों आया मेरे राम।
म्हारा बीरा छत्तरधारी बड्डा खिलाड़ी
बण में धूम मचाई मेरे राम।

× × ×

एक बण चाल्ले दो बण चाल्ले,
तीजे में चील मंडराई मेरेराम।

× × ×

कै गादड़ कै कुत्ता ए मर्या से,
तुम्हनै बांस आवेगी मेरे राम।

पल्ला उपाड्य कै देखण लाग्यी
यो मेरी नणदी का बीरा मेरे राम।
अच्छा हो देवर चन्दण कटाई ए,
चिता बनाइये मेरे राम
भस्मी बनाइये फूल ढुवाइये
इस नै गंगा में पौहंचाइए मेरे राम।
तेरे हो देवर कीड़े हो पड़ियो।
भाई का बसा बसाया उजाड़ा मेरे राम।
बीरा मार्‌या सितम गुजारिया,
तो बी मेरी ना होई मेरे राम।[1]

कहानी का आदि तथा अन्त भी कथा-शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता हैं। कई बार तो कहानी दो पात्रों के संवाद द्वारा आरम्भ की जाती है जैसे च्यार ढाल का वेकूप डोम-डोमनी के संवाद से शुरु होती हैं। कभी बात में हुकारा और फौज में नगांरा' वाक्य से ही कहानी फूट पड़ती है। कई बार कथक नाटकीय शैली के द्वारा कथा आरम्भ करने के लिए उत्साहित होता है। अहीर कालेज रिवाड़ी की पत्रिका में छपी कहानी 'राजा भोज मुसलचंद इन पंक्तियों से शुरु होती है।

बात की बात, बात की खुराफ़ात,
कीड़ी का धक्का, मच्छर की लात,
राम बनावे तो बचे नहीं तो बचने को नहीं आस।
और एक बैल का सींग साढ़े सत्तरा हाथ।
अब सुनो हमारी बात।
एक राजा थो, उंह को नाम भोज थो।

'महकावली' कहानी के आदि में एक पद्य-प्रस्तावना प्रकृति तथा जीवन के भावाभाव की ओर संकेत करती हुई प्रस्तुत की ओर मुड़ जाती है,

ससी बिन सूनि रैंन, ज्ञान बिन हृदो सूनो।
घर सूनो बिन पूत, पात बिन तरुवर सूनो।
गज सूनो बिन दंत, हंस बिन सागर सूनो :
घटा सूनी सावनी बिन चमकै दामिनी
राजा कहे बेताल सुनो भई घर सूनो बिन कामनी।

बात में हुंकारा अर फौज में नंगारा राजा कै सात छोरा थे। छः ब्याहा था अर एक कुआरा'।[1]———

---

१. नादान हरियाणवी : हरियाणा लोकगीत संग्रह, पृ० १२९-१३१, १९६२, दिल्ली।

१. डा० शंकर लाल यादव : हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य, पृ० ३६९, शीर्षक—लोक कथा से उद्धृत।

संवाद प्राय: लोक-कहानियों में कथन-पक्ष को सुदृढ़ करते हैं। वस्तुत: लोक-कथाओं की शैली सर्वसाधारण के अनुकूल तथा आडम्बरहीन होती है। कथन के उत्साह और अनुभव के साथ शैली में अन्तर अवश्य आ जाता है। अधिकांश कथाओं की शैली गद्यात्मक होती हैं। गद्य में भी लय की अनुध्वनि कई स्थानों पर मिल जाती है। सीधे-सीधरे ढंग से कहानी कही जाती है। बनावट और अतिरंजना यहाँ लेशमात्र भी नहीं होती। हाँ, अतिशयोक्तिपूर्ण कथन अवश्य उपलब्ध होते हैं।

कुछ कहानियों के मध्य अथवा अन्त में पद्य भी मिलते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित शैली से कहानी में चमत्कार सा आ जाता है, जैसे दीपक में तेल डालने से लौ की चमक बढ़ जाती है। 'पद्मनी' कहानी में नीति की व्यंजना करने वाला दोहा देखिए :

गंज्जा काणां कोतरा ओछी गरदन होय।
इन च्यारां तैं तब बोलिए जब हाथ में लीत्तर होय॥

'बैय्या अर बान्दर' तथा 'रानी महकावली' की कहानियों में भी चम्पू शैली के दर्शन होते हैं।

मुझे एक कहानी गीत-शैली में भी मिली है। हरियाणा का लोकसाहित्य छानते-छानते मेरा समागम जिस कहानी से हुआ; वह इस प्रकार है : किसी महाराजा के दो लड़के थे। वे दोनों मृगया के लिये जाया करते। बड़ा विवाहित तथा छोटा कुमार था। कुमार ने एक दिन मृगया में अपने बड़े भाई का बध करके बन में डाल दिया। वह अपनी भाभी को हथियाना चाहता था। राजधानी में लौटने पर भाभी ने अपने पति के विषय पूछा कि वह कहाँ हैं? देवर ने कहा कि उन्होंने वन में धूम मचा रखी है। इससे औरत को संशय हुआ और वह बन में गई। एक लाश को देखकर बोली कि चलो इसे देखते हैं, देवर ने कहा कि ये तो कोई गीदड़ या कुत्ता मरा पड़ा हैं। भाभी ने जब देखा तो वही उसके पति का शव था। उसने अपने देवर को बहुत भला-बुरा कहा अन्त में देवर को आत्मग्लानि हो गई। गीति-कथा इस प्रकार है:—

'अपने छज्जै पै खड़ी ए केश सुखाऊँ,
देवर आण्य कै घर बड़्या मेरे राम।
और दिनां देवर दोनों आवते,
आज एकला क्यों आया मेरे राम।
म्हारा बीरा छत्तरधारी बड्डा खिलाड़ी
बण में धूम मचाई मेरे राम।

× × ×

एक बण चाल्ले दो बण चाल्ले,
तीजे में चील मंडराई मेरेराम।

× × ×

कै गादड़ कै कुत्ता ए मर्या से,
तुम्हनै बांस आवेगी मेरे राम।

पल्ला उपाड्य कै देखण लाग्यी
यो मेरी नणदी का बीरा मेरे राम।
अच्छा हो देवर चन्दण कटाई ए,
चिता बनाइये मेरे राम
भस्मी बनाइये फूल ढुवाइये
इस नै गंगा में पौहंचाइए मेरे राम।
तेरे हो देवर कीड़े हो पड़ियो।
भाई का बसा बसाया उजाड़ा मेरे राम।
बीरा मार्‌या सितम गुजारिया,
तो बी मेरी ना होई मेरे राम।[1]

कहानी का आदि तथा अन्त भी कथा-शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता हैं। कई बार तो कहानी दो पात्रों के संवाद द्वारा आरम्भ की जाती है जैसे च्यार ढाल का वेकूप डोम-डोमनी के संवाद से शुरु होती हैं। कभी बात में हुकारा और फौज में नगांरा' वाक्य से ही कहानी फूट पड़ती है। कई बार कथक नाटकीय शैली के द्वारा कथा आरम्भ करने के लिए उत्साहित होता है। अहीर कालेज रिवाड़ी की पत्रिका में छपी कहानी 'राजा भोज मुसलचंद इन पंक्तियों से शुरु होती है।

बात की बात, बात की खुराफ़ात,
कीड़ी का धक्का, मच्छर की लात,
राम बनावे तो बचे नहीं तो बचने को नहीं आस।
और एक बैल का सींग साढ़े सत्तरा हाथ।
अब सुनो हमारी बात।
एक राजा थो, उंह को नाम भोज थो।

'महकावली' कहानी के आदि में एक पद्य-प्रस्तावना प्रकृति तथा जीवन के भावाभाव की ओर संकेत करती हुई प्रस्तुत की ओर मुड़ जाती है,

ससी बिन सूनि रैंन, ज्ञान बिन हृदो सूनो।
घर सूनो बिन पूत, पात बिन तरुवर सूनो।
गज सूनो बिन दंत, हंस बिन सागर सूनो :
घटा सूनी सावनी बिन चमकै दामिनी
राजा कहे बेताल सुनो भई घर सूनो बिन कामनी।

बात में हुंकारा अर फौज में नंगारा राजा कै सात छोरा थे। छः ब्याहा था अर एक कुआरा'।[1]———

---

१. नादान हरियाणवी : हरियाणा लोकगीत संग्रह, पृ० १२९-१३१, १९६२, दिल्ली।

१. डा० शंकर लाल यादव : हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य, पृ० ३६९, शीर्षक—लोक कथा से उद्धृत।

कहानियों के अन्त मे भी पद्य-कथन की रीति पाई जाती है। कथा में सरसता, सजीवता तथा तारतम्य की दृष्टि से अन्तिम प्रभाव के छींटे को विस्मृत नहीं किया जा सकता। बालकथाओं में तो कहानी की समाप्ति पर बच्चों की दृष्टि और ध्यान को इधर-उधर करना और भी आवश्यक है। कारण कि इससे न केवल उनका उनमें कूतूहलोदय होता है बल्कि उनके और कहानी सुनाने के आग्रह को भी टालना सम्भव हो जाता है। बुढ़िया कथा के अंत में दो चार जकड़ियाँ फेंक देती हैं :

'दम्मां दाणीं, खतम कहाणीं
दम्म पुराणां, हरिया काणां
दो बिलाइयाँ नै कुआ जोड़्या
काग नाक्का तोड़ ग्या
बिलाई रुक्का दें सैं——।
मूसा कि तै टांग टूट गया
चवनियाँ गुड़ दें सै—— ।''

अधिकांश कहानियाँ सुखान्त हैं। एकाध कहानी दुखान्त भी मिलती हैं। जैसे, 'जो राही तै डिगैगो ओही पड़ैगो' में राजा ने दतक-पुत्र के बध की योजना बनाई पर मारा गया उसमें हमारी सहानुभूति राजा के बेटे के साथ रहती हैं अतः दुख भी होता है। 'चल्लाक लड़का' की कहानी का अन्त न दुखान्त है, न सुखान्त बल्कि युक्ति चमत्कार में होता है। बुद्धि-कौशल की प्रखर ज्योति हमें चकाचौंध कर देती है। 'दाने की कहानी' का अन्त आकस्मिक तथा नाटकीय है जो कुछ खटकता सा है, 'अच्छा, छोड्डू सूं, अर न्यू' कह कै नाड्य तोड़य दी तोत्ता की। दान्ना भर गया। सब अपणों घरां आग्या अर सुख तें रहण लाग्या।

लोक-कहानी की सीधी-सादी अनलंकृत शैली का ठेठ ठाठ तो देखिए—

"ओह हिन्दू उसनैं अपणैं घरीं ले ग्यो,
दरवाज्जा मैं प्यलंग बिछवा दियो, न्हाण नैं
तात्तो पाणीं मंगवा दियो अर रसोई दई चढ़वा।"

—आतिथ्य का वर्णन।

इन्द्र के अखाड़े की अप्सराओं का वर्णन भी आया है। नृत्यगान करने के बाद इन्द्र की आज्ञा से वे 'उडण-खटोला' में बैठ कर स्नान करने गई। विश्रांति गृह का वर्णन देखिए :

"उन नैं देख्या क्ये ! अक सातवाँ का न्यारा-न्यारा सात कमरा सैं। सभ मैं लट्टू लाग्य रह्या सैं। बात क्ये सै वै जोर-जुलम जगमगा रह्या सैं। वैं उत न्हाई ओह बी न्हायो।"

एकार्थक शब्दों के स्थान पर भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दों की योजना भी लोक-शैली का एक मनोहर अंग है। यथा,

"आधी रात्य कै बखत, चांद उगमण कै समै, राणीं
कै छोहरो हुयो, धा नैं उसको नाम धर्‌यो चन्दरहास।"
वा "तूं मेरी मा कोनी।" लड़का गुस्सा में था अर वा भी किरोध मैं थी।

इन कहानियों में कहीं-कहीं प्रतीक-योजना का भी आभास होता है। 'हंस अर धोबी' में हंस सज्जनता का तथा धोबी दुर्जनता का प्रतीक बन कर उपस्थित हुआ है। 'काणो ब्राह्मण' में हंस-हंसणी में देव-पुरुषों तथा इन्द्रपुरी में विमान द्वारा जाने में मोक्ष की प्रतीति होती है। धन-शोषण का कर्मफल-लीद का ढेर तथा दान-संकल्प पूर्ति का फल-बिल्लोरी पत्थर की पौड़ियाँ, भी प्रतीकार्थ का बिम्ब-संकेत प्रदान करते हैं। निष्कर्ष रूप में यही कहना है कि लोक-कथा की कोई शैली नहीं होती। शैली तो व्यक्ति की होती है। उदाहरणतः डा० रणसिंह शर्मा ने मातनहेल ग्राम के दो कथकों द्वारा सुनाई गई कहानी 'ब्यार ढाल का बेहुद्दा' टेप-रिकार्ड की है। कथक हैं पं० प्रेमसुख तथा रामनिवास। किन्तु कहानी का परिवेश भी भिन्न है और शैली भी अलग है। अत्यन्त संक्षेप में कहानी कह देना हरियाणा लोक-कथा की प्रौढ़ता का अंश है।

लोक-कथा एक समष्टिगत प्रयोग है। अतः इनमें सामूहिक मनोरंजन की भावना पाई जाती हैं। सबके लिए और बहुजन हिताय में ही लोक-कहानी का जन्म हुआ है। मनोरंजन की मात्रा बालकथाओं तथा हास्य-व्यंग्य कहानियों में क़ाफी ज्यादा है। धार्मिक कथाएँ धर्म-भावना को जगाती हैं। शेष कहानियाँ लोकनीति की शिक्षा प्रदान करती है। लोक-व्यवहार, लोकाचार तथा लोकानुभूति को व्यक्त करना इन कथाओं का मुख्य उद्देश्य है। लोक-जीवन तथा मानस की सूक्ष्म व्यंजनाएँ जिस परिमाण में लोक-कहानियों द्वारा प्रस्फुटित होती हैं उस परिमाण में अन्यत्र कहाँ? 'एक लड़का की चल्लाकी' कहानी में लोगों की अन्तर्वृत्ति तथा कथक की समीक्षा-दृष्टि की तीव्रता तो देखिए :

१. मलगरीब-गुरबा का बालक नैं कूंण ब्याहवै सै।
२. तूं जाणैं, बालक की आद्दत्य होए सै वो रोट्टी
   खांता धोरैं आ ए जायो करै। वो बोल्यो—
   टाब्बर की एक दो बर की हो सै,
   हट हट कै टूक मांगणो आच्छो नहीं।
३. लोभ लाग्यो बाणीयो, चूंट्टै लाग्यी गां।
   बहावड़ै तो महावड़ै, नां चाल्यो ए जां॥
४. तूं जाणैं सै, गाड्डी नैं देख कै लाड्डी का पां फूल जायो करैं सैं।
५. जिस को काम चाल्य जा, तू जाणैं, उस तैं भाई-बंध जलण लाग्य ज्यां सैं।
६. मल सुणीं-सुणाई बातां पै वो अकीन नहीं करतो।
७. मरतो आदमी की बात नैं पुग्गावण की कोशिश सब्भै करयो करै सै।

'काणो बाह्मण' कहानी में भी कुछ सर्वमान्य तथ्य तथा विश्वास अति सुन्दर ढंग से प्रकट हुए हैं—

---

१. इतणीं सुण्य कै बाह्मण को कित थ्यावस (संतोष) थो।
२. करणीं का भोग ताः भागेणा ए पड़ै सै।

अन्य कहानियों के कुछ तथ्य यहाँ दिये जाते हैं—

१. पाँच आदमीं कहैं उस बात नैं मान ले, ओह बी एक छोट्टा-मोटा राज्जा हो सै।

२. फांस्सी टूटण तैं पहल्यम बूझयी ए करें अक
किसै तैं मिल्लण नैं जी करतो हो क कुछ
खांण नैं मन करतो हो तो बता।
३. मरण तैं डरता नैं उसनैं क्यां तैं नींद आवै थी।
४. सुपनां की बातां पै अकीन करै सै, आच्छी बावली सै।
५. दिन्नां नैं जांती क्ये बार लाग्गै सै, वो दिन बी आयो।
६. चा (चाव) मैं माणस नैं काम करती क्ये बार लाग्गै सै।
७. महादे बोल्या—जाण बी दे, दुनिया सै,
इस में कोये दुखी सै तै कोये सुखी सै,
कोये रोवै सै कोये हंसै सै। तूं बीर की जात्य,
क्यों टंटा मैं पड़यो करै, कहं कहं को भलो करैगी।
८. जित खाण-पीण की चीज हूँ सैं, उत तूं जाणै, मुसटो को पेसगार होए जायो करै।
९. चहे राज्जा हो चहे परज्जा। भगवान की माया उसकै आग्गै क्ये, बस चाल्लै सै।

लोक-जीवन के स्वरूप की कितनी निष्कपट अभिव्यक्ति इन सूक्तियों में मिलती है "मानव की अन्तःप्रकृति के सूक्ष्म कणों की इनमें कमी नहीं है। लोक-रीति तथा चरित्र की झलकियाँ भी स्वतः मुखर हो उठी हैं। लोकसंस्कृति का अत्यन्त स्पष्ट रूप लोक-कहानी में अनायास ही छलक उठता है। लोकनीति की शिक्षा का इससे बड़ा साधन और हो नहीं सकता। जटिल जीवन की घुंडियों (Coplexities) का प्रत्यक्ष दर्शन यहाँ होते देर नहीं लगती। मानो जीवन का सर्वांश और सत्त्व, लोहा तथा सोना, खरा-खोटा और उभार-उतार खुले शब्दों में निचोड़ दिया गया हो। अतः लोक-कथाएँ लोकमानस के प्रेय-श्रेय की सच्ची तथा सही तस्वीर खींचने के दिशा-संकेत प्रदान करने में पूर्णरूपेण सक्षम हैं।

कथानक रूढ़ियाँ : जीवन-विश्वासों तथा मानस-दृष्टि के चित्र

सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। अभिप्राय, जिसे अंग्रेजी में 'मोटिव' कहते हैं, उस शब्द अथवा एक-साँचे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं जो समाज की परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और समान प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है।[1] प्रत्येक देश के साहित्य में अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य-सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और यांत्रिक ढंग से इनका प्रयोग होने लगता है। इनको रूढ़तन्तु भी कहा जाता है। हरियाणा की लोक-कथाओं में लोक विश्वास पर आधारित कुछेक रूढ़ियाँ निम्न-लिखित हैं—

१. संख्यावाचक रूढ़ियों में चार, सात, नौ तथा बारह की संख्याएँ आई हैं। च्यार अणमोल बात, सात समुद्र, बेटा-बेटी रानी, दिन तथा वर्ष। नौ लखा हार, नौ किरोड़ी लाल, बारह धूने इत्यादि।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८५-८६, शीर्षक-कथानक रूढ़ि।

२. दानवों का अपने महल में प्रवेश करते ही 'सूं सां माणस की गंध आवै सै' कहना, दावनों द्वारा अपनी योनि तथा परयोनि परिवर्तन। आदमी को मंत्र मार कर मेंढा, मक्खी तथा पत्थर बना देना। दानव की जान सात समुद्र पार के कुएँ के भीतर पिंजड़े में तोते के भीतर होना। नर-भक्षी डायन का वर्णन। दानव का मनुष्य को देख कर एक बार हंसना तथा एक बार रोना और हास्य-रुदन का कारण बताना।

३. पशु-पक्षियों का मनुष्यों के साथ रहना तथा बातचीत करना।

४. राज प्रकोप का वर्णन, "चूच्ची-बच्चों को कोल्हू में पेलना" वा भूगर्भस्थ करा के कुत्ते छोड़ना।

५. रानियों का किसी वस्तु की प्राप्ति हेतु आसण-पात्ती (अनशन पाटी) लेकर पड़ जाना।

६. अपनी प्रजा के कष्टों को जानने के लिए राजाओं का वेश-परिवर्तन कर रात्रि में घूमना।

७. पुत्रहीन सौतों द्वारा पुत्रजन्मा रानी के पुत्र को उठाकर काठ की संदूक में बंद कर नदी में बहा देना तथा रानी की शय्या पर पर पत्थर रख देना।

८. माता के दूध की धार का बच्चे के मुँह में जाना—मातृ-वात्सल्य की पहचान।

९. भले आदमियों के लिए साँप का लाल (माणिक्य) बनना तथा लालची सेठ के लाल का साँप बनना।

१०. आपत्ति को टालने के लिए तिल अथवा जौ की बाड़ लगाना।

११. जादू की रस्सी, सोटे तथा करणीं का वरदान।

१२. साधुओं, योगियों तथा विशेषतः महादेव-पार्वती द्वारा संकट-ग्रस्त मनुष्यों का उद्धार।

१३. अपराधियों द्वारा जल्लादों को रत्न तथा द्रव्य देकर प्राण-रक्षा।

१४. सदाव्रत द्वारा बिछुड़े हुए प्रेमियों का मिलन।

१५. अमरफल का वर्णन और चिर-यौवन की साधना।

१६. जादू की टिकली-बिन्दी द्वारा अदृश्यता की प्राप्ति। सारंगीवादन द्वारा अप्सराओं का आगमन।

१७. आत्महत्या की चेष्टा में कुएँ की कोठी पर सोना।

१८. पारिवारिक जनों का कटाक्ष सुनकर कठिन कार्य की प्रतिज्ञा लेकर घर छोड़ देना।

१९. धन को पीपल नीम की जड़ों के नीचे दबा देना।

२०. राजकुमारियों का महल पर खड़ी होकर केश सुखाना।

राजा की शर्त पूरी करने पर आधा राज और लड़की का डोला भेंट करना।

कहानियों की विशेषताएँ :

जिस प्रकार भारतीय संस्कृति की विविधता में भी एकता का तत्त्व छिपा हुआ है इसी प्रकार पंजाब से बंगाल और उड़ीसा तक की लोक-कथाओं में स्थानीय-भिन्नता से परे

कुछेक सामान्य-तत्त्वों का विकास पाया जाता है। सम्पूर्ण उत्तर-पूर्व की इन कथाओं में निम्न-लिखित विशेषताएँ देखी गई हैं :—

(क) सर्वमंगल की भावना।

(ख) मानव की मूल प्रवृत्तियों का चित्रण।

उदाहरणतः 'एक लड़का की चल्लाकी' में धोबी के लोभ, गोपाल के वस्त्र-मोह, अश्वारोही की सरलता, और बुढ़िया के पुत्री-प्रेम का निरूपण।

(ग) प्रेम का अभिन्न पुट तथा अश्लीलता का अभाव।

(घ) संयोग तथा सुख में कथा की समाप्ति।

(ङ) रहस्य, रोमांच, अलौकिकता तथा युक्ति चमत्कार का संमिश्रण।

(च) धार्मिक तथा दार्शनिक हिन्दू दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति। आस्तिकता, कर्मफल तथा पुनर्जन्म आदि मान्यताओं पर बल।

हरियाणा की लोक-कहानियों में जातीय विशेषताओं का विवरण तो है किन्तु जाति-भेद और साम्प्रदायिक कटुता की ध्वनि रंचमात्र भी सुनाई नहीं पड़ती।

सात्त्विक जीवन की कामना से तभी कथाएँ अनुप्राणित हैं। मद्य-मांस के सेवन का जिक्र तक नहीं आता। पंचायत, चौपाल, योगियों तथा संन्यासियों के प्रति सम्मान का भाव, अतिथि-सत्कार और शरणागत की रक्षा परम धर्म मानी गई है। नारी के प्रति सशंक दृष्टि पाई जाती है। लोगों की दरिद्रता, अन्न-जल संकट तथा चोरी-डकैती के प्रसंग लोक-कहानियों में पगडंडियों की तरह फैले हुए हैं। इस प्रकार जीवन के यथार्थ की भीषणता तथा उसकी स्पष्ट व्यंजना करना इन कथाओं का पहला कार्य रहा है। वर्णन की स्वाभाविकता इस बात की साक्षी है कि यहाँ जीवन के रस को सद्य और सुरक्षित रखा गया है। ग्रामीण संस्कृति का चित्रण हरियाणा की लोक-कथाओं में किसी-न-किसी रूप में अवश्य उभरा है क्योंकि प्रकृति की गोद ने बसा हरियाणा ग्राम्य-सुषमा का अप्रतिम नमूना है। ग्राम-गण की इस विवृति का अधिकांश श्रेय, यहाँ की मुहावरे में ढली भाषा को दिया जाना चाहिए। हरियाणा की कहानियाँ स्थानीय मुहावरों तथा लोकोक्तियों की मिठास में पगी हैं। मुहावरा हमारी जीवनानुभूति तथा कार्याभ्यास का सबसे खरा चित्रण होता है। लोक-जीवन की सच्चाई को इतनी स्वाभाविकता तथा संक्षिप्त प्रखरता द्वारा व्यक्त कर देना मुहावरों के ही वश की बात है। इनके माध्यम से हम लोगों के जीवन-दर्शन का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। मुहावरा हरियाणा के जीवन तथा साहित्य की समरूपता का अभिन्न लक्षण प्रतीत होता है। कुछेक मुहावरे यहाँ दिये जाते हैं :

१. वो ताड़ ग्यो थो मल वो तो जाण-बावलो बण्य-ग्यो थी। उसका मन महँ तः लाइडू सा फूटैं 'क बण्य ग्यो काम। अर घोड़ौ आलो रह ग्यो हाथ मसलतो।

२. बुढ़िया की अक्कल मारण खात्तर यो सांग भरयो थो।

३. आपणों छोरा मैं देख कै मा हरी हो गई। आइए, मिरा वांद।

४. इतणीं सुण्यं कै राज्जा के आग्य लाग्य गई, राज्जा सिर पीट्टण लाग् ग्यो। ज्यब बड़ा हलवाई नां बण्वा सक्यौ, तै तेरी क्ये गूदड़ी सै। हम नें छोड्य दे, हम तेरी काली गा।

हरियाणवी एवं प्रतिवेशिनी उपभाषाएँ

शिवप्रसाद शुक्ल

हरियाना हिन्दी भाषी नव निर्मित प्रान्त है। हरियाणा में कई उपभाषाएँ बोली जाती हैं, इनमें से एक का नाम हरियाणवी है। इसको बाँगरू या जाटू नाम से भी पुकारा जाता हैं। दिल्ली करनाल हिसार रोहतक नारनौल जींद आदि क्षेत्रों में इसका प्रसार है। विद्वानों के अनुसार यह खड़ी बोली का ही एक रूप है।

डॉ० ग्रियर्सन के आधार पर बाँगरू पश्चिमी हिन्दी की उपभाषा है। जिस प्रकार पंजाब की बोली जानेवाली भाषा पंजाबी और राजस्थान में बोली जानेवाली राजस्थानी है उसी प्रकार हरियाना प्रान्त में बोली जानेवाली भाषा का नाम हरियाणवी है। डॉ० उदय-नारायण तिवारी ने लिखा है कि बाँगरू के कई स्थानीय नाम हैं हरिआना के पड़ोस में यह हरियानी, देसवाली अथवा देसड़ी कहलाती है। रोहतक तथा दिल्ली के आस-पास जाटों की अधिक आवादी के कारण इसे जाटू तथा दिल्ली के चमारों की आवादी के कारण इसे चमरवा बोली भी कहते हैं। अन्य स्थानों में इसे बाँगरू नाम से ही अभिहित किया जाता हैं। नामों में स्थानीय भेद रहते हुए भी वास्तव में बोली में भेद नहीं है।

वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्म-भूमि दिल्ली है, वहीं व्रजभाषा से यह उत्पन्न हुई। बाबू बालमुकुन्द गुप्त का मत हैं कि फ़ारसी में ही कुछ व्रज और बाँगरू की टेक लगा बोली को खड़ा कर दिया गया और उसका नाम पड़ गया खड़ी बोली।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने हिन्दी के उद्भव का मूल रूप बताते हुए लिखा है कि हिन्दी का उद्भव भी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ-साथ हुआ और विकास भी साथ-साथ।। हमारी केन्द्रीय सरकार की राजधानी देहली है। जिसे लोग दिल्ली कहते हैं। वह सचमुच देहली है। उसके इधर उत्तर की ओर देखो तो कुरुजनपद है मेरठ संभाग या डिवीजन उत्तर प्रदेश का। यहाँ की भाषा कौरवी या मेरठी का नाम खड़ी बोली हैं—'मीठा पाणी लात्ता है। यों 'मिट्ठा' और लात्ता' के अन्त में जो खड़ी पाई दिखाई देती है लाठी की तरह उसीसे इसका नाम 'खड़ी बोली।' 'कौरवी भाषा' का दो धाराएँ है—एक ही भाषा की दो प्रमुख बोलियाँ हैं—१. खड़ी बोली मेरठी २. बाँगरू या हरियानवी। दिल्ली से लेकर देहरादून तक (और उधर मुरादाबाद तक) का प्रदेश कुरुजनपद है और दिल्ली से उधर अम्बाला तक तथा इधर सहारनपुर से अम्बाला तक 'बांगर' जिसका पुराना नाम 'कुरुजाँगल' है। कोरवी के ये दो रूप ऐसे ही हैं जैसे राजस्थानी के 'जयपुरी' और 'जोधपुरी'। खड़ी बोली मेरठी है। इस खड़ी बोली का ही एक साहित्यिक रूप 'उर्दू' है और दूसरा है 'हिन्दी'। दक्षिण में दक्खिनी की प्रकृति 'बांगरू' जान पड़ती है। देहली से उधर मथुरा क्षेत्र सटा हुआ हैं, वहाँ की वह भाषा है जिसका साहित्यिक रूप सूरदास आदि के काव्यों में आप को प्राप्त है। उसी देहली से छोटी लाइन की गाड़ी पर चलो, तो थोड़ा ही चलकर 'रेवाड़ी' का स्टेशन आ जाएगा जहाँ

राजस्थानी भाषा का क्षेत्र शुरू होता है। उसी देहली से पश्चिम की ओर पाँव रखो तो 'कुरु जांगल' है जिसे बांगर भी कहते हैं। यहाँ की भाषा या बोली 'बांगरू' है कौरवी का ही रूपान्तर। देहली से पूरब चलो तो पूर्वाभिमुखी भाषाएँ मिल जाती हैं। और देहली है सबकी। फिर भी मेरठी या कौरवी से ही उसका निकटतम सम्पर्क है। देहली से मेरठ है ही कितनी दूर। देहली हिन्दी का केन्द्र है, घर है और सब भाषाओं की यह देहली है। दिल्ली हिन्द का केन्द्र हिन्दी का केन्द्र।

यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि हरियाना का भाग रेवाड़ी भी है और गुड़गाँव भी, अम्बाला हिसार भी। चंडीगढ़ पंजाब को दे देने पर फाजल्का तहसील का हिस्सा भी। इस प्रकार हरियाना की सीमा का निर्धारण किया गया है।

हरियानवी भाषा के अतिरिक्त हरियाना में और भी कई बोलियाँ बोली जात्ती हैं। जिनमें निम्न प्रमुख हैं:—

मेवाती

इस बोली पर अब तक अनुसंधान नहीं के बराबर ही हुआ है। इस बोली का नामकरण मेवात प्रदेश के आधार पर हुआ है। मेवात इस समय किसी एक राज्य के किसी क्षेत्र विशेष का नाम न होकर तीन-चार राज्यों के सीमावर्ती स्थानों के उस मिले जुले प्रदेश का नाम है जहाँ मेव जाति के लोगों का निवास है। 'मेव' एक देशज शब्द है जिसकी व्याख्या हिन्दी शब्दसागर में काशकारों ने एक 'लुटेरा जाति' के रूप में की है। कहा जाता है कि यह पहले एक राजपूत जाति थी जिसे मुगल शासन काल में मुसलमान बना लिया गया। इस समय मेव एल मुस्लिम जाति के पर्याय रूप में ही जाने जाते हैं। गुर्जर जाति के नाम पर जिस प्रकार गुजरात प्रख्यात हुआ, उसी प्रकार मेव जाति के आधार पर इस प्रदेश का नाम मेवात प्रचलित है। इसी प्रदेश की बोली 'मेवाती' कहलाती है। डॉ० बिकल ने ठीक ही लिखा है कि मेवाती बोली का क्षेत्र केवल मेवात प्रदेश तक ही सीमित न होकर उसके आस-पास के विभिन्न स्थानों तक भी फैला हुआ है। मेवात कभी राजपूताना के अन्तर्गत एक प्रदेश का नाम था। बाद में अंग्रेजों ने इसे कुछ खण्डों में विभाजित किया अब भरपुर अलवर तथा हरियाना के जिला गुड़गाँव की तहसील नूँह फिरोजपुर झिरका और बावल का कुछ भाग ही मेवात के नाम से जाना जाता है। किन्तु मेवाती का विस्तार इस समय राजस्थान में भरतपुर के पश्चिमी प्रदेश और सम्पूर्ण अलवर तथा हरियाणा के जिला गुड़गाँवा दक्षिण पश्चिमी, पश्चिम पूर्वी प्रदेश और जिला रोहतक के दक्षिणी भाग तक है। स्पष्टतः मेवाती का पर्याप्त क्षेत्र हरियाणा के अन्तर्गत आता है। इसका पूरा विवरण 'भाषा सर्वेक्षण' में इस प्रकार है:—

१. जिला गुड़गाँवा तहसील गुड़गाँवा एक चौथाई भाग २. तहसील रिवाड़ी का एक तिहाई भाग ३. तहसील बावल का आधा भाग ४. तहसील पटौदी एक तिहाई भाग ५. तहसील फिरोजपुर झिरका सम्पूर्ण भाग ६. तहसील नूँह दो तिहाई भाग ७. जिला रोहतक तहसील झज्झर एक तिहाई भाग।

इस प्रकार हरियाणा का एक हजार वर्गमील से भी अधिक भाग क्षेत्र मेवातो बोली

का है । और लगभग पन्द्रह लाख मेवाती भाषी लोगों में प्रायः पाँच लाख हरियाना के दक्षिणी क्षेत्र के निवासी हैं ।

डा० मेनारिया के राजस्थानी भाषा एवं साहित्य के आधार पर हरियाणा (गुड़गाँवा) की मेवाती का उदाहरण—"वाडो ! न तो हीन नहिर घर न बीजड़ी ई है । हीन तो लाव चरस जोता हां अर खेतण मैं पानी देवां हां । वाडी ! सरकार रुपिया देती वताई कुआं बनवांण लूं अर रहिटं लगाण लूं ।"

दूसरी भाषा है अहीरवाटी

श्रीशैल गौतम के अनुसार इसे प्रायः हीरवाटीं या अहीरवाल (या अहीर प्रदेश) की भाषा भी कहा जाता है । यह गुड़गाँव जिले के पश्चिमी प्रदेश में बोली जाती है । यह बोली नजफगढ़ के आसपास देहली जिला के डाबर क्षेत्र में भी पाई जाती है, किन्तु इसे यहाँ 'मेवाती' नाम दे दिया जाता है । यह क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से गुड़गाँव प्रदेश का ही विस्तार मात्र समझना चाहिए । उसी ओर यह क्षेत्र रोहतक जिले के दक्षिण में झज्झर तहसील अर्थात् पाल्हावास तक फैला हुआ है । इसके उत्तर की ओर पश्चिमी हिन्दी की बाँगरु बोली पाई जाती है । अहीरवाटी को मेवाती का एक रूपमात्र समझना चाहिए । पश्चिमी गुड़गाँव में रेवाड़ी को अहीरवाटी का केन्द्र माना जा सकता है, इसके अतिरिक्त नारवौल का अधिकांश भाग इसकी सीमा परिधि में आ जाता है । यहाँ दादरी इसकी अन्तिम सीमा मानी जा सकती है । जहाँ एक ओर हरियानी (बाँगरू) का आधिपत्य आरम्भ हो जाता है । और दूसरी ओर बागड़ी मिलने लगती है । दादरी को मुख्यतः बागड़ी के अन्तर्गत रखा जाता है । अहीरवाटी की पश्चिमी सीमा पर शेखावटी राजस्थानी की एक बोली है । अतः यह स्पष्ट है कि अहीरवाटी बोली बांगरु, बागड़ी और शेखावटी बोलियों के बीच की कड़ी का काम करती है ।

गुड़ गाँवा की अहीरवाटी का नमूना–"एक सकस के दो बेटा था । उन मांह तैं छोटनो बाप तैं बोल्यो अक वाबा जी माल को बट जो मूने दीणूं होय सो दे दो । जब अने वो माल को बट जिस तरह कह्यो थे उसी तरह बाँट दियो ।"

रामेश्वर दयाल शास्त्री ने लिखा है कि अहीरवाटी वस्तुतः मेवाती और हरियाणीं का सम्मिश्रण है । इसके शब्द प्रायः हरियाणवी के हैं । किन्तु मेवाती व्रजभाषा और राजस्थानी भाषाओं के समीपस्थ भू-भाग की बोली होने के कारण इस पर उपर्युक्त तीनों भाषाओं का ध्वनि प्रभाव है । इसका उच्चारण हरियाणवी की अपेक्षा किञ्चिद्मृदु है । हरियाणवीमें 'कडै' राजस्थानी में 'कठै' मेवाती में 'कित' और अहीरवाटी में इसका 'कंठे' उच्चारण किया जाता है । हरियाणवी में जहाँ उच्चारण विवृत मुख होता है वहाँ अहीरवाटी में शब्दों का कुछ चबा कर उच्चारण किया जाता है ।

घग्गर नदी के आस पास कीं भाषाएँ

इस क्षेत्र में अम्बाला जिले का कुछ भाग हिसार करनाल रोहतक और फिरोजपुर का कुछ अंश सम्मिलित किया जा सकता है । इसके पूर्व की ओर पश्चिम उत्तर प्रदेश तथा दक्षिण की ओर राजस्थान लगता है । इन साथ लगते क्षेत्रों का इस क्षेत्र की उपभाषाओं पर काफी प्रभाव है । इस क्षेत्र की उपभाषाओं को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है । १–पुआधी

राजस्थानी भाषा का क्षेत्र शुरू होता है। उसी देहली से पश्चिम की ओर पाँव रखो तो 'कुरु जांगल' है जिसे बांगर भी कहते हैं। यहाँ की भाषा या बोली 'बांगरू' है कौरवी का ही रूपान्तर। देहली से पूरब चलो तो पूर्वाभिमुखी भाषाएँ मिल जाती हैं। और देहली है सबकी। फिर भी मेरठी या कौरवी से ही उसका निकटतम सम्पर्क है। देहली से मेरठ है ही कितनी दूर। देहली हिन्दी का केन्द्र है, घर है और सब भाषाओं की यह देहली है। दिल्ली हिन्द का केन्द्र हिन्दी का केन्द्र।

यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि हरियाना का भाग रेवाड़ी भी है और गुड़गाँव भी, अम्बाला हिसार भी। चंडीगढ़ पंजाब को दे देने पर फाजल्का तहसील का हिस्सा भी। इस प्रकार हरियाना की सीमा का निर्धारण किया गया है।

हरियानवी भाषा के अतिरिक्त हरियाना में और भी कई बोलियाँ बोली जात्ती हैं। जिनमें निम्न प्रमुख हैं:—

मेवाती

इस बोली पर अब तक अनुसंधान नहीं के बराबर ही हुआ है। इस बोली का नामकरण मेवात प्रदेश के आधार पर हुआ है। मेवात इस समय किसी एक राज्य के किसी क्षेत्र विशेष का नाम न होकर तीन-चार राज्यों के सीमावर्ती स्थानों के उस मिले जुले प्रदेश का नाम है जहाँ मेव जाति के लोगों का निवास है। 'मेव' एक देशज शब्द है जिसकी व्याख्या हिन्दी शब्दसागर में काशकारों ने एक 'लुटेरा जाति' के रूप में की है। कहा जाता है कि यह पहले एक राजपूत जाति थी जिसे मुगल शासन काल में मुसलमान बना लिया गया। इस समय मेव एल मुस्लिम जाति के पर्याय रूप में ही जाने जाते हैं। गुर्जर जाति के नाम पर जिस प्रकार गुजरात प्रख्यात हुआ, उसी प्रकार मेव जाति के आधार पर इस प्रदेश का नाम मेवात प्रचलित है। इसी प्रदेश की बोली 'मेवाती' कहलाती है। डॉ० विकल ने ठीक ही लिखा है कि मेवाती बोली का क्षेत्र केवल मेवात प्रदेश तक ही सीमित न होकर उसके आस-पास के विभिन्न स्थानों तक भी फैला हुआ है। मेवात कभी राजपूताना के अन्तर्गत एक प्रदेश का नाम था। बाद में अंग्रेजों ने इसे कुछ खण्डों में विभाजित किया अब भरपुर अलवर तथा हरियाना के जिला गुड़गाँव की तहसील नूँह फिरोजपुर झिरका और बावल का कुछ भाग ही मेवात के नाम से जाना जाता है। किन्तु मेवाती का विस्तार इस समय राजस्थान में भरतपुर के पश्चिमी प्रदेश और सम्पूर्ण अलवर तथा हरियाणा के जिला गुड़गाँवा दक्षिण पश्चिमी, पश्चिम पूर्वी प्रदेश और जिला रोहतक के दक्षिणी भाग तक है। स्पष्टतः मेवाती का पर्याप्त क्षेत्र हरियाणा के अन्तर्गत आता है। इसका पूरा विवरण 'भाषा सर्वेक्षण' में इस प्रकार है:—

१. जिला गुड़गाँवा तहसील गुड़गाँवा एक चौथाई भाग २. तहसील रिवाड़ी का एक तिहाई भाग ३. तहसील बावल का आधा भाग ४. तहसील पटौदी एक तिहाई भाग ५. तहसील फिरोजपुर झिरका सम्पूर्ण भाग ६. तहसील नूँह दो तिहाई भाग ७. जिला रोहतक तहसील झज्झर एक तिहाई भाग।

इस प्रकार हरियाणा का एक हजार वर्गमील से भी अधिक भाग क्षेत्र मेवाती बोली

का है। और लगभग पन्द्रह लाख मेवाती भाषी लोगों में प्रायः पाँच लाख हरियाना के दक्षिणी क्षेत्र के निवासी हैं।

डा० मेनारिया के राजस्थानी भाषा एवं साहित्य के आधार पर हरियाणा (गुड़गाँवा) की मेवाती का उदाहरण—"वाडी ! न तो हीन नहिर घर न बीजड़ी ई है। हीन तो लाव चरस जोता हां अर खेतण मैं पानी देवां हां। वाडी ! सरकार रुपिया देती वताई कुआं बनवांण लूं अर रहिटं लगाण लूं।"

दूसरी भाषा है अहीरवाटी

श्रीशैल गौतम के अनुसार इसे प्रायः हीरवाटीं या अहीरवाल (या अहीर प्रदेश) की भाषा भी कहा जाता है। यह गुड़गाँव जिले के पश्चिमी प्रदेश में बोली जाती है। यह बोली नजफगढ़ के आसपास देहली जिला के डाबर क्षेत्र में भी पाई जाती है, किन्तु इसे यहाँ 'मेवाती' नाम दे दिया जाता है। यह क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से गुड़गाँव प्रदेश का ही विस्तार मात्र समझना चाहिए। उसी ओर यह क्षेत्र रोहतक जिले के दक्षिण में झज्झर तहसील अर्थात् पाल्हावास तक फैला हुआ है। इसके उत्तर की ओर पश्चिमी हिन्दी की बाँगरु बोली पाई जाती है। अहीरवाटी को मेवाती का एक रूपमात्र समझना चाहिए। पश्चिमी गुड़गाँव में रेवाड़ी को अहीरवाटी का केन्द्र माना जा सकता है, इसके अतिरिक्त नारवौल का अधिकांश भाग इसकी सीमा परिधि में आ जाता है। यहाँ दादरी इसकी अन्तिम सीमा मानी जा सकती है। जहाँ एक ओर हरियानी (बाँगरू) का आधिपत्य आरम्भ हो जाता है। और दूसरी ओर बागड़ी मिलने लगती है। दादरी को मुख्यतः बागड़ी के अन्तर्गत रखा जाता है। अहीरवाटी की पश्चिमी सीमा पर शेखावटी राजस्थानी की एक बोली है। अतः यह स्पष्ट है कि अहीरवाटी बोली बांगरु, बागड़ी और शेखावटी बोलियों के बीच की कड़ी का काम करती है।

गुड़ गाँवा की अहीरवाटी का नमूना–"एक सकस के दो बेटा था। उन मांह तैं छोटनो बाप तैं बोल्यो अक बाबा जी माल को बट जो मूने दीणूं होय सो दे दो। जब अनें वो माल को बट जिस तरह कह्यो थे उसी तरह बाँट दियो।"

रामेश्वर दयाल शास्त्री ने लिखा है कि अहीरवाटी वस्तुतः मेवाती और हरियाणीं का सम्मिश्रण है। इसके शब्द प्रायः हरियाणवी के हैं। किन्तु मेवाती ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषाओं के समीपस्थ भू-भाग की बोली होने के कारण इस पर उपर्युक्त तीनों भाषाओं का ध्वनि प्रभाव है। इसका उच्चारण हरियाणवी की अपेक्षा किञ्चिद्मृदु है। हरियाणवीमें 'कडै' राजस्थानी में 'कठै' मेवाती में 'कित' और अहीरवाटी में इसका 'कठे' उच्चारण किया जाता है। हरियाणवी में जहाँ उच्चारण विवृत मुख होता है वहाँ अहीरवाटी में शब्दों का कुछ चबा कर उच्चारण किया जाता है।

घग्गर नदी के आस पास की भाषाएँ

इस क्षेत्र में अम्बाला जिले का कुछ भाग हिसार करनाल रोहतक और फिरोजपुर का कुछ अंश सम्मिलित किया जा सकता है। इसके पूर्व की ओर पश्चिम उत्तर प्रदेश तथा दक्षिण की ओर राजस्थान लगता है। इन साथ लगते क्षेत्रों का इस क्षेत्र की उपभाषाओं पर काफी प्रभाव है। इस क्षेत्र की उपभाषाओं को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है। १–पुआधी

२–हरियाणा की भाषाएँ जिनमें राठी, भटियानी, और बागड़ी शामिल हैं। पुआधी केन्द्रीय टकसाली पंजाबी से भिन्न है और पश्चिमी उत्तर प्रदेश का प्रभाव है। पूर्व की ओर यह बागड़ी हिन्दी से मिलती है। जिला हिसार से घाघर नदी के साथ साथ बोली जाने वाली भाषा को पच्छाधी भाषा कहते हैं। यहाँ के राठ इसको बोलते हैं। राठी से मिलती उपभाषा भटियानी है। बागड़ी उपभाषा भी राठी और भटियानी का मिश्रित रूप है।

डा० शङ्करलाल यादव ने हरियाणा प्रदेश के क्षेत्र के बारे में लिखा है कि अतः हमारी स्थापना जो इस इलाके के परिभ्रमण पर आधारित है, वह है कि हरियाणे की पूर्वी सीमा पालम झज्झर बहादुरगढ़ और दिल्ली को छूती है फिर वही रेखा दुजाना को छुती हुई दादरी पहुँचती है। वहीं सी सीधी भिवानी हाँसी हिसार होकर सिरसा की ओर आगे बढ़कर अगरोहा होती हुई टोहाना पहुँच जाती है। वहाँ से कैथल करनाल पानीपत होकर दिल्ली आ मिलती है।

बागड़ी बोली का क्षेत्र डा० ग्रियर्सन ने राजपूताने का बीकानेर हिंसार (सिरसा तहसील का दक्षिण भाग तथा शेष हिसार जिले का वह भाग जो बीकानेर की पूर्व सीमा के साथ लगता है) लोहारू और जींद राज्य की दादरी निजामत के पश्चिमी भाग को माना है। हरियाणवी आकारान्त प्रधान है और बागड़ी में ओकारान्त रूप हैं। जैसे 'दलिया, मेवा, राणा, के बागड़ी में 'दलियो' 'मेवो' 'राणो' रूप होते हैं।

पुआधी और हरियानवी बोली में भी बहुत साम्य है। हरियानवी की सीमाएँ हिसार रोहतक जींद के भू-भाग को अन्तर्भूत करती हैं और पुआध का विस्तार हिसार अम्बाला परिमाला और जींद तक है। हरियाणवी और पुआधी में से एक बोली वस्तुतः कहाँ पर समाप्त होती है और दूसरी कहाँ से प्रारम्भ होती है यह कहना कठिन है। किसी किसी गाँव में तो दोनों ही विभाषाओं के बोलने वाले मिलते हैं—या एक ही व्यक्ति दोनों ही बोलियाँ बोलता है श्रीराम गोपाल कौड़ा के आधार पर दोनों में बहुत समानता है। जैसे :—

हरियाणवी	पुआधी
जाण (जाना क्रिया)	जाण
जाण (जानना क्रिया)	जाण
पराणो (चाबुक)	पराणी
अपणे (अपने)	अपणे
दाल (दाल)	दाल

डा० ग्रियर्सन ने अम्बालवी बोली को भी अलग महत्त्व दिया है। यह बोली पर्याप्त क्षेत्र में बोली जाती है।

हरियाना में पलवल-होडल भी सम्मिलित हैं। कहा जाता है कि पलवल को प्रलम्ब नाम के असुर ने बसाया था। महापंडित राहुल जी का मत है कि 'पल्वल सरांसि' अर्थात् 'पल्वल' पोखर को कहते हैं। पलवल ऊँचे स्थान पर बसा है और इसके आस पास चारों ओर 'भवन कुंड' आदि नाम के पोखर हैं भी। एक विद्वान् 'पौण्ड्रवन' से 'पलवल' बना ऐसा मानते हैं, उनका मत है कि संस्कृत में 'ड' और 'न' को ल बन जाता हैं, 'डलोरलोर' से।

मथुरा के द्वारकाधीश जी के मंदिर में प्रलम्ब राक्षस का चित्र बना हुआ है। पलवल क्षेत्र की बोली उत्तर प्रदेश की ब्रज भूमि से बिलकुल मिलती जुलती है। मथुरा समीप होने के कारण 'ब्रज चौरासी कोस' के आधार पर यहाँ की भूमि ब्रज भाषी भूमि में ही आती है।

इस प्रकार हरियाना में हिन्दी की कई उपभाषाएँ बोली जाती हैं। यहाँ की राजकाज की भाषा हिन्दी है। उपरोक्त उप भाषाओं का कोई प्राचीन साहित्य लिखा गया था या नहीं इस की कोई समुचित खोज नहीं हो पायी। प्राचीन साहित्य के मिलने की संभावना अवश्य है। इस प्रदेश की जनता धार्मिक विचारों से ओत प्रोत है। यहाँ मठ मंदिर शिवालय अधिक संख्या में पाये जाते हैं। धार्मिक नेताओं ने अवश्य ही अपनी बोली में प्रवचन दिए होंगे। इन सबका सम्भवतः संकलन भी किया गया होगा। लोक प्रिय साहित्य की रचना भी होती रही होगी। खोज करने पर ग्रन्थ प्राप्ति की संभावना अवश्य है। यहाँ लोक साहित्य प्रचुर माला में प्राप्त है अधिकतर वह छन्दोबद्ध और देवनागरी लिपि में मुद्रित है। लोक गीत लोककथाएँ मौखिक रूप में प्रचलित हैं। उनका कोई संग्रह वैज्ञानिक पद्धति से संग्रहीत नहीं किया गया। हरियाणा के भाषा विभाग के साथ साथ विद्वान् राजनीतिज्ञ समाज सुधारक एवं यहाँ की जनता हरियाना की हरियाली बढ़ाने में लगी हुई है। अन्त में हरियाने की ठेठ बोली में स्व. गुप्तजी के एक पत्र की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं, जिसे उन्होंने पं० माधव प्रसाद मिश्र को लिखा था— दोनों ही विद्वान् हरियाणवी थे—पत्र का प्रारम्भ—पा लागां हो दादा ! तेरे पोते का व्याह सै।—तौं चाल म्हारैं खेतमा देख कै बहार सै' यह हैं हरियानवी बोली का सरस आनन्द।



२—हरियाणा की भाषाएँ जिनमें राठी, मटियानी, और बागड़ी शामिल हैं। पुआधी केन्द्रीय टकसाली पंजाबी से भिन्न है और पश्चिमी उत्तर प्रदेश का प्रभाव है । पूर्व की ओर यह बागड़ी हिन्दी से मिलती है। जिला हिसार से घाघर नदी के साथ साथ बोली जाने वाली भाषा को पछाधी भाषा कहते हैं। यहाँ के राठ इसको बोलते हैं । राठी से मिलती उपभाषा भटियानी है । बागड़ी उपभाषा भी राठी और भटियानी का मिश्रित रूप है।

डा० शङ्करलाल यादव ने हरियाणा प्रदेश के क्षेत्र के बारे में लिखा है कि अतः हमारी स्थापना जो इस इलाके के परिभ्रमण पर आधारित है, वह है कि हरियाणे की पूर्वी सीमा पालम झज्झर बहादुरगढ़ और दिल्ली को छूती है फिर वही रेखा दुजाना को छुती हुई दादरी पहुंचती है। वहीं सी सीधी भिवानी हाँसी हिसार होकर सिरसा की ओर आगे बढ़कर अगरोहा होती हुई टोहाना पहुँच जाती है । वहाँ से कैथल करनाल पानीपत होकर दिल्ली आ मिलती है ।

बागड़ी बोली का क्षेत्र डा० ग्रियर्सन ने राजपूताने का बीकानेर हिंसार (सिरसा तहसील का दक्षिण भाग तथा शेष हिसार जिले का वह भाग जो बीकानेर की पूर्व सीमा के साथ लगता है) लोहारू और जींद राज्य की दादरी निजामत के पश्चिमी भाग को माना है। हरियाणवी आकारान्त प्रधान है और बागड़ी में ओकारान्त रूप हैं। जैसे 'दलिया, मेवा, राणा, के बागड़ी में 'दलियो' 'मेवो' 'राणो' रूप होते हैं ।

पुआधी और हरियानवी बोली में भी बहुत साम्य है । हरियानवी की सीमाएँ हिसार रोहतक जींद के भू-भाग को अन्तर्भूत करती हैं और पुआध का विस्तार हिसार अम्बाला परिमाला और जींद तक हैं। हरियाणवी और पुआधी में से एक बोली वस्तुतः कहाँ पर समाप्त होती है और दूसरी कहाँ से प्रारम्भ होती है यह कहना कठिन है । किसी किसी गाँव में तो दोनों ही विभाषाओं के बोलने वाले मिलते हैं—या एक ही व्यक्ति दोनों ही बोलियाँ बोलता है श्रीराम गोपाल कौड़ा के आधार पर दोनों में बहुत समानता है। जैसे :—

हरियाणवी	पुआधी
जाण (जाना क्रिया)	जाण
जाण (जानना क्रिया)	जाण
पराणो (चाबुक)	पराणी
अपणे (अपने)	अपणे
दाल (दाल)	दाल

डा० ग्रियर्सन ने अम्बालवी बोली को भी अलग महत्त्व दिया है । यह बोली पर्याप्त क्षेत्र में बोली जाती है ।

हरियाना में पलवल-होडल भी सम्मिलित हैं । कहा जाता है कि पलवल को प्रलम्ब नाम के असुर ने बसाया था। महापंडित राहुल जी का मत है कि 'पल्वल सरांसि' अर्थात् 'पल्वल' पोखर को कहते हैं। पलवल ऊँचे स्थान पर बसा है और इसके आस पास चारों ओर 'भवन कुंड' आदि नाम के पोखर हैं भी । एक विद्वान् 'पौण्ड्रवन' से 'पलवल' बना ऐसा मानते हैं, उनका मत है कि संस्कृत में 'ड' और 'न' को ल बन जाता हैं, 'डलोरलोर' से ।

मथुरा के द्वारकाधीश जी के मंदिर में प्रलम्ब राक्षस का चित्र बना हुआ है। पलवल क्षेत्र की बोली उत्तर प्रदेश की ब्रज भूमि से बिलकुल मिलती जुलती है। मथुरा समीप होने के कारण 'ब्रज चौरासी कोस' के आधार पर यहाँ की भूमि ब्रज भाषी भूमि में ही आती है।

इस प्रकार हरियाना में हिन्दी की कई उपभाषाएँ बोली जाती हैं। यहाँ की राजकाज की भाषा हिन्दी है। उपरोक्त उप भाषाओं का कोई प्राचीन साहित्य लिखा गया था या नहीं इस की कोई समुचित खोज नहीं हो पायी। प्राचीन साहित्य के मिलने की संभावना अवश्य है। इस प्रदेश की जनता धार्मिक विचारों से ओत प्रोत है। यहाँ मठ मंदिर शिवालय अधिक संख्या में पाये जाते हैं। धार्मिक नेताओं ने अवश्य ही अपनी बोली में प्रवचन दिए होंगे। इन सबका सम्भवत: संकलन भी किया गया होगा। लोक प्रिय साहित्य की रचना भी होती रही होगी। खोज करने पर ग्रन्थ प्राप्ति की संभावना अवश्य है। यहाँ लोक साहित्य प्रचुर माला में प्राप्त है अधिकतर वह छन्दोबद्ध और देवनागरी लिपि में मुद्रित है। लोक गीत लोककथाएँ मौखिक रूप में प्रचलित हैं। उनका कोई संग्रह वैज्ञानिक पद्धति से संग्रहीत नहीं किया गया। हरियाणा के भाषा विभाग के साथ साथ विद्वान् राजनीतिज्ञ समाज सुधारक एवं यहाँ की जनता हरियाना की हरियाली बढ़ाने में लगी हुई है। अन्त में हरियाने की ठेठ बोली में स्व. गुप्तजी के एक पत्र की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं, जिसे उन्होंने पं० माधव प्रसाद मिश्र को लिखा था—दोनों ही विद्वान् हरियाणवी थे—पत्र का प्रारम्भ—पा लागां हो दादा! तेरे पोते का व्याह सै।—तौं चाल म्हारैं खेतमा देख कै बहार सै' यह हैं हरियानवी बोली का सरस आनन्द।



भ्याणी (भिवानी) नामकरण एवं विस्तार

राजाराम शास्त्री

रिवाड़ी जि० गुड़गाँव से रेल द्वारा हिसार जाते हुए मार्ग में एक भव्य स्टेशन देखने को उपलब्ध होता है जिस पर मोटे अक्षरों में लिखा रहता है 'भिवानी'।

भिवानी जिला हिसार की एक तहसील है और छोटी दिल्ली के नाम से प्रसिद्ध रही है। कारण स्पष्ट है 'गेट आफ राजपूत' कहलाने वाली भिवानी से ही पुरातन काल से राजपूताना में ऊँटों द्वारा जीवन यापन का समस्त सामान जाता रहा है अतः व्यापार का प्रमुख केन्द्र होने के कारण छोटी दिल्ली के नाम से इसका प्रसिद्ध होना स्वाभाविक है।

'भिवानी बालकों ने तुड़वादे' यह कहावत इतिहास से सम्बन्ध रखती है। सन् १८०९ में एडवर्ड कार्नर साहब देश भर में विजय प्राप्त करते और अंग्रेजी राज्य की स्थापना करते भिवानी की ओर बढ़ रहे थे। ऐसी स्थिति में भिवानी वासियों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। गोष्ठी हुई। पंचायत बैठी। वृद्धों ने अधीनता स्वीकार करने की सम्मति दी। युवकों को बात पसन्द न आयी। अंग्रेजों से भिड़न्त हुई।

नवाब अज्जर की नौकरी में वीर ठाकुर पेमा सिंह थे। शहर पर आपत्ति का समाचार सुन घोड़े पर सवार हो चल दिये। युद्ध क्षेत्र में उतरे। अंग्रेज कमाण्डर ने बाला साहब के हाथी पर घोड़ा झोंका और सपाटे से बाला साहब का सिर धड़ से अलग कर दिया। बाला साहब की भिवानी में समाधि उस वीर ठाकुर पेमा सिंह की वीरता की आज भी साक्षी स्वरूप विद्यमान है।

यह सब होते हुए भी भिवानी का भाग्य विपरीत था। अंग्रेज विजयी हुए। बृद्धों ने दुःख पूर्ण स्वर में युवकों को भर्त्सना करते हुए व्यंग किया 'भिवानी बालकों ने तुड़वायी'। वास्तव में युवा वर्ग वृद्धों की दृष्टि में बालक ही था। अस्तु।

दक्षिण से लौट कर बन्दा वैरागी ने अपनी पंजाब की विजय यात्रा इसी भिवानी से आरम्भ की थी। उसी की कड़ी में उसका दूसरा आक्रमण टोहाना जिला हिसार के किले पर हुआ था।

भिवानी निवासियों की धार्मिकता, गो पूजा आदि की प्रतीक रूप उक्ति है 'भिवानी नन्दा की'।

भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध का समारम्भ हुआ। लुटेरों को हाथ रँगने का अवसर हाथ लगा। वे भिवानी को लूटने चले। नगर निवासियों ने मिलकर सुरक्षात्मक उपाय किये फिर भी पर्याप्त लूट मार हुई। तत्कालीन सेठ नन्द राम जी ने अनेक राजपूतों को भिवानी की रक्षार्थ अपने कटले में रखा। भय था कि इस अराजकता का लाभ उठा कर कोई अन्य शक्ति शहर पर आक्रमण न कर बैठे।

हिसार और रोहतक से अनेक अंग्रेज परिवार सुरक्षार्थ भिवानी पहुँचे। सेठ नन्द

राम ने उन्हें शरण दी और उन्हे तब तक अपने पास सुरक्षित रखा जब तक अराजकता समाप्त न हो गई।

अराजकता के शान्त होते न होते रिगट साहब लुटेरों को पकड़ते, उनका सफाया करते और आतंक फैलाते भिवानी पहुँचे। भिवानी के लुटेरों की सूची माँगी गयी। सेठ नन्द राम ने रात्रि के समय गुप्त गोष्ठी का आयोजन कर लुटेरों को कहला दिया 'कुशल चाहते हों तो लूट का समस्त माल रातों रात कटले में छोड़ जायें' और वैसा ही हुआ। सबका सामान वापिस लौटा दिया गया और रिगट साहब को कहलवा दिया गया 'भिवानी में कोई लूटमार नहीं हुई। तब रिगट साहब ने बाहर से अपने साथ पकड़ कर लाए गए लुटेरों को मिस फेरर हस्पताल के निकट एक शीशम के पेड़ के तले फाँसी दे दी। इस दृश्य से भिवानी वालों पर अंग्रेजों का पुनः आतंक छा गया।

अंग्रेजों की सुरक्षा के कारण सेठ नन्दराम को मुँह माँगा पारितोषिक देने की बात कही गई। तब सेठ नन्द राम ने दो माँगे अंग्रेज सरकार के सामने रख कर अपनी धार्मिक वृत्ति का परिचय दिया। प्रथम माँग थी भिवानी में गो वध पर पाबन्दी। द्वितीय थी भिवानी की सीमा में शिकार पर पाबन्दी। और दोनों माँगें सरकार द्वारा स्वीकृत कर ली गईं। इस घटना के कारण 'नन्दा की भिवानी' प्रसिद्ध हुई किन्तु खेद का विषय है कि उन्हीं सेठ नन्द राम की मृत्यु किसी अंग्रेज के हाथ की गोली से हुई।

भिवानी में सोलह पान्ने चार बाजार एवं बाजार एवं बारह दरवाजे हैं। हालु और लोहड़ दो भागों में भिवानी को बाँटती हुई स्टेशन से सीधी बापोड़ा गाँव तक सड़क चली गई है। यही बिचले बाजार की सड़क कहलाती है। सड़क के दक्षिण और हालु और वाम ओर लोहड़ बसा है।

भिवानी अथवा भ्याणी (लोक भाषा में) का वास्तविक नाम है भानी। भानी वर्तमान भिवानी से लगभग चार मील दूर स्थित उमरावत गाँव की जाट जाति की स्त्री थी। उसी के नाम पर वीर राजपूत नीम सिंह ने इस शहर की नीम रखी। बिचला बाजार में जहाँ आज इलेक्ट्रिक हाउस बना है उसके पीछे जण्डी का वृक्ष है उसी स्थान पर संवत् १४३३ चैत्र कृष्णा पंचमी शुक्रवार को इस नगर का मुहूर्त किया गया था।

वास्तव में नीम सिंह के दादा जाटु सिंह अपने पिता से रुष्ट होकर सिरसा जि० हिसार में चले आए थे। यहाँ ये कँवर पाल शोदा के यहाँ आकर ठहरे। शोदा के तीन लड़कियाँ थीं—काछल देवी बाछल देवी और पातल देवी। बड़ी दोनों लड़कियाँ काछल और बाछल पुरेरा के राजपूतों में ब्याही गईं। इन्हीं के यहाँ प्रसिद्ध वीर गूगासिंह चौहान उपनाम 'गूगा पीर' का जन्म हुआ जिसकी समाधि बीकानेर राज्यान्तर्गत 'गूगा मैड़ी' के स्थान पर वर्तमान है और जहाँ गूगा नवमी के दिन आज भी भारी मेला लगता है।

तीसरी बहिन पातल देवी का विवाह जाटुसिंह के साथ हुआ और उन्हें घर का जमाई रख लिया गया। जाटु सिंह के दो पुत्र हुए साढ़ सिंह और हरपाल सिंह। जिन दिनों यवनों के भारत पर आक्रमण हो रहे थे तब इन दोनों वीर पुत्रों ने हांसी के आस-पास ऊजड़ पड़े गाँव पुनः बसाए और इस प्रकार कर्तव्य परायणता, निपुणता आदि द्वारा १४४० गाँव अपने

अधीन कर लिये। इन्हीं में से साढ़ सिंह के पुत्र का नाम नीम सिंह था जिन्होंने आगे चल कर भिवानी की स्थापना की।

नीम सिंह भी अपने दादा के समान अपने पिता से रुष्ट होकर उमरावत में आ कर ठहरे। उमरावत में जाटों की आबादी अधिक थी। इधर नीम सिंह जन्म जात शासक थे अतः जाटों पर अपना प्रभाव जमाने में सफल हो गए इस कारण जाट भीतर ही भीतर नीम सिंह से ईर्षा करने लगे और अवसर पड़ने पर उन्हें समाप्त करने का षड़यन्त्र रचने लगे।

भानी नाम की जाटनी नीमसिंह की वीरता, चातुरी और पुरुषोचित गुणों के कारण उन पर आसक्त थी अतः एकान्त पा उसने षड़यंत्र की सूचना नीम सिंह को दे दी। नीम सिंह होशियार हो गए। समय आने पर परस्पर लड़ाई में जाटों को नीचा देखना पड़ा।

नीम सिंह की विजय तो हुई पर उसे वे निरापद न बना सके। वे चाहते थे कि किसी अन्य स्थान पर रहने लगे और भानी की कृपा से प्राप्त विजय स्थायी हो जाए।

वे इसी चिन्ता में एक दिन चले जा रहे थे कि उन्होंने देखा एक भैंसा कहीं से पानी पीकर मस्त चला आ रहा है। नीम सिंह जी ने समझ लिया कि निकट ही कहीं जलाशय है और वही स्थान निवास के लिये उपयुक्त रह सकता है। वे भैंसे की विपरीत दिशा में कुछ ही दूर गए थे कि उन्हें बहुत सुन्दर जलाशय दिखाई पड़ा। उसे देख नीम सिंह जी बाँछें खिल गईं और वहीं रहने का निश्चय कर नगर का मुहूर्त कर दिया। इस मुहूर्त के पुरोहित थे बुवानी निवासी पं० किशोरी लाल लाटा।

नीम सिंह ने मान एवं प्राणों की रक्षा करने वाली भानी की कृतज्ञता प्रकट की नगर का नाम भानी रख कर। भानी से भ्याणी और भ्याणी से बिगड़ कर आज यह नगर भिवानी के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है।

नीम सिंह ने इतने में ही अपनी कृतज्ञता की इतिश्री नहीं कर दी अपितु भानी के पुत्र मीता सिंह के नाम पर गाँव 'मीता थल' बसाया और अपने नाम पर भिवानी के निकट नीमड़ बसाया। आज भी भिवानी में राजपूतों की जितनी चौपाल हैं उनमें नीम का पेड़ देखने को उपलब्ध होगा। वे नाम का साम्य होने के कारण नीम को पवित्र वृक्ष मानते हैं और उसकी टहनी और पत्तों तक की क्षति पहुँचाना पाप समझते है।

नीमसिंह के पुत्र का नाम था बाच्छु सिंह। बाच्छु सिंह के दो पुत्र हुए लोहड़ सिंह और जोनपाल सिंह। वर्तमान लोहड़ बाजार इन्हीं वीर लोहड़ सिंह के नाम से बसा। ये अन्त में वीर हो गए थे।

जोनपाल सिंह के चार पुत्र थे—हालु सिंह, वीरम सिंह, नर सिंह और जयत सिंह। वर्तमान हालु बाजार इन्हीं हालु सिंह के नाम से बसा। शेष तीन भाइयों के नाम पर तीन पान्ने बसे। वीरम सिंह के नाम से वीरवाण पान्ना, नरसिंह के नाम से नरसाण पान्ना और जयत सिंह के नाम से जीतूवाला तालाब बना। आगे चलकर जोनपालजी के वंश में आसु सिंह और मानु सिंह हुए जिनके नाम पर आसिया पान्ना और मानाण पान्ना बसे हुए हैं।

लोहड़ सिंह के पांच पुत्र हुए—छाजु सिंह, उदा सिंह, बलवीर सिंह झाम सिंह और मुण्डू सिंह। इनमें बड़े तीनों भाई निःसन्तान रहे। झाम सिंह के दो पुत्र थे। मुण्डू सिंह

अपने पिता के साथ यवन हो गए थे। इस प्रकार लोहड़ बाजार में झाम सिंह के वंशज राजपूत ही निवास करते हैं।

झाम सिंह के दो पुत्र हुए मोघा सिंह और मेघा। इन दोनों के नाम पर लोहड़ बाजार में दो पान्ने बसे हुए हैं मोघाण और मेघाण। इन दोनों में भी एक एक में चार चार पान्ने वसे हुए हैं। मोघाण में सोलाण, भणसी, टाह्याँ, खोखराण। मेघाण में राजान, काथान, पुथान, दासान। ये पान्ने इन की सन्तानों के नाम पर बसे हैं। वास्तव में लोहड़ में दो ही पान्ने हैं इनकी चार चार अवान्तर शाखाएँ हैं। इस प्रकार आठ पान्ने लोहड़ में हैं।

जैसा कि ऊपर बताया हालु में चार पान्ने प्रसिद्ध है—बीरवाण, नरसाण, आसिया और माणान। पान्ना नरसाण में तीन शाखाएँ हैं; लेखवाण, हिन्दवाण, भीखाण। माणान पान्ने की एक शाखा है क़ीताण। इस प्रकार १६ पान्नों, चार बाजार और बाहर दरवाजों से युक्त भानी के नाम पर कृतज्ञता प्रकट करने के लिये बसाई 'भ्याणी' नीम सिंह की आज भी यशोगाथा सुना रही हैं। संस्कृत भाषा के प्रचार में अग्रणी रहने के कारण इसे छोटी काशी भी कहा जाता है।[1]



१. स्व० विश्वेश्वरलालजी हलवासिया भिवानी के निवासी थे। भिवानी का विशेष परिचय इस लेख में दिया गया है।

"देसां मां देस हरियाना"

देवेन्द्र सत्यार्थी

"देसां मां देस हरियाना,
जितै दूध दही का खाना।"

हरियाना-प्रवास के पहले रोज ही एक ग्राम में मुझे यह लोकोक्ति प्राप्त हुई। और मैंने हरियाने की गाय देखी, उसके स्वास्थ्यका, उसकी अधिक-से-अधिक दूध दे सकने की सामर्थ्य का बखान सुना, तो मनने इसे 'दूध-दही की धरती' मान लिया। यहाँ किम्वदन्ती है कि एक बार स्वयं गोपालकृष्ण इधर आ निकले थे, और तभी से यह हरियाना—हरि (कृष्ण) की भूमि कहलाया है। कृष्ण ने यहाँ के दूध की प्रशंसा की थी यहाँ के दही को सर्वोत्तम बतलाया था; पर वह व्रज को छोड़कर सदा के लिए इधर न बस सके थे, इधर गोपियाँ न थीं, न राधा उनके साथ इधर आने को तैयार थी। कृष्ण की मुरली की गूँज अब भी बाकी है, और गाय के कान उसे पूर्णमासी की खामोश रात में कभी-कभी अब भी सुन लिया करते हैं। लोक-कथा तो यह भी बतलाती है कि तब गाय मुँह ऊपर करके वेदनामय आवाज़ निकालती है, जैसे वह उस गोपाल को फिर से बुला रही हो, जैसे वह उसे अपनी वर्तमान रक्षाहीनता पर चार अश्रु गिराने को कह रही हो। और मैंने हरियाने के लोकगीत की विषाद-रेखा में गाय की करुण पुकार का कुछ अंश देखा भी है।

हरियाना—गुड़गाँव, हिसार, रोहतक, कर्नाल का प्रदेश—बाँगर, नहराँपुर और खाद्दर, तीन भागों में बाँटा जा सकता है। बाँगरे के खेत हमेशा बादलों का आसरा ताकते हैं; जब नहर नहीं निकली थी; नहराँपुर का भी प्रायः यही हाल था; खाद्दर वह भाग है, जो जमुना के साथ-साथ चला गया है, जमुना की कछार से इसका जन्म हुआ था। बाँगर का किसान ग़रीबी का सामना करता आया है, उसकी वेदना उसके गीत में, उसकी पृष्ठभूमि में मिलती गई है। नहर के पानी ने नहराँपुर को हरियाला ज़रूर बना दिया, पर यह न समझना चाहिए कि वहाँ ग़रीबी रही ही नहीं। कभी-कभी तो मालियाना भी पूरा नहीं निकलता और किसान का गीत बासी फूल की भाँति मुरझाता हुआ एकदम मरियल प्रतीत होता है। अभी तक किसान के गीत ने नहर के पानी को अर्घ्य नहीं दिया है। खाद्दर का किसान घाटे में नहीं रहता, तभी उसका गीत भी उसके जीवन की भाँति ही अधिक स्वप्निल होता है। उसका गीत वहाँ से आरम्भ होता है, जहाँ जीवन हँसता है, जहाँ बेफिकरी के फौरन बाद ही आलस्य का भी आगमन हो जाता है। और खाद्दरा-निवासियों पर लोक-कथा ने कई बार व्यंग्य कसा है; और उस किसान की बात, जिसने अपने पेटपर से मक्खी उड़ा देने के लिए दूर से अपनी पत्नी को पुकारा था, लोकोक्ति में समाया चाहती है। यों हरियाने में हिन्दू, मुसलमान, छोटे-बड़े, धनी-गरीब, सभी बसते हैं; पर मुख्यतया यह जाट-भूमि ही है।

अपनी मातृभाषा को, जिसे जाटू या बाँगरू का नाम मिल गया है, जाट ने काफी बल दिया है। जिस शब्द को भी वह अपनी वाणी में स्थान देता है, उसे एक अपना ही उच्चारण भी प्रदान करता है। साधारण हिन्दी शब्द भी जाट के होठों पर जाकर उच्चारण के एक खास जोर और घुमाव से एक नवीन रूप-रेखा या अर्थ लेता है। समस्त हरियाने की भाषा एक ही नहीं है। जिन्हें शिक्षा मिली है, या जो ग्रामों में नहीं रहते, प्रायः ऐसी भाषा बोलते हैं, जो हिन्दी के पीछे चलती है; पर वे लोग जो जाट के पड़ोस में धरती के नजदीक के धन्धों से रोटी कमाते हैं, जाट-भाषा बोलते हैं, यह दूसरी बात है कि इनके उच्चारण में जाटका-सा बल नहीं आ पाता। भाषा के भेदने लोकगीत को भी बाँट दिया है। जाट-भाषा का रूप भी सब जगह एक-सा नहीं है; इसमें भी भेद हैं। 'जहाँ' के अर्थ में कहीं 'जिते' कहते हैं, कहीं 'जड़ै'; 'तेरे' और 'थारे', 'मेरे' और 'म्हारे', एक ही अर्थ में, थोड़े-थोड़े फासले पर एक साथ चलते हैं। राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है; पंजाबी रंग भी आता है। शतदल में जैसे मकरन्द होता है, सीपी में जैसे स्वाति-बूँद मोती को जन्म देती है, लोक-भाषा के साधारण शब्दों में गायक की स्वर-लहरी एक नई ही आत्मा डालती चलती है। वंशी-रव की-सी कोमलता जाट-गीत के भाग्य में नहीं बदी। उधार लिये शब्दों में भी जाटा-गीत एक अपनापन ले आया है; और जब कवि गीत को जन्म देता है, तो वह शब्द-चयन और वाक्यों के घुमाव में एक स्वतन्त्र पुरुष की भाँति एक निजी रूप-रेखा को सामने रखता है। यों हरियाने की हर-एक जाति ने लोक-गीत की सृष्टि में भाग लिया है। और जब भी कोई गहरा और विस्तृत अध्ययन हरियाने के लोकगीत को प्रकाश में लायेगा, तो हम इसे दो अध्यायों में बँटा पायँगे—(१) जाट-गीत, (२) अन्य जातियों का गीत।[1]

जाट लोकगीत खेत के पास-पास पला है। गीत के विकास में खेत की कोख धन्य हुई है। बाजरे के लिट्टे, मकई के भुट्टे या गेहूँ की बालें देखकर फिर जाट का गीत सुनिये। जाट की कविता को आप एक दुलहिन के रूप में पायँगे और दुलहिन भी वह, जिसका सिंगार खेत में उगी हुई वस्तुओं से हुआ है। शायद आप उसकी किसी लट में गेहूँ की कोई बाल देख पायँ, या शायद वह बाजरे का लिट्टा या मकई का भुट्टा लिये मचलती हुई आ रही हो, खेत की मेंड़ के ऊपर-ऊपर अपने कान पर मूँग की फली लगाये। और जब मधु-रजनी का मिलन-गान पंख लगाकर उड़ता हैं, दुलहिन की आँखों में आप-ही-आप लज्जा आ समाती है। परिश्रमी किसान के लिए जीवन एक सुख-स्वप्न ही तो बन जाता है; तब वह ग़रीब नहीं रहता, मधुमिश्रित सोम नशा लाता है, जैसे स्वर्ग एकदम उसके घर में ही आ गया हो।

'जाट जात गंगा,' हरियाना की एक लोकोक्ति है। गंगा में जितनी ग्रहणशीलता है, इधर-उधर से आई धाराओं को अपने में समाकर गंगा रूप दे सकने की जो सामर्थ है, वही

---

१. रोहतक में दो देवियों ने, जो ननद-भावज हैं, इस ओर प्रयत्न किया है। उनके नाम हैं सीतादेवी प्रभाकर और लीला भूषण। उनकी पुस्तक प्रकाशन की राह देख रही है। —ले०

जाट लोकगीत में भी है। जाट की भी अपनी ही एक नीति है; कोई उसे यों ही ठग नहीं सकता। 'जाट-विद्या' उसकी नीतिकुशलता का दूसरा नाम है। 'अनपढ़्या जाट पढ़्या बराबर, पढ़्या जाट खुदा बराबर' में उसकी तटस्थता लोकोक्ति की अमर वस्तु बन गई है। 'जाट मरया जब जाणिए जब बरसौढ़ी (बरसी) हो जाय'। जाट वीर होता है और उसकी मृत्यु यों ही नहीं हो सकती। खानाबदोशों की एक लोकोक्ति में यही गुण खानाबदोशों की झोली में डाला गया है, 'खानाबदोश के शरीर के दस भाग करने से क्या उसे खत्म कर दिया गया है ? नहीं, आपने एक से दस खानाबदोश बना दिये हैं।' जाट के ये सभी गुण उसके गीत में भी आ गये हैं।

जाट-गीत को परे रखकर हरियाने की कल्पना करना ऐसा ही है, जैसे मधुमक्खियों के-बिना मधुकोश पा सकने का व्यर्थ प्रयत्न। विवाह-गान का अंचल पड़ोसी प्रान्तों के विवाह गान से छू गया है। बालक-जन्म के गान का तथा कुछ झूले के गीतों का भी यही हाल हुआ है। इससे क्या ? जाट को अपने हृदय-मन्थन के लिए विस्तृत समय मिला है। उसका गीत फसल के साथ-साथ पकता है। चौड़े कन्धोंवाला, सूर्य के प्रकाश में तपे हुए मुखवाला यह धरती का बेटा अपनी रूप-रेखा में समस्त जाट-जाति को पेश करता है। जब वह हँसता है आप भी अपने हृदय में हँसी की लहर उठती पाते हैं; जब वह गाता है; समस्त जाट-जाति के दिल की धड़कन सुनी जा सकती है। जाट की जीवन-कथा उसके गान से कहीं अधिक लम्बी है।

जाट का कौमी गायक सांगी जब सारंगी पर गान करता है, जाट-हृदय उधर आकर्पित हुए बिना नहीं रहता। यह ज़रूरी नहीं कि सांगी स्वयं जाट-जाति में से हो। और जब वह गाता है, उसका कथानक नाटकीय रूप में होकर बहता है। प्रेम और यौवन का इतिहास जाग्रत होकर बोलता है। जूही और रजनीगंधा वहाँ नहीं तो क्या हुआ, दिल तो है, और दिल की दुनिया में प्रेम और यौवन सदा फूल बनकर खिलते हैं। सांगी का गीत प्रेम और यौवन से ऊपर नहीं उठता, जैसे गाने-योग्य केवल-मात्र यही एक भूमि हो। वह अपना एक-एक शब्द श्रोतामण्डली पर प्रभावमय वातावरण में फैलाता है, और जनता एक शरीर और सैकड़ों सिरों के साथ कोहरे में से झाँकती ऊषा का आवाहन करती है। सांगी का गीत समस्त लोक-जीवन में गूँज उठता है :—

तेरे (सौन्दर्य) से घायल होकर
मैं वन के मोर की तरह रोता हूँ।
पाज़ेब तेरे पैरों में ऐसे बजती है,
जैसे सन के बीज झंकार करते हैं।
अरी ओ थोड़ा-सा जल पिला दो मुझे,
दूर का (पथिक) हूँ मैं, प्यास से व्याकुल।[1]

---

१. तेरा मारिया ऐसे रोऊँ जिसा झरता मोर बनीका;
तरे पाइयाँ माँ पायल बाजे जिसा बाजे बीज सणींका;
थोड़ा-सा नीर पला दै, प्यासा मरता दूर घणींका।

संसार की बहुत सारी कविता किसी प्यास का गान हैं। पथिक की आवाज़ क्या यों ही हारकर रह जाती है ? यह घायल करनेवाला सौंदर्य आखिर क्या अर्थ रखता है ? सन के बीजों की पायल पहने मुग्धा पनिहारी पथिक को क्या समझती होगी ? शायद वह स्वयं किसी प्यासे पथिक की प्रतीक्षा में थी। और सांगी का यह गान आदम और हव्वा का गान हो उठता है। उसकी उँगलियों में फुरती आ जाती है, और कंठ में बल और वेग ही नहीं आते, मृदुलता भी आती है। सौंदर्य में इतनी हिलोर क्यों रहती है ? और यह स्वच्छन्द पुष्प कुएँ के समीप कब से खिलता आया हैं ? सौंदर्य हमेशा से ही एक नई दिशा क्यों बताता आया है ? पुरुष सदा से नारी को इसी रूप में देखता आया है। नारी कहती है—"मै तो यहाँ उगी हुई हरी दूब हूँ।"[२]

लम्बा कथागीत सांगी का प्रिय सखा है। वह 'सांग' (स्वांग) कहलाता है। किसी समय यह गीत जो वित नाट्य-रूप लिए रहा होगा। जीवन-रस की कमीने इसकी पहली शान बरकरार नहीं रहने दी। गीति-नाट्य में यदि जीवन के चिर-सत्य की प्रतिष्ठा न की जाय, तो वह अधिक नहीं जी पाता। जब लोकजीवन में धरती-सी अटूट सादगी थी और गेहूँ की रोटी की-सी पुष्टि थी, सांगी दुनिया-भर को अपने गीत में समेट लेने की शक्ति रखता था। लोक-जीवन की पूर्ण रूप-रेखा ही बस सांगी की दुनिया होती थी, यह बात नहीं; परी-देश का अंचल तथा देवताओं की कहानी का ताना-बाना भी सारंगी के तारों को छू जाते थे। एक दिन लास्य और ताण्डव दोनों ने ही इसे अपना-अपना स्पर्श प्रदान किया था। एक छोटा गीत, 'कड़ा', भी लोकप्रिय हुआ है। रागनी, एक दूसरा छोटा गीत जिसका प्रत्येक भाग 'कली' कहलाता है, जाटगान का एक उज्वल अंग है। इन्द्रधनुष के सभी रंग इसके हिस्से आये हैं। नारी के गीत ने विभिन्न छन्द-प्रवाह धारण किये हैं। खेत और घर-गृहस्थी की बहुमुखी कार्यप्रणाली के पीछे जो एक ताल रहता है, उसीके उतार-चढ़ाव के कई रूप उसके गीत की पृष्टभूमि में समा गये हैं।

सांगीने अनेक बार 'साँग' के अलावा दूसरे गान को अपनाया है। प्यासे पथिक का गीत सारंगी से बहुत मेल खाता है :—

मैं जाट पिता का लाड़ला पुत्र हूँ।
मुझे प्यास लगी है।
लगी आग पानी पिये बिना नहीं बुझती !
रास्ते में पक्का कुआँ बना है,
किस पापी ने यह जुल्म किया कि इस पर डोल नहीं रखा ?[३]

---

२. मैं हरी-हरी दूब खड़ी सेओं !

३. जाटका मैं लाडला तिरखा लगी सरीर,
अगन लगी बुझती नईं, बिना पिये जल-नीर;
बिन पिये जल नीर,—रस्ते में कुयाँ चुनाया,
किस पापी ने यै जुल्म कमाया ? उसपै डोल नैं पाया !

आगे पथिक को फिर हम किसी अगले कुएँ पर पनिहारी युवती से पानी पीते देखते हैं—

थोड़ा-सा जल मुझे पिला दो ।
बाकी डाल दो मेरे लोटे में ।
अरी ओ, तुम तो भले घर की दीखती हो;
बड़े टोटे में तुमने जन्म लिया हो जैसे ।
चलो, मेरे साथ हो लो,
मैं तुम्हारे लहँगे को गोटे से मढ़वा दूँगा ।[४]

न-जाने वह मुग्धा पनिहारी उत्तर क्यों नहीं देती ? जल तो उसने पिला ही दिया होगा; पर क्या पथिक तृप्त हृदय से अपनी मंजिल पर चला होगा ? चलता-चलता भी वह एक और गीत गाता गया :—

चाँद-सा तेरा रूप खिल रहा है !
फुरसत में दिल लगाकर
भगवान ने तेरी रचना की होगी ।
युवती भागकर दूर निकल गई,
वह ऐसे गई, जैसे शराब में आग लग गई ।
कलीदार लहँगा पहने वह पतली कमर को
लचका कर चली गई ![५]

पनघट पर घड़ों की भाँति ही न-जाने कितने हृदय टूटे होंगे ! पनिहारी को लोकगीत में एक चिरस्थायी स्थान मिला है ।

नारी को लोकगीत में इतना अधिक स्थान क्यों ? खेत की मेंड़ पर बैठा किसान युवक अपनी प्रेयसी को झरने के पास का फूल दिखाता है । झरने हरियाने में नहीं होते । कल्पना के संसार में तो झरनों की कमी नहीं :—

मैं खेत की मेंड़ पर बैठा हूँ ।
इस प्रखर दोपहरी में तू कहाँ जा रही है ?
प्रिय, मेरा हृदय धड़क रहा है ।
तू जा मत, मेरा जी भटकता है !
तटस्थ भाव से खड़ी होकर चार घड़ी देखती जा,

---

४. थोड़ा-सा नीर पिला दै, बाकी घाल मेरे लोटे में,
अरे तूँ भले घराँकी दीखै, तन्ने जन्म लिया टोटे में;
तू मेरी साथ होलेगी, दामन मढ़वा दिऊँ घोटै मैं !

५. रूप तेरा चन्दा-सा लिख रिआ, बे ने घड़ी बैठके ठाली !
कर तावल वार भाजरी, जिसी दारु माँ आग लाग री
कलियाँदार घाघरी, पतली कमर लचकत चाली !

झरने के फूल की सुगन्ध फैल रही है :[६]

ईख की निराई करती कन्या के गान में स्वाभाविकता की हवा बहती है :—

बहुत सताया है, ईख, तूने मुझे बहुत सताया है।
पीछे घर में मैं बालकों को रोते छोड़ कर आई हूँ।
डलिया में अनाज पड़ा है, पीसना भी अधूरा ही रहा।
दूध देती गाय को भी बिना दूहे ही छोड़ आई।
निगोड़ी ईख, तूने मुझे बहुत सताया हैं रे!
कतनी में पूनियाँ भी बिना काते ही छोड़ आई।
माता-पिता को घर में छोड़कर निराई करने आई हूँ?[७]

श्रमिक जातियों की स्त्रियाँ और कन्याएँ प्रायः किसान के यहाँ निराई का काम करने आती हैं; पर इससे उन्हें हमेशा भर पेट मजदूरी नहीं मिल पाती। किन्तु क्या कन्या का यह गान ग़रीबी की पुकार है? क्या यह ईख के प्रति दुलार-भरा उलहना नहीं है, जो उसे घर की बन्द हवासे बाहर बुलाती है? इस मानवी प्रेम से शायद उसका हृदय सरस हो उठेगा, इसीसे शायद ईख अधिक रसमय होकर उगेगी।

बाजरे की खेती में जुटा हुआ किसान बाजरे के दिल की बात बूझ लेता है। बाजरा क्या यों ही उगता है? यों ही पकता है? बाजरा खूब जानता है कि उसका जन्म किसान-

---

६. मैं बैठ्या खेत कै डोले पै
कित जासै सिखर दुपहरे नै?
मेरी जान कालजा खटकै
मत जाइए जी, जी भटकै
लिए देख चार घड़ी डटकै
खसबू आरई फूल झारे मैं।

७. बहुत सताई ईंखड़े रै तैंने बहुत सताई रै!
बालक छाड़े रोमते रैं, तैंने बहुत सताई रे!
डालड़ी मैं छाड्या पीसना,
और छाड़ी सलागड़ गाय,
नगोड़े ईखड़े, तैंने बहुत सताई रे!
कातनी में छाड्या कातना,
और छाड़े से बाप और माय,
नगोड़े ईंखड़े तैंने बहुत सताई रे।
बहुत सताईं खड़े रै, तैंने बहुत सताई रे!
बालक छाड़े रोमते रै, तैंने बहुत सताई रे

कुलवधू को पुष्ट करने के लिए हुआ है। वह बड़ा अलबेला है। वह कहता है, 'मैं दो मूसलों से अकेला ही लड़ सकता हूँ'[८]। किसान-कुलवधू को बाजरे का यह कथन हमेशा याद रहता है। जुआर बेचारी क्यों कुछ नहीं बोली ? शायद वह लजा गई। पर इससे क्या ? किसान-कुलवधू जुआर को भी सदा से अपने संस्मरण में जगह देती आई है। बाजरा और जुआर दोनों पति-पत्नी हैं। एक जाट लोक-कथा में यह बात आई है, बाजरा एक शाहज़ादा था और जुआर के अमोघ सौन्दर्यपर रीझकर उसने उसे बाद में अपनी पटरानी बना लिया था और मरने के बाद वे खेत में साथ-साथ उगने लगे। आषाढ़ के अन्त में बाजरा और जुआर बोये जाते हैं। दोनों पर श्यामल मेघ एक साथ बरसते हैं। और खेत में किसान के लिए भोजन लाते समय नारी के हृदय में यह जान लेने की आकांक्षा उत्पन्न होती है कि बाजरा कहाँ बोया गया है और जुआर के लिए कौन-सी जगह चुनी गई है। शायद बाजरे के-से श्यामल किसान के लिए नारी का रूप जुआर की तरह निखर उठना चाहता है, एकदम गौरवर्ण होकर, फूलकर :—

कोई काली बदली बरसने लगी है।

"अजी ओ किसान, मैं मेंड़-मेंड़ पर घूमी-फिरी,
तुम्हारा खेत मुझे मिलने में ही नहीं आता।
चार बैलों के लिए तो मैं 'भूसा' लाई हूँ;
दो आदमियों के खाने लायक 'छाक' लाई हूँ।"
कोई काली बदली बरसने लगी है।
"गोरी धन, जरा किसी ऊँची मेंड़पर चढ़कर निहार लो।
मेरे गोरे बैलके गलेमें बड़ी घण्टी भी तो बज रही है।"
कोई काली बदली बरसने लगी है।
"अजी ओ किसान, किस तरफ तुमने बाजरा बोया है ?
और कहाँ बोई गई है जुआर ?"
कोई काली बदली बरसने लगी है।
"गोरी धन, ऊपर के खेत में बाजरा बोया है;
निचले खेत में जुआर बोई है।'
कोई काली बदली बरसने लगी है।[९]

---

८. बाजरा कहे मैं बड़ा अलबेला,
दो मूसल मैं लड़ूँ अकेला।
जो तेरी नाजों खीचड़ा खाय;
फूल-फाल कोठी हो जाय।

९. कोई बरसन लागी काली बादली !
"डोलै तै डोलै, हालीड़ा, मैं फिरी
मन्ने किते न पाया थारा खेत।"
बरसन लागी काली बादली !

यह क्या ? जुआर खेत में भी निचली भूमि में उगती है, बाजरा ऊपर के खेत में जा बिराजा है। अभी वे स्त्री-पुरुष की बात नहीं भूले। एक किसान ने मुझे बाजरे और जुआर की मानव-जन्म की कथा सुनाते हुए बताया था कि जुआर स्वयं अपनी पुरानी संस्कृति को बनाये रखना चाहती है।

जब 'हरियाली तीज' का गान सावन की फुहार में भीगना चाहता है, कुलवधू अपने नैहर जाने के लिए लालायित हो उठती है। कितनी पुरानी होगी यह हरियाली तीज ? सीता से भी इसे मनाया होगा, दमयन्ती ने भी। कितने सावन देखे होंगे नारी के इस त्योहार ने ! वृक्षों पर हिंडोले पड़ जाते हैं; दिन-दिन भर झूलते बीतता है। मल्हार के स्वर हृदय में बस जाते हैं। कुलभधू की चुनरी और इन्द्रधनुष में होड़ लगती है। पर हरियाली तीज के गान में करुण-रस को भी तो स्थान मिलता है। हरएक कुलवधू नैहर नहीं जा पाती थी। 'सरिहल रानी' का गान शायद किसी लम्बे दुःखान्त काव्य का एक भग्नावशेषमात्र है। जरूर इसका कथानक बहुत लम्बा रहा होगा :—

'रंग-भरा सावन आ गया है, हरियाली तीज आ रही है।
सासजी, मुझे नैहर भेज दो।'
'न कोई ब्राह्मण तुझे लिवाने आया है,
न खुद तेरा माँ-जाया भाई।
कुलवधू, यों बिना बुलाये जाने से
तेरा आदर घट जायगा।
तू यहाँ ही सावन मान इस बार।'
मैं ऊँची अटा पर चढ़कर देख रही हूँ।
कोई आ रहा है, उसे मैं देवर भाव में देखूँ या जेठ के रूप में ?
अजी ओ बढ़ई के बेटे, चन्दन का पालना घड़ ला।

"कोई प्यार बुलदांका, हालीड़ा, नीरना
दोए जणिएँ की छाँक !"
बरसन लागी काली बादली !
"कोई ऊँचै तै चढ़ कै, गोरी धन, देखें लियो,
म्हारे गोरे बुलद कै टाल !"
बरसन लागी काली बादली।
"कितरज बोया, हालीड़ा, बाजरा ?
कोई कितरज बोई जवार ?"
बरसन लागी काली बादली !
"थलियाँ तै बोया, गोरी धन, बाजरा,
कोई डेराँ बोई जवार।"
बरसन लागी काली बादली ?

कुलवधू को पुष्ट करने के लिए हुआ है। वह बड़ा अलबेला है। वह कहता है, 'मैं दो मूसलों से अकेला ही लड़ सकता हूँ'[८]। किसान-कुलवधू को बाजरे का यह कथन हमेशा याद रहता है। जुआर बेचारी क्यों कुछ नहीं बोली ? शायद वह लजा गई। पर इससे क्या ? किसान-कुलवधू जुआर को भी सदा से अपने संस्मरण में जगह देती आई है। बाजरा और जुआर दोनों पति-पत्नी हैं। एक जाट लोक-कथा में यह बात आई है, बाजरा एक शाहज़ादा था और जुआर के अगोप सौन्दर्यपर रीझकर उसने उसे बाद में अपनी पटरानी बना लिया था और मरने के बाद वे खेत में साथ-साथ उगने लगे। आषाढ़ के अन्त में बाजरा और जुआर बोये जाते हैं। दोनों पर श्यामल मेघ एक साथ बरसते हैं। और खेत में किसान के लिए भोजन लाते समय नारी के हृदय में यह जान लेने की आकांक्षा उत्पन्न होती है कि बाजरा कहाँ बोया गया है और जुआर के लिए कौन-सी जगह चुनी गई है। शायद बाजरे के-से श्यामल किसान के लिए नारी का रूप जुआर की तरह निखर उठना चाहता है, एकदम गौरवर्ण होकर, फूलकर :—

कोई काली बदली बरसने लगी है।

"अजी ओ किसान, मैं मेंड़-मेंड़ पर घूमी-फिरी,
तुम्हारा खेत मुझे मिलने में ही नहीं आता।
चार बैलों के लिए तो मैं 'भूसा' लाई हूँ;
दो आदमियों के खाने लायक 'छाक' लाई हूँ।"
कोई काली बदली बरसने लगी है।
"गोरी धन, जरा किसी ऊँची मेंड़पर चढ़कर निहार लो।
मेरे गोरे बैलके गलेमें बड़ी घण्टी भी तो बज रही है।"
कोई काली बदली बरसने लगी है।
"अजी ओ किसान, किस तरफ तुमने बाजरा बोया है ?
और कहाँ बोई गई है जुआर ?"
कोई काली बदली बरसने लगी है।
"गोरी धन, ऊपर के खेत में बाजरा बोया है;
निचले खेत में जुआर बोई है।'
कोई काली बदली बरसने लगी है।[९]

---

८. बाजरा कहे मैं बड़ा अलबेला,
दो मूसल मैं लडूँ अकेला।
जो तेरी नाजों खीचड़ा खाय;
फूल-फाल कोठी हो जाय।

९. कोई बरसन लागी काली बादली !
"डोलै तै डोलै, हालीड़ा, मैं फिरी
मन्ने किते न पाया थारा खेत।"
बरसन लागी काली बादली !

यह क्या ? जुआर खेत में भी निचली भूमि में उगती है, बाजरा ऊपर के खेत में जा बिराजा है। अभी वे स्त्री-पुरुष की बात नहीं भूले। एक किसान ने मुझे बाजरे और जुआर की मानव-जन्म की कथा सुनाते हुए बताया था कि जुआर स्वयं अपनी पुरानी संस्कृति को बनाये रखना चाहती है।

जब 'हरियाली तीज' का गान सावन की फुहार में भीगना चाहता है, कुलवधू अपने नैहर जाने के लिए लालायित हो उठती है। कितनी पुरानी होगी यह हरियाली तीज ? सीता से भी इसे मनाया होगा, दमयन्ती ने भी। कितने सावन देखे होंगे नारी के इस त्योहार ने ! वृक्षों पर हिंडोले पड़ जाते हैं; दिन-दिन भर झूलते बीतता है। मल्हार के स्वर हृदय में बस जाते हैं। कुलभधू की चुनरी और इन्द्रधनुष में होड़ लगती है। पर हरियाली तीज के गान में करुण-रस को भी तो स्थान मिलता है। हरएक कुलवधू नैहर नहीं जा पाती थी। 'सरिहल रानी' का गान शायद किसी लम्बे दुःखान्त काव्य का एक भग्नावशेषमात्र है। जरूर इसका कथानक बहुत लम्बा रहा होगा :—

'रंग-भरा सावन आ गया है, हरियाली तीज आ रही है।
सासजी, मुझे नैहर भेज दो।'
'न कोई ब्राह्मण तुझे लिवाने आया है,
न खुद तेरा माँ-जाया भाई।
कुलवधू, यों बिना बुलाये जाने से
तेरा आदर घट जायगा।
तू यहाँ ही सावन मान इस बार।'
मैं ऊँची अटा पर चढ़कर देख रही हूँ।
कोई आ रहा है, उसे मैं देवर भाव में देखूँ या जेठ के रूप में ?
अजी ओ बढ़ई के बेटे, चन्दन का पालना घड़ ला।

"कोई प्यार बुलदांका, हालीड़ा, नीरना
दोए जणिएँ की छाँक !"
बरसन लागी काली बादली !
"कोई ऊँचै तै चढ़ कै, गोरी धन, देखें लियो,
म्हारे गोरे बुलद कै टाल !"
बरसन लागी काली बादली।
"कितरज बोया, हालीड़ा, बाजरा ?
कोई कितरज बोई जवार ?"
बरसन लागी काली बादली !
"थलियाँ तै बोया, गोरी धन, बाजरा,
कोई डेराँ बोई जवार।"
बरसन लागी काली बादली ?

नौ आदमी हैं, उनके पास आठ कुल्हाड़े हैं ।
वेग से वे वन की ओर बढ़ रहे हैं ।
तालाब की ऊँची पाल पर चन्दन का पेड़ खड़ा है ।
बढ़ई आता देखकर चन्दन का पेड़ छाती फाड़कर रो पड़ा ।
'मेरी एक-एक डाल काट लो,' वह बोला,
'पर मुझे जड़ से न काटना ।'
पहला कुल्हाड़ा मारने पर चन्दन से दूध की धारा बह निकली ।
दूसरा कुल्हाड़ा मारने पर रक्त-धारा बह पड़ी ।
गोरी कलाइयों पर हरी चूड़ियाँ पहन रखी हैं ।
अजी ओ जुहार की रानी, तुम्हारा हृदयेश तो मारा गया है ।[10]

---

१०. सामण आयो रंगलो कोई आई रे हरीयाली तीज !
सास म्हारी प्यारी, गजब की मारी,
मोकें ती खंडा दै पीहरको म्हारी लाड सासुला, प्यारी !
नई आया थारा नाई बामण, न माँ-जाया वीर,
राजा की रानी, जहार की रानी,
तो कै आड़ै ई बड़ा देऊँ पालणो,
म्हाणी लाड बहुरिया प्यारी !
बिगर बुलाई धन जायगी, घट जायगो आदर-भाव,
राजा की रानी, जहार की रानी,
तू आड़ै ई सामण मान, मेरी लाड बहुरिया प्यारी ?
ऊँचै तै चढ़कै देख रई तोकै दिवर कहूँ कै जेठ,
सुघड़ खाती कै, बगड़ खाती कै,
चन्नणको घड़ लिया पालनो, जामें झूले सरिहल रानी ।
अजी आठ खुराड़ा नौ जना, कोई दग-दग जायँ बनको
राजा की रानी जहार की रानी,
ऊँची पाल तलायो की, जिते खड़रिया चन्नण को पेड़ ।
खाती आता देख कें कोई रोया छाती पाड़
बिरछको पौदा, चन्नणको पौदा
डाल-डाल म्हारी काट लै, रै मन काटै जड़ से पेड़ ।
पहलो खुराड़ो मारियो, कोई निकसी दूध की धार
राजा की रानी, जहार की रानीं
एकासे दूजो दियो, जासे निकसी खूना धार ।
हरी-हरी चुरियाँ गोरी-गोरी बहियाँ, कुन पै कियो सिंगार ?
राजा की रानी, जहार की रानी,
थारो राजधन मर गयो, रै धरती माँ गयो समाय !

यह सरिहल रानी कौन थी ? जुहार का सम्बन्ध इतिहास की किस कड़ी से है ? शायद वे ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर किसी परी-कथा के पात्रों की परछाई भर हों। हरियाने में चन्दन नहीं उगता; यह सिर्फ कल्पना के पंखों पर उड़कर ही यहाँ आ पहुँचा है।

वृक्ष ने सोचा होगा, बढ़ई ने मेरा प्रस्ताव मान लिया है, वह मेरी जड़ न काटेगा; इसी से आनन्दित होकर उसका हृदय दूध बनकर प्रकट हुआ। पर वृक्ष को भ्रान्ति हुई थी। ठीक दूसरा ही बार उसकी जड़पर किया गया। वृक्ष की मृत्यु नजदीक आ गई थी। उसका हृदय लहूलुहान होकर बाहर आ गया। मरता-मरता वृक्ष शायद एक अभिशाप देता गया, उसीके फल-स्वरूप सरिहल की हरी चूड़ियाँ टूट गईं; वृक्ष की भाँति ही उसका पति भी बिन आई मौत मर गया। और जब गश्ती गायक गाता है, "अरे परदेशी ! एक दिन यहाँ से चल देना होगा !"[११] तो वह शायद चन्दन वृक्ष तथा जुहार का करुण अन्त भी स्मरण करा दिया करता है। मौत का करुण गान एक दिन समस्त जीवन पर छाकर रहेगा शायद। गायक के स्वर विलाप में डूब जाते हैं :

जीवन की गलियों में कुछ दिन और बिता ले !
मालिक ने बाग लगाया है, कलियाँ खूब खिली हैं।
हाथ में कई एक डलिया लिए मौत-मालिन बनी डोलती है।
वह खिली-अधखिली में भेद नहीं करती,
सब कलियाँ तोड़ने पर तुली हैं।[१२]

पहले एक छबीली घोड़ी को निहारिए, फिर जाट नारी को, आप दोनों में कुछ सादृश्य पाएंगे; इसकी पुष्टि भी कर दी है, और जाट नारी का क्रोध शेरनी की याद दिलाता है। वह तेज गहरे रंग पसंद करती हैं। यही हाल उसकी भाषा का है। वह इठला कर चलना जानती हैं। लोकगीत ने उससे बहुत कुछ पाया है। सन के बीजों से बनाई गई पाजेब और उससे आती हुई झंकार को तो लोकगीत के हृदय में आसन मिल ही चुका है। नारी-हृदय में कितनी प्रेरणा भरी है ! नारी के पुजारी एक कवि की बात हर किसान जानता है। पके शहद का सा रंग था कवि की प्रियतमा का। सदा वह उसी का गान करता और सदा यही कहता, "यदि अगले जन्म मैं अपनी जून चुनने को मिलेगी, तो मैं पके शहद के रंग की एक मुग्धा बनना चाहूँगा।"

---

११. परदेसी आड़े से चलता रे परदेसी।

१२. कौए तौ दिन हाँड़ लै गलिएँ !
मालिक मेरे ने बाग लुआया
खूब खिलीं कलिएँ ! कोई तौ दिन....
मौत-मलिन फिरै बाग मैं
हात लई डलिए ! कोई तौ दिन....
कथे पाकाँ की सैर नै जानी,
तोड़ रई कलिएँ।

हरियाने के एक गीत की धारा चौड़े पाटवाली है। नारीने इसे प्रेरित किया है, इसमें स्वयं भाग लिया है। जाट कविता की कछार में 'रागनी' एक अलग ही व्यक्तित्व रखता है। जब भी गायक भावना-प्रधान भूमि में पाँव रखता है और 'रागनी' छेड़ता है, नारी उसे सुन रही होती है। 'रागनी' के पीछे हमेशा एक विशेष करुण स्वर से आच्छादित एक गहरी भावुकता रहती है। रागनी के स्वरों में मानव-प्रेम का छोर सरल, मर्मी भगवत-प्रेम की ओर झुकने लगता है। ओस की शीतलता और उषा की लाली रागनी की पृष्टभूमि को छू-छू जाती है।

'रागनी' की स्वर-लहरी नाचती हुई चलती है;:एक ज्योति लिए हुए। दिल का बुझता हुआ दीया इसके स्पर्श से झटजल उठता है। पहले-पहल किस कंठ ने इसका सरगम रच दिया था ? यह प्रश्न मेरे हृदय में तभी उठ खड़ा हुआ था, जब मैं पहली बार इसके संसर्ग में आया। कइयों ने कहा, यह हरियाने की पुरानी विभूति है, इसका उद्‌गम कौन जान सकता है। कुछ बोले, इसकी जमीन जरूर पुरानी है; पर इसके वर्तमान रूप का काफी श्रेय दीपचन्द को मिलना चाहिए। बहुतों ने कहा, पहले-पहल दीपचन्द के कंठ में ही इसका जन्म हुआ था। जैसे मधु चाटते समय हमें मधुमक्खी और फूल की याद आ जाती हैं, रागनी सुनते समय दीपचन्दको स्मरण कर लेना चाहिए।

दीपचन्द का घर रोहतक जिले के अन्तर्गत सेरीखण्ड गाँव में था। उसने कवि का हृदय पाया था, वह गायक भी अच्छा था, और अपनी पारिवारिक ब्राह्मणवृत्ति की ओर न झुक कर उसने जनता का गायक बनना ही पसन्द किया। जब जंगे यूरोप शुरू हुआ, दीपचन्द हरियाने का प्रमुख गायक था। उसका गीत सदा ठीक जगह पर जाकर बैठता था। और जब वह एक खास शान से सर उठा कर गान आरम्भ करता था, ऐसा लगता था, जैसे किसी शिल्पी ने पीतल के एक बड़े टुकड़े को सुन्दरतापूर्वक छैनी से छील-छील कर उसके सर और मुख की रचना की हो। सरकार ने उसे भरती के कार्य में ले लिया, और जाट युवकों को युद्ध में जाने के लिए उसका गान कभी बेअसर न रहा। गायक दीपचन्द को अपनी सेवाओं के एवजाने में सरकार से बहुत-सा धन मिला था। हरियाने की जनता का तो कहना है कि एक रंगरूट के पीछे तीन रुपये मिले थे और कुल जमा लगभग एक लाख रुपये उसे मिले थे। सरकार ने उसे काफी भूमि दी थी और रायसाहब की उपाधि भी। जब दीपचन्द की मृत्यु हुई, वृद्धावस्था कभी की आ चुकी थी।

दीपचन्द के प्रथमतम भरती गान को अभी हरियाना भूला नहीं :—

अजी ओ आओ, फौज में भरती हो जाओ !
तुम्हारे द्वार पर रंगरूट खड़े हैं, देखो तो।
यहाँ कुछ ऐसा ही मैला वेश रहता है,
पहनने को फटे-पुराने वस्त्र ही तो मिलते हैं ना।
पर वहाँ (नवीन वस्त्रों के साथ ही) फुलबूट मिलते हैं ?[13]

---

१३. भरती हो लैरे थारे बाहर खड़े रंगरूट !

गीत को आगे भी बढ़ाया गया था। 'फुलबूट' के साथ 'बिस्कुट का तुकान्त मिला कर एक और प्रलोभन यह पेश किया गया था कि यहाँ ग्राम्य-जीवन में चने चबाने को मिलते हैं और वहाँ फौजी जीवन में सिपाही बिस्कुट का आनन्द लेता है। अंग्रेजी शब्द 'रिक्रूट' का देशी रूप रंगरूट हरियाने की भाषा का अपना शब्द बन गया। गीत में किसी विशेष युवक को सम्बोधन नहीं किया गया था, पर जिसने भी इसे सुना, वही समझा कि उसे ही बुलाया जा रहा है, और झट उसने अपने को रंगरूट-मण्डली में शामिल पाया।

एक दूसरे भरती-गान में जाट कुलवधू ने अपने युवक पति को सम्बोधन किया था—

फौज में भरती हो जाओ, प्रियतम !
मुझे तुम्हारे क्षत्रीपन का तोल मिलना चाहिए।
जाओ जर्मनों से लड़ो।
अपने पूर्वजों का नाम उज्वल करो।
जाओ तोपों के सम्मुख जाकर अड़ जाओ।
अपनी छाती खुली कर लेना !
फौज में भरती हो जाओ, प्रियतम ![१४]

बहुत भरती हुई। युद्ध शुरू हो ही चुका था। कई वर्ष तक जाट सिपाहियों की पलटनें जुटी रहीं। कितने ही जाट युवक वीरतापूर्वक लड़े; बहुत से मृत्यु के शिकार भी हुए। छः नम्बर की पलटन के बहुत से जाट सिपाही फिर युद्ध-भूमि से वापस न लौटे; सैकड़ों जाट स्त्रियाँ विधवा बन गईं। दीपचन्द ने अपने एक गान में इस ओर संकेत किया था :—

जर्नन ने गोला मारा,
आकाश में जाकर यह गोला फटा।
लंगर में रोटी खाते सिपाही रोटी छोड़ कर भागे।

याँ ऐसा रखते मध्यम बाना
मिलता पटिया पुराना.
वाँ मिलते हैं फुलबूट।
भरती हो लैरे थारे बाहर खड़े रंगरूट !

१४. पिया, भरती मैं हो लै ने,
पट जा छत्तरीपन का तोल !
जरमन मैं जा कर लड़िए,
अपने माँ-बाप का नां करिए।
ओ तोपो के आगें डड़िए,
अपनी छाती मैं दे खोल।
पिया भरती मैं हो लै ने,
पट जा छत्तरीपन का तोल !

अरे इन स्त्रियों में से किन-किन के पति जीते बचेंगे।[१५]

जिनके पति छः नम्बर की पलटन के सिपाही हैं :—और फिर विधवा स्त्रियों ने स्वयं जिस गान की रचना की, वह एक अभिशाप ही तो था :—

अरे जर्मन, तेरा राज नष्ट हो जाय;
आज या कल सुबह।

अरे तूने बेगाने लाल मार डाले
वे हमारे पति जो जहाजों में भर-भर कर फौज में ले जाये गये थे।
हाय मैं श्रृंगार करूँ तो कैसे ?
मेरा हृदय धड़क रहा है![१६]

दीपचन्द की कितनी ही रचनाएँ लोकगीत में समा गई हैं। गश्ती गायक उन्हें बड़े चाव से गाता है। रोहतक के समीप एक गाँव में मैंने एक सिपाही और उसकी पत्नी का गान सुना था। पत्नी ने भरती होने के लिए जा रहे पति को सम्बोधन किया था —

मैं बाँगर की हूर हूँ, एकदम परी सरीखी !
साँगर की फलियाँ खाकर मैं पली हूँ।
प्रियतम, आखिर मुझे क्या समझते हो तुम ?
मुझे छोड़ कर न जाओ, इस कपटी दिल को मोड़ लो।
तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम वेग में आ रहा है![१७]

१५, जरमन नैं गोला मारिया,
जा फूट्या, था अम्बर मैं।
गारद सें सिपाही भाजे
रोटी छोड़ गये लंगर मैं
अरे उन तिरिउन का जीवै,
जिनके बालम छे नम्बर में

१६. जरमन तेरा जाइयो राज,
आज ना तड़ा तड़कै !
तन्ने मारे बिराने लाल
जहाज भर-भरके !
मैं किस पर करूँ सिंगार,
कालजा धड़के !

१७. मैं हूर पुरी बाँगर की, मन्ने फली खा लई सांगर की !
मेरीके बूझे भरतार ?
म्हने छोड़ न जइए, अपना कपटी दिल समझइए
ओ भर.' बुरा बनियाँ से पियार।

पति न माना, वह भरती जा हुआ। पत्नी ने मर्द का भेष धारण किया। उसी पलटन में वह भी भरती जा हुई। अब पति उसे चुपके से घर चले जाने के लिए समझाता था—

भूल क्यों कर रही हो?
तेरा रूप सरसों के फूल के समान खिल रहा है।
दरद की बात क्यों बोलती है तू?
यदि तुझ वीर मरद का भेद खुल गया;
हवालात में बन्द करेंगे तुम्हें; कितना पीटेंगे वे![१८]

कथानक के अनुसार पत्नी ने जब यह वादा ले लिया कि पति भी बाद में नाम कटाकर घर लौट आयेगा, वह वापस चली गई थी। गश्ती गायक के कंठ में कितनी मृदुलता भरी रहती है; और मैंने देखा कि इस गायक में संगीत के प्रति एक विशेष रुचि थी, जो कितने ही गायकों में कामचलाऊ प्रवृत्ति तक आकर ही ठहर जाती है; तभी इस गायक की आँखें, जो साधारणतया रूखी-सी थीं, ग्राम की इस महफिल की पूर्णाहुति के समय चमकने लगी थीं।

फौज से पेन्शन पाने के बाद जाट सिपाही प्रायः अपने ग्राम में लौट आता है। उसकी रुचि किसी कदर बदल चुकी होती है। कई नये शब्द भी वह अपने साथ लाता है। शायद अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति उसकी आस्था भी हिल चुकी होती है। वह शायद स्वयं लोकगीत को अपने कंठ में स्थान नहीं देता; पर जब ग्राम की आत्मा लोकगीत से स्पन्दित होती है, इसके स्वर स्वयं पेन्शनयाफ्ता सिपाही को फिर से अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

हरियाने का लोकगीत एक ज़िन्दा विभूति है। इसकी ज़मीन ज़रखेज़ है। उसे अपना पुराना वैभव याद है, नई कमाई करनेकी सोच भी है। जाटकी कल्पनामें, उसकी भावनाओंमें, उसकी भावनाओंमें, उसके अट्टहासमें, उसकी तटस्थतामें, उसके सुख-दुःखकी सामग्री में अब भी सृजन-शक्ति है। आजका जाट लोकगीत एक स्पष्ट रेखाचित्र बन जाना चाहता है। पर नूतनताका प्रलोभन जब गायकको अपनी जड़ें अपनी धरती में खूब गहरी ले जानेसे विमुख कर देता है, लोकगीतका भविष्य खतरे में पड़ जाता है और फिर एक बात और भी तो है, आजका गायक जिस भाषाका प्रयोग करता है, वह ठेठ लोक-भाषासे परे हो चली है।

इधर बूढ़े बैल का गीत लोक-प्रिय होने जा रहा है। बूढ़ा बैल रोकर कह रहा है:—
अरे पापी, मुझे बेच मत।
मैं तेरे हलमें जुतता आया हूँ, कोल्हूमें भी।

---

१८. मोरे क्यों गेरे से भूल,
रूप खिल दिया सरसों का फूल
क्यों बोलेसे बाता दरद की।
मेरे चुभसे एणी रे करद की,
मालुम पट जा वीर मरद की,
पा पीटें हवालातमें।

[illegible]

[illegible] मिलता-जुलता गीत [illegible] आदर्श लोकगीत बन जाय। [illegible]

[illegible]

[illegible] मुझको [illegible] खिलखड़ी, [illegible]

शायद इस गीत की रचना में किसी गोशाला के गवैये का हाथ हो। अभी यह कुठाली में ही गल रहा है; भाषा भी बहुत कुछ हिन्दी के पीछे चली है।

एक नवीन गान में किसान स्त्री ने अपने पति को कपास बोने से रोका है। जब आबियाना भी नहीं निकलता, इसी गीत में सत्य की रेखा दौड़ जाती है—

प्रियतम, मेरी बात मान लो,
कपास मत बोओ।
अबियाना सर चढ़ जायेगा, डंडे अलग खाओगे।
प्रियतम, कपास मत बोओ।[२१]

गरीबी का गान तो है ही बिलकुल नवीन रंग लिए हुए :—

बुरी है यह गरीबी, धन बिना कैसा नखरा ?
धनी गरीब के घर आकर जो चाहे कह जाये।
गरीब उसकी ऊँची-नीची बात सह जाता है।
धन बिना सर पर बँधा सेहरा भी व्यर्थ चला जाता है !
गरीब उमर भर दुःख पाता है।
भूखा नंगा रहकर हल जोतता है।
अरे ओ भोगा, यह बिना घी की चूरी
जो कपड़े में बाँध कर तूने पीछे लटका रखी है,
व्यर्थ तेरी कमरका भार ही तो है ना।[२२]

वर्तमान जाट गीत किसी दीपचन्द की प्रतीक्षा में है।

---

२१. मेरा कैहा मान पिया, बाड़ी मत बोइए;
सर पड़ेगी उघाई तेरे डंडा बाजै जाई,
पिया, बाड़ीमत बोइए।

२२. अरे मैं बुरी कंगाली धन बिन कीसी रै मरोड़ ?
भोगा, बुरी रै कंगाली, धन बिन किसी रै मरोड !
धनवन्त घरां आण के कह जा
निरधन ऊँची नीची सब सह जा
सर पर बंधा बंधाया रह जा
माथे पर का मोड़।
अरे यै बुरी कंगाली, धन बिन कीसी र मरोड़ !
निरधन सारी उमर दुःख पावे।
भूखा नंगा रहके हल बाहवे
भोगा, बिना घी का चूरमा
तेरी रहला कमर तैं रै तोड़।
अरै यै बुरी कंगाली, धने बिन कीसी रै मराड़ !

[विशालभारत से साभार]

कितना अनाज कमाकर
मैंने तेरे घरमें डाल दिया है।
अब तूने अपना हृदय पाषाणका बना लिया है।
मैंने तेरा किसी कदर बंजर खेत भी उपजाऊ बना डाला,
छकड़ेमें जुतनेसे भी मैंने कभी मुँह न मोड़ा
और अब तू मेरी मिट्टी—मेरी यह वृद्ध—बेचने जा रहा है?
अजी ओ किसान, मुझे क्यों बेच रहे हो?[१९]

यह गीत अभी विकासके पथपर है। इसी भावका इससे बहुत-कुछ मिलता-जुलता गीत पंजाबी में भी बना है। शायद आगे चलकर बैलका गीत एक आदर्श लोकगीत बन जाय। इसी सिलसिलेमें एक गायका गीत भी बन गया है:—

धौली गाय कह रही है, मेरो कोई नहीं सुनता।
कहाँ गया वह मेरा गोपाल—मेरा भगवान?
मैं दु:ख पा रही हूँ।
संसार मेरा दूध पीता है; घीसे खिचड़ी खाता है।
मेरे पुत्र अनाज कमाते हैं, महँगे भावको रुई भी,
मेरे दूध का बना दही खाकर संसार सुखी हो रहा है,
तो भी मेरे गलेपर छुरी चलती है।[२०]

---

१९. अरे निऊँ रोवै बूढ़ बैल,
म्हाने मत बेचै रैं पापी।
तेरे कुल कोल्हूमें चाल्या
नाज कमाकै तेरे घरां घाल्या
इब तन्ने कर ली है बज्जरकी छाती।
अरे निऊँ रोवै....
तेरा बज्जड़ खेत मन्ने तोड़्या,
गाडीते न मुँह मोड़्या,
इब मेरी बेचै से मांटी।
मेरी रे क्यों बेचै से माटी?
अरे निऊँ रोवैं....

२०. निऊँ कह रही धौली गाय, मेरी कोई सुनता नई।
मेरे कित गये सिरी भगवान, मैं दुख पाय रई।
मेरा दूध पीवे संसार, घी से खांय खिचड़ी,
मेरे तूह कमावैं नाज मैंधे मा की रुई।
मेरी दहीए सुखी संसार, जम भी मेरे गल पै छुरी!

शायद इस गीत की रचना में किसी गोशाला के गवैये का हाथ हो। अभी यह कुठाली में ही गल रहा है; भाषा भी बहुत कुछ हिन्दी के पीछे चली है।

एक नवीन गान में किसान स्त्री ने अपने पति को कपास बोने से रोका है। जब आबियाना भी नहीं निकलता, इसी गीत में सत्य की रेखा दौड़ जाती है—

प्रियतम, मेरी बात मान लो,
कपास मत बोओ।
अबियाना सर चढ़ जायेगा, डंडे अलग खाओगे।
प्रियतम, कपास मत बोओ।[२१]

गरीबी का गान तो है ही बिलकुल नवीन रंग लिए हुए :—

बुरी है यह गरीबी, धन बिना कैसा नखरा ?
धनी गरीब के घर आकर जो चाहे कह जाये।
गरीब उसकी ऊँची-नीची बात सह जाता है।
धन बिना सर पर बँधा सेहरा भी व्यर्थ चला जाता है !
गरीब उमर भर दुःख पाता है।
भूखा नंगा रहकर हल जोतता है।
अरे ओ भोगा, यह बिना घी की चूरी
जो कपड़े में बाँध कर तूने पीछे लटका रखी है,
व्यर्थ तेरी कमरका भार ही तो है ना।[२२]

वर्तमान जाट गीत किसी दीपचन्द की प्रतीक्षा में है।

---

२१. मेरा कैहा मान पिया, बाड़ी मत बोइए;
सर पड़ेगी उघाई तेरे डंडा बाजै जाई,
पिया, बाड़ीमत बोइए।

२२. अरे मैं बुरी कंगाली धन बिन कीसी रै मरोड़ ?
भोगा, बुरी रै कंगाली, धन बिन किसी रै मरोड !
धनवन्त घरां आण के कह जा
निरधन ऊँची नीची सब सह जा
सर पर बंधा बंधाया रह जा
माथे पर का मोड़।
अरे यै बुरी कंगाली, धन बिन कीसी र मरोड़ !
निरधन सारी उमर दुःख पावे।
भूखा नंगा रहके हल बाहवे
भोगा, बिना घी का चू·मा
तेरी रहला कमर तैं रै तोड़।
अरै यै वुरी कंगाली, धने बिन कीसी रै मराड़ !

[विशालभारत से साभार]

वेदान्त दर्शन

सुधीन्द्र चन्द्र चक्रवर्ती

'वेद' तथा 'अन्त' इन दो शब्दों के योग से वेदान्त शब्द गठित हुआ है। जो वेद के अन्त में हैं उसी का वेदान्त पद से बोध होता है। हिन्दुओं के अनुसार वेद किसी पुरुष द्वारा रचित ग्रन्थ नहीं हैं, वे शाश्वत ज्ञान के भंडार हैं। 'वेद' शब्द का अर्थ है 'ज्ञान'। ज्ञान किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं है। यह स्वतः सिद्ध, स्वयं प्रकाश, नित्य, सनातन है। शुद्ध-चित्त ऋषियों के माध्यमों से यह आत्म प्रकाशित होता है। इस अक्षय-ज्ञान-रत्नराजि का दूसरा नाम श्रुति है। चिरकाल से यह गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा श्रुत हुई चली आ रही है। श्रुति में जो तत्त्वोपदेश है व्यासदेव ने उसे संकलित करके चार भागों में विभक्त किया—ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चार विभाग चतुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक वेद भी विभिन्न अंशों में विभक्त है। वेदों के अंश-विभाग के सम्बन्ध में नाना मत प्रसिद्ध हैं। किसी के मतानुसार प्रत्येक वेद 'संहिता', 'ब्राह्मण', एवं 'आरण्यक' नामक तीन प्रधान अंशों में विभक्त है। संहिता में मन्त्रों का संकलन, ब्राह्मणों में याग-यज्ञ के विविध उल्लेख एवं आरण्यक में वानप्रस्थ के कर्तव्यों का वर्णन है। निरुक्तकार यास्क वेद के दो भाग स्वीकार करते हैं। उनके मत से आरण्यक अंश 'ब्राह्मणों' के ही अन्तर्गत आता है। प्राचीन स्मृतिकार आपस्तम्ब का भी यही मत है। कई के मतानुसार उपनिषद् समूह आरण्यकों का अंश मात्र है। इससे भिन्न मोटे तौर पर वेद का और एक प्रधान विभाग भी स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार वेद का वक्तव्य विषय 'कर्म प्रधान' और 'ज्ञान प्रधान' भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है। कर्मप्रधान अंश स्तव, स्तुति, याग, यज्ञ इत्यादि की आलोचना से पूर्ण है। संहिता और ब्राह्मण ये कर्म-प्रधान अंश के अन्तर्गत हैं। दूसरी ओर ज्ञान-प्रधान अंश प्रधानतः आत्मा, ब्रह्म, सृष्टि इत्यादि दार्शनिक विषयों की आलोचना का आग्रही है। ये दार्शनिक तत्त्व ही उपनिषद् के नाम से परिचित हैं। उपनिषद् वेद के ज्ञानकाण्ड नाम से भी अभिहित हैं। कोई कोई वेद के तीन काण्डों या विभागों की भी चर्चा करते हैं। उनके मत से संहिता और ब्राह्मण को कर्मकाण्ड, आरण्यक को उपासना काण्ड और उपनिषद् को ज्ञानकाण्ड नाम से अभिहित करना युक्तियुक्त है, जो वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भेद से दो भाग मात्र स्वीकार करते हैं उनके मत से संहिता और ब्राह्मण कर्मकाण्ड के अन्तर्गत हैं और आरण्यक और उपनिषद् ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत हैं। कहने की आवश्यकता नहीं हिन्दुओं के लिए संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये चारों ही वेद के अन्तर्गत हैं। किन्तु योरोपीय वेद से केवल संहिता को ही समझते हैं। इसी कारण उनके अनुसार वेद और उपनिषद् पृथक् ग्रन्थ हैं। हिन्दुओं के मतानुसार उपनिषद् वेद के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ या रचना नहीं है, ये वेद के अविच्छेद्य अंश हैं। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चारों को लेकर ही वेद हैं। इन चारों में स्तर के हिसाब से उपनिषद् वेद का अन्त या चरमभाग है। इसी कारण हिन्दू मानते हैं कि उपनिषद् ही वेदान्त

है। प्राचीन आर्यसमाज में उपनिषद् चतुर्थ आश्रम या भिक्षुजीवन के लिए निर्दिष्ट पठनीय शास्त्र के रूप में परिगणित होता था। आर्यों का जीवन चार आश्रमों में सुविन्यस्त था। वे वाल्यावस्था में वेद का मन्त्र भाग या संहिता मुखस्थ करते थे और ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन समाप्त होने पर यौवनावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके वेद के ब्राह्मण भाग में उपदिष्ट यज्ञादि का अनुष्ठान करते थे। वे प्रौढ़ जीवन में घर-संसार का त्याग करके वनवासी या वान-प्रस्थावलम्बी होते थे। उस समय उनका नाम आरण्यक होता था। आरण्यकों के पाठ्य रूप में वेद का जो अंश निर्दिष्ट था उसी अंश का नाम आरण्यक शास्त्र हुआ। वानप्रस्थ के परवर्ती आश्रम का नाम संन्यास था। आर्य जब इस आश्रम में प्रवेश करते थे तब उन्हें भिक्षु नाम से अभिहित किया जाता था। भिक्षु या सन्यासी का आश्रम ही चरम आश्रम था। उपनिषद् इस चरम आश्रम का पठनीय शास्त्र था इसीलिए इसको वेद का चरम भाग या वेदान्त कहा जाता है। उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग में अवस्थित है केवल इसी कारण इसको वेदान्त कहा जाता है, ऐसा नहीं हैं। वेदों के नानाविध उपदेशों के बीच बिखरे ब्रह्मविद्या के उपदेश ही श्रेष्ठतम उपदेश हैं। ब्रह्मविद्या ही वेदों का सार तत्त्व है। क्योंकि उपनिषदों में वेद की सार बात अर्थात् ब्रह्मविद्या निवद्ध हुई है इसीलिए इसको वेद का अन्त या शिरोभाग कहना सार्थक है। उपनिषद् में समग्र वेद का चरमज्ञान सुरक्षित है, फलस्वरूप उपनिषदों के अध्ययन द्वारा सम्पूर्ण वेद के तात्पर्य को प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषद् केवल वेद का शेष भाग ही नहीं है, वह वेद का सारभाग भी है। वेद का अन्त कहने से वेद का अन्तिम भाग एवं वेद का तात्पर्य इन दोनों अर्थों का बोध होता है।

वेद के साथ वेदान्त का क्या सम्पर्क है ? इस प्रश्न के उत्तर में मुक्तिकोपनिषद् में श्री रामचन्द्र ने मारुति से कहा है, 'हे वत्स, तेल जिस प्रकार तिल का सार भाग है, उसी प्रकार वेदान्त वेद का सार भाग है; तेल जिस प्रकार प्रच्छन्न भाव से समस्त तिलमें परिव्याप्त रहता है वेदान्त या उपनिषद् भी उसी प्रकार समस्त वेद को परिव्याप्त किए हुए है। सदानन्द ने अपने वेदान्त सार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि उपनिषद् ही मुख्य वेदान्त है। उपनिषदों के तत्त्व को समझने में सहायक होने के कारण भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र एवं उनके भाष्य, टीका एवं निबन्धादि भी गौणरूप से वेदान्त हैं। वेदान्तिक आचार्यों के मत से वेद के कर्मकाण्ड में वर्णित याग-यज्ञ, विधि-निषेध प्रभृति का विवरण निम्न स्तर के अधिकारियों के लिए है। याग-यज्ञ का अनुष्ठान एवं विधिनिषेध के पालन द्वारा स्वर्गलाभ हो सकता है किन्तु मोक्ष लाभ नहीं हो सकता। मोक्ष लाभ का उपाय है ब्रह्मविद्या। उपनिषद् उसी विद्या के आकर हैं। उपनिषदों की संख्या के संबंध में मतभेद है। किन्तु ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों की प्रामाणिकता के संबंध में समस्त वेदा-न्तिक आचार्य एक मत हैं। निःसन्दिग्धभाव से श्रुति के अन्तर्गत होने के फलस्वरूप ये दश उपनिषद् वेदान्त के श्रुति प्रस्थान नाम से अभिहित किए जाते हैं। उच्चस्तर के अधिकारी के लिए उपनिषदों का अनुशीलन ही ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए यथेष्ट है। किन्तु दुःख का विषय यह है कि उपनिषद् का तत्त्व सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं है। उपनिषद् शब्द का अर्थ 'विनीत भाव से (गुरु के) समीप बैठना' है। यह गुरुमुखी विद्या है। योग्य समझकर गुरु

जिसको दान करते हैं केवल उसी को यह रहस्यविद्या जानने का सौभाग्य घटित होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है, 'प्रशान्तचित्त पुत्र या शिष्य को छोड़कर अन्य को यह विद्या दान न करें।' उपनिषद् समूह वर्तमानयुग के दार्शनिकों के ग्रन्थों के समान सुसम्बद्धरूप से तत्त्व विश्लेषण का ग्रन्थ नहीं है। उपनिषदों में जीव, जगत्, और ब्रह्म-तत्त्व की बातें प्रणाली-बद्धरूप से सज्जित करके नहीं रखी गई हैं। जो अन्तरंग शिष्य होकर गुरु के प्रसाद से तत्त्व-श्रवण करते हैं, केवल वे ही उपनिषद् के तात्पर्य को समझ सकते हैं; दूसरों के लिए उपनिषदों के वाक्य विश्रृङ्खल और स्वविरोधी लगेंगे—वे इन समस्त वाक्यों में निहित प्रकृत सामञ्जस्य को खोजकर नहीं निकाल सकते।

समाज के अधिकांश लोग ही वेद और उपनिषद् के तात्पर्य को अवधारण करने में अक्षम हैं, यह विचार करके परवर्ती आचार्यों ने सहज और विश्रुतभाव से श्रुति के अभिप्राय को प्रकट करने के उद्देश्य से स्मृतिशास्त्र प्रणयन किया। स्मृतिमात्र ही श्रुति की अनुसरण कारिणी है। श्रुति के अन्तर्गत उपनिषद् के मूल तत्त्व की समाज की बुद्धि के लिए उपयोगी-भावसे व्याख्या करने में गीताकार ने असामान्य दक्षता का परिचय दिया है। भगवद्गीता में वेदान्त का अनुसरण करते हुए तत्त्व-समीक्षा करते हुए सिद्धान्त ग्रहण हुआ है—इसी से भगवद्गीता को वेदान्त का स्मृति प्रस्थान कहा जाता है। जो उपनिषद् के उपदेश एवं भगवद्गीता के सिद्धान्त श्रवण से सन्तुष्ट न होकर वेदान्त वाक्य समूह की यौक्तिकता तथा सामंजस्य देखने की इच्छा करते हैं उनके लिए महात्मा वादरायण ने उपनिषद्-उद्यान की महामूल्यवान कुसुमराजि का चयन करके एक अमूल्य माला की रचना की, इस मालिका का नाम है ब्रह्मसूत्र। ब्रह्मसूत्र या वेदान्त सूत्र श्रुति और स्मृति का अनुगामी होने पर भी विचार प्रधान है। युक्तिवादी दार्शनिकों के विचार, आलोचना एवं द्वंद्वयुद्ध से इसकी कलेवर-वृद्धि हुई है। इसी कारण यह वेदान्त के तर्कप्रस्थान या न्यायप्रस्थान नाम से ख्यात है। उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र ये तीनों ही वेदान्त नाम से परिचित हैं। इनको वेदान्त की "प्रस्थानत्रयी" संज्ञा दी जाती है। उपनिषद् वेदान्त का श्रुतिप्रस्थान, भगवद्गीता इस शास्त्र का स्मृति प्रस्थान और ब्रह्मसूत्र इसका न्यायप्रस्थान या तर्कप्रस्थान है। वेदान्त के प्रत्येक साम्प्रदायिक आचार्य ने प्रस्थानत्रय की व्याख्या के माध्यमसे अपना मत स्थापित करने की चेष्टा की है।

आधुनिक पण्डित वेदान्तदर्शन कहने से प्रधानरूप से ब्रह्मसूत्र को ही लेते हैं। केवल ऋषियों की आध्यात्मिक अनुभूति और स्मृति के सिद्धान्तों की चर्चा में उनके मन नहीं लगते। युक्ति-विचार की कसौटी पर कसे बिना वे किसी भी सिद्धान्त को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। इसी से उनकी दृष्टि वेदान्त के तर्कप्रस्थान की ओर है। उनके मत से वादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र ही प्रकृत वेदान्त दर्शन है क्योंकि इसके सिद्धान्तसमूह युक्तितर्कद्वारा समर्थित हैं। किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि वेदान्तिक आचार्यों के एक ही ब्रह्मसूत्र के अनुसरणकारी होते हुए भी उन सबके मत एक प्रकार के नहीं हैं। सबने ब्रह्मसूत्रों की दुहाई दी है किन्तु कोई अद्वैतवादी, कोई द्वैतवादी, कोई विशिष्टाद्वैतवादी, कोई द्वैताद्वैतवादी और कोई अचिन्त्य भेदाभेदवादी है। गहनशास्त्रारण्यानी के बीच में ब्रह्मसूत्र कल्पवृक्ष के समान स्थित है। जो

कोई जो अभिलाषा लेकर उसके पास गए हैं उनकी वह अभिलाषा पूर्ण हुई है। आचार्यों ने एक के पश्चात् दूसरा ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखकर अपने-अपने सम्प्रदाय खड़े कर लिए हैं। आजकल ब्रह्मसूत्र के जितने भाष्य प्राप्त हैं उनमें आचार्य शंकर का 'शारीरक भाष्य' ही सबसे प्राचीन है। उनका भाष्य विद्वानों में इतना प्रसिद्ध है कि वेदान्त कहने से अनेक शांकरभाष्य को ही समझते हैं। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में अद्वैत मत की स्थापना की है। उनका अद्वैतवाद गौडपाद प्रणीत माण्डूक्यकारिका से प्रभावित है। 'आगम' 'वैयर्थ्य', 'अद्वैत' एवं 'अलातशान्ति' नामक अध्यायचतुष्टयसमन्वित कारिका का पाठ करने पर लगता है कि गौडपाद ने नागार्जुन की कारिका से माध्यमिक बौद्ध मत और 'लङ्कावतार' से विज्ञानवादी बौद्धों के मत का आहरण किया है। उनके मत से शून्यवाद और विज्ञानवाद को मिलाने से जो होगा वही उपनिषद् की शिक्षा है। गौडपाद के प्रशिष्य आचार्य शंकर और भी कुछ अग्रसर हुए हैं। उन्होंने गौडपाद के मत को बौद्ध प्रभाव से मुक्त स्पष्ट रूप से उपनिषद् का मत कहकर चलाने की चेष्टा की है।

ब्रह्मसूत्र चार अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में कुछ अधिकरणों या विचारणीय विषयों की मीमांसा की गई है। प्रत्येक अधिकरण में कुछ सूत्र हैं। सूत्रों की संख्या एक समान नहीं है। आचार्य शङ्कर के अनुसार सूत्रों की संख्या ५५५ है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय का नाम है समन्वय अध्याय। इस अध्याय में उपनिषद् में उल्लिखित ब्रह्मबोधक स्पष्ट, अस्पष्ट और सन्दिग्ध सभी वाक्यों की आलोचना करके यही प्रदर्शित किया गया है कि ये समस्त वाक्य ब्रह्म को निर्देश करने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुए हैं। एकमात्र ब्रह्म ही इन समस्त वाक्यों का समन्वय हो सकता है। प्रथम अध्याय के प्रथम चार सूत्र विशेषरूप से उल्लेख योग्य हैं। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्, और तत् तु समन्वयात्—इन चार सूत्रों को वेदान्त का चतुःसूत्री कहा जाता है। प्रथम सूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा के अधिकार का विचार किया गया है। द्वितीयसूत्र में ब्रह्म-लक्ष्य का वर्णन किया गया है। तीसरे सूत्र में कहा गया है कि शास्त्र ही ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का उपाय है। चौथे सूत्र में उपनिषद् वाक्य समूह का ब्रह्म-तात्पर्य प्रदर्शन किया गया है। प्रथम अध्याय के अन्यान्य सूत्रों में भी साधारण रूप से इसी मत का समर्थन किया गया है कि सांख्यदर्शन और मीमांसादर्शन के मत उपनिषद् को अभिप्रेत नहीं हैं, ब्रह्मज्ञान ही उपनिषद् को अभिप्रेत है। ब्रह्मसूत्र का द्वितीय अध्याय 'अविरोध' अध्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय में ब्रह्म की जगत्कारणता के सम्बन्ध में श्रुति, स्मृति और युक्ति के विरोध का परिहार और सांख्यादि मतों की अलौकिकता का दिग्दर्शन किया गया है। पंच महाभूत, जीव और लिङ्गशरीर के संबंध में कुछ श्रुति वाक्यों का विचार भी इस अध्याय में किया गया है। तीसरे अध्याय का नाम साधनाध्याय है। इस अध्याय का आलोच्य विषय है जीव की परलोकगमन प्रणाली, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध, विविध उपासना प्रणाली एवं साधनों का बहिरंग और अंतरंग रूप। चतुर्थ अध्याय फलाध्याय के नाम से परिचित है। इस अध्याय में साधन-प्रणाली, देहत्याग प्रणाली, देवयानपथ, मुक्ति का स्वरूप, मुक्त पुरुष की गति तथा ब्रह्मज्ञान के फल के विषय में आलोचना की गई है।

अन्यान्य दर्शनों के सूत्रपाठ की तुलना में वेदान्तसूत्र पाठ की एक विशेष सुविधा है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग प्रभृति सूत्रग्रन्थों की मूल पुस्तक आजकल उपलब्ध नहीं है। किन्तु वेदान्तसूत्रों का मूलग्रन्थ उपनिषदावली आज भी उपलब्ध है। इसलिए सूत्रों की व्याख्या में संशय उपस्थित होने पर मूल उपनिषदों की सहायता से संशय का निरसन करना संभव है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों का अक्षरार्थ स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने उपनिषदों के तात्पर्य के अनुसार सूत्रों की व्याख्या करने की यथेष्ट चेष्टा की है। उनके मत से प्रकृति तत्त्व श्रुतिगम्य तथा उपलब्धि का विषय है। शुद्ध युक्तितर्क प्रसूत स्वाधीन मत कितना ही श्रुति-मधुर क्यों न हो प्रकृत तत्त्व नहीं है। आचार्य शंकर की अतुलनीय तर्कशक्ति ने कभी श्रुति पर आघात नहीं किया, वरन् श्रुति की रक्षा करने के लिए श्रुति के प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न शत्रु पक्ष के ऊपर गम्भीर प्रहार किए हैं। ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के भाष्य में सांख्य, वैशेषिक बौद्ध मतों के खण्डन में इस प्रहार का स्पष्ट परिचय मिलता है। श्रुति के प्रच्छन्न शत्रुओं को लेकर ही उनको बहुत कठिनाई हुई थी। सांख्य और मीमांसा मतों के खण्डन के लिए उन्होंने विशेष प्रयत्न किया। दोनों ही मतों को वेद की प्रमाणता मान्य है किन्तु दोनों ही अद्वैतमत के विरोधी हैं। सांख्य एवं मीमांसा दोनों ही घर के शत्रु हैं। सांख्य का कथन है कि उनका मत ही उपनिषद् का मत है। उनका कथन है कि चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है, अचेतन प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है। चरम तत्त्व एक अद्वितीय ब्रह्म नहीं है, चरम तत्त्व दो हैं—पुरुष और प्रकृति। पीछे लोग सांख्य सिद्धान्त को ही उपनिषद् का तात्पर्य समझकर स्वीकार-कर लें इस भय से आचार्य शंकर ने 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (१.१.५) सूत्र की व्याख्या आरंभ करने के साथ-साथ सांख्यमत के ऊपर तीव्र कटाक्ष करना प्रारंभ किया है और जहाँ भी सुयोग मिला है वहीं समझाना आरंभ किया है कि सांख्यमत भ्रान्त है। आचार्य शंकर के मत से अचेतन प्रकृति जगत् का मूल कारण नहीं हैं, ब्रह्म ही जगत् का 'अभिन्न निमित्तोपादानकारण' है। सांख्य मतानुसार पुरुष या आत्मा मात्र एक नहीं है, बहुत हैं, किन्तु वेदान्त—मतानुसार आत्मा एक है, ब्रह्म ही आत्मा है ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। सांख्य मत से अज्ञान बन्धन का कारण है। वेदान्त के मत से भी अध्यास दुःख का कारण है। सांख्य के मत से अज्ञान का हेतु पुरुष और प्रकृति का अविवेक है, और मुक्ति का हेतु इन दोनों का पार्थक्य ज्ञान है। किन्तु वेदान्त के मत से अध्यास तभी होता है जब वस्तु का स्वरूप अज्ञान के द्वारा आवृत होने पर उसके ऊपर एक अनिर्वाच्य मिथ्या विन्दु की सृष्टि होती है। इस मत के अनुसार मुक्ति एकत्व के ज्ञान से होती है। सांख्य परिणामवादी है। किन्तु वेदान्तिक विवर्त्तवादी है। वेदान्त के साधनपाद के साथ योग का अनेक विषयों में मेल है, किन्तु जिन-जिन विषयों में सांख्य के साथ योग की अभिन्नता है उन विषयों के विरुद्ध वेदान्त का कठोर प्रतिवाद घोषित हुआ है। पूर्वमीमांसा के साथ वेदान्त का अनेक विषयों में पारिवारिक ऐक्य है। दोनों ही मीमांसा दर्शन हैं। एक कर्म मीमांसा है और दूसरा ज्ञान मीमांसा। वेदान्त दर्शन का दूसरा नाम है उत्तरमीमांसा दर्शन। उत्तम दर्शन ही सब प्रकार से वेदतन्त्र है। दोनों ही स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। किन्तु वेद के तात्पर्य के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद विद्यमान है। मीमांसक कहते हैं कि कर्मकाण्ड ही मूल वेद है। याग-यज्ञ, विधि-निषेध

की बात वेद की सार बात है। ज्ञानकाण्ड की बातों को कर्मकाण्ड की उक्तियों का अनुगत बनाकर व्याख्या करनी चाहिए। क्रियार्थक वाक्यों को छोड़कर वेद में अन्य जो सब बचन हैं वे वेदोक्त विधि-निषेध की स्तुति या निन्दा को छोड़कर और कुछ नहीं हैं। वेदान्ती इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके कथनानुसार याग-यज्ञादि कर्म और उससे सम्बन्धित विधि-निषेध निम्न स्तर के अधिकारियों के लिए हैं। ब्रह्मजिज्ञासा की योग्यता प्राप्त होने पर इनके लिए और कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। न्याय और वैशेषिक मत स्पष्ट ही शंकर के अद्वैत मत के विरोधी हैं, न्याय का आरंभवाद और वैशेषिक का परमाणुकारणवाद अद्वैतवादियों को स्वीकार्य नहीं है। अद्वैतवादियों ने वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत 'समवाय' और 'जाति' नामक पदार्थों के स्वीकार करने के विषय में अयौक्तिकता का दिग्दर्शन कराया है।

वेदान्तशास्त्र की आलोचना में उसके अधिकारी, विषय-सम्बन्ध एवं प्रयोजन-प्रसंग का उत्थापन अपरिहार्य है। ये चार प्रसंग वेदान्त के अनुबन्ध-चतुष्टय के नाम से परिचित हैं। ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य शंकर ने कहा है कि नित्यानित्यवस्तु विवेक, इहामूत्रफलभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पद् एवं मुमुक्षत्व, इन चार के न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकार नहीं होता। जो इन चार की प्राप्ति कर चुका है उसके लिए ब्रह्मजिज्ञासा के लिए और कोई बाधा नहीं है। नित्यानित्यवस्तुविवेक का अर्थ है नित्य और अनित्य वस्तु का पार्थक्यज्ञान। इहामूत्रफलभोगविराग से तात्पर्य है लौकिक एवं पारलौकिक भोग्य विषयों के प्रति वैराग्य। शमदमादि से शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान की ओर संकेत है। शम के अवलम्बन करने का अर्थ है लौकिक व्यापारों के सम्बन्ध में चिन्ता न करना। दम के अवलम्बन करने का अर्थ है चक्षुप्रभृति इन्द्रियों को बाहर के विषयों के प्रति धावित न होने देना। उपरति का अर्थ है आत्मज्ञान प्राप्ति का संकल्प ग्रहण करके अन्यान्य कर्मों का त्याग। तितिक्षा शब्द का अर्थ है, शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता श्रद्धा शब्द का अर्थ है गुरु और वेदान्त वाक्य में विश्वास। समाधान शब्द का अर्थ है आलस्यादि का त्याग करके एकमात्र आत्मा के सम्बन्ध में ही चिन्ता करना। मुमुक्षत्व कहने का अभिप्राय है मुक्तिलाभ के लिए यथार्थ आग्रह।

वेदान्तशास्त्र की विषयवस्तु क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म ही वेदान्त का विषय है। आचार्य शंकर के मत से ब्रह्म निर्गुण; निर्विशेष, निर्विकार, निष्क्रिय, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है। ब्रह्म कोई व्यक्ति नहीं है, वह चैतन्यमात्र है। ब्रह्म प्रज्ञाघन, अखण्डैकरस तत्त्वमात्र; 'एकमेवाद्वितीयम्' है। ब्रह्म के बाहर उसका सजातीय या विजातीय कुछ भी नहीं है। उसकी सत्ता में कोई अंश-अंशी-विभाग या स्वगत भेद भी नहीं है। वह सभी प्रकार के भेदों से परे है। श्रुति में उसके स्वरूप और तटस्थरूप दो भेद लक्षणों की चर्चा हुई है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'— यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। आचार्य शंकर के मतानुसार सत्य, ज्ञान और अनन्तता ब्रह्म के गुण या उपाधि नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण एवं सर्वोपरिविवर्जित हैं। सत्य, ज्ञान और अनन्त एक ही ब्रह्म के नाम हैं। जो सत्य है वही ज्ञान और अनन्त है। ब्रह्म को सत्य कहने का तात्पर्य है कि मिथ्या उनका स्पर्श नहीं कर पाता, उसे ज्ञान कहने का अर्थ है कि उसमें

अन्यान्य दर्शनों के सूत्रपाठ की तुलना में वेदान्तसूत्र पाठ की एक विशेष सुविधा है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग प्रभृति सूत्रग्रन्थों की मूल पुस्तक आजकल उपलब्ध नहीं है। किन्तु वेदान्तसूत्रों का मूलग्रन्थ उपनिषदावली आज भी उपलब्ध है। इसलिए सूत्रों की व्याख्या में संशय उपस्थित होने पर मूल उपनिषदों की सहायता से संशय का निरसन करना संभव है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों का अक्षरार्थ स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने उपनिषदों के तात्पर्य के अनुसार सूत्रों की व्याख्या करने की यथेष्ट चेष्टा की है। उनके मत से प्रकृति तत्त्व श्रुतिगम्य तथा उपलब्धि का विषय है। शुद्ध युक्तितर्क प्रसूत स्वाधीन मत कितना ही श्रुति-मधुर क्यों न हो प्रकृत तत्त्व नहीं है। आचार्य शंकर की अतुलनीय तर्कशक्ति ने कभी श्रुति पर आघात नहीं किया, वरन् श्रुति की रक्षा करने के लिए श्रुति के प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न शत्रु पक्ष के ऊपर गम्भीर प्रहार किए हैं। ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के भाष्य में सांख्य, वैशेषिक बौद्ध मतों के खण्डन में इस प्रहार का स्पष्ट परिचय मिलता है। श्रुति के प्रच्छन्न शत्रुओं को लेकर ही उनको बहुत कठिनाई हुई थी। सांख्य और मीमांसा मतों के खण्डन के लिए उन्होंने विशेष प्रयत्न किया। दोनों ही मतों को वेद की प्रमाणता मान्य है किन्तु दोनों ही अद्वैतमत के विरोधी हैं। सांख्य एवं मीमांसा दोनों ही घर के शत्रु हैं। सांख्य का कथन है कि उनका मत ही उपनिषद् का मत है। उनका कथन है कि चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है, अचेतन प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है। चरम तत्त्व एक अद्वितीय ब्रह्म नहीं है, चरम तत्त्व दो है—पुरुष और प्रकृति। पीछे लोग सांख्य सिद्धान्त को ही उपनिषद् का तात्पर्य समझकर स्वीकार-कर लें इस भय से आचार्य शंकर ने 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (१.१.५) सूत्र की व्याख्या आरंभ करने के साथ-साथ सांख्यमत के ऊपर तीव्र कटाक्ष करना प्रारंभ किया है और जहाँ भी सुयोग मिला है वहीं समझाना आरंभ किया है कि सांख्यमत भ्रान्त है। आचार्य शंकर के मत से अचेतन प्रकृति जगत् का मूल कारण नहीं हैं, ब्रह्म ही जगत् का 'अभिन्न निमित्तोपादानकारण' है। सांख्य मतानुसार पुरुष या आत्मा मात्र एक नहीं है, बहुत हैं, किन्तु वेदान्त—मतानुसार आत्मा एक है, ब्रह्म ही आत्मा है ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। सांख्य मत से अज्ञान बन्धन का कारण है। वेदान्त के मत से भी अध्यास दुःख का कारण है। सांख्य के मत से अज्ञान का हेतु पुरुष और प्रकृति का अविवेक है, और मुक्ति का हेतु इन दोनों का पार्थक्य ज्ञान है। किन्तु वेदान्त के मत से अध्यास तभी होता है जब वस्तु का स्वरूप अज्ञान के द्वारा आवृत होने पर उसके ऊपर एक अनिर्वाच्य मिथ्या विन्दु की सृष्टि होती है। इस मत के अनुसार मुक्ति एकत्व के ज्ञान से होती है। सांख्य परिणामवादी है। किन्तु वेदान्तिक विवर्त्तवादी है। वेदान्त के साधनपाद के साथ योग का अनेक विषयों में मेल है, किन्तु जिन-जिन विषयों में सांख्य के साथ योग की अभिन्नता है उन विषयों के विरुद्ध वेदान्त का कठोर प्रतिवाद घोषित हुआ है। पूर्वमीमांसा के साथ वेदान्त का अनेक विषयों में पारिवारिक ऐक्य है। दोनों ही मीमांसा दर्शन हैं। एक कर्म मीमांसा है और दूसरा ज्ञान मीमांसा। वेदान्त दर्शन का दूसरा नाम है उत्तरमीमांसा दर्शन। उत्तम दर्शन ही सब प्रकार से वेदतन्त्र है। दोनों ही स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। किन्तु वेद के तात्पर्य के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद विद्यमान है। मीमांसक कहते हैं कि कर्मकाण्ड ही मूल वेद है। याग-यज्ञ, विधि-निषेध

की बात वेद की सार बात है। ज्ञानकाण्ड की बातों को कर्मकाण्ड की उक्तियों का अनुगत बनाकर व्याख्या करनी चाहिए। क्रियार्थक वाक्यों को छोड़कर वेद में अन्य जो सब वचन हैं वे वेदोक्त विधि-निषेध की स्तुति या निन्दा को छोड़कर और कुछ नहीं हैं। वेदान्ती इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके कथनानुसार याग-यज्ञादि कर्म और उससे सम्बन्धित विधि-निषेध निम्न स्तर के अधिकारियों के लिए हैं। ब्रह्मजिज्ञासा की योग्यता प्राप्त होने पर इनके लिए और कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। न्याय और वैशेषिक मत स्पष्ट ही शंकर के अद्वैत मत के विरोधी हैं, न्याय का आरंभवाद और वैशेषिक का परमाणुकारणवाद अद्वैतवादियों को स्वीकार्य नहीं है। अद्वैतवादियों ने वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत 'समवाय' और 'जाति' नामक पदार्थों के स्वीकार करने के विषय में अयौक्तिकता का दिग्दर्शन कराया है।

वेदान्तशास्त्र की आलोचना में उसके अधिकारी, विषय-सम्बन्ध एवं प्रयोजन-प्रसंग का उत्थापन अपरिहार्य है। ये चार प्रसंग वेदान्त के अनुबन्ध-चतुष्टय के नाम से परिचित हैं। ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य शंकर ने कहा है कि नित्यानित्यवस्तु विवेक, इहामूत्रफलभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पद् एवं मुमुक्षत्व, इन चार के न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकार नहीं होता। जो इन चार की प्राप्ति कर चुका है उसके लिए ब्रह्मजिज्ञासा के लिए और कोई बाधा नहीं है। नित्यानित्यवस्तुविवेक का अर्थ है नित्य और अनित्य वस्तु का पार्थक्यज्ञान। इहामूत्रफलभोगविराग से तात्पर्य है लौकिक एवं पारलौकिक भोग्य विषयों के प्रति वैराग्य। शमदमादि से शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान की ओर संकेत है। शम के अवलम्बन करने का अर्थ है लौकिक व्यापारों के सम्बन्ध में चिन्ता न करना। दम के अवलम्बन करने का अर्थ है चक्षुप्रभृति इन्द्रियों को बाहर के विषयों के प्रति धावित न होने देना। उपरति का अर्थ है आत्मज्ञान प्राप्ति का संकल्प ग्रहण करके अन्यान्य कर्मों का त्याग। तितिक्षा शब्द का अर्थ है, शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता। श्रद्धा शब्द का अर्थ है गुरु और वेदान्त वाक्य में विश्वास। समाधान शब्द का अर्थ है आलस्यादि का त्याग करके एकमात्र आत्मा के सम्बन्ध में ही चिन्ता करना। मुमुक्षत्व कहने का अभिप्राय है मुक्तिलाभ के लिए यथार्थ आग्रह।

वेदान्तशास्त्र की विषयवस्तु क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म ही वेदान्त का विषय है। आचार्य शंकर के मत से ब्रह्म निर्गुण; निर्विशेष, निर्विकार, निष्क्रिय, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है। ब्रह्म कोई व्यक्ति नहीं है, वह चैतन्यमात्र है। ब्रह्म प्रज्ञाघन, अखण्डैकरस तत्त्वमात्र; 'एकमेवाद्वितीयम्' है। ब्रह्म के बाहर उसका सजातीय या विजातीय कुछ भी नहीं है। उसकी सत्ता में कोई अंश-अंशी-विभाग या स्वगत भेद भी नहीं है। वह सभी प्रकार के भेदों से परे है। श्रुति में उसके स्वरूप और तटस्थरूप दो भेद लक्षणों की चर्चा हुई है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'—यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। आचार्य शंकर के मतानुसार सत्य, ज्ञान और अनन्तता ब्रह्म के गुण या उपाधि नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण एवं सर्वोपरिविवर्जित हैं। सत्य, ज्ञान और अनन्त एक ही ब्रह्म के नाम हैं। जो सत्य है वही ज्ञान और अनन्त है। ब्रह्म को सत्य कहने का तात्पर्य है कि मिथ्या उनका स्पर्श नहीं कर पाता, उसे ज्ञान कहने का अर्थ है कि उसमें

अज्ञान नहीं रह सकता एवं उसे अनन्त कहने का अभिप्राय है कि सभी सीमाएँ एवं सभी क्षुद्रता उसमें विलीन हो जाती हैं। ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किसी गुण द्वारा नहीं किया जा सकता। जहाँ पर गुण है वहीं पर सीमा है। ब्रह्म किसी सीमा में आबद्ध नहीं है। इसीलिए उपनिषद् में ब्रह्म के वर्णन में 'नञ' की अधिकता है। लेकिन ब्रह्म का स्वरूप-वर्णन असम्भव होने पर भी अवान्तर चिह्नों की सहायता से उसकी पहचान करवाने की चेष्टा उपनिषद् में भी हुई है। ब्रह्म के परिचायक इन सभी उपनिषद् वाक्यों को तटस्थ-लक्षण-बोधक श्रुति कहा ज ता है।

"जिसके द्वारा इस जगत् की सृष्टि हुई है, जिसके द्वारा यह जगत्, प्रतिपालित होता है एवं जिसके परिणामस्वरूप यह जगत् विनष्ट होगा, वही ब्रह्म है।" इस वाक्य में ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का उल्लेख है। ब्रह्म जिस स्वरूप में हैं, वही उसका स्वरूप-लक्षण है, और अन्य लोगों के सम्पर्क में उसे जैसा देखा जाता है वही उसका तटस्थ-लक्षण है। जब कोई अभिनय-निपुण दरिद्रव्यक्ति फाकारत पुत्र कन्या को भूल कर गाँव के जमींदार के शौकिया नाट्य-दल में महाराजा हरिश्चन्द्र की भूमिका निभाते हुए राज्यदान करता है तब अपरिचित दर्शक के लिए वह राजा के रूप में दिखाई पड़ता है। यही राजसीवेश उसका तटस्थ लक्षण है। उसके बुभुक्ष स्त्री-पुत्र जिस रूपमें उसे देखते हैं, वही इस दरिद्र व्यक्तिका स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को ही लक्ष्य करके श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार, 'एकमेवाद्वितीयम्' है। यह प्रश्न उठ सकता है कि एक ब्रह्म ही यदि सत्य वस्तु है तो हमलोग उसे न प्राप्त कर एक विचित्र जगत् की प्राप्ति क्यों करते हैं? इस विविध जगत् का ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है। हमारे साथ ब्रह्म का सम्बन्ध ही क्या है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर में अद्वैतवादी आचार्य कहते हैं कि अज्ञान या अविद्या का प्रभाव ही इस नाना वस्तु पूर्ण जगत् दर्शन का कारण है। वस्तुतः निर्विशेष ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। विभिन्न वस्तुओं से परिपूर्ण जगत् एक मिथ्या छविमात्र है। हमलोग स्वरूपतः ब्रह्म हैं।

संध्याकालीन अंधकार में कभी भी मनुष्य रस्सी को साँप समझ कर डर जाता है। यह सर्पज्ञान जिस प्रकार मनुष्यका भ्रमज्ञान है, उसी प्रकार ब्रह्म में असंख्य जीव और विचित्र दर्शन भी एक भ्रमज्ञान है। जिस प्रकार प्रकाशमें रस्सी को देखने पर सर्प-भय नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जगत्-भ्रम नहीं रहता। जिस प्रकार रस्सी रस्सी होते हुए भी अज्ञानवश सर्प जैसी दीखती है उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वरूपतः अविकृत रह कर माया के कारण बहुरूप में प्रतीत होता है। जब वस्तु अविकृत रहते हुए अन्य रूप में प्रतीत होती है तब प्रतीत रूप को 'कार्य' एवं वस्तु को 'कारण' कहा जाता है। आचार्य शंकर ने इस रूप 'कार्य' को विवर्त्त नाम से अभिहित किया है। उनके मतानुसार हमारा प्रत्यक्ष जगत् ब्रह्म का 'विवर्त' होने पर भी रज्जुसर्प की भांति सर्वथा मिथ्या नहीं है। उन्होंने पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक भेद से विविध सत्ता स्वीकार की है। ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों में से एक में भी उसकी सत्ता का व्यभिचार नहीं हुआ। जगत् की सत्ता पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से जगतज्ञान 'बँध' जाता है। जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक बहुत्त्व की दृष्टि के अनुसार एक विचित्र जगत् का विभिन्न प्रकार

से व्यवहार होता रहता है। आचार्य शंकर ने इस विचित्र जगत् की सत्ता को व्यावहारिक सत्ता की आख्या दी है। ब्रह्मसत्ता की तुलना में जगत्सत्ता मिथ्या है। व्यावहारिक जगत् के भीतर भी एक अन्य प्रकार की सत्ता का परिचय मिलता है। वह सत्ता व्यावहारिक सत्ता की तुलना में मिथ्या है। रज्जुसर्प और शुक्ति-रजत इसी तृतीय श्रेणी की सत्ता में आते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार इस प्रकार की सत्ता को 'प्रातिभासिक' सत्ता कहते हैं। प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा व्यावहारिक सत्ता दीर्घकाल स्थायी होती है, लेकिन दोनों में कोई भी चिरस्थायी नहीं है। परमार्थ सत्ता ही एकमात्र चिरस्थायी है। व्यावहारिक सत्ता पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा निम्नस्तर की होने पर भी आकाश-पुष्प की भांति अलीक नहीं है। जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसीलिए इसे 'सत्य' नहीं कहा जा सकता। जगत् आकाश-पुष्प अथवा शश-शृंग की भाँति तुच्छ नाममात्र नहीं है। इसीलिए इसे 'असत्य' भी नहीं कहा जा सकता। यह अज्ञान या माया की सृष्टि है। माया ब्रह्म की शक्ति है, यह सत्य नहीं है, मिथ्या भी नहीं हैं, अनिवेचनीय है। माया या अज्ञान केवल ज्ञानाभाव नहीं है, यह भाव-रूप अर्थात् अस्तित्वशील पदार्थ की भाँति प्रतीयमान है। ब्रह्म के आधार पर जगत् की प्रतीति उत्पन्न करने एवं आत्मा का बन्धन बोध कराने में सक्षम होने के कारण इसे विघटन-घटन-पटु कहा जाता है। यह आवरण-विक्षेपमय है। इसकी आवरणशक्ति के प्रभाव से ब्रह्म का स्वरूप आवृत होता है एवं विक्षेपशक्ति के प्रभाव से एक ब्रह्म बहु-पदार्थों में दिखाई पड़ता है। पारमार्थिक दृष्टि से माया या अज्ञान का कोई स्थान नहीं है। जो लोग पारमार्थिक दृष्टि सम्पन्न हैं, उनके लिए सृष्टि मिथ्या है, जीव, जगत्, बन्धन एवं मोक्ष भी मिथ्या हैं। ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में गुरु भी नहीं हैं, शिष्य भी नहीं है, साधन भी नहीं है और साध्य भी नहीं है, केवल ब्रह्म है।

जिस शास्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है, उस शास्त्र के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्तिक आचार्यों का कहना है कि ब्रह्म जिस जगत् का कारण है वह केवल उपनिषद् या वेदान्त-शास्त्र द्वारा ही जाना जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा शास्त्र निरपेक्ष स्वाधीन युक्ति-विचार द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए मुख्य रूप से वेदान्त या उपनिषद् का आश्रय लेना पड़ेगा। स्वाधीन युक्ति-तर्क द्वारा कभी भी कोई स्थिर सिद्धान्त प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए शास्त्रनिर्दिष्ट प्रणाली द्वारा बुद्धि या तर्क को परिचालित करना आवश्यक है। केवल बुद्धि की सहायता से वेदान्त का प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में कोई स्थिर नियम निकालने की कोई संभावना नहीं है। अथच, जो समस्त तर्कयुक्ति उपनिषद् के सिद्धान्तों के अनुकूल है केवल वे ही तर्क-युक्ति ग्रहण करने योग्य हैं। उपनिषद् ही ब्रह्मतत्त्व को जानने का एकमात्र उपाय है।

वेदान्तानुशीलन का चरम फल मोक्ष-प्राप्ति है। वेदान्तशास्त्र का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि मोक्ष ही ब्रह्म-जिज्ञासु का प्रयोजन है, इसीलिए मोक्ष की अवस्था में अनर्थनिवृत्ति और आनन्द प्राप्ति होती है, अनर्थ या दुःख का कारण अविद्या है। वेदान्त के अनुसार आत्मा स्वरूपतः आनन्द स्वरूप ब्रह्म है। लेकिन अविद्या के कारण जब उसका वह ज्ञान तिरोहित होता है तब वह देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का (यहाँ तक कि स्त्री-

पुत्रादि के देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का) धर्म या गुण-दोष अपने पर आरोपित करके स्वयं को सुखी या दुःखी समझता है। आत्मा के अनात्म धर्म के अध्यास के फलस्वरूप आत्मा जीव-रूपमें सुख-दुःखमय संसारमें आबद्ध रहती है। यह अध्यास (मिथ्याज्ञान) ही जीव के सभी प्रकार का कर्तृत्व, भोक्तृत्व और भेद बुद्धि का कारण है। जबतक आत्मा के एकत्व की प्राप्ति नहीं होती तबतक संसार रूपी अनर्थ की निवृत्ति नहीं होती। आत्मा के एकत्व का बोध होने पर ही अविद्या आदि सभी भेदक ज्ञान विनष्ट हो जाता है। दैनन्दिन जीवन में देखा जाता है कि सुख-दुःख का भोग एवं भेद-बुद्धि आदि सभी प्रकार का दौरात्म्य केवल जागरण एवं स्वप्नावस्था में ही होता है। सुषुप्तावस्था में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, भेद-व्यवहार आदि कुछ भी आधार नहीं रहता। लेकिन जागरण के साथ ही साथ पुनः संसार के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। सुषुप्तावस्था में अल्प समय के लिए देहानुकरणादि-उपाधिविहीन आत्मा का स्वरूप ही प्रकाशित होता है। आत्मा स्वरूपतः चेतन एवं आनन्दस्वरूप है यह सुषुप्ति की अभिज्ञता से ही जाना-समझा जाता है। सुषुप्तिकाल में आत्मा में चेतना नहीं रहती, यह मत वेदान्त द्वारा स्वीकार्य नहीं है। वेदान्त के अनुसार आत्मा सुषुप्तिकाल में विषयरहित अवस्था में अवस्थान करती है, लेकिन उसके स्वरूपगत चैतन्य और आनन्द में कोई हानि नहीं पहुंचती। इसीलिए सुषुप्ति के पश्चात् निद्रा-भंग के बाद लगता है कि इतनी देर तक सुखपूर्वक सो रहा था। सुषुप्तिकाल में जो आत्मानुभूति होती है उसके स्थायी नहीं होने का कारण यह है कि उस समय तक जो अविद्याप्रसूत संस्कार समूह निष्क्रिय रूपसे केवल मात्र अवस्थान करता है, उसका एक दम विनाश नहीं होता। इस पूंजीभूत संस्कार-राशि को नष्ट करने के लिए ज्ञानाग्नि की आवश्यकता होती है। जीव और ब्रह्म का ऐकान्तिक अभेद ज्ञान, दोनों का तादात्म्य ज्ञान ही यह ज्ञानाग्नि है। जीव और ब्रह्म का अभेदज्ञान आचार्य के लिए उपदेशसवय है। सर्वप्रथम ब्रह्मज्ञ आचार्य से वेदान्तवाक्य का श्रवण करना पड़ता है। इसके बाद अपने युक्ति-तर्क द्वारा आचार्य के उपदेश की युक्ति समझ लेनी पड़ती है। अन्त में आचार्य से प्राप्त तत्त्वों का निरन्तर ध्यान करना पड़ता है। वेदान्त विचार के इन तीन अंगों के नाम इस प्रकार हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

जीव और ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से दो भिन्न वस्तुएँ नहीं है। दो भिन्न वस्तुओं में कभी भी तादात्म्य सम्बन्ध स्थायी नहीं हो सकता। लेकिन यदि एक ही वस्तु को दो पृथक् वस्तु कह कर भ्रम किया जाय तो उन दोनों वस्तुओंके अभेद या तादात्म्य के निर्देश द्वारा भ्रम निवारण सम्भव होता है। उपनिषद् में 'तत् त्वं असि' महावाक्य इसी उद्देश्य से व्यवहृत हुआ है। जीव एवं ब्रह्म यदि दो पृथक् तत्त्व होते तो आचार्य के सहस्र-उपदेश के बावजूद भी उनमें तादात्म्य स्थापित करना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है, जीव की कोई पृथक् सत्ता नही है, जीव कहने से ब्रह्म के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। अज्ञान या अविद्या के प्रभाव से ब्रह्म को ही संसारी जीव समझा जाता है। आचार्य के उपदेश से यह भ्रम कट जाता है और शिष्य समझता हैं कि वह संसारी नहीं हैं, वे किसी के पिता अथवा पति नहीं हैं, जो प्रकृत सत्य वस्तु है, जो ब्रह्म है वह वही हैं। इस आत्मोपलब्धि का नाम आनन्दस्वरूपब्रह्म की उपलब्धि है। इसी का नाम मोक्ष या मुक्ति है। जीव और ब्रह्म का एकत्व सभी कालों में

सत्य रहा है। अविद्या के कारण इस सत्य को भूल जाने पर अपारमार्थिक भेद दर्पणजनित बन्धन की सृष्टि होती है। अन्य रूप से इसी सत्य की साक्षात् प्रतीति होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष एक चिरन्तन सत्य है। यह कोई उत्पन्न पदार्थ नहीं है। जिसको बद्धावस्था कहते हैं उस अवस्था में भी जीव स्वरूपतः मुक्त होता है, किन्तु स्वरूप-विस्मृति के फलस्वरूप अपने को बद्ध समझता है। सचमुच का सिंह यदि कभी आत्मविस्मृति के कारण शृगालदल में मिलकर शृगालोचित व्यवहार करता है, फिर भी वह सिंह ही है, शृगाल नहीं है। जिस मुहूर्त में उसकी विस्मृति विनष्ट होगी उसी मुहूर्त वह समझेगा कि वह शृगाल नहीं, सिंह है। सिंह की सिंहत्व प्राप्ति जिस प्रकार कुछ नयापन की प्राप्ति नहीं है उसी प्रक र जीव की ब्रह्मत्व प्राप्ति भी एक अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है। यह 'प्राप्त-प्राप्ति' अर्थात् 'मिली हुई वस्तु का पाना' है। जो है उसी को पाना है। कुछ लोग कह सकते हैं कि जो है वह तो है ही, उसे फिर पाना क्या? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि जो है उसके संबंध में यदि ज्ञान न रहे तो वह नहीं रहने के समान ही है। विपुल पैतृक सम्पत्ति का मालिक रहने पर भी पुत्र जाने बिना भिक्षा वृत्ति अपनाये तो उसकी सम्पत्ति का रहना न रहने के समान है। कोई यदि उसी संपत्ति का पता बता दे तो पुत्र उसे प्राप्त कर आनन्दित हो सकता है। इस क्षेत्र में जिसे जो मिलेगा वह उसी की वस्तु है, अज्ञात अवस्था में भी वह उसी की थी। इस प्रकार की प्राप्ति का नाम 'प्राप्तप्राप्ति' है। कहा गया है कि एक राजकुम री प्रत्यक्ष रात में शयन काल में अपने गले का हार तकिये के नीचे रखती थी एवं दूसरे दिन वहाँ से उठा कर पहन लेती थी। एक दिन प्रातः काल जब तकिये के नीचे उसका हार नहीं मिला तो उसके दुःख की सीमा नहीं रही। परन्तु अन्त में एक आदमी ने दिखला दिया कि हार उसके गले में ही है, गत रात वह बिना हार निकाले ही सो गई थी। खैर, राजकुमारी हार पाकर प्रसन्न हुई। राजकुमारी का यह हार पाना 'प्राप्त प्राप्ति' का एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

अद्वैतमतानुसार आत्मा एक एवं चैतन्यस्वरूप है। न्याय मतानुसार आत्मा बहु एवं स्वरूपतः चैतन्यविहीन है। अद्वैतमतानुसार मोक्ष का अर्थ केवल दुःख-निवृत्ति नहीं हैं, इसका वास्तविक अर्थ है आनन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रकाश। न्याय के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म है। मोक्षावस्था में आत्मा का कोई चैतन्य या सुख-दुःख बोध नहीं रहता। आत्मा उस समय पाषाण के समान हो जाती है। अद्वैतवादी आत्मा की मोक्षत्व प्राप्ति में विश्वास नहीं करते। उनके कथनानुसार मोक्षावस्था चित्स्वरूप है। सांख्य के अनुसार भी मुक्त आत्मा चैतन्यस्वरूप है। लेकिन सांख्यकार कहते हैं कि आत्मा संख्या में बहु है एवं कोई भी आत्मा आनन्दस्वरूप नहीं है। उनके मतानुसार मोक्षावस्था में कोई आनन्द नहीं मिलता। अद्वैतवादियों के अनुसार मोक्षावस्था में जीव सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर ब्रह्म ही हो जाता है ब्रह्म के साथ जिसको इस रूप-एकत्व की उपलब्धि होती है उसके लिए क्या संसार का और कोई कार्य करना संभव होता है? जो सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप हो जाता है उसका शरीर क्या रहता है? इसी शरीर में बँधे रहने पर भी क्या मोक्षानन्द की प्राप्ति सम्भव हैं? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में आचार्य शंकर और उनके मतावलम्बी वेदान्तिक आचार्यगण कहते हैं कि जीवितावस्था में भी मोक्ष

पुत्रादि के देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का) धर्म या गुण-दोष अपने पर आरोपित करके स्वयं को सुखी या दुःखी समझता है। आत्मा के अनात्म धर्म के अध्यास के फलस्वरूप आत्मा जीव-रूपमें सुख-दुःखमय संसारमें आबद्ध रहती है। यह अध्यास (मिथ्याज्ञान) ही जीव के सभी प्रकार का कर्तृत्व, भोक्तृत्व और भेद बुद्धि का कारण है। जबतक आत्मा के एकत्व की प्राप्ति नहीं होती तबतक संसार रूपी अनर्थ की निवृत्ति नहीं होती। आत्मा के एकत्व का बोध होने पर ही अविद्या आदि सभी भेदक ज्ञान विनष्ट हो जाता है। दैनन्दिन जीवन में देखा जाता है कि सुख-दुःख का भोग एवं भेद-बुद्धि आदि सभी प्रकार का दौरात्म्य केवल जागरण एवं स्वप्नावस्था में ही होता है। सुषुप्तावस्था में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, भेद-व्यवहार आदि कुछ भी आधार नहीं रहता। लेकिन जागरण के साथ ही साथ पुनः संसार के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। सुषुप्तावस्था में अल्प समय के लिए देहानुकरणादि-उपाधिविहीन आत्मा का स्वरूप ही प्रकाशित होता है। आत्मा स्वरूपतः चेतन एवं आनन्दस्वरूप है यह सुषुप्ति की अभिज्ञता से ही जाना समझा जाता है। सुषुप्तिकाल में आत्मा में चेतना नहीं रहती, यह मत वेदान्त द्वारा स्वीकार्य नहीं है। वेदान्त के अनुसार आत्मा सुषुप्तिकाल में विषयरहित अवस्था में अवस्थान करती है, लेकिन उसके स्वरूपगत चैतन्य और आनन्द में कोई हानि नहीं पहुंचती। इसीलिए सुषुप्ति के पश्चात् निद्रा-भंग के बाद लगता है कि इतनी देर तक सुखपूर्वक सो रहा था। सुषुप्तिकाल में जो आत्मानुभूति होती है उसके स्थायी नहीं होने का कारण यह है कि उस समय तक जो अविद्याप्रसूत संस्कार समूह निष्क्रिय रूपसे केवल मात्र अवस्थान करता है, उसका एक दम विनाश नहीं होता। इस पुंजीभूत संस्कार-राशि को नष्ट करने के लिए ज्ञानाग्नि की आवश्यकता होती है। जीव और ब्रह्म का ऐकान्तिक अभेद ज्ञान, दोनों का तादात्म्य ज्ञान ही यह ज्ञानाग्नि है। जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान आचार्य के लिए उपदेशसवय है। सर्वप्रथम ब्रह्मज्ञ आचार्य से वेदान्तवाक्य का श्रवण करना पड़ता है। इसके बाद अपने युक्ति-तर्क द्वारा आचार्य के उपदेश की युक्ति समझ लेनी पड़ती है। अन्त में आचार्य से प्राप्त तत्त्वों का निरन्तर ध्यान करना पड़ता है। वेदान्त विचार के इन तीन अंगों के नाम इस प्रकार हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

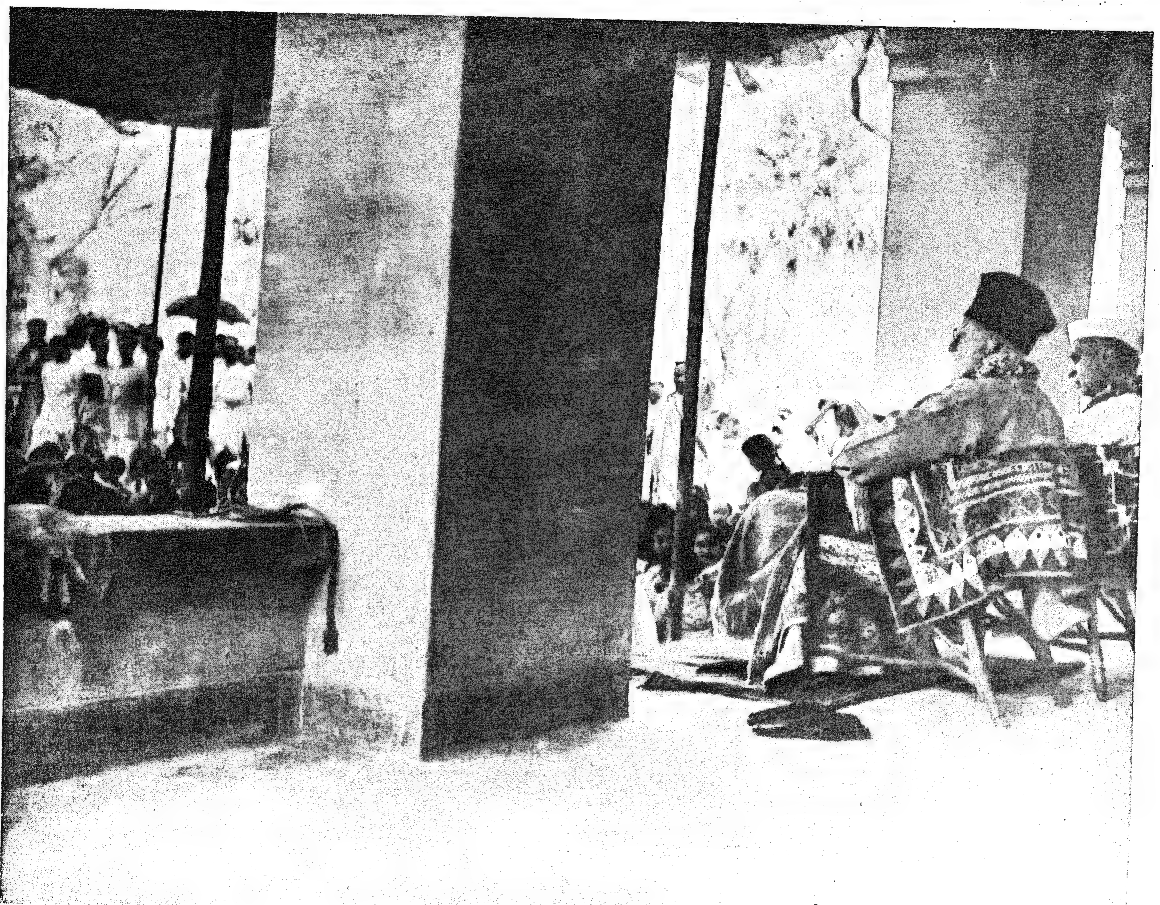
जीव और ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। दो भिन्न वस्तुओं में कभी भी तादात्म्य सम्बन्ध स्थायी नहीं हो सकता। लेकिन यदि एक ही वस्तु को दो पृथक् वस्तु कह कर भ्रम किया जाय तो उन दोनों वस्तुओंके अभेद या तादात्म्य के निर्देश द्वारा भ्रम निवारण सम्भव होता है। उपनिषद् में 'तत् त्वं असि' महावाक्य इसी उद्देश्य से व्यवहृत हुआ है। जीव एवं ब्रह्म यदि दो पृथक् तत्त्व होते तो आचार्य के सहस्र-उपदेश के बावजूद भी उनमें तादात्म्य स्थापित करना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है, जीव की कोई पृथक् सत्ता नही है, जीव कहने से ब्रह्म के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। अज्ञान या अविद्या के प्रभाव से ब्रह्म को ही संसारी जीव समझा जाता है। आचार्य के उपदेश से यह भ्रम कट जाता है और शिष्य समझता है कि वह संसारी नहीं हैं, वे किसी के पिता अथवा पति नहीं हैं, जो प्रकृत सत्य वस्तु है, जो ब्रह्म है वह वही हैं। इस आत्मोपलब्धि का नाम आनन्दस्वरूपब्रह्म की उपलब्धि है। इसी का नाम मोक्ष या मुक्ति है। जीव और ब्रह्म का एकत्व सभी कालों में

सत्य रहा है। अविद्या के कारण इस सत्य को भूल जाने पर अपारमार्थिक भेद दर्पणजनित बन्धन की सृष्टि होती है। अन्य रूप से इसी सत्य की साक्षात् प्रतीति होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष एक चिरन्तन सत्य है। यह कोई उत्पन्न पदार्थ नहीं है। जिसको बद्धावस्था कहते हैं उस अवस्था में भी जीव स्वरूपतः मुक्त होता है, किन्तु स्वरूप-विस्मृति के फलस्वरूप अपने को बद्ध समझता है। सचमुच का सिंह यदि कभी आत्मविस्मृति के कारण शृगालदल में मिलकर शृगालोचित व्यवहार करता है, फिर भी वह सिंह ही है, शृगाल नहीं है। जिस मुहूर्त में उसकी विस्मृति विनष्ट होगी उसी मुहूर्त वह समझेगा कि वह शृगाल नहीं, सिंह है। सिंह की सिंहत्व प्राप्ति जिस प्रकार कुछ नयापन की प्राप्ति नहीं है उसी प्रकार जीव की ब्रह्मत्व प्राप्ति भी एक अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है। यह 'प्राप्त-प्राप्ति' अर्थात् 'मिली हुई वस्तु का पाना' है। जो है उसी को पाना है। कुछ लोग कह सकते हैं कि जो है वह तो है ही, उसे फिर पाना क्या? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि जो है उसके संबंध में यदि ज्ञान न रहे तो वह नहीं रहने के समान ही है। विपुल पैतृक सम्पत्ति का मालिक रहने पर भी पुत्र जाने बिना भिक्षा-वृत्ति अपनाये तो उसकी सम्पत्ति का रहना न रहने के समान है। कोई यदि उसी संपत्ति का पता बता दे तो पुत्र उसे प्राप्त कर आनन्दित हो सकता है। इस क्षेत्र में जिसे जो मिलेगा वह उसी की वस्तु है, अज्ञात अवस्था में भी वह उसी की थी। इस प्रकार की प्राप्ति का नाम 'प्राप्तप्राप्ति' है। कहा गया है कि एक राजकुमारी प्रत्यक्ष रात में शयन काल में अपने गले का हार तकिये के नीचे रखती थी एवं दूसरे दिन वहाँ से उठा कर पहन लेती थी। एक दिन प्रातः काल जब तकिये के नीचे उसका हार नहीं मिला तो उसके दुःख की सीमा नहीं रही। परन्तु अन्त में एक आदमी ने दिखला दिया कि हार उसके गले में ही है, गत रात वह बिना हार निकाले ही सो गई थी। खैर, राजकुमारी हार पाकर प्रसन्न हुई। राजकुमारी का यह हार पाना 'प्राप्त प्राप्ति' का एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

अद्वैतमतानुसार आत्मा एक एवं चैतन्यस्वरूप है। न्याय मतानुसार आत्मा बहु एवं स्वरूपतः चैतन्यविहीन है। अद्वैतमतानुसार मोक्ष का अर्थ केवल दुःख-निवृत्ति नहीं हैं, इसका वास्तविक अर्थ है आनन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रकाश। न्याय के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म है। मोक्षावस्था में आत्मा का कोई चैतन्य या सुख-दुःख बोध नहीं रहता। आत्मा उस समय पाषाण के समान हो जाती है। अद्वैतवादी आत्मा की मोक्षत्व प्राप्ति में विश्वास नहीं करते। उनके कथनानुसार मोक्षावस्था चित्स्वरूप है। सांख्य के अनुसार भी मुक्त आत्मा चैतन्यस्वरूप है। लेकिन सांख्यकार कहते हैं कि आत्मा संख्या में बहु है एवं कोई भी आत्मा आनन्दस्वरूप नहीं है। उनके मतानुसार मोक्षावस्था में कोई आनन्द नहीं मिलता। अद्वैतवादियों के अनुसार मोक्षावस्था में जीव सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर ब्रह्म ही हो जाता है ब्रह्म के साथ जिसको इस रूप-एकत्व की उपलब्धि होती है उसके लिए क्या संसार का और कोई कार्य करना संभव होता है? जो सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप हो जाता है उसका शरीर क्या रहता है? इसी शरीर में बँधे रहने पर भी क्या मोक्षानन्द की प्राप्ति सम्भव हैं? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में आचार्य शंकर और उनके मतावलम्बी वेदान्तिक आचार्यगण कहते हैं कि जीवितावस्था में भी मोक्ष

का आनन्द प्राप्त हो सकता है। जो लोग इस प्रकार का आस्वादन पाते हैं उन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्-मुक्ति की स्थिति में प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप शरीर चलता रहता है लेकिन क्रियमाण और संचित कर्मराशि ब्रह्मज्ञान से भस्मीभूत हो जाती है। प्रारब्ध कर्म का फल अन्त में क्षय प्राप्त होने पर स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-देह भी विनष्ट हो जाती है। फलस्वरूप जीवन्मुक्त का फिर पुनर्जन्म नहीं होता। इसी अवस्था का नाम विदेहमुक्ति है। जीवन्मुक्त पुरुष के लिए काम्य या प्राप्तक कुछ भी नहीं रहता तथापि वह जब तक बचा रहता है तब तक उसका कुछ न कुछ कर्म रहता है। लेकिन वह कर्म करके भी बंधता नहीं, क्योंकि कर्मफल में उसकी आसक्ति नहीं होती। सकाम कर्म ही बन्धन का कारण है। निष्काम कर्म से कोई भी बँधता नहीं। भगवद्गीता में जिस निष्काम कर्म की बात कही गयी है जीवन्मुक्त का कर्म ठीक उसी प्रकार का है। जीवन्मुक्त ही जन समाज के कल्याण के पथ प्रदर्शक हैं। वे ही मनुष्य के आदर्श हैं। वे लोग पूर्ण ज्ञान के अधिकारी होने पर भी समाज-सेवा से विरत नहीं होते। वे लोग अपनी आवश्यकतानुसार अथवा स्वार्थ सिद्धि की आशा से किसी कार्य में नहीं लगते। उनका कर्म जीव के कल्याण के लिए, समाज-व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, जन-साधारण का भ्रम दूर करने के लिए, भगवद्गीता की भाषा में लोकसंग्रह के लिए होता है। भुना हुआ बीज जिस प्रकार अंकुरित होने में असमर्थ होता है उसी प्रकार उसके कर्म पुनर्जन्म या पुनर्बन्धन का कारण नहीं हो सकते हैं।





हिन्दी-भवन का उद्घाटन—३१-१-३९ ई०



हिन्दी-भवन के उद्घाटन (३१-१-३९) के समय हलवासिया ट्रस्ट की ओर से बोलते हुए श्री भागीरथ कानोड़िया, उनके दाहिनी ओर आचार्य क्षितिमोहन सेन, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा श्रीमती इंदिरा नेहरू गांधी बैठे है।

शान्तिनिकेतन का हिन्दी-भवन

दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज

आधुनिक भारत के लिए यह बड़े ही सौभाग्य और प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी को लोक-प्रिय बनाने और उसके साहित्य की श्रीवृद्धि करने के लिए देश के विभिन्न भागों में संस्थाएँ स्थापित हो रही हैं। नागरी लिपि का—जिसमें हिन्दी लिखी जाती है—उस मूल संस्कृत से सीधा सम्बन्ध है, जिसमें प्राचीन भारत के गूढ़तम धार्मिक विचार लिपि-बद्ध किये गये और सुरक्षित हैं। इस प्रकार हिन्दी का—विशेषकर इसके मध्यकालीन रूपों का असाधारण सांस्कृतिक महत्त्व है।

आज हिन्दी को अग्रसर करने का जो कार्य हो रहा है, उससे हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्य के पुनर्जन्म के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हम अपनी आँखों के आगे आज फिर कबीर, दादू, तुलसीदास; रैदास और नानक की भक्ति-रस की गंगा को बहता देख रहे हैं। मैं सन् १९०४ के आरंभ में भारत आया था, तब से हिन्दी के लेखकों में जो पूर्ण परिवर्तन हुआ है, उसे मैंने आँखें खोलकर देखा। आज मैं उनमें वह आत्म-विश्वास और उत्साह देख रहा हूँ, जो उन दिनों उनमें नहीं था। अपने कार्य की महत्ता वे समझ रहे है और यह महसूस कर रहे हैं कि नवचेतन के इस युग में पैदा होने का अर्थ क्या है?

इस मामले में बंगाल अग्रणी रहा है, क्योंकि मातृभाषा के पुनर्जन्म का इतिहास इसी प्रान्त से शुरू हुआ है। राजा राममोहन राय से लेकर रवीन्द्रनाथ तक यहाँ एक के बाद एक महान् और विश्वविख्यात लेखक पैदा हुए हैं, जिन्होंने राष्ट्र-भाषा की श्रीवृद्धि की है।

हिन्दी की मौजूदा उन्नति का बहुत-कुछ श्रेय बंगाल में आरम्भ हुई इस नवचेतना को है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनेक रचनाओं के हिन्दी अनुवादों ने भारत के नई पीढ़ी के लेखकों के सामने बहुत-से नये विषयों को मनन के लिए उपस्थित किया है और उन्हें सीधी-सादी भाषा लिखने की प्रेरणा दी है, ताकि उनकी रचनाओं को वे लोग भी अधिकाधिक संख्या में पढ़ और समझ सकें, जो अब तक पुरानी, भारी-भरकम और संस्कृत-मिश्रित भाषा की लेखन-शैली के कारण साहित्य से वंचित से रहे हैं। अब तो मेरी समझ में हिन्दी एक ऐसी आधुनिक भाषा बन गई है, जिसमें नये शब्दों की खपत आसानी से हो सकती है और नये विचारों को बड़ी ही सरल भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दी के आधुनिक लेखकों को जो संघर्ष करना पड़ा है, वह समूचे हिन्दी-संसार के लिए अमूल्य और महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी के लिए भारत की राष्ट्र-भाषा होना बड़ा आसान हो गया है, क्योंकि अब उसमें संस्कृत और फारसी के शब्द समान रूप से खप सकते हैं। अतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रारम्भिक बंगला रचनाओं के अनुवाद का आधुनिक हिन्दी के विकास पर स्वस्थ बड़ा अनुकूल असर पड़ा है और वे उसे इस नवीन और विकास की ओर आगे

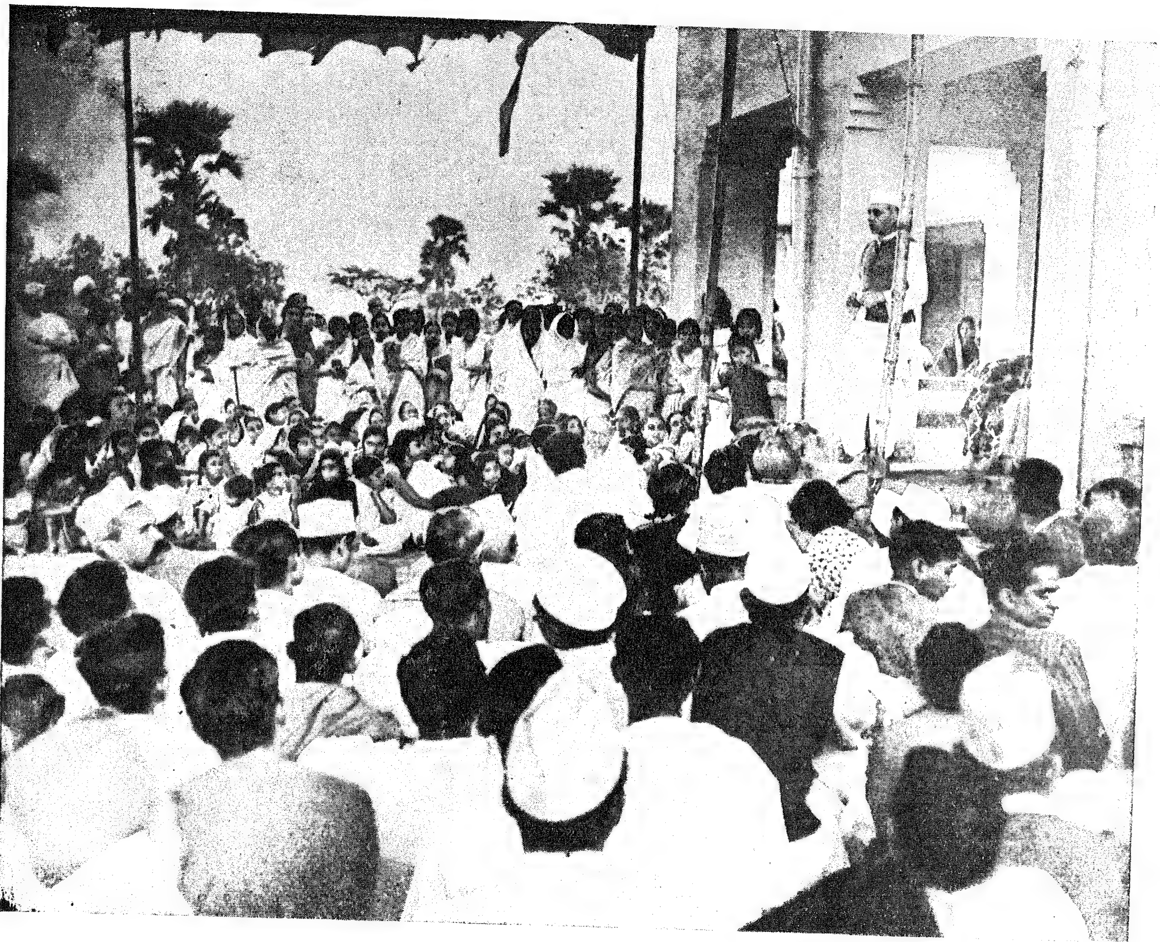
बढ़ने में सहायक हुई हैं। भाषा की उन्नति की लहरें किस प्रकार उठती और गिरती हैं, यह समझना जरा मुश्किल है। बाइबिल में लिखा है—'हवा किधर बहती है और किधर जाकर रुक जाती है; तू उसकी आवाज सुनता है; पर यह नहीं बता सकता कि वह कब आती है और कहाँ चली जाती है। यही हाल फरिश्तों का है।" मेरी समझ से यही सत्य साहित्यिकों पर भी लागू होता है। महान लेखक कृत्रिम रूप से कदापि नहीं बनाया जा सकता वह तो वास्तविक तत्त्व से जन्मता है। यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी है—उसे भी बनाया नहीं जा सकता और न ही उसके स्वाभाविक मार्ग से अलहदा किया जा सकता है। अपना रास्ता वह स्वयं बनाती है। हम जो कुछ कर सकते हैं, वह यही कि उसके मार्ग के अवरोधों को दूर कर दें।

जिस प्रकार नदी अपना रास्ता स्वयं बनाती है, जब-तब कहीं घिर या रुक जाती है और कहीं अपनी धारा को नदी से निकले हुए बँधे पानी में खो देती है, वही हाल साहित्य का भी है। जहाँ ऐसा होता है, अवरोध और अपव्यय को दूर किया जा सकता है; किन्तु धारा को एकदम बदलना सम्भव नहीं। इस कार्य के लिए सचमुच हमें बंगाल में बंकिम और रवि बाबू तथा सूबा-हिन्द में भारतेन्दु और प्रेमचन्द जैसे उद्‌भट तथा प्रतिभाशाली साहित्यकार मिले हैं। उन्होंने भाषा को उचित मार्ग पर आगे बढ़ाने में सहायता दी है और एक के बाद दूसरे अवरोध को हटाकर उसके प्रवाह को अधिकाधिक सुगम बना दिया है। एक दूसरे रूप में इस धारा को ठीक दिशा में बहने का बल गाँधी जी से भी मिला है—यद्यपि वे महाकवि न होकर एक महात्मा हैं। वे भी हमारे समय के उन व्यक्तियों में से हैं, जो 'वास्तविक तत्त्व से जन्मे हैं' और अपनी प्रतिभा के बल से यह समझ लेते हैं कि धारा किधर बह रही है और हवा का रुख क्या है? वे जानते हैं कि अपने महान कार्यों की पूर्ति के लिए इस धारा और हवा के रुख से किस प्रकार फायदा उठाया जा सकता है?

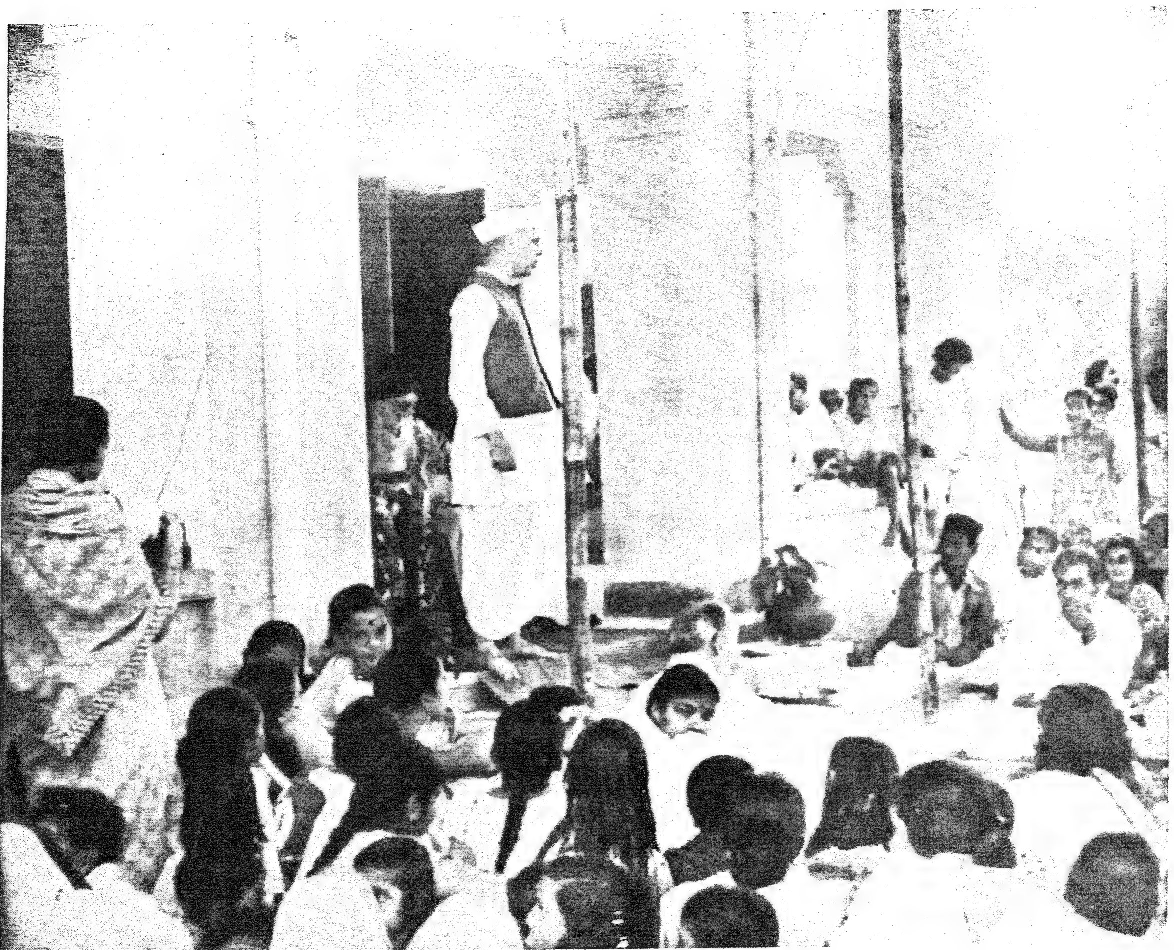
यह हिन्दी-साहित्य से पर्यवेक्षण और उसके विकास की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक समय है, ताकि जो लोग इस सत्कार्य में संलग्न हैं, वे अपने प्रयत्नों का एकीकरण कर भविष्य की रूप-रेखा का मानचित्र तैयार कर सकें। हिन्दी की उन्नति के लिए होनेवाला कोई भी प्रयत्न पृथक नहीं छूटना चाहिए, बल्कि उसका अन्यत्र होनेवाले प्रयत्नों से निकट सम्पर्क स्थापित किया जाना चाहिए।

हमें हिन्दी के मुकाबले में अन्य भाषाओं की उपेक्षा करने के खतरे से भी बचना चाहिए। किसी भी रूप में हमें हिन्दी को जबर्दस्ती किसी पर नहीं थोपना है, क्योंकि इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया अवश्य होगी। हिन्दी भाषा और साहित्य व्यापक रूप से पढ़े और समझे जायँ, यह हमारी प्रसन्नता का कारण हो, पर हिन्दी को उसी प्रकार अन्य प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति में सहायक होनेवाली शक्ति बन जाना चाहिए, जिस प्रकार की शक्ति उसे बंगाल के महान् लेखकों से प्राप्त हुई है—जिन्होंने पुरानी परिपाटी से ऊपर उठकर बंगला भाषा को वास्तव में महान् बनाया है।

हिन्दी के अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए स्थापित हुई मौजूदा संस्थाओं में हमारा



पं० जवाहर लाल नेहरू द्वारा हिन्दी-भवन का उद्घाटन ३१-१-३६ ई०। उपस्थित जनसमूह की एक झाँकी।



हिन्दी-भवन का उद्घाटन करते हुए पं० जवाहर लाल नेहरू ३१-१-३९ ई०। पीछे गुरुदेव बैठे हुए हैं।
नीचे बाईं ओर श्रीमती इंदिरा नेहरू गांधी बैठी हुई हैं।

शान्तिनिकेतन का हिन्दी-भवन सबसे छोटी संस्था है। लगभग दो वर्ष पहले मुझे इसकी आधार-शिला रखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और पिछले वर्ष पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इसका उद्घाटन किया था। इन दोनों अवसरोंपर हमें अपने गुरुदेव महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। तब से इसकी उन्नति ने हमारे सभी अल्प साधनों को बड़ी तेजी से क्षीण कर दिया है। हम इसकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ हो गए हैं, और इसीलिए उन्हें अपर्याप्त ढंग से पूरी करना पड़ रहा है। हिन्दी के मध्यकालीन महा-कवियों—जैसे कबीर, दादू, नानक आदि के बारे में प्रो० क्षितिमोहन सेन जो शोध-कार्य वर्षों से कर रहे हैं, उसका केंद्र अब हिन्दी-भवन ही बन गया है। उनके परिश्रम के इस फल को अब संसार के हाथों से कोई छीन नहीं सकेगा, बल्कि वह इस दिशा में होनेवाले अध्ययन-क्रम का आधार बन जायगा।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि इस प्रकार के नाजुक काम में लोगों की संख्या का कोई खास महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत जिनके हृदय में हिन्दी के लिए सच्चा अनुराग हो, ऐसे कुछ चुने हुए विद्वानों और लेखकों का त्याग और लगन भाषा और संस्कृति की भावी उन्नति के लिए अधिक आवश्यक और मूल्यवान् हैं। साथ ही यह उन नवीन लेखकों के लिए जो अभी साहित्यिक क्षेत्र में आ रहे हैं—सबसे बड़ी प्रेरणा होगी।

अपनी इस बात को मैं ज़रा और स्पष्ट रूप में दोहरा दूँ, क्योंकि मेरा विश्वास हैं कि इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। बंगाल में ठीक ढंग से हिन्दी के अध्ययन को लोकप्रिय बनने के के लिए किसी भी कार्य से इतनी सफलता नहीं मिल सकती थी, जितनी प्रो० क्षितिमोहन सेन् के कार्य द्वारा मिली हैं, क्योंकि उनके द्वारा किये गये मध्यकालीन हिन्दी-लेखकों की रचनाओं के अनुवाद ने बंगला-भाषा-भाषी-जनता की नज़रों में हिन्दी-भाषाको बहुत ऊँचा उठा दिया है। सौभाग्य से क्षिति बाबू का यह कार्य अभी जारी है, और हिन्दी-भवन में काम करनेवाले नये लेखकों को उनके व्यापक और बहुमूल्य अनुभव से लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। इसके अतिरिक्त जब ज़रूरत पड़ेगी, हिन्दी-भवन के संस्थापक-सभापति रविबाबू की उदार और कृपापूर्ण सहायता भी मिलेगी, क्योंकि यह उन्हीं के क्रियात्मक मस्तिष्क की एक नई उपज है।

इस समय में हिन्दी-भवन में कार्य करनेवाले केवल दो व्यक्ति हैं, जो वहाँ सपरिवार रह रहे हैं। एक हैं—पं० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और दूसरे श्री भगवतीप्रसाद चंदोला, जो हिन्दी के इस नवचेतन-कार्य के हृदय और आत्मा हैं। यह दोनों विश्वभारती में हिन्दी के नियमित अध्यापक हैं और पढ़ाने के अतिरिक्त अपना सारा समय हिन्दी-भवन के विशेष कार्य में लगाते हैं। इनका अपने पड़ोस के चीना-भवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, जहाँ चीन और तिब्बत के बौद्ध भिक्षु तथा संस्कृत के विद्वान चीन और भारत के बीच एक नया सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित करने के कार्य में संलग्न हैं, क्योंकि चीन और तिब्बत दोनों ने अपनी बहुत-सी प्राचीन संस्कृति उस काल में भारतवर्ष से ही सीखी थी, जब कि यहाँ संस्कृत का जीवित साहित्य मौजूद था और यही पूर्व के सब धर्मों का दार्शनिक आदि-स्रोत था। बौद्ध-मत

तो भारत से ही काश्मीर तथा अफगानिस्तान के उत्तर-पश्चिम से पहले केन्द्रीय एशिया में और फिर चीन में पहुँचा था।

हिन्दी भवन के उक्त दोनों कार्यकर्ताओं—द्विवेदी जी और नन्दोलियाजी को मध्यकालीन हिन्दी-ग्रन्थों के पुस्तकालय का अभाव बुरी तरह खटकता है। आश्रम के केन्द्रीय पुस्तकालय में इस समय हिन्दी-ग्रन्थों का जो संग्रह है वह उनके शोध-कार्य और नई चीजें लिखने तथा अनुवाद करने के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। इस लेख को लिखने से पहले जब मैं हिन्दी-भवन में उनके साथ गया, तो तब उन्होंने मुझे भवन की सूनी दीवारें और अपनी मेजों पर लगा हुआ केन्द्रीय पुस्तकालय से माँगी हुई पुस्तकों का ढेर दिखलाया।[1] साधनों का इस प्रकार का अभाव भला उन्हें अच्छा शोध-कार्य करने को कैसे प्रोत्साहित कर सकता है? फिर भी उन्होंने मुझे रवि बाबू के एक नवीन नाटक 'नटीर पूजा' का सुन्दर अनुवाद बतलाया, जिसके मुखपृष्ठ पर श्री नन्दलाल बसु का एक मनमोहक चित्र था। यद्यपि रवि बाबू अब ८० वर्ष के हो गये हैं; पर इस नाटक में उनके यौवन की ताजगी है। बंगला का यह ग्रन्थ-रत्न उनके प्रेम और लगन का एक ऐसा उपहार है; जो संभवतः हिन्दी के नाट्य-क्षेत्र में एक नए युग को जन्म देगा।

हिन्दी-भवन को पूर्णरूपेण उपयोगी और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए हमारी कुछ आवश्यकताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) हिन्दी-भवन के अध्यापकों के तत्त्वावधान में काम करने के लिए कुछ नए प्रतिभाशाली लेखकों को रखने के लिए २५) मासिक की ६ छात्रवृत्तियाँ।

(२) हिन्दी ग्रन्थों के परिचय का एक पुस्तकालय।

(३) केवल शोध-कार्य के लिए अपना पूरा समय देनेवाला एक विद्वान् कार्यकर्त्ता।

(४) एक मामूली-सी धर्मशाला या अतिथि-गृह जो १५००) या २०००) में बन सके।

(५) हाल, पुस्तकालय और धर्मशाला के लिए फर्नीचर (मेज, कुर्सी इत्यादि)।

हिन्दी-भवन की स्थापना के समय से ही मैं इसके कार्य में पूरी दिलचस्पी लेता रहा हूँ, और इसके संस्थापक सभापति रवि बाबू अपने मनोवाञ्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए समय-समय पर मुझे आदेश-परामर्श देते रहते हैं। किसी के मन में नाममात्र को भी यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह संस्था साम्प्रदायिक ढंगपर चलेगी, या किसी दूसरी भाषा या साहित्य की प्रतियोगिता में पड़ेगी। बल्कि हम तो यह आशा करते हैं कि वह सभी भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य की उन्नति में सहायक होगी। अपने सहायकों को हम यह विश्वास दिला सकते हैं कि मुख्य संस्था का अंग होने के कारण हिन्दी-भवन को हम सदा सहायता देते रहेंगे।

सर्वश्री भागीरथमल कनोड़िया[2] और सीताराम सेकसरिया ने हमें प्रारम्भ से ही जो

---

१. अब दीवालें सूनी नहीं है। पुस्तकालय भी पर्याप्त अच्छा है।

२. श्री भागीरथ जी कानोडिया का हिन्दी भवन के कार्यों में सक्रिय सहयोग हमें बराबर मिल रहा है।



हिन्दी भवन के उद्घाटन के अवसर पर (३१-१-६९) भाषण देते हुए पं० जवाहर लाल नेहरू, पासमें एण्ड्रयूज बैठे हुए हैं।



काशी-गंगाघाट स्नान ।

प्रेरणात्मक सहायता प्रदान की है, उसके लिए उन्हें पूरी तरह साधुवाद देना मेरे लिए असम्भव है। उनके बिना हम हिन्दी-भवन की मौजूदा उन्नति करने में भी समर्थ नहीं हो सकते थे; किन्तु अब समय आ गया है कि इस सत्कार्य में और लोग भी हाथ बटायें और इसे आगे बढ़ायें। अनुरागपूर्ण हृदय से दिये जानेवाले छोटे-छोटे उपहारों का भी हम उसी प्रकार स्वागत करेंगे, जिस प्रकार बड़ी आर्थिक सहायताओंका, जिनकी हमें सख्त ज़रूरत है।

पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी-भवन को उसके जन्मकाल से ही जो सहायता दी है, उसके लिए भी मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ। हिन्दी-भवन के विचार और उसकी कार्य-प्रणाली का श्रेयः प्रधानतः उन्हीं को मिलना चाहिए। अपने पुराने मित्र रा० ब० रामदेव चोखानी का भी—जिन्होंने सर्वप्रथम फीजी से शर्तबन्द कुलीगीरी को हटाने के लिए होनेवाली लड़ाई में मेरी और विली पीयर्सन की सहायता की थी—बहुत कृतज्ञ हूँ। हमारे इस सेवाकार्य में भी उनकी हार्दिक सहानुभूति बराबर हमारे साथ रही है।

अन्त में मैं गुरुदेव के प्रति भी अपनी कृतज्ञता और प्रेम प्रकट करना चाहता हूँ, जो इस कार्य के आरम्भ से अब तक प्रेरणा और स्फूर्ति के आधार रहे हैं। समय-समय पर उन्होंने अपने आदेश और सत्परामर्श से हमें लाभान्वित किया है और हमें उज्वल एवं आशाप्रद भविष्य का विश्वास दिलाया है। उनके आशीर्वाद के बिना हम इस कार्य का इतनी असाधारणतया प्रतिकूल परिस्थितियों में शुभारम्भ कदापि नहीं कर सकते थे।

इस समय शान्तिनिकेतन में हिन्दी और आधुनिक भारत की अन्य भाषाओं में सांस्कृतिक सान्निध्य पैदा करने के लिए हमारे सामने एक असाधारण अवसर उपस्थित है। जो लोग इस कार्य में हमारे समान अनुराग रखते हों, उनसे मेरा निवेदन है कि वे आगे आयें और इसे व्यावहारिक रूप से सफल बनाने के लिए हमारी पूरी-पूरी सहायता करें।[1]

शान्तिनिकेतन, बोलपुर

विशाल भारत, जनवरी १९४० से साभार]

●

---

१. शान्तिनिकेतन के हिन्दी-भवन के मुख्य भवन तथा साथ में अध्यापकों के लिए तीन घर हलवासिया ट्रस्ट के आर्थिक अनुदान से निर्मित हुए हैं, बीच के हालमें श्री विनोदबिहारी मुकर्जी तथा श्री कृपाल सिंह शेखावत के आकर्षक भित्ति चित्र हैं। गत वर्ष ट्रस्ट की सहायता से पुस्तकालय भवन का निर्माण हुआ है। हिन्दी-भवन केपुस्तकालय में इस समय पंद्रह हजार से अधिक ग्रंथ हैं। विश्वभारती में यह सबसे बड़ा विभागीय पुस्तकालय है और हिन्दी विभाग के सदस्यों के अतिरिक्त सभी विभागों के सदस्य पुस्तकालय का उपयोग करते हैं। विश्वभारती पत्रिका का पुनर्प्रकाशन भी ट्रस्टके ही अनुदान से आरंभ हुआ है। हलवासिया शोध ग्रंथमाला के प्रकाशन का भार ट्रस्ट ने लिया हैं। हमें आशा है दीनबंधु एण्ड्रूज के द्वारा परिकल्पित योजना के अनुकूल हिन्दी-भवन कार्य कर सकेगा। —संपा०